www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन

भाग-१

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ की
पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः धारावाहिक प्रवचन
गाथा १ से ३८, प्रवचन १ से ३०

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

आज से लगभग ९०० वर्ष पहले हुए भावलिंगी सन्त दिगम्बर आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय में स्थित मर्म को टीका करके खोलकर भव्य जीवों के कल्याण के लिये महान अद्वितीय उपकार किया है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वतन्त्र शास्त्रों की रचना भी की है, जिसमें पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक ग्रन्थ का भी समावेश होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'जिनप्रवचनरहस्य कोश' भी है और इसकी टीका आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने की है, जिन्होंने मूल ढूँढ़ारी भाषा में ग्रन्थ की टीका की है। पण्डितजी ने आचार्य के भावों को अत्यन्त सुन्दर तथा भाववाही सरल शैली में खोला है। इस प्रकार आकाश के आधार स्तम्भ समान आचार्यों ने अनुभव को लेखनी में उतारकर मोक्षमार्ग को अखण्ड रखा है।

आचार्यों के हृदय के भावों को वर्तमान काल में यदि किसी ने खोलकर स्पष्ट किया हो तो वे हैं—भव्य जीवों के तारणहार दिव्यमूर्ति ज्ञानानन्दस्वभावी **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी।** इस काल का एक आश्चर्य समान पूज्य गुरुदेव ने स्वयं के अनुभव के बल द्वारा शास्त्रों में रहे हुए गम्भीर भावों को खोलकर भव्य जीवों को परोसा है। इस काल में आपश्री का अलौकिक सातिशय उपकार भरतक्षेत्र के जीवों पर वर्त रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ईस्वी सन् १९६६-६७ में पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पर भाववाही प्रवचन किये हैं। यह ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभाजित है। मुख्यरूप से श्रावकों के आचार सम्बन्धित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है, तथापि चारित्र की स्थिरता प्राप्त ज्ञानी धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही यह चारित्रदशा प्राप्त होती है। इस वस्तुस्थिति का क्रम आचार्य भगवान ने ग्रन्थ रचना में किया है, जो उनकी लेखनी से स्पष्ट होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना कोई चारित्र अंगीकार करे तो वह क्रम उल्लंघनरूप दोष है, जिससे किसी काल में भी

सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अत: आचार्य भगवान ने प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया, द्वितीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन करने के पश्चात् सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। इन सभी बातों की स्पष्टता पूज्य गुरुदेवश्री ने सरल भाषा में प्रवचनों में की है।

पूज्य गुरुदेवश्री के पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ पर कुल ८९ प्रवचन हुए हैं। इन प्रवचनों को अक्षरश: लिखाकर उन्हें प्रकाशित करने का निर्णय श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा लिया गया है। जिनका प्रकाशन इस ट्रस्ट एवं श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा संयुक्तरूप से किया जा रहा है। इन प्रवचनों को कुल तीन भाग में प्रकाशित करने की योजना है, अत: प्रथम भाग में कुल ३० प्रवचनों का समावेश किया है। प्रथम भाग में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अधिकार के प्रवचन लिये गये हैं। सभी मुमुक्षु भाई-बहिन इन प्रवचनों का भरपूर लाभ प्राप्त करें—ऐसी भावना है।

इस प्रसङ्ग पर, मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवन्दन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षुजन अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत् परमानन्द को पायें।

प्रस्तुत प्रवचनों को कम्प्यूटर से सुनकर श्री नीलेशभाई जैन, भावनगर द्वारा गुजराती में कम्पोज किया गया है, तत्पश्चात् श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा फिर से इन प्रवचनों को सुनकर मिलान किया गया है। प्रवचन तैयार करते समय यथासम्भव सावधानी रखी गयी है। पूज्य गुरुदेवश्री के भाव तथा प्रवचनों का प्रवाह व्यवस्थित बना रहे, ऐसी सावधानी रखी गयी है। तथापि पाठकवर्ग को किसी प्रकार की क्षति दृष्टिगोचर हो तो ज्ञात कराने का विनम्र अनुरोध है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) द्वारा किया गया है। साथ ही पण्डित अभयकुमार जैन शास्त्री, देवलाली द्वारा रचित हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है। तथा सम्पूर्ण प्रवचनों को शुद्धता की दृष्टि से सी.डी. प्रवचन से सुनकर मिलान किया गया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

www.vitragvani.com

इस प्रकाशन में अत्यन्त सावधानी और सम्हाल रखने पर भी त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है। सुज्ञ पाठकगण की ओर से इस सम्बन्धी जो कुछ सूचना दी जायेगी, उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए आगामी संस्करण में उन्हें सुधार दिया जायेगा।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए .... प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः वीरमार्ग प्रकाशक पूज्य गुरुदेवश्री के पावन चरणों में मस्तक झुकाते हुए भावना भाते हैं कि सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ में समागत निश्चय-व्यवहार की सन्धियुक्त इन प्रवचनों का अवगाहन करके मुक्तिमार्ग की ओर गमन करें।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर

www.vitragvani.com

दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी

सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त,

निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	तारीख	गाथा	पृष्ठ नंबर
०१	२७-१२-१९६६	१	००२
०२	२८-१२-१९६६	२	०२४
०३	२९-१२-१९६६	२ से ४	०४२
०४	३०-१२-१९६६	४	०६३
०५	३१-१२-१९६६	४—५	०८०
०६	०१-०१-१९६७	५	१०१
०७	०३-०१-१९६७	५—६	११९
०८	०४-०१-१९६७	६	१३९
०९	०५-०१-१६९७	६—७	१५८
१०	०६-०१-१६९७	८—९	१७९
११	०७-०१-१९६७	९	२००
१२	०८-०१-१९६७	९—१०	२१५
१३	०९-०१-१९६७	१०	२३४
१४	११-०१-१९६७	११	२५२
१५	१२-०१-१९६७	१२—१३	२७०
१६	१३-०१-१९६७	१३—१४	२९१

प्रवचन क्रमांक	तारीख	गाथा	पृष्ठ नंबर
१७	१४-०१-१९६७	१४—१५	३११
१८	१५-०१-१९६७	१५—१६	३२८
१९	१६-०१-१९६७	१६	३४७
२०	१७-०१-१९६७	१७ से २१	३६३
२१	१९-०१-१९६७	२२	३९२
२२	२०-०१-१९६७	२२	४११
२३	२१-०१-१९६७	२३—२४	४३०
२४	२२-०१-१९६७	२५—२६	४५३
२५	०२-०६-१९६७	२३ से २५	४७६
२६	०३-०६-१९६७	२५ से २८	४९४
२७	०४-०६-१९६७	२९ से ३०	५१७
२८	०५-०६-१९६७	३१—३२	५४०
२९	०६-०६-१९६७	३१ से ३५	५६०
३०	०७-०६-१९६७	३५ से ३८	५८१

ॐ

श्री जिनाय नम:

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन

(भाग-१)

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ की
पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

मङ्गलाचरण (दोहा)

परम पुरुष निज अर्थ को, साधि हुए गुणवृन्द।
आनन्दामृत-चन्द्र को, वन्दत हूँ सुखकन्द।।१।।
वानी बिन वैन न बने, वैन बिना बिन नैन।
नैन बिना ना वान बन, नमों वानि बिन बैन।।२।।
गुरु उर भावै आप-पर, तारक वारक पाप।
सुरगुरु गावै आप-पर हारक वाच कलाप।।३।।
मैं नमों नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दानघन, ऐन हीन तन छीन।।४।।

(कवित्त सवैया मनहरण ३१ वर्ण)

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छोड़ै नहीं मूढ़ता।।
कोई व्यवहारनय-निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।।५।।

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ़ कलेश।।६।।

भावार्थ – जो परम पुरुष निजसुखस्वरूप को साधकर शुद्ध गुणसमूहरूप हुए, उन सुखकन्द आनन्दस्वरूप श्री अमृतचन्द्राचार्य को वन्दना करता हूँ।।१।। वाणी का योग न हो तो वर्णन नहीं होता, जिनवाणी के वर्णन बिना, ज्ञानचक्षु नहीं होते, भावभासनरूप ज्ञानचक्षु के बिना वर्णन को निमित्त नहीं कहा जा सकता, निरक्षरी जिनवाणी को नमस्कार हो।।२।। श्रीगुरु कैसे हैं? कि हृदय में स्व-पर भेदविज्ञान भाते हैं, तारक हैं, पाप का निवारण करनेवाले हैं; वचनबली वादी को जीतनेवाले जो सुरगुरु, वे भेदविज्ञान गाते हैं-भक्ति करते हैं।।३।।

मैं, जिनमुद्रा धारक जैन नग्न दिगम्बर मुनि को नमस्कार करता हूँ कि जो ज्ञान-ध्यानरूपी धन-स्वरूप में लीन हैं, काम, मान (घमण्ड, कर्तृत्व, ममत्व) से रहित, मेघ समान धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले, पाप रहित और क्षीणकाय हैं, अर्थात् कषाय और काया क्षीण हैं तथा ज्ञानस्वरूप में अत्यन्त पुष्ट हैं।।४।।

प्रवचन नं. १ गाथा-१ मङ्गलवार, माघशीर्ष सुद १५ दिनांक २७.१२.१९६६

अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ॐ श्रीजिनाय नमः श्रीमद्-अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित पुरुषार्थसिद्धि-उपाय आचार्यकल्प श्री पण्डित टोडरमलजीकृत भाषावचनिका का गुजराती अनुवाद। टोडरमलजी ने कहा है, उसका भाषानुवाद है। मङ्गलाचरण, मङ्गलाचरण भी सूक्ष्म है। देव-शास्त्र और गुरु तीनों को वन्दन करते हैं। जो शास्त्र की पद्धति है न पहली? देव-शास्त्र और गुरु। पहले देव को लिया है। अमृतचन्द्राचार्य भले नाम दिया, परन्तु पहले देव लिये हैं।

परम पुरुष निज अर्थ को, साधि हुए गुणवृन्द।
आनन्दामृत-चन्द्र को, वन्दत हूँ सुखकन्द।।१।।

www.vitragvani.com

नीचे इसका अर्थ किया है। **जो परम पुरुष निज स्वरूप साधकर....** देव की मुख्य बात है। जो कोई आत्मा परम आत्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप को अन्तर साधकर शुद्ध गुण समूह वृन्द, शुद्धगुण के वृन्द-समूहरूप हुए हैं। जिन्हें पर्याय में अनन्त गुणों की निर्मलता प्रगट हुई है वे शुद्धगुण-पर्याय यहाँ लेना है। गुण तो त्रिकाल है, परन्तु जिन्हें शुद्ध गुणसमूह प्रगट हुए हैं, अर्थात् पर्यायरूप जिन्हें परिणमे हैं – ऐसे देव। **जो सुखकन्द आनन्दस्वरूप** ऐसे उस सुख के कन्द **आनन्दस्वरूप श्री अमृतचन्द्राचार्य की वन्दना करता हूँ।** यह तो नाम इनका दिया है परन्तु अमृतचन्द्राचार्य (अर्थात्) मूल तो परमात्मा हैं। अमृतचन्द्राचार्य ऐसे देव को वन्दन करता हूँ। उसमें अमृतचन्द्राचार्य भी शामिल आ गये। मूल तो देव को वन्दन है।

वाणी में जरा अटपटी भाषा है। मूल तो शास्त्र को-वाणी को वन्दन करते हैं।

वानी बिन वैन न बने, वैन बिना बिन नैन।
नैन बिना ना वान बन, नमों वानि बिन बैन।।२।।

भाषा अलग है। **वानी बिन वैन न बने, वाणी का योग न हो तो वर्णन नहीं होता...** वाणी बिन बैन न बने, वाणी के योग बिना वचन नहीं होते। **वैन बिना बिन नैन, और जिनवाणी के वर्णन बिना ज्ञानचक्षु नहीं होते....** बिन नैन, ऐसा। जिनवाणी के बिना आत्मा को ज्ञानचक्षु प्रगट नहीं होते, ज्ञानचक्षु नहीं होते। **नैन बिना ना वान बन, और भावभासनरूप ज्ञानचक्षु के बिना...** नैन अर्थात् ज्ञानचक्षु। **(नैन बिना ना वान बन,) बिना वर्णन के निमित्त नहीं कहा जा सकता...** भावभासनरूप (बिना) वाणी, उसे यथार्थ वाणी नहीं कहा जाता – ऐसा कहते हैं। भावभासन के बिना की वाणी, वह वाणी नहीं कहलाती – ऐसा कहते हैं। आत्मा शुद्धस्वरूप – ऐसा भावभासन है, उसे जिनवाणी को वाणी कहने में आता है, बाकी दूसरे को वाणी नहीं कहते और **नमों वानि बिन बैन** बिन बैन। वाणी बिना अर्थात् **निरक्षरी....** बिन बैन अर्थात् निरक्षरी—ऐसी वाणी को नमो अर्थात् नमस्कार करते हैं। वाणी अर्थात् शास्त्र। नमो वाणी बिन बैन। ऐसा कि वाणी बिना जो निरक्षरी वाणी है, भेदरहित की ऐसी वाणी को नमस्कार करते हैं।

अब, तीसरे गुरु को नमस्कार करते हैं। शास्त्र की शक्ति है। टोडरमलजी कहते हैं।

www.vitragvani.com

गुरु उर भावै आप-पर, तारक वारक पाप।
सुरगुरु गावै आप-पर हारक वाच कलाप।।३।।

श्रीगुरु कैसे हैं? कि हृदय में स्व-पर भेदविज्ञान भाते हैं... देखो! इसकी व्याख्या! **गुरु उर भावै आप-पर,.....** भाते हैं और गाते हैं - ये दो अर्थ करेंगे। **गुरु उर भावै आप पर....** स्वयं अपने भाव को स्व को, पर को भेद करते हैं। यह भेद का पूरा हो गया है। गुरु अभी स्व-पर को साधते हैं, भेदज्ञान करते हैं, अन्दर से। भाव में राग से स्वभाव को भिन्न करके भेदज्ञान करते हैं। **तारक हैं....** वे जगत के जीवों को तिरानेवाले हैं। **तारक हैं, पापों का निवारण करनेवाले हैं;....** अपने पाप का निवारण और दूसरे को भी समझाकर पाप का निवारण करनेवाले हैं।

सुरगुरु गावै आप पर,.... यह **वचनबली, वादी को जीतनेवाले जो सुरगुरु, वे भेदविज्ञान गाते हैं...** लो, समझे? **हारक वाच कलाप...** वादी अर्थात् वचनबली जो वादी, उसे भी जीतनेवाले ऐसे जो सुरगुरु, वे भेदविज्ञान गाते हैं, भेदविज्ञान को गाते हैं, भेदविज्ञानी सुखी है। मैं नमो, श्रीगुरु की व्याख्या की। यह तो साधारण व्याख्या की कि गुरु कैसे हों। आप-पर की व्याख्या जुदाई की थी।

मैं नमों नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दानधन, ऐन हीन तन छीन।।४।।

शब्द भी कठोर है। **मैं जिनमुद्रा धारक जैन....** और **'नमों नगन जैन जिन...' मैं जिनमुद्रा धारक जैन नग्न दिगम्बर मुनि को नमस्कार करता हूँ,... ज्ञान ध्यान धन लीन....** जो ज्ञान और ध्यानरूपी धन में लीन है। धन है धन। कैसा? ज्ञान और ध्यानरूपी धन जिन्हें हैं। सच्ची समझ और अन्तर एकाग्रता। ऐसा जो ज्ञान और ध्यानरूपी धन, उसके **स्वरूप में जो मुनि लीन है,....** देखो, यह मुनि की व्याख्या! यह मुनि कहलाते हैं। फिर मैन मान है न? **मैन मान बिना दान धन....** और **काम, मान (अर्थ में है) (घमण्ड, कर्तृत्व, ममत्व) से रहित...** है। मैन अर्थात् मान से रहित। मेघ और दानधन, दान में धन है। मेघवृष्टि बरसानेवाले हैं।

मेघ समान धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले,.... धर्मोपदेश की वृष्टि करनेवाले

www.vitragvani.com

गुरु हैं। यह वाणी की व्याख्या हुई। पापरहित और क्षीणकाय हैं। कैसे हैं मुनि? उन्हें पाप नहीं है और क्षीणकाय अर्थात् **कषाय और काया क्षीण हैं....** दो अर्थ किये। **तथा ज्ञानस्वरूप में अत्यन्त पुष्ट हैं।** लो! ऐसा.... तन क्षीण–शरीर कमजोर पड़ गया है। कार्माण शरीर आदि, विकार आदि सब कमजोर पड़ गये हैं, क्षीण हो गये हैं और क्षीण होकर ज्ञानस्वरूप में बेहद पुष्टस्वरूप हैं। वहाँ क्षीण हो गया परन्तु यहाँ पुष्ट हुए हैं। यह ऊपर आ गया है न? **ज्ञान ध्यान धन,....** अन्दर कृश हो गया है, यहाँ पुष्ट हुआ है। आत्मा के शुद्ध आनन्दस्वरूप में पुष्टि हुई है और बाहर के कषाय तथा काया कृश हो गये हैं। लो! इतना तो हिन्दी में टोडरमलजी ने देव–शास्त्र–गुरु के विषय में कहा।

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।

कोई तो ऐसे हैं – अकेले निश्चय को शुद्ध मानकर और शुद्ध ही आत्मा है, पर्याय की शुद्धता करने का यथार्थ कहते नहीं। अकेला आत्मा शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... परन्तु किस प्रकार शुद्ध? द्रव्य–गुण शुद्ध या पर्याय शुद्ध? ऐसे निश्चय से आत्मा को पर्याय से भी–अवस्था से शुद्ध मानकर, **हुआ है स्वच्छन्द...** यह अशुद्धता मिटाने का प्रयत्न नहीं करते और आत्मा शुद्ध है (– ऐसा मानकर) स्वच्छन्दी–निश्चयाभासी हो जाते हैं। **हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।** मेरी शुद्धता पर्याय है, प्रगट हुई है या नहीं? – इसे नहीं जानते। द्रव्य–गुण शुद्ध है, द्रव्य–गुण शुद्ध है, सब शुद्ध है – ऐसा मानकर, स्वच्छन्द करके अपनी निर्मलदशा की शुद्धता को जानते नहीं। (उन्हें) निश्चयाभासी अज्ञानी कहा जाता है।

कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,

लो! चार बोल हुए। यह लोगों में आता है न? दान, तप और शील, भाव सब कहते हैं, दान, तप, शील भाव, वह धर्म है।

कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छोड़े नहीं मूढ़ता।।

दान में धर्म माने, बाह्य तप आदि में धर्म माने, उस व्यवहार आचरण में धर्म माने;

www.vitragvani.com

भाव अर्थात् शुभभाव आदि को धर्म माने। वह आत्मा का हित माने, उसमें आत्मा का हित है (–ऐसा माने)। वह तो शुभभाव है। दान, तप, शील और भाव – चार आते हैं न श्वेताम्बर में? दान के चार प्रकार... व्यवहारदान – ऐसी भाषा है न? कोई व्यवहारदान, ऐसा। वापस वह निश्चयदान अन्दर रह जाता है, वह तो अलग है। **व्यवहार दान तप शील भाव को ही** व्यवहारभाव को, हों! भाषा है न? कोई व्यवहार दान, व्यवहार तप, व्यवहार शील और व्यवहार भाव, ऐसा। व्यवहार को ही **आत्मा का हित मान।** जो इन्होंने लिखा है और, मक्खनलालजी ने निकाल दिया है। इसे यहाँ निकाल दिया है। ऐसे के ऐसे गड़बड़ करते हैं। वे स्वयं टीका करनेवाले हैं न, इसलिए निकाल दिया।

आत्मा का हित मान इस दान को धर्म माने, तप से धर्म माने, शील अर्थात् व्यवहार आचरण, ब्रह्मचर्य को धर्म माने और भाव को – व्यवहारभाव अर्थात् शुभभाव। व्यवहारभाव अर्थात् शुभभाव, उसे **आत्मा का हित मान छोड़ै नहीं मूढ़ता।** यह आत्मज्ञान नहीं करता। मूढ़ता और बाह्य आत्मपने को नहीं छोड़ता। ऐसे चार प्रकार करे, वह बहिरात्मा है। मूढ़ता नहीं छोड़ता। ज्ञानानन्दस्वरूप निष्क्रिय–राग से रहित है, उसे नहीं जानता। उसमें कितना आनन्द! देखो न! कितना इनके शुरुआत के उपोद्घात में कितना भरा है। अभी के टीका करनेवाले गड़बड़ करते हैं। समझ में आया? आत्मा का हित मानकर, व्यवहार भाव में, व्यवहार दान में, साधु को आहार देना, लो! लेना, उसमें आत्मा का हित है, आत्मा को संवर–निर्जरा होती है अथवा... ऐसे व्यवहार तप के सब प्रकार लेना। अनशन, अवमोदर्य, त्याग का विकल्प सब व्यवहार। ऐसे व्यवहार दान, तप, शील, प्रकृति का सम्बन्ध व्यवहार; शुभभाव अर्थात् ब्रह्मचर्य। **भाव को ही (शीलभाव को ही) आत्मा का हित मान छोड़ै नहीं मूढ़ता।** अपनी मूढ़ता छोड़ता नहीं।

कोई व्यवहारनय–निश्चय के मारग को,
भिन्न–भिन्न जानकर करत निज उद्धता।

देखो! अब आया। कितने ही तो व्यवहार और निश्चय के मार्ग को भिन्न–भिन्न जाने। पहले हो व्यवहार और फिर हो निश्चय, ऐसे भिन्न–भिन्न मार्ग मानते हैं। भिन्न नहीं, एक साथ है। निश्चय अभेद है और व्यवहार भेद एक साथ है। उसके बदले देखो, अभी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

इससे अत्यन्त विरुद्ध है। **कोई व्यवहारनय-निश्चय के मारग को,** व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग को भिन्न-भिन्न जानते हैं, ऐसा ही कहते हैं। पहला व्यवहारमोक्षमार्ग अलग हो, निश्चयमार्ग अलग हो, साथ में दो हो? व्यवहारमार्ग साधन है, उसे करते-करते साध्य निश्चय प्रगट हो – उसे टोडरमलजी इनकार करते हैं, भाई! ऐसा है नहीं। ऐसा नहीं होता। वह तो मात्र भेद है। निश्चय के स्वरूप का साधन, उसमें जरा भेद रह जाता है, उसे व्यवहार कहते हैं, परन्तु अलग-अलग मार्ग है, व्यवहार पहले, निश्चय बाद में, व्यवहार साधन और निश्चय साध्य बाद में हो – ऐसा है नहीं। देखो! एक लाईन में कितना समाहित कर दिया!

भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता... यह स्वयं की उद्धताई है – ऐसा कहते हैं। भगवान के मार्ग को समझता नहीं, उद्धताई है। यह बहुत सरस बात है। देखो! **भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता...** उनकी बात माने नहीं। व्यवहार पहला भिन्न और निश्चय भिन्न – ऐसा कहना है। एक साथ है। समझे न? एकता है, देखो! इसमें कहेंगे। **निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की एकतारूप उपदेश जिसमें है,...** पहली गाथा के ऊपर, पहली गाथा के ऊपर। **एकतारूप उपदेश जिसमें है,...** एकता अर्थात् साथ में है, ऐसा। एकता अर्थात् दोनों साथ में है, आगे-पीछे नहीं। व्यवहार पहले और निश्चय बाद में – ऐसा होवे किसका परन्तु? तत्त्व की दृष्टि हुई, अनुभवदृष्टि हुई, निश्चय भान हो, तब व्यवहार होता है। देखो! इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का यह व्याख्यान चलता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की कोई दूसरी बात नहीं होती... होवे या नहीं?.... भिन्न-भिन्न को जानकर व्यवहार अलग है, निश्चय अलग है – ऐसा जानकर अपनी उद्धता करता है। भगवान का मार्ग ऐसा नहीं है, तब है कैसे?

जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।।५।।

जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,... निश्चयस्वरूप आत्मा की दृष्टि-ज्ञान-चारित्र निश्चय। उसे भेदरूप अर्थात् व्यवहार विकल्प उठता होता है। व्यवहार समकित, व्यवहार ज्ञान, व्यवहार चारित्र। **भेद व्यवहार सब,...** यह सब व्यवहार है।

www.vitragvani.com

निश्चय के समकाल में जितने जो विकल्प हैं – श्रद्धा के, ज्ञान के, और चारित्र महाव्रत आदि के सब **व्यवहार सब, कारण को उपचार माने...** लो! ठीक! उसे कारण का उपचार (माने)। साथ में, हों! साथ में। पहले कारण और फिर कार्य – इससे तो इनकार किया, भिन्न-भिन्न – ऐसा नहीं। (अज्ञानी कहता है) – नहीं, कारण पहले होता है और कार्य बाद में होता है। **जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब, कारण को उपचार माने....** यह जो व्यवहार है, उसे वह कारण माने या उपचार माने, **तब बुद्धता।** तब सम्यग्ज्ञान कहलाता है। कहो, समझ में आया? यहाँ इतने में समाहित कर दिया। लो!

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ़ कलेश।।६।।

श्रीगुरु ने परम दयालु होकर दिया सत्य उपदेश। मोक्षमार्ग का सच्चा, सत्य उपदेश दिया। **ज्ञानी माने...** ज्ञानी सच्चा जानकर मानता है। मूढ़ तो उसमें से अकेला क्लेश, राग-द्वेष को ग्रहण करता है, राग-द्वेष का भाव ग्रहण करके दु:खी होता है। जो वीतरागमार्ग ग्रहण करना चाहिए, उसे ग्रहण न करके **ठानत मूढ़ कलेश।** राग और द्वेष के परिणाम को धर्म मानकर, उसमें से-शास्त्र में से निकालता है कि यह है... यह है... यह है। **ठानत मूढ़ कलेश।** कषाय ग्रहण करता है, ऐसा। वीतरागभाव ग्रहण नहीं करता।

गाथा - १

अब ग्रन्थकर्ता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव मङ्गलाचरण के निमित्त अपने इष्टदेव को स्मरण करके, इस जीव का प्रयोजन सिद्ध होने में कारणभूत, निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की एकतारूप उपदेश जिसमें है, ऐसे ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं।

सूत्रावतार:-

(आर्या छन्द)

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।१।।

त्रैकालिक पर्याय सहित जो सकल पदार्थ समूह अहो।
दर्पणतल-वत् झलकें जिसमें परम ज्योति जयवन्त रहो।।१।।

अन्वयार्थ : (यत्र) जिसमें (दर्पणतल इव) दर्पण के तल की तरह (सकला) समस्त (पदार्थमालिका) पदार्थों का समूह (समस्तैरनन्तपर्यायैः) अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित (प्रतिफलित) प्रतिबिम्बित होता है, (तत्) वह (परं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश (जयति) जयवन्त वर्तो।

टीका : 'तत् परंज्योतिः जयति' - वह परम ज्योति-सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना का प्रकाश जयवन्त वर्तता है। वह कैसा है? 'यत्र सकला पदार्थमालिका प्रतिफलति' - जिस शुद्धचेतनाप्रकाश में समस्त ही जीवादि पदार्थों का समूह प्रतिबिम्बित होता है। किस प्रकार? 'समस्तैः अनन्तपर्यायैः समं' - अपनी समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है।

भावार्थ : शुद्धचेतनाप्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है, कि उसमें, जितने भी पदार्थ हैं, वह सभी अपने आकारसहित प्रतिभासमान होते हैं। किस प्रकार? 'दर्पणतल इव' - जिस प्रकार दर्पण के ऊपर के भाग में घटपटादि प्रतिबिम्बित होते हैं। यहाँ दर्पण

www.vitragvani.com

का दृष्टान्त दिया है, उसका प्रयोजन यह जानना कि दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ। जिस प्रकार लोहे की सुई लोहचुम्बक के पास स्वयं ही जाती है, वैसे दर्पण अपना स्वरूप छोड़कर पदार्थों का प्रतिबिम्बित करने के लिये उनके पास नहीं जाता और वे पदार्थ भी अपना स्वरूप छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं कर जाते। जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष से कहे कि हमारा यह काम करो ही करो, तैसे वे पदार्थ अपने को प्रतिबिम्बित करवाने के लिये दर्पण से प्रार्थना भी नहीं करते। सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा उन पदार्थों का आकार होता है, वैसा ही आकाररूप वे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्बित होने पर दर्पण ऐसा नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये भले हैं, उपकारी हैं, राग करने योग्य हैं, अथवा बुरे हैं और द्वेष करने योग्य हैं; वह तो सभी पदार्थों के प्रति समानभाव से प्रवर्तन करता है। जिस प्रकार दर्पण में कितने ही घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं; उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं है जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्धचैतन्य परम ज्योति की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे, कि यहाँ गुण का स्तवन तो किया किन्तु किसी पदार्थ का नाम नहीं लिया – उसका कारण क्या? प्रथम पदार्थ का नाम लेना चाहिए, पश्चात् गुण का वर्णन करना चाहिए। उसका उत्तर :– यहाँ आचार्य ने अपनी परीक्षाप्रधानता प्रकट की है। भक्त दो प्रकार के होते हैं – एक आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षाप्रधानी। जो जीव, परम्परामार्ग से चले आए, जैसे–तैसे देव–गुरु का उपदेश प्रमाण करके विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें आज्ञाप्रधानी कहते हैं और जो अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रथम स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय करते हैं, पश्चात् जिनमें वह गुण होता है, उनके प्रति विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें परीक्षाप्रधानी कहते हैं। क्योंकि कोई पद, वेश अथवा स्थान पूज्य नहीं है, गुण पूज्य है; इसलिये यहाँ शुद्धचेतनाप्रकाशरूप गुण स्तुति करने योग्य है, ऐसा आचार्य ने निश्चय किया। जिसमें ऐसा गुण हो, वह सहज ही स्तुति करने योग्य हुआ। कारण कि गुण द्रव्याश्रित है, द्रव्य से भिन्न नहीं, ऐसे विचारपूर्वक निश्चय करें तो ऐसा गुण प्रकटरूप से अरिहन्त और सिद्ध में होता है। इस प्रकार अपने इष्टदेव का स्तवन किया।।१।।

www.vitragvani.com

गाथा १ पर प्रवचन

अब ग्रन्थकर्ता श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव मङ्गलाचरण के निमित्त... मङ्गल आचरण निमित्त है। **अपने इष्टदेव को स्मरण करके,...** यह तो स्वयं टोडरमलजी ने पहले किया है। अब, स्वयं अमृतचन्द्राचार्य स्वयं भी देव और शास्त्र को नमस्कार करते हैं। देव और शास्त्र को। समयसार में दो का पाठ है। नमः समयसाराय। यहाँ दो लेंगे। **इष्टदेव को स्मरण करके, इस जीव का प्रयोजन...** यह जीव का प्रयोजन **सिद्ध होने में कारणभूत,...** आत्मा का प्रयोजन, वह मोक्ष, उसके **सिद्ध होने में कारणभूत, निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की...** आत्मा का प्रयोजन जो मोक्ष – पूर्णानन्द की प्राप्ति, उसके कारणभूत। **निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की एकतारूप...** देखो! इसमें से वे विपरीत अर्थ करते थे। मोक्षमार्ग की एकता। एकता अर्थात् जहाँ निश्चय है, वहाँ व्यवहार है, अलग–अलग है नहीं। दोनों एक हैं – ऐसा नहीं, परन्तु निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की एकतारूप उपदेश। साथ में है, ऐसा **उपदेश जिसमें है, ऐसे ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं।** लो! देखो! यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पहली–पहली बार पढ़ा जा रहा है, इतने वर्षों में कभी यह वाँचा नहीं। हिन्दी था न! हिन्दी। यह गुजराती होकर सबके हाथ में आया है न? बहुतों को आ गया है। अब, सूत्रावतार। अमृतचन्द्राचार्य स्वयं मङ्गलाचरण करते हैं।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।१।।

पहले अन्वयार्थ लेते हैं। **'जिसमें...' 'दर्पणतल इव'** दर्पण का तल अर्थात् **'तल की तरह...'** देखो! केवलज्ञान की व्याख्या करते हैं। केवलज्ञान–देव की व्याख्या बताते हैं। दर्पण की सपाटी, **'दर्पणतल इव'** उसकी **तल की तरह... 'सकला' समस्त 'पदार्थमालिका' 'समस्त पदार्थों का समूह...'** पर्याय (अर्थात्) प्रत्येक द्रव्य की भूतकाल की अनन्त पर्यायें। **'अनागत और वर्तमान काल की...'** और वर्तमान की **'समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है, 'प्रतिफलित'...** एक समय में भगवान के ज्ञान में तीन काल, तीन लोक की जो भूत–भविष्य–वर्तमान पर्यायें हैं, उन्हें जानते हैं। उसमें आगे–पीछे कहाँ आया इसमें?

www.vitragvani.com

मुमुक्षु – होवें तब जाने।

उत्तर – होवे तब जाने या एकसाथ जाने? होवे तब जाने? भविष्य की पर्याय होवे तब जाने न भगवान? बण्डीजी! अभी जानते हैं। एक समय में तीन काल–तीन लोक को (जानते हैं।) होवे तब जाने वह तो, **'समस्तैरनन्तपर्यायै:'** ऐसा कहा है न? **'समस्तैरनन्तपर्यायै:'** समस्त पर्यायें। भूतकाल की अनन्त द्रव्य की, भविष्य की अनन्त और वर्तमान की अनन्त, अनन्त गुण की अनन्त, अनन्त गुण की अनन्त।

अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित... कौन? पदार्थों का समूह। यह पहले आ गया। समस्त पदार्थों का समूह। वह पदार्थों का समूह भी सब भूत–भविष्य, वर्तमान पर्याय सहित। **'प्रतिफलित'** उसमें प्रगट ज्ञात होता है, ऐसा प्रति ज्ञात होता है, प्रतिबिम्बित होता है। **वह...** वैसे तो प्रतिबिम्ब की बात लेते हैं। प्रतिबिम्ब कहा? उसका प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ता था? उस सम्बन्धी का ज्ञान आया, उसे प्रतिबिम्ब कहने में आता है। दर्पण सपाटी में; दर्पण में भी कहाँ वह चीज आती है? वह तो अपनी पर्याय है। **वह 'परं ज्योति:' सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश...** यह परमात्मा, लो! इन्हें परमात्मा कहते हैं। जिन्हें एक समय में भूत, भविष्य, वर्तमान सभी पर्यायें ज्ञात होती हैं, ऐसे **सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप...** देखो! **'परं ज्योति:'** चैतन्य ज्योत, वह ऐसी है कि जिसे गत काल, वर्तमान, भविष्य सभी पर्यायों सहित पदार्थों का समूह जिसमें ज्ञात होता है। ऐसा सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनास्वरूप प्रकाश। लो! चार ज्ञान सर्वोत्कृष्ट नहीं।

सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश जयवन्त वर्तो। लो! पहले माङ्गलिक किया। ऐसा केवलज्ञान जयवन्त वर्तो। भूतकाल में भी केवलज्ञानी हो गये, वर्तमान में है और भविष्य में होंगे – ऐसे केवलज्ञानी, जगत में जयवन्त वर्तो। सदा ही केवलज्ञानी रहो और तीन काल की पर्यायें उसमें ज्ञात हो – ऐसा उत्कृष्ट चैतन्य प्रकाश फिर ऐसा का ऐसा रहो। पहले शब्द में दर्पण का दृष्टान्त देकर सिद्ध किया। जैसे दर्पण में सभी चीजें ज्ञात होती हैं, वैसे ज्ञान में तीन काल–तीन लोक एकसाथ ज्ञात होते हैं। एकसाथ ज्ञात होते हैं – ऐसा ज्ञानपर्याय का धर्म है, स्वभाव है।

मुमुक्षु : दर्पण तल अर्थात....

www.vitragvani.com

उत्तर : दर्पण तल। दर्पण के तल में जैसे दूसरी चीजें ज्ञात होती हैं। तल अर्थात् ऊपर का भाग। नीचे की लकड़ी नहीं। काँच के दो भाग होते हैं न? पिछला भाग नहीं, मुखाग्र (सामने का) भाग। प्रकाशमान। पीछे तो डाघ होती है, काला होता है, लकड़ी होती है। सामने के भाग में प्रकाशमान जैसे ज्ञात हों, वैसे ज्ञान के प्रकाश की पर्याय में, पर्याय में तीन काल–तीन लोक की पर्यायें ज्ञात होती हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? दर्पण तल को सपाटी कहा न? दर्पण का ऊपर का भाग। पीछे के भाग में नहीं होता।

टीका : 'तत् परंज्योतिः जयति' – वह परम ज्योति... वह परम ज्योति सर्वोत्कृष्ट चैतन्य, उसकी सत्ता का स्वीकार करे न, ऐसा। एक समय में ज्ञान की पर्याय तीन काल–तीन लोक को एक समय में जाने – ऐसी सत्ता का स्वीकार, वह चैतन्य की सत्ता का स्वीकार है। समझ में आया? एक समय में ऐसी पर्याय – ऐसे अपना स्वभाव बताया। ओहोहो! ज्ञान की पर्याय, द्रव्य को सर्वोत्कृष्ट चेतन प्रकाश स्वरूप प्रगटा। भूत, वर्तमान, भविष्य सब पर्यायों के समूह सहित पदार्थों का समूह ज्ञात हुआ, वह जयवन्त वर्तो। ऐसी जिन्हें शक्ति प्रगट हुई, जगत में जयवन्त रहो, जयवन्त रहो! यह साध्य प्रगट प्रगट हुआ, वह जयवन्त रहो? हमको भी साध्य प्रगट होने का व्यवसाय है। (वह) प्रगटेगा – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

जो सब चीज के जाननेवाले हैं, देव किसी चीज के करनेवाले नहीं हैं – ऐसा सिद्ध करना है। कोई कर्ता है ईश्वर न तो परमात्मा जगत के पदार्थों के समूह को करते हैं – ऐसा नहीं। देव उसे कहते हैं कि जिसके चैतन्य के सर्वोत्कृष्ट प्रकाश में तीन काल का पर्याय समूह ज्ञात हो, उसे देव कहा जाता है। देव की पहिचान दी, कर्ता–वर्ता कोई देव कहलाता ही नहीं। कर्ता होवे तो उसने पहले नहीं जाना था? पहले सर्वज्ञ हुआ नहीं। सर्वज्ञ कब कहलाये? कि सर्वज्ञ, एक समय में भूत, भविष्य और वर्तमान को जाने। कर्ता हुआ हो तो कर्ता पहले कोई चीज नहीं थी, उसे सर्वज्ञ तो कहलाये नहीं। होगी और फिर जानेगा, हुई अभी जानी और फिर जानी... ऐसा स्वभाव हो सकता नहीं – ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? देव का ज्ञान तो ऐसा है कि एक समय में तीन काल को जाने। देव कोई काल को उत्पन्न करे, कोई काल को, जगत की चीज को उत्पन्न करे और दो काल को जाने या उत्पन्न करे, बाद के काल को जाने – ऐसा वस्तु का स्वरूप है नहीं।

वह परम ज्योति... देखो न! इसे देव कहा जाता है। **सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना का प्रकाश जयवन्त वर्तता है।** जयवन्त वर्तता है, त्रिकाल ऐसा का ऐसा वर्तता है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! अनन्त काल से ये सर्वज्ञ परमेश्वर वर्ता ही करते हैं। पदार्थ ऐसे के ऐसे हैं, उनके ज्ञान में रचना हुई – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अहो! ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट प्रकाशशक्ति और उसमें सब ज्ञात हो, वह सब जाननेवाले की दशा जयवन्त वर्तो, परमात्मा जयवन्त वर्तो! तीन काल में, तीन लोक को जाननेवाले, तीन काल को जाननेवाले का कभी विरह नहीं हो, न हो। ऐसी दशा सदा शाश्वत् रहो। आहाहा! देव की व्याख्या बड़ी की–तीन काल के समूह को जाने, पदार्थ समूह – बहुत सब पदार्थ हैं, एक ही तत्त्व नहीं है। अपने सिवाय भी अनन्त हैं। उनकी भूत–भविष्य और वर्तमान तथा अपनी भी भूत, भविष्य और वर्तमान सब पर्यायों को जानते हैं, लो!

'यत्र सकला पदार्थमालिका प्रतिफलति'–जिस शुद्धचेतनाप्रकाश में... भगवान के चैतन्य की पर्याय की निर्मलता में, **समस्त ही जीवादि पदार्थों का समूह...** जीव आदि (अर्थात्) अकेला जीव नहीं, छह द्रव्य हैं। छह द्रव्य हैं, वे तो एक केवलज्ञान की एक समय की पर्याय को जानने की ताकत है। समझ में आया? **समस्त ही जीवादि पदार्थों का समूह प्रतिबिम्बित होता है। 'प्रतिफलति'** ज्ञात होते हैं। **किस प्रकार? 'समस्तैः अनन्तपर्यायैः समं' – अपनी समस्त अनन्त पर्यायों सहित...** का अर्थ क्या किया? रहित? साथ में... साथ में। समस्त अनन्त पर्यायों के साथ में, सहित। अपने समस्त पर्याय स्वरूप। कौन? वह पदार्थ समूह। समस्त पदार्थ जगत के जितने हैं, वे सब समस्त अनन्त पर्यायों सहित ज्ञान के सर्वोत्कृष्ट सुख में, विकास में जानने में आते हैं। **प्रतिबिम्बित होता है।**

भावार्थ : शुद्धचेतनाप्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है,... ज्ञान की शुद्ध चेतना की पर्याय की प्रगट ऐसी कोई महिमा है। त्रिकाल तो है, उसकी बात नहीं है, यह तो वर्तमान की बात। **शुद्धचेतनाप्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है, कि उसमें, जितने भी पदार्थ हैं,...** तीन काल–तीन लोक जितने हैं, **वह सभी अपने आकार सहित...** अपने आकार सहित, ऐसा। आकार अर्थात् स्वरूप। जो उनका स्वरूप है। द्रव्य–गुण–पर्याय आदि, उनके स्वरूपसहित, **प्रतिभासमान होते हैं।** वह प्रतिभासमान

www.vitragvani.com

होता है। ...प्रतिभासमान इसमें है? ऐसा लेना कि सब ही अपने आकार अर्थात् स्वरूप सहित प्रतिभासमान होते हैं, ऐसा चाहिए। **प्रतिभासमान होते हैं।** ठीक है। आहा! 'भा' का 'मा' हो गया है। कहो! समझ में आया? यह तो हो जाता है, इसमें कुछ नहीं। यह तो छापने में अन्तर पड़ जाता है।

शुद्धचेतनाप्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है,... वह जानता है, बस! किसी पदार्थ को करना, हरना, बदलना, टालना, तोड़ना, प्राप्त करना, दूर करना – यह है नहीं। ऐसे देव के ज्ञान की पूर्ण शक्ति में सब ज्ञात हो, उसे देव कहने में आता है। तीन काल दूसरे को जाने और दूसरे की रक्षा करे और दूसरे को, जन्म लेकर मारे तथा राक्षसों को मारे और भक्तों को तारे, यह देव का स्वरूप नहीं है – ऐसा कहते हैं। जिसकी ज्ञानदशा में तीन काल–तीन लोक जाने – ऐसी ही जिसकी पर्याय की महिमा है, उसे दिव्य महिमा कहा जाता है। प्रवचनसार में आता है।

किस प्रकार? 'दर्पणतल इव' – जिस प्रकार दर्पण के ऊपर के भाग में... पीछे के भाग में नहीं, दर्पण के ऊपर के भाग में। तल शब्द है न इसलिए। **घटपटादि प्रतिबिम्बित होते हैं।** दर्पण के ऊपर के भाग में घटपटादि दर्पण में जैसे ज्ञात होते हैं, वैसे भगवान (के) ज्ञान की पर्याय में उन्हें लोकालोक ज्ञात होता है। द्रव्य में नहीं, पर्याय में ज्ञात होता है। द्रव्य तो त्रिकाल है। दर्पण में यह बाहर का भाग है न? ऊपर में। वैसे यह पर्याय बाहर की बात है। प्रगट हुई पर्याय में सब ज्ञात होता है, द्रव्य तो त्रिकाल ध्रुव है। दर्पण के ऊपर के भाग में घटपटादि – घट–पट आदि सब प्रतिबिम्बित होता है, वैसे।

यहाँ दर्पण का दृष्टान्त दिया है, उसका प्रयोजन यह जानना कि दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि... अब, यह इसका सिद्धान्त आया। **दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ।** है ऐसी (इच्छा)? दर्पण को ऐसी इच्छा है? दर्पण का दृष्टान्त देकर यह सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को, यह पदार्थ ऐसे, सामने घट–पट दिखते हैं न वे। (दर्पण को ऐसी) इच्छा नहीं है कि इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ। **जिस प्रकार लोहे की सुई लोहचुम्बक के पास स्वयं ही जाती है, वैसे दर्पण अपना स्वरूप छोड़कर पदार्थों का**

www.vitragvani.com

प्रतिबिम्बित करने के लिये उनके पास नहीं जाता... दोनों बात की। पदार्थों को... इच्छा नहीं, वैसे वहाँ जाता नहीं, ऐसा। पदार्थों को जानने के लिए दर्पण को इच्छा नहीं तथा दर्पण वहाँ जाता नहीं। पदार्थ के पास जाए तो दर्पण पदार्थ को जाने-ऐसा है नहीं - यह सिद्ध करना है। **दर्पण अपना स्वरूप छोड़कर पदार्थों का प्रतिबिम्बित करने के लिये उनके पास नहीं जाता...** यह अपने आता है - सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में, दीपक के अधिकार में।

और वे पदार्थ भी... लो! अब यहाँ ऐसा आया। दो बातें ऐसी पदार्थों की की - दर्पण की। दर्पण को इच्छा नहीं है और दर्पण पदार्थ को प्रतिबिम्बित के लिए पदार्थ के पास जाता नहीं। **वे पदार्थ भी अपना स्वरूप छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं कर जाते।** लो! छोड़ते हैं, यहाँ घट-पट अपनी वस्तु छोड़ देते हैं? **अपना स्वरूप छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं कर जाते। जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष से कहे कि हमारा यह काम करो ही करो,...** यहाँ भी ऐसा है, देवदत्त का और यज्ञदत्त का।

जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष से कहे कि हमारा यह काम करो ही करो, तैसे वे पदार्थ अपने को प्रतिबिम्बित करवाने के लिये दर्पण से प्रार्थना भी नहीं करते। ऐसे.... दर्पण को इच्छा नहीं और जिसे जानता है, उसके पास जाता नहीं। पदार्थ इसे प्रतिबिम्बित के लिये अपने स्वरूप को छोड़कर प्रविष्ट नहीं होते और इससे प्रतिबिम्बित होने के लिये प्रार्थना नहीं करते - भाईसाहब! प्रतिबिम्बित कर। दृष्टान्त सरस दिया है।

तैसे वे पदार्थ अपने को प्रतिबिम्बित करवाने के लिये दर्पण से प्रार्थना भी नहीं करते। सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा उन पदार्थों का आकार होता है,... आकार अर्थात् स्वरूप। **वैसा ही आकाररूप वे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं।** लो! बहुत अच्छा दृष्टान्त दिया। दर्पण को इच्छा नहीं कि वस्तु को प्रतिबिम्बित करूँ। दर्पण अपने स्वरूप को, अपने भाव को छोड़कर वहाँ जाता नहीं। यह दो बातें की हैं। परपदार्थों को प्रतिबिम्बित करने के लिये वे दर्पण में प्रविष्ट नहीं होते और परपदार्थ, दर्पण से प्रार्थना नहीं करते (कि) भाई साहब! प्रतिबिम्बित कर। कहो, समझ में आया? दोनों ओर दो बोल लिये हैं।

सहज ही ऐसा सम्बन्ध है... स्वाभाविक ऐसा सम्बन्ध है। **कि जैसा उन पदार्थों का आकार होता है,...** देखो! वे पदार्थ इसमें। **वैसा ही आकाररूप वे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं।** जैसा उनका स्वरूप हो, वैसा ही दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं। **प्रतिबिम्बित होने पर दर्पण ऐसा नहीं मानता...** अब, वापस यहाँ आया। परपदार्थों का दर्पण में **प्रतिबिम्बित होने पर दर्पण ऐसा नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये भले हैं,...** मानता होगा दर्पण? यह रंग-बंग दिखे, कस्तूरी ऐसी पड़ी हुई दिखे। **यह पदार्थ मेरे लिये भले हैं, उपकारी हैं,...** ऐसा वह दर्पण मानता नहीं। ओहो! ज्ञेय-ज्ञायक की भिन्नता और फिर भी दोनों का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध। भिन्नता होने पर भी दो का सम्बन्ध सहज हो जाता है – ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं।

यह पदार्थ मेरे लिये भले हैं, उपकारी हैं, राग करने योग्य हैं,... लो! मानता है? **यह पदार्थ मेरे लिये भले हैं, उपकारी हैं, राग करने योग्य हैं, वह तो सभी पदार्थों के प्रति समानभाव से प्रवर्तन करता है।** दर्पण को तो सभी पदार्थों के प्रति समानभाव रहता है। **जिस प्रकार दर्पण में कितने ही घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं; उसी प्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।** पहले में क्या कहते हैं? सब होते नहीं न, दर्पण में तो कितने ही पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं – ऐसा शब्द है। दृष्टान्त है न? दृष्टान्त में कोई सब दर्पण में होते नहीं। **जिस प्रकार दर्पण में कितने ही घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं;...** दर्पण में कोई सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होते। **उसी प्रकार...** दृष्टान्त का दर्पण तो कुछ पदार्थों को-थोड़े पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता है। यह **ज्ञानरूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।** इतना। समझ में आया?

....ज्ञान सबको जानता है, सर्वज्ञ को अल्पज्ञान नहीं है और राग नहीं है। यहाँ अल्पज्ञान और राग है परन्तु ज्ञान तो समस्त को जानता है। जानने के अतिरिक्त उसकी कोई क्रिया नहीं है, आत्मा की (दूसरी कोई क्रिया) है ही नहीं। समझ में आया? राग करना, व्यवहार करना, निमित्त को करना, व्यवहार दूर करूँ – ऐसा है ही नहीं। वह तो समस्त पदार्थों को, जैसे दर्पण थोड़े पदार्थों को जाने, वैसे अल्पज्ञानी प्राणी अल्प को जाने,

परन्तु जानने के अतिरिक्त, करना तो उसमें-आत्मा में है ही नहीं। राग का करना या शरीर की क्रिया को आगे-पीछे करना, यह वस्तु है ही नहीं। सर्वज्ञ पूर्ण को जाने, दर्पण जैसे थोड़े को देखे, प्रतिबिम्ब करे; वैसे यह भी थोड़े को भले प्रतिबिम्ब करे, परन्तु है तो इसका स्वभाव-राग; अल्पज्ञ और परवस्तु जैसे है, वैसे जानने का स्वभाव है। कहो, समझ में आया ?

ज्ञानरूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं है... इस जगत में ऐसा कोई पदार्थ या **कोई पर्याय नहीं है जो ज्ञान में न आया हो।** कहो, समझ में आया ? निमित्त न आवे ? निमित्त, पदार्थ है या नहीं ? निमित्त, पदार्थ है या नहीं ? पर्याय सहित है या नहीं ? एक समय में सब (ज्ञात होते हैं) यहाँ भी यह कहा, फिर प्रश्न क्या है ? यहाँ भी ज्ञान की पर्याय, राग को-पर को जानने की (होती है।) भले दर्पण थोड़े को (प्रतिबिम्बित करे), वैसे अल्पज्ञ थोड़े को (जाने), सर्वज्ञ समस्त को (जाने) - इतना अन्तर है। समस्त और थोड़ा। दृष्टान्त में दर्पण को थोड़ा है, ऐसे साधक को अपने ज्ञान में थोड़ा है, सर्वज्ञ के ज्ञान में सब -पूरे (ज्ञात होते हैं)। अन्तर तो इतना - थोड़े-अधिक का है; वरना जानने-देखने में कोई अन्तर नहीं है। समझ में आया ? धर्मी का ज्ञान जानने का ही काम करता है - ऐसा कहते हैं। व्यवहार करना या व्यवहार छोड़ना, वह उसका काम नहीं। होवे उसे जाने, छूटे उसे जाने, न हो उसे जाने, जाने... जाने... जाने... ऐसा कहते हैं। दर्पण में थोड़े का दृष्टान्त दिया न ? कितने ? कितने-क साधक में दूसरा क्या ? साधक में कितने ही पदार्थों को जाने। पूरा ज्ञान विकसित नहीं हुआ, इसलिए थोड़े पदार्थों का ज्ञेय-प्रतिबिम्ब नहीं होता। जितना ज्ञान खिला है, उतने सामने पदार्थ हैं, प्रतिबिम्ब है, उसे ज्ञात होते हें। कर्ता-बर्ता नहीं। ज्ञान किसे करे ? सर्वज्ञ किसे करे ? वैसे दर्पण किसे करे ? वैसे अल्पज्ञान किसे करे ? साधक का ज्ञान करे या नहीं करे कुछ ? अणुव्रत पाले, यह सब करे, यह देखो, पूरा श्रावकाचार शास्त्र है। ऐ...ई... ! व्यवहार से बात करेंगे। उस काल में, उसके ज्ञान में ऐसा भाव हो - अणुव्रत का हो, उसे जाने। व्यवहारनय से ऐसा कहे, वह करे, उसे पाले - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

www.vitragvani.com

केवलज्ञान में **ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं है...** ऐसा कोई पदार्थ या अवस्था जगत में नहीं, **जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्धचैतन्य परम ज्योति की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है।** लो! ऐसे शुद्ध चैतन्य प्रकाश की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है – ऐसा कहकर मांगलिक किया है। करनेयोग्य तो यह है। उसकी शक्ति एक समय में, उसमें ज्ञात हो, ज्ञान में छह काय का ज्ञान (हो), पदार्थ ज्ञात हो, उसे अपना मानता है वह? वह तो ज्ञान अपना है। वह पदार्थ को अपना मानता है? मुझे उपकारी हुए, मुझे बहुत उपकार हुआ, मुझे लाभ हुआ...

यहाँ कोई प्रश्न करे,... गुण की व्याख्या की न? पर्याय की। **यहाँ गुण का स्तवन तो किया...** यहाँ गुण शब्द से पर्याय है। **किसी पदार्थ का नाम नहीं लिया...** यहाँ तो पर्याय के गुण की व्याख्या की। गुण ऐसा... गुण ऐसा... गुण ऐसा... गुण ऐसा। सर्वोत्कृष्ट चैतन्यप्रकाश तीन काल–तीन लोक सबको जानता है। **पदार्थ का नाम नहीं लिया– उसका कारण क्या? प्रथम पदार्थ का नाम लेना चाहिए, पश्चात् गुण का वर्णन करना चाहिए।** ऐसा। पहले गुणी की बात करनी चाहिए पहले या गुण की? ऐसा कहते हैं... गुण की बात उठाई कि सर्वोत्कृष्ट चैतन्य प्रकाश ऐसा... गुणी से तो बात की नहीं।

उसका उत्तर :– यहाँ आचार्य ने अपनी परीक्षाप्रधानता प्रकट की है। उसका उत्तर – यहाँ आचार्य ने अपना परीक्षाप्रधानपना, परीक्षाप्रधानपना – परीक्षा करके हमने निर्णय किया है – ऐसी बात यहाँ प्रसिद्ध करते हैं। समझ में आया? **भक्त दो प्रकार के होते हैं – एक आज्ञाप्रधान...** एक आज्ञा माननेवाले **दूसरे परीक्षाप्रधानी। जो जीव, परम्परामार्ग से चले आए, जैसे–तैसे देव–गुरु का उपदेश प्रमाण करके विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें आज्ञाप्रधानी कहते हैं और जो अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रथम स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय करते हैं,...** लो! अपने समयग्ज्ञान द्वारा जो पहले–पहले स्तुति करनेयोग्य गुण का अर्थात् पर्याय का निश्चय करे, **पश्चात् जिनमें वह गुण होता है, उनके प्रति विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें परीक्षाप्रधानी कहते हैं।** समझ में आया? आज्ञाप्रधान में कितना ही निर्णय तो है, हों! यह तो फिर एकदम (बिलकुल) निर्णण नहीं किया – ऐसा नहीं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रथम स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय करते हैं, पश्चात् जिनमें वह गुण होता है, उनके प्रति विनयादि क्रियारूप प्रवर्तन करते हैं, उन्हें परीक्षाप्रधानी कहते हैं। क्योंकि कोई पद, वेश अथवा स्थान पूज्य नहीं है,... कोई पद–वेष या स्थान–क्षेत्र, कोई वेष या कोई पद दूसरा बड़ा पद नाम दिया — आचार्य, भगवान – ऐसे नाम देते हैं न ? भगवती, भगवान आदि कोई पद, कोई वेष अथवा स्थान–क्षेत्र पूज्य नहीं है। **गुण पूज्य है;...** यह सिद्ध करते हैं। लो, गुण पूज्य है। क्षेत्र में, पद में, स्थान में भी गुण पूज्य है।

इसलिये यहाँ शुद्धचेतना प्रकाशरूप गुण स्तुति करने योग्य है, ऐसा आचार्य ने निश्चय किया। लो! इससे यहाँ यह चेतना प्रकाशरूप गुण–केवलज्ञान की पर्याय (स्तुति करने योग्य है)। विरोध है सब, विवाद है। अनियत हो तो अनियत जाने, नियत हो तो नियत जाने, अनियत होवे तो यह निमित्त आया और न हुआ... भगवान के ज्ञान में अनियत कैसा ? सर्वज्ञ को उड़ाते हैं, सर्वज्ञ की पर्याय की पूर्णता को उड़ाते हैं। शुद्ध चेतना प्रकाशरूप पर्याय। देखो! यह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमृतचन्द्राचार्य महाराज, जो तीन सूत्र में टीका करनेवाले – समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, वे इस सूत्र... पहले श्लोक में केवलज्ञान की स्तुति की है। धर्म का मूल सर्वज्ञ है। धर्म का मूल सर्वज्ञ है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय चैतन्य, उसकी शक्ति, इन केवलज्ञानी ने जो देखा, तदनुसार कहा, उसे धर्म कहने में आता है। जिसे अभी केवलज्ञान की पर्याय के निर्णय का ठिकाना नहीं – सर्वज्ञ कैसे होते हैं ? सर्वज्ञ एक क्षण में सब जानते हैं। कुछ बाकी रहता है ?

शुद्धचेतना प्रकाशरूप गुण स्तुति करने योग्य है, ऐसा आचार्य ने निश्चय किया। जिसमें ऐसा गुण हो, वह सहज ही स्तुति करने योग्य हुआ। जिनमें ऐसी सर्वज्ञ चैतन्य प्रकाशमय पर्याय प्रगट हुई, वे सहज ही स्तुति करनेयोग्य होते हैं – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। कहो, समझ में आया ? **जिसमें ऐसा गुण हो, वह सहज ही स्तुति करने योग्य हुआ।** ऐसा कहते हैं। स्वाभाविक उनकी स्तुति हो,... जिसे गुण प्रिय है और जिन्हें पूर्ण गुण प्रगटे, जिसे गुण की पर्याय प्रिय है और जिन्हें गुण पूर्ण प्रगट हुए हैं, उसे सहज ही गुण की स्तुति करनेयोग्य होता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसे ऐसा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

विकल्प आता है। ज्ञान में, केवलज्ञान की पर्याय इतनी होती है, गुण ऐसा होता है – ऐसा जिसे पहले गुण का प्रेम है, उसे गुण की पर्याय पूर्ण है, उसके प्रति स्तुति का सहजभाव स्तुति करने योग्य आता है।

कारण कि गुण द्रव्याश्रित है,... देखो! पदार्थ की बात की थी न? पदार्थ का तुमने नाम नहीं लिया और सीधे पर्याय की बात, गुण की बात की... परन्तु वह गुण जो है, वह द्रव्य के आश्रय से है, अलग नहीं। जो गुण की व्याख्या की, वह गुण, द्रव्य के आश्रय से है; गुण, द्रव्य से अलग नहीं है, अलग गुण नहीं है। **ऐसे विचारपूर्वक निश्चय करें तो ऐसा गुण...** है न? अब, अरिहन्त लेते हैं – द्रव्य। **कारण कि गुण द्रव्याश्रित है,...** वह निर्मल केवलज्ञान पर्याय, उस द्रव्य के आश्रय से है; वह पर्याय उस द्रव्य से अलग नहीं है – ऐसा विचारकर निश्चय करते हैं। ऐसा विचारकर निश्चय करते हैं। **तो ऐसा गुण...** अर्थात् ऐसी पर्याय। प्रगटरूप, पर्याय तो प्रगट है न? **अरिहन्त और सिद्ध में होता है।** ऐसी केवलज्ञान की पर्याय, पहले सर्वज्ञ को याद किया है, लो! पुरुषार्थसिद्ध्युपाय बताते हुए, श्रावक के आचार बताते हुए बारह व्रत आदि को बताते हैं। समझे न? दर्शन-ज्ञान सहित, हों! सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित श्रावक के अणुव्रत कैसे होते हैं, उन्हें बतायेंगे। इसमें पहले ही सर्वज्ञ को याद किया है। धर्मात्मा की सर्वज्ञ ही पहले स्तुति करनेयोग्य है – ऐसा यहाँ सिद्ध किया।

तो ऐसा गुण प्रकटरूप से अरिहन्त और सिद्ध में होता है। इस प्रकार अपने इष्टदेव का स्तवन किया। लो! इस प्रकार 'अमृतचन्द्राचार्य' महाराज ने अपने इष्ट अर्थात् प्रिय, ऐसे परमात्मादेव की शक्ति का यहाँ स्तवन किया, देव के गुण गाये। शास्त्र के नियम प्रमाण देव-शास्त्र-गुरु — ऐसा आता है न? उसमें देव की व्याख्या की। अब, गुरु न लेकर शास्त्र लेते हैं, आगम लेते हैं। फिर गुरु की बात। पहले स्वयं स्वयं की कहेंगे कि मैं यह कहता हूँ, परमागम कहता हूँ; उससे पुरुषार्थसिद्धि का उपाय विद्वानों को समझने योग्य है – ऐसी बात करेंगे। ऐसी आगम की व्याख्या फिर से आयेगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

www.vitragvani.com

गाथा - २

अब इष्ट आगम का स्तवन करते हैं -

परमागमस्य [1]जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।२।।

परमागम का बीज, निषेधक जन्मान्धों का हस्तिकथन।
नय-विरोध सम्पूर्ण विनाशक अनेकान्त को करूँ नमन।।२।।

अन्वयार्थ : (निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्) जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति-विधान का निषेध करनेवाला, (सकलनय विलसितानाम्) समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वभाव का (विरोधमथनं) विरोध दूर करनेवाला (परमागमस्य) उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का (जीवं) जीवभूत (अनेकान्तम्) अनेकान्त को-एक पक्ष रहित स्याद्वाद को मैं अमृतचन्द्रसूरि नमस्कार करता हूँ।

टीका : 'अहं अनेकान्तं नमामि' - मैं ग्रन्थकर्त्ता, अनेकान्त-एक पक्ष रहित स्याद्वाद को नमस्कार करता हूँ। यहाँ कोई 'प्रश्न' करे कि जिनागम को नमस्कार करना चाहिये था, उसके बदले स्याद्वाद को नमस्कार किया, उसका कारण क्या? उसका 'उत्तर' :- जिस स्याद्वाद को हमने नमस्कार किया, वह कैसा है? ''परमागमस्य जीवं'' उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीवभूत है।

भावार्थ : जैसे शरीर, जीवसहित कार्यकारी है, जीवरहित मृतक शरीर किसी काम का नहीं, वैसे ही जैन सिद्धान्त भी वचनात्मक है, वचन क्रमवर्ती है। वह जो कथन करता है, वह एक नय की प्रधानता से करता है परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वाद से व्याप्त है। जहाँ एक नय की प्रधानता है, वहाँ दूसरा नय सापेक्ष है; इसलिए जैन सिद्धान्त इस जीव को कार्यकारी है। अन्यमत का सिद्धान्त एक पक्ष से दूषित है, स्याद्वाद रहित

१. पाठांतर-बीजं।

www.vitragvani.com

है; अतः कार्यकारी नहीं है। जो जैन शास्त्रों के उपदेश को भी अपने अज्ञान से स्याद्वाद रहित श्रद्धान करते हैं, उन्हें विपरीत फल मिलता है। इसलिए स्याद्वाद परमागम का जीवभूत है। उसे नमस्कार करता हूँ।

कैसा है स्याद्वाद? 'निषिद्धजात्यनध सिन्धुरविधानम्' जन्मान्ध पुरुषों का हस्ति–विधान जिसने दूर कर दिया है, ऐसा है। जिस प्रकार अनेक जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हाथी के अनेक अंग अपनी स्पर्शनेन्द्रिय से अलग–अलग जाने। आँखों के बिना, पूर्ण सर्वांग हाथी को न जानने से, हाथी का स्वरूप अनेक प्रकार कहकर (एक अंग को ही सर्वांग मानकर) परस्पर वाद करने लगे। तब आँखवाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके उनकी भिन्न–भिन्न कल्पना को दूर कर दिया। उसी प्रकार अज्ञानी एक वस्तु के अनेक अंगों को अपनी बुद्धि से जुदे–जुदे अन्य–अनय रीति से निश्चय करता है। सम्यग्ज्ञान बिना सर्वांग (सम्पूर्ण) वस्तु को न जानने से एकान्तरूप वस्तु मानकर परस्पर वाद करता है। वहाँ स्याद्वाद विद्या के बल से सम्यग्ज्ञानी यथार्थरूपेण वस्तु का निर्णय करके उसकी भिन्न–भिन्न कल्पना दूर कर देता है। उसका उदाहरण –

सांख्यमती वसतु को नित्य ही मानता है, बौद्धमती क्षणिक ही मानता है। स्याद्वादी कहता है कि जो वस्तु सर्वथा नित्य ही हो तो अनेक अवस्थाओं का पलटना किस प्रकार बन सकता है? जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लें तो 'जो वस्तु पहले देखी थी, वह यही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान किस प्रकार हो सकता है? अतः कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक है। इस भाँति जब स्याद्वाद से सर्वांग वस्तु का निर्णय करने में आता है, तब एकान्त श्रद्धा का निषेध हो जाता है। पुनः कैसा है स्याद्वाद? 'सकल नय विलसितानां विरोधमथनं' समस्त नयों से प्रकाशित जो वस्तु–स्वभाव, उसके विरोध को दूर करता है।

भावार्थ : नय–विवक्षा से वस्तु में अनेक स्वभाव हैं और उनमें परस्पर विरोध है। जैसे कि अस्ति और नास्ति का प्रतिपक्षीपना है परन्तु जब स्याद्वाद से स्थापन करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है। किस प्रकार? एक ही पदार्थ कथंचित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है, कथंचित् परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तिरूप है। कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है, कथंचित् गुण–पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है। कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से गुण–पर्यायादि अनेक–

भेदरूप है। कथंचित् सत् की अपेक्षा से अभेदरूप है। कथंचित् द्रव्य अपेक्षा से नित्य है, कथंचित् पर्याय अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार स्याद्वाद सर्व विरोध को दूर करता है। स्यात् अर्थात् कथंचित् नय–अपेक्षा से, वाद अर्थात् वस्तु–स्वभाव का कथन, इसे स्याद्वाद कहते हैं, इसी को नमस्कार किया है।।२।।

प्रवचन नं. २ गाथा–२ बुधवार, माघ कृष्ण १, दिनांक २८.१२.१९६६

'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय', अमृतचन्द्राचार्यकृत शास्त्र है। पहली गाथा में इष्टदेव की पहिचान करके नमस्कार किया है। इष्टदेव को नमस्कार। इष्टदेव कैसे? दर्पण के तल में जैसे सभी पदार्थ ज्ञात होते हैं, वैसे जिनके ज्ञान में सब पदार्थों का समूह ज्ञात हो – ऐसी जिन्हें शक्ति प्रगट हो गयी है – ऐसे परमात्मा को पहिचानकर, उन्हें नमस्कार किया है। धर्म का मूल सर्वज्ञ पहले से होना चाहिए। एक समय में तीन काल, तीन लोक के पदार्थों के समूह को सब प्रत्यक्ष है, जिनके ज्ञान में पूर्ण आ जाए, ऐसे ज्ञानी को देव कहा जाता है। ऐसा कहकर पहिचान से केवली की प्रसिद्धि की और उन्हें वन्दन किया। ऐसा दूसरा हो सकता नहीं। ऐसे देव, जैन वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र होते नहीं – ऐसा कहकर मांगलिक किया।....

अब इष्ट आगम का स्तवन करते हैं – देव–शास्त्र.........

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।२।।

क्या कहते हैं? **जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति–विधान का निषेध करनेवाला,...** अन्धे.... सब हाथी को देखें। आँखें नहीं, स्पर्श इन्द्रिय से देखें और उसका विधान करे, बतावे कि हाथी ऐसा... ऐसा... ऐसा... छाज जैसा हाथी है, थम्बे जैसा हाथी है, एक–एक... देखकर कहे। जन्म से अन्धे, ऐसे पुरुषों के हाथी के विधान की रीति का निषेध करनेवाले। एक–एक पहलू को जाननेवाले अन्धे, पूरी वस्तु को नहीं जान सकते; उनका निषेध करनेवाला कौन? यह परमागम। **समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वभाव का**

www.vitragvani.com

'सकलनय विलसितानाम्' समस्त नयों से परिपूर्ण पदार्थ का स्वरूप है तथा उस नय से ऐसा है। वस्तु का स्वरूप है, उस प्रकार, हों! समस्त नयों से प्रकाशित वस्तुस्वभाव। जैसा वस्तु का स्वभाव है, उसके अनेक अंगों में से एक-एक अंग को भी भिन्न-भिन्न करके अनेक नयों से उसका ज्ञान कराता है। **'विरोधमथनं' विरोध दूर करनेवाला...** है। नित्यानित्य, एक-अनेक आदि धर्म है, उनका भी यह परमागम स्याद्वाद विरोध दूर करनेवाला है, विरोध दूर करनेवाला है। विरोध उसमें रहता नहीं।

'परमागमस्य' उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीवभूत... परमागम के सिद्धान्तरूपी परमागम, उसका जीवभूत। शब्द 'जीव' है, उसका अर्थ जीवभूत। उसका तत्त्व, इस बिना अनेकान्त न होवे तो जैसे मरा हुआ – जीवरहित कलेवर। वैसे यह अनेकान्त न होवे तो यह शास्त्र मरे हुए कलेवर जैसा है – ऐसा कहते हैं। **अनेकान्त को–एक पक्ष रहित स्याद्वाद को मैं...** लो! इसमें गड़बड़ है सब, कहेंगे नीचे। **अनेकान्त को–एक पक्ष रहित स्याद्वाद को...** वस्तु के स्वभाव में अनन्त अंग, धर्म हों, उनकी बात है। समझ में आया? उसमें न हो, उनकी बात कहाँ से आवे? इसमें कहा न? **'सकलनय विलसितानाम्'** इसमें अनेक नयों से विलसित – ऐसा उसका धर्म है, उसे यह परमागम बतलाता है।

अनेकान्त को–एक पक्ष रहित स्याद्वाद को मैं अमृतचन्द्रसूरि नमस्कार करता हूँ। लो! अनेकान्त को नमस्कार किया है। समझ में आया? इस अनेकान्त के बहाने अभी बड़ी गड़बड़ उठी है। सिद्ध को भी कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र (कहते हैं,) इसका नाम अनेकान्त। ऐसा अनेकान्त नहीं होता। उनमें – सिद्ध में हो, उसे अनेकान्तपना लागू पड़ता है। पूर्ण स्वतन्त्र सुखी हैं, बिल्कुल-किंचित् परतन्त्र नहीं – ऐसे उनमें धर्म हैं। कथंचित् परतन्त्र-ऐसा कोई धर्म उनमें नहीं है। अब, स्याद्वाद का – अनेकान्त का ऐसा अर्थ करते हैं, लो! सबमें फुदड़ीवाद!

टीका : 'अहं अनेकान्तं नमामि' – मैं ग्रन्थकर्ता,... अमृतचन्द्राचार्यसूरि, जो समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय के मूल टीका-कर्ता। एक-एक ग्रन्थ में आता है, उनकी तो टीका की थी। मैं एक ग्रन्थकर्ता। लो! देखो! आया या नहीं मैं ग्रन्थकर्ता? पीछे कहा था – मैं कहनेवाला हूँ... आता है न? मैं कहनेवाला हूँ... उसका अर्थ लिया,

www.vitragvani.com

कहनेवाला हूँ, कहा है। मैं कहनेवाला और यह कहने योग्य है और मैं इसे कहता हूँ – ऐसे कुछ भ्रम करना नहीं, ऐसा कहा है। आहा! ऐसे वचनों से शास्त्र बने हैं। निमित्तरूप कौन था? – उसका ज्ञान कराने को कहते हैं। आत्मा से शास्त्र बनता नहीं। यह विवाद बड़ा। शास्त्र आत्मा (करता है), यह रहा लो! **मैं ग्रन्थकर्ता,...** है या नहीं? ग्रन्थकर्ता अमृतचन्द्राचार्य है। ग्रन्थकर्ता वाणी है? भाषावर्गणा कोई ग्रन्थ को करे? भाषावर्गणा ही ग्रन्थ को करे; आत्मा उसका कर्ता नहीं। यहाँ तो हाँ पाड़े तो हाँ पड़े वैसा है। यहाँ तो मैं ग्रन्थकर्ता–निमित्त कौन है, उसका ज्ञान कराया है। समझ में आया? निमित्तकर्ता कौन है? निमित्तकर्ता का अर्थ? होता है तो स्वतन्त्र, परन्तु निमित्तरूप में था इतना निमित्तकर्ता, ग्रन्थकर्ता – ऐसा कहने में आया है। निमित्तकर्ता का अर्थ? कि पर का कर्ता नहीं। उसका अर्थ ही यह है। यह शब्द आवे, इसलिए विवाद उठाते हैं। लो! मैं कर्ता हूँ – आया नहीं? मैं कर्ता हूँ – यह तो किस अपेक्षा से लिखा है, लिखने की भाषा है। स्वयं २२६ गाथा में कहा है, अन्त में है। वर्ण ने यह किया, पद से हुआ वाक्य और वाक्य से हुआ शास्त्र। अन्तिम गाथा है, लो!

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्साभिः।।२२६।।

वे इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि स्वयं की लघुता नक्की करेंगे। यह समयसार के माहात्म्य के लिये बताते हैं, वरना किया है तो इन्होंने, ऐसी बात करते हैं। है? **स्वामी अमृतचन्द्र महाराज ग्रन्थ पूर्ण करता पूर्ण लघुता बताते हैं...** लघुता अर्थात्?... समझ में आया? **वर्णैः कृतानि चित्रैः** देखा? ...अर्थात् अनेक प्रकार के अक्षरों द्वारा रचा हुआ पद, पद से बना हुआ वाक्य, ऐसा। देखा? और वाक्यों से फिर यह पवित्र शुद्ध शास्त्र कहा, बनाने में आया? **हमने कुछ भी बनाया नहीं...** वे तो कहते हैं लघुता के लिये, परन्तु किया (बनाया) तो है न? यह विवाद, लो! ठीक, किया नहीं। **वर्णैः कृतानि चित्रैः** ऐसा है न? अनेक प्रकार के चित्रवाले अर्थात् अनेक प्रकार के अक्षरों द्वारा **कृतानि** है। आत्मा से किया हुआ नहीं। कहो, समझ में आया? बड़ा विवाद चलता है।

'अहं अनेकान्तं नमामि' – मैं ग्रन्थकर्ता, अनेकान्त–एक पक्ष रहित स्याद्वाद

www.vitragvani.com

को नमस्कार करता हूँ। देखो! एक पक्षरहित अर्थात् पक्ष नहीं – आत्मा नित्य ही है, अनित्य (ही) है, एक ही है, अनेक ही है... ऐसे एकान्त नहीं। जैसा है, वैसा एक पक्ष रहित स्याद् – अपेक्षा से, वाद – कहना – ऐसे अनेकान्त को **नमस्कार करता हूँ।** शब्द में प्रत्येक में फर्क, अर्थ न करे तो क्या हो?

यहाँ कोई प्रश्न करे कि जिनागम को नमस्कार करना चाहिये था,... प्रश्न यह है। परमागम का **'जीवं',** अनेकान्त को नमस्कार किया। परमागम का जीवं अथवा जीवं अनेकान्त को नमस्कार। परमागम को क्यों नमस्कार नहीं किया? **स्याद्वाद को नमस्कार किया, उसका कारण क्या?** लो! **उसका उत्तर –** स्याद्वाद को क्यों नमस्कार किया, अर्थात् अनेकान्त को क्यों नमस्कार किया? ऐसा। परमागम को नमस्कार करना है, परन्तु परमागम का जीव तो अनेकान्त है, तो परमागम को नमस्कार करना था।

उसका उत्तर – जिस स्याद्वाद को हमने नमस्कार किया, वह कैसा है? लो! स्याद्वाद को, कैसा है? **उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीवभूत है।** वह परमागम का जीवभूत है, इसलिए उसे नमस्कार किया है। उसका तत्त्व है। समझ में आया? परमागम का वह सत्व है, परमागम का वह माल है; अनेकान्त, वह परमागम का माल है। प्रत्येक द्रव्य, द्रव्यरूप से है, परद्रव्यरूप से नहीं; प्रत्येक गुण, गुणरूप से है, दूसरे गुणपने नहीं; प्रत्येक पर्याय स्वपने है, परपने नहीं। ऐसा जो अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है उसमें। ऐसा स्वरूप परमागम का जीवभूत अनेकान्त, उसे हमने नमस्कार किया है, क्योंकि वह परमागम का जीवभूत है।

परमागम को नमस्कार नहीं किया और इसे क्यों किया? (क्योंकि) यह परमागम का सत्त्व है। अनेकान्त, वह परमागम का सार है, इसलिए उसे नमस्कार किया है। प्रत्येक को ऐसा अनेकान्त लगा देना – ऐसा कितने ही कहते हैं। समझे न? लगाया है न? देखो न! कितने ही पण्डित सामने पड़े हैं कि ऐसा नहीं होता – सिद्ध भी परतन्त्र, सादि–अनन्त परतन्त्र (हैं)। कहो! सादि–अनन्त परतन्त्र हुए, आगे नहीं जा सके इसलिए। सिद्ध हुए न तब से। सिद्ध हुए तब से वे अनन्त काल तक परतन्त्र–सादि–अनन्त परतन्त्र। संसारी तो परतन्त्र थे, वह तो फिर अलग। समझ में आया? कोई सिद्ध को परतन्त्र ठहराते हैं। आगे

www.vitragvani.com

धर्मास्तिकाय नहीं, इसलिए जाते नहीं, इतना परतन्त्र सही या नहीं ? विभाविक शक्ति... तो निमित्ताधीन काम नहीं कर सकती। सिद्ध को शरीर प्रमाण उनका आकार रहना पड़ा। अन्तिम शरीर प्रमाण आकार रहना पड़ा न ? इतने पराधीन हैं या नहीं ?

मुमुक्षु : ......

उत्तर : कौन करता है लम्बा ? पराधीन जरा भी नहीं। स्वयं का स्वभाव पूर्ण स्वतन्त्र प्रगट हुआ है, जरा भी परतन्त्र है नहीं। ऐसा नहीं कि अनेकान्त अर्थात् किंचित् परतन्त्र और किंचित् स्वतन्त्र। यह अनेकान्त ऐसा नहीं है। उनमें स्वतन्त्रता पूर्ण हुई है, परतन्त्रता जरा भी नहीं – ऐसे अनेकान्त को भगवान, परमागम का जीव कहते हैं। परमागम का बीज है। **उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीवभूत है।**

भावार्थ : जैसे शरीर, जीवसहित कार्यकारी है,... देखो ! ऐ...ई ! कार्यकारी का अर्थ कि जीव होवे तो शरीर को जीव कहा जाता है, इस सचेत शरीर को, परन्तु जीव अकेला नहीं हो तो मुर्दा कहलाता है, ऐसे इतनी बात है। जीव न होवे तो शरीर मुर्दा कहलाता है, जीव होवे तो इसे – शरीर को सचेतन कहा जाता है कि इसका शरीर है। ...शरीर, जीवसहित कार्यकारी है, अर्थात् जीव होवे तो शरीर का कार्यकारीपना हो – ऐसा यहाँ नहीं कहना है। शरीर का कार्य तो शरीर से होता है, परन्तु शरीर में जीव होवे तो शरीर की कीमत कही जाती है, नहीं तो मुर्दा है ऐसा। जला देते हैं या नहीं ? जीव होवे, तब तक रखते हैं, जीव निकला तो जाओ जला दो, करो राख। जीव होवे, तब तक एक मक्खी बैठने न दे, अमुक चाहिए, पंखा लगाये... जीव गया तो डालो, अर्थी को मजबूत बाँधो। कहो ! ऐसा बाँधे कि ऊपर श्वाँस न ले सके इतना ऐसा बाँधे। इस जीव रहित शरीर की जैसे कोई कीमत नहीं – ऐसा कहना है।

जीव रहित मृतक शरीर किसी काम का नहीं... फिर अर्थ में विवाद उठाते हैं, क्षण-क्षण में उठावे ...सत्य की ऐसी चीज है। **वैसे ही जैन सिद्धान्त भी वचनात्मक है,...** लो ! जैन सिद्धान्त है, वह वचनस्वरूप है। शब्द तो वचनस्वरूप हैं न ? यह आगम। **वचन क्रमवर्ती है।** देखो ! यहाँ स्याद्वाद सिद्ध करना है न ? वचन हैं, वे क्रम-क्रम से कह सकते हैं, एक साथ पूरा नहीं कह सकते। एक द्रव्य के अनन्त गुण एक साथ कह सकें ?

नित्यपना, अनित्यपना एक साथ कह सकें? ऐसे वचन क्रमवर्ती हैं, अर्थात् एक साथ कह नहीं सकते।

वह जो कथन करता है, वह एक नय की प्रधानता से करता है... वचन जो पदार्थ का स्वभाव कहते हैं, वह क्रम-क्रम से कहते हैं और इससे वह वचन उस एक नय की प्रधानता से वचन होता है। **परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वाद से व्याप्त है।** देखो! यहाँ आया। परन्तु जैन सिद्धान्त – भगवान की वाणी सर्वत्र स्याद्वाद से – कथंचित् कहने से व्याप्त है। इसलिए इसमें भ्रम डालते हैं। **जहाँ एक नय की प्रधानता है, वहाँ दूसरा नय सापेक्ष है,...** एक नय से आत्मा (को) नित्य कहे, वहाँ दूसरा नय अनित्य, वह सापेक्ष में रहा है, अनित्य भी साथ है। नित्य कहा, इसलिए नित्य (ही) है – ऐसा नहीं है।

दूसरा नय सापेक्ष है,... एक नय की मुख्यता से कहा, देखो! प्रधानता। **वहाँ दूसरा नय सापेक्ष है, इसलिए जैन सिद्धान्त इस जीव को कार्यकारी है।** लो! जैन सिद्धान्त इस जीव को कार्यकारी है। यह वचनस्वरूप जैन सिद्धान्त.... कहे और बात आवे तब। एक ओर कहे, जैन सिद्धान्त से ज्ञान होता नहीं, वाणी से ज्ञान होता नहीं, लो! निमित्तपना कौन है – यह बताना है न? समझ में आया? कहते हैं कि ज्ञानी को इस शास्त्र से ज्ञान होता नहीं, वाणी से ज्ञान होता नहीं, दिव्यध्वनि से भी होता नहीं। कहो! ज्ञान, ज्ञान से होता है, परन्तु उसमें निमित्त कौन था? – उसकी बात करके जैन सिद्धान्त इस जीव को इस अपेक्षा से कार्यकारी है। समझ में आया?

अन्यमत का सिद्धान्त एक पक्ष से दूषित है,... दूसरे के – अज्ञानी के कहे हुए शास्त्र एक ही पक्षी – दूसरे पक्ष को नहीं मानने के कारण दूषित हैं। **स्याद्वादरहित है,...** उनमें स्याद्वादपना नहीं है। अपेक्षा से जानकर कहना एक पक्ष है और दूसरा पक्ष भी सामने है – यह बात नहीं मानते। **अतः कार्यकारी नहीं है।** इतना सिद्ध करना है। अनेकान्त – सर्वज्ञ के कथित सिद्धान्त, जीव को निमित्तरूप से कार्यकारी कहने में आते हैं और अज्ञानी के सिद्धान्त एक पक्ष से दूषित है, इसलिए वे कार्यकारी हैं नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी–परमागम, अनेकान्त से भरपूर है, वही आत्मा को हितकर है, क्योंकि वास्तविक वस्तु के स्वरूप को बतानेवाली है।

www.vitragvani.com

जो जैन शास्त्रों के... अब, यहाँ कहते हैं, देखो! **जो जैन शास्त्रों के उपदेश को भी अपने अज्ञान से स्याद्वाद रहित श्रद्धान करते हैं,**... लो! इसमें भी वापस अपेक्षा से जो कहा हो, उसे न समझे और एकान्त से माने। **जो जैन शास्त्रों के उपदेश को भी**... ऐसा। दूसरे को तो क्या, दूसरे की तो बात की – अन्यमती के विषय में। जैन शासन में अनेकान्त से कथन है, उसे भी अपने ज्ञान से स्याद्वाद रहित अपेक्षा कथन किया एकान्त नित्य माने या अनित्य ही माने या शुद्ध ही माने, संसारी को पर्याय में अशुद्धता न माने। **अपने अज्ञान से स्याद्वाद रहित श्रद्धान करते हैं, उन्हें विपरीत फल मिलता है।** लो! यह जैनशासन के पढ़नेवाले को भी, अपने अज्ञान से स्याद्वादरहित श्रद्धा करे, उसे उसका विपरीत फल आता है। पहले में पहले कार्यकारी कहा था न? परन्तु वह तो वास्तविक तत्त्व, अनेकान्त से समझे, उसे कार्यकारी (होता है।) उसे भी अपने ज्ञान से... देखो न! शास्त्रों का अर्थ कितना बदलते हैं! परन्तु क्या हो इसमें? ओहो...! पूरी बात बदल डाली। वे कहते हैं कि तुमने बदला, यह कहते हैं। पण्डितों–पण्डितों में दो के बीच विवाद पड़ा न अभी तो।

जैन शास्त्रों के उपदेश को भी... ऐसा। उनमें (अन्यमत में) तो दूषित है ही, परन्तु जैन सिद्धान्त के **उपदेश को भी अपने अज्ञान से**... अर्थात् इसमें तो है, यह अनेकान्तपना यथार्थ है परन्तु **अपने अज्ञान से स्याद्वाद रहित**... अपेक्षा के कथन बिना श्रद्धा करता है, उसे तो विपरीत फल मिलता है, उसे तो मिथ्यात्व का फल और चार गति के दुःख प्राप्त होते हैं। **इसलिए स्याद्वाद परमागम का जीवभूत है।** इसलिए अनेकान्तवाद–अनेकान्त इसका स्वभाव है, स्याद्वाद इसका कथन है। अनेकान्त इसका धर्म है और स्याद्वाद इसका कथन है... **इसलिए स्याद्वाद**... अपेक्षा से कहना, वह **परमागम का जीवभूत**... जीव / सत्त्व है। परमागम का जीवता चेतन वह है – अनेकान्त। **उसे नमस्कार करता हूँ।** कहो, समझ में आया? स्व से लाभ हो और पर से लाभ हो, दो प्रकार का अनेकान्त, ऐसा फिर वापस लगाते हैं। अनेकान्त है, बोले अवश्य ऐसा, भाषा में आवे इससे ऐसा हो, इससे ऐसा हो।

मुमुक्षु : ......

www.vitragvani.com

उत्तर : यह लाभ आवे भाषा भी है नहीं। लाभ क्या है परन्तु ? क्या हो ? वस्तु ही ऐसी है। सुनने का भाव - विकल्प आवे बिना नहीं रहे ? और उसकी योग्यता होवे तो वैसा निमित्त न हो - ऐसा हो ? तथापि उससे होता नहीं। बोलने में तो ऐसा आवे कि उससे होता है। धर्मास्तिकाय होवे तो गति होती है - ऐसा बोले न ? धर्मास्तिकाय होवे तो गति होती है, अधर्मास्तिकाय होवे तो स्थिरता होती है। इसलिए कहीं ऐसा नहीं है। व्यवहार का कथन आवे। ऐसा यहाँ कहा न ? शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं होता - ऐसा भी कहा, लो न !... उससे कार्यकारी होता है - ऐसा लिया, लो ! समझ में आया ? निमित्त से कथन है न, भाई ! परमागम शास्त्र कहना है अर्थात् वचनात्मक कथन है। उसमें अनेकान्तपना पड़ा है। उसे भलीभाँति समझे तो इसे अनेकान्त कार्यकारी शास्त्र कहलाये - ऐसा कहा न ? नहीं तो, कहते हैं ये के ये शास्त्र विपरीत फल मिले। इसी शास्त्र को स्वयं अपनी समझ की अपेक्षा से बात कही न ? शास्त्र तो शास्त्र है, ऐसा कहा न ? नहीं तो यह किसलिए लिखे ? **जैन शास्त्रों के उपदेश को भी...** अर्थात् उसकी वाणी को भी **अपने अज्ञान से...** यह तो स्वयं का अज्ञान हुआ। स्याद्वाद को समझना, यह भी अपना ज्ञान और विरुद्ध समझना, यह भी अपना अज्ञान है। समझ में आया या नहीं ? ठीक से समझे तो ज्ञान अपना हुआ और न समझे उसे तो अज्ञान उसका हुआ। अर्थात् स्वयं के कारण से इसे ज्ञान और अज्ञान होता है। **इसलिए स्याद्वाद परमागम का जीवभूत है। उसे नमस्कार करता हूँ।**

कैसा है स्याद्वाद? 'निषिद्धजात्यनध सिन्धुरविधानम्'.... 'सिन्धुर' क्या लिया ? **'सिन्धुर'** अर्थात् ? **'सिन्धुर'** का अर्थ हाथी। **'सिन्धुर'** अर्थात् हाथी ? **जन्मान्ध पुरुषों का हस्ति-विधान जिसने दूर कर दिया है,...** भाषा देखो ! अन्धे पुरुषों का हाथी का कथन, (उसका) जिसने विरोध दूर किया है। समझ में आया ? एक-एक अवयव को एक-एक; पूँछ पकड़ी हो, उसे बुहारी जैसा हाथी लगता है। लो, दाँत पकड़े हों, उसे... लगता है, पैर पकड़ा हो, उसे थम्बे - जैसा लगता है। लो !... उसे मोटी कोठी जैसा लगता है। हाथी कोठी जैसा था। एक कहता है - बुहारी जैसा था; एक कहे कि थम्बे जैसा था; एक कान पकड़कर कहता है कि सूपड़ा जैसा था। पूरा तो ऐसे देखे नहीं। एक-एक अंग को, उसके अंग जितने हैं, उतने से पूरा अंग देखना चाहिए; वैसा न देखकर, जो

www.vitragvani.com

उसके अंग हैं, उसके अंग हैं, उन्हें न देखकर, उनमें का एक–एक अंग देखकर पूरे अंगी को भूल जाते हैं।

जन्मान्ध पुरुषों का हस्ति–विधान... अर्थात् कथन करना। **जिसने दूर कर दिया है,...** एकान्त को। ऐसा स्याद्वाद है। **जिस प्रकार अनेक जन्मान्ध पुरुष मिले,...** सब अन्धे मिले। **उन्होंने एक हाथी के अनेक अंग अपनी स्पर्शनेन्द्रिय से अलग–अलग जाने।** लो! एक ही हाथी के अनेक अंग। हाथी एक, अंग अनेक। उन्हें **अपनी स्पर्शनेन्द्रिय से...** देखो! अन्धे तो स्पर्श से जाने न, ऐसे! अलग–अलग जाने। कहो, समझ में आया? **आँखों के बिना, पूर्ण सर्वांग हाथी को न जानने से,...** आँखें होवे तो उसमें सर्वांग हाथी को जाने। सर्वांग, सर्वांग। उस अनेक अंग को एक–एक से जाना। **सर्वांग हाथी को न जानने से, हाथी का स्वरूप अनेक प्रकार कहकर...** अन्धे, हाथी को अनेक प्रकार से कहते हैं – थम्बे जैसा है और कोठी जैसा है और अमुक है तथा अमुक है... **(एक अंग को ही सर्वांग मानकर)...** लो! एक ही भाग को पूरा हाथी गिनते हैं।

परस्पर वाद करने लगे। परस्पर झगड़ा करने लगे – वह कहे सूपड़ा जैसा हाथी नहीं; वह (दूसरा) कहे – तू कहता है वैसा नहीं; वह कहे – तू कहे वैसा नहीं। एक–एक अंग को जानकर स्पर्श इन्द्रिय से जाना। समझ में आया? दूध का दृष्टान्त आता है न? अन्धे को दूध (दिया)। दूध कैसा है? भाई! तो कहे – बगुले के पंख जैसा। बगुला कैसा होता है? कि ऐसा। ऐसा दूध नहीं खाया जाता मुझसे। वह तो पंख की उपमा कहीं। अन्धे ने देखा नहीं। अन्धे को कहा दूध कैसा? तो कहे – सफेद। सफेद कैसा होता है? बगुले के पंख जैसा। बगुला कैसा होता है? कि ऐसा। उसे हाथ अड़ा; तो कहे – नहीं, यह मुझसे खाया नहीं जाता। परन्तु बगुले का आकार पूछा। अन्धे को, देखे बिना बगुले का सफेद रंग कैसा है – इसका पता नहीं। वैसे अन्धे अनेक अंग में एक–एक अंग को स्पर्श कर स्पर्श इन्द्रिय द्वारा पूरे हाथी का रूप कहते हैं। परस्पर विवाद करते हैं। वह कहे – हाथी ऐसा। नहीं, नहीं; मैंने प्रत्यक्ष देखा है, पूँछ ऐसी थी, पैर ऐसा था, अमुक ऐसा था, सूंढ़ ऐसी मोटी... ऐसे–ऐसे सूढ़ थी, मूसल जैसी, लो! समझ में आया?

www.vitragvani.com

आँखों के बिना, पूर्ण सर्वांग हाथी को न जानने से, हाथी का स्वरूप अनेक प्रकार कहकर (एक अंग को ही सर्वांग मानकर) परस्पर वाद करने लगे। तब आँखवाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके... लो! **आँखवाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके...** एक ही आत्मा के अनेक धर्म हैं। उनमें एक-एक धर्म गिनकर, अज्ञानियों ने वाद-विवाद किया है। आत्मा में जो नित्य-त्रिकाल है, वह एक ही देखकर (कहने लगे) नित्य ही है। अनित्य देखकर कहे – अनित्य ही है; एक देखकर – एक ही है। ऐसे... हों! पूरा स्वरूप तो वहाँ सर्वज्ञ के बिना जानने में आया नहीं। आँख खुली हो तो पूरा वस्तु का स्वरूप जाने। एक-एक अंग पकड़कर बैठे, बस! नित्य है, नित्य है। दूसरा कहे – एक ही है, एक ही है, आत्मा। लो! **आँखवाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके उनकी भिन्न-भिन्न कल्पना को दूर कर दिया।** कहो! समझ में आया? किसकी? अन्धे, हाथी को देखनेवाले एक-एक अंग को देखकर, परस्पर विवाद करते थे, उन्हें हाथी को आँख से देखनेवाला (उनकी) **भिन्न-भिन्न कल्पना को दूर कर दिया।** अर्थात्... ऐसा पूरा नहीं, सब मिलकर पूरे हाथी का स्वरूप है।

उसी प्रकार अज्ञानी एक वस्तु के अनेक अंगों को... भाषा यहाँ है, देखो! **उसी प्रकार अज्ञानी एक वस्तु के अनेक अंगों...** उसमें अनेक अंग हैं। समझ में आया? एक आत्मा में अनेक धर्म हैं, नित्य-अनित्य आदि अनेक गुण, उसमें हैं, अंग उसके हैं न? है उसकी व्याख्या करनी है। **अज्ञानी एक वस्तु के अनेक अंगों को अपनी बुद्धि से...** है तो वस्तु में अनेक अंग वस्तु में **अपनी बुद्धि से जुदे-जुदे अन्य-अन्य रीति से निश्चय करता है।** ऐसा कहते हैं। वस्तु में तो अनन्त धर्म हैं – नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद-(ऐसे) अनेक धर्म हैं परन्तु **अपनी बुद्धि से...** अपनी बुद्धि से अर्थात् वस्तु में है, उस प्रकार नहीं जानता। **जुदे-जुदे अन्य-अन्य रीति से...** भिन्न-भिन्न, अन्य-अन्य प्रकार। एकान्त आत्मा क्षणिक ही है। लो! यह रीति दूसरी हो गयी। एकान्त आत्मा नित्य ही है – यह रीति दूसरी हो गयी। **अन्य-अन्य रीति से निश्चय करता है। सम्यग्ज्ञान बिना सर्वांग (सम्पूर्ण) वस्तु को न जानने से...** पूरा आत्मा का, परमाणु आदि द्रव्यों का पूर्ण स्वरूप अखण्ड क्या है, (उसके) **सम्यग्ज्ञान बिना सर्वांग (सम्पूर्ण) वस्तु को न जानने से एकान्तरूप वस्तु मानकर...** एक ही

www.vitragvani.com

गुण को, एक ही दशा को, एक ही स्थिति को मानने से परस्पर वाद करते हैं। वाद करते हैं। पहला कहे – क्षणिक है, अरे... ! पलटता है पता नहीं ?

...कहे, परमाणु हरा एक रंग का होवे तो अनादि-अनन्त हरा ही रहे; नहीं तो द्रव्य का नाश हो जाए – ऐसा कहता है। क्या ? हरा एक गुण हो या दो गुण हो, ऐसा अनादि-अनन्त रहे। एक गुण दो गुण न हो। एक गुण दो गुण होवे तो द्रव्य नष्ट हो जाए – ऐसा कहते। ऐसा कहते, बहुत कहते। बहुत जोरदार कहते थे न ? ऐसा जोर करते थे। नहीं, एक परमाणु का एक हरा गुण, वह दो गुण हो और हरे का पीला हो तो द्रव्य कहाँ रहा ? द्रव्य का नाश हो जाए, ऐसा। पर्याय बदले तो द्रव्य का नाश हो गया – ऐसा कहते। उनके गुरु के सामने पड़ते। कहो ! अब, जैन में रहे हुए ऐसे कहलाये कि हम सब पढ़े हुए हैं, उन्हें भी ऐसे घोटाले। वस्तु का पता नहीं होता। पलटे, पलटे क्या ? पलटे क्या ? परन्तु पलटे तब पर्याय पलटे या नहीं ? पर्याय हो भले, परन्तु पलटे ? एक गुण के दो गुण हो जाए तो द्रव्य का नाश हो जाए। परमाणु में शीत की उष्ण हो जाए तो वस्तु का नाश हो जाए। परमाणु खट्टा हो और वह मीठा हो जाए तो उसका नाश हो जाए। यह होते हैं न परमाणु दूसरे ? दूसरे परमाणु अन्दर मीठे थे, वे बाहर आये, इसलिए मीठा लिया। वे... परमाणु जो खट्टे थे, वे मीठे नहीं हुए। ऐसा... मीठे अन्दर थे, वे बाहर आये। ऐसे थे। कहो ! इसमें समझ में आया ? ऐसी धमाल करे, बहुत धमाल करे। आहाहा ! जैन सिद्धान्त का मैं जाननेवाला हूँ।

अज्ञानी सम्पूर्ण वस्तु को न जानने से, सम्यग्ज्ञान बिना **एकान्तरूप वस्तु मानकर परस्पर वाद करता है।**... लो, देखो न ! बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं, बड़ा पूरा बौद्ध का मत है। क्षणिक रहे, वह वस्तु; क्षणिक रहे, वह वस्तु; कायम रहे, वह वस्तु नहीं। वेदान्त एकदम एकान्त वस्तु को मानता है। बस ! वस्तु ध्रुव ही है। पलटे ? वस्तु पलटे ? एक बार बाबा भगा। वह जाने कि ये अध्यात्म की बात करते हैं। महाराज ! लाओ हम जाएँ। कहा – भाई ! वस्तु पलटती है। वस्तु पलटे ? आत्मा पलटे ? ओ..य ! अपने को सुनना नहीं। आत्मा पलटे तो आत्मा का नाश हो जाए। अविनाशी वस्तु है। आहाहा ! भाई ! अविनाशी तो वस्तुरूप से है, परन्तु पर्यायरूप से तो नाशवान है, पर्यायरूप से तो नाश्वान है। पर्याय पलट जाती है, नाशवान है। नाशवान और अविनाशी – दोनों उसके धर्म हैं। अकेला

www.vitragvani.com

अविनाशी माने तो भी नहीं; अकेला विनाशी माने तो भी नहीं। शरीरादि को नाशवान माने और आत्मा को अविनाशी माने, परन्तु वह तो किस अपेक्षा से ? समझ में आया ? इस शरीर की पर्याय पलट जाती है, एक साथ ज्यादा की, इस अपेक्षा से नाश हुआ – ऐसा कहा जाता है, परन्तु आत्मा भी विनाशीक है। क्षण–क्षण में आत्मा पलटे, इस अपेक्षा से विनाशीक है। व्यय होता है, नाश होता है, विनाश होता है, मृत्यु होती है। आहाहा! (जिसे) संसार का मरण हो, उसे मोक्ष का उत्पाद होता है। आत्मा, संसार से मर जाता है, मोक्ष होता है तब। कहो, समझ में आया ? ऐसे प्रत्येक पदार्थ नयी–नयी अवस्था से उपजता है; पूर्व अवस्था से व्यय होता है, नाश हो जाता है, तथापि वस्तु का नाश नहीं।

स्याद्वाद विद्या के बल से... वहाँ स्याद्वाद विद्या के बल से... वहाँ पहले (दृष्टान्त में) आँखों का था। यहाँ स्याद्वाद विद्या के बल द्वारा (– ऐसा लिया।) परन्तु अपेक्षा से कथन था जो वस्तु के स्वभाव का। जब अविनाशी कहना था, तब त्रिकाल की अपेक्षा अविनाशी कहा और इस संयोग का विनाशीक कहा। आता है न ?... तू अविनाशी... अविनाशी का अर्थ कि यह सब बदल जाए परन्तु तू कोई आत्मा बदलकर दूसरा नहीं होता। यह तो दूसरी पर्याय बदलकर दूसरी दशा हो जाए, इस अपेक्षा से। बाकी समय–समय विनाशीक आत्मा है। विनाशीक होगा ? पर्याय अपेक्षा से विनाश। पर्याय बदलती है; बदलती है कहो या विनाश कहो। पहले की अवस्था थी, वह गयी; गयी और दूसरी नयी हुई; ध्रुवरूप से तो कायम रहा। ऐसा न जाने, तब तक वस्तु के पूर्ण स्वरूप को इसने पहिचाना नहीं।

वहाँ स्याद्वाद विद्या के बल से... भगवान द्वारा कथित अनेकान्त—ऐसे ज्ञान—**बल से सम्यग्ज्ञानी यथार्थरूपेण वस्तु का निर्णय करके उसकी भिन्न–भिन्न कल्पना दूर कर देता है।** उन अन्धों की जैसे भिन्न–भिन्न (कल्पनायें दूर) की; ऐसे सम्यग्ज्ञानी, वस्तु के यथार्थपने का (निर्णय करके भिन्न–भिन्न कल्पनाओं को दूर करता है।) सभी धर्म सच्चे, सभी सच्चे – ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। कितने ही कहते हैं न ? सभी धर्म सच्चे, अपने को तो कोई खोटे लगते नहीं। वह स्वयं ही खोटा है। सभी धर्म, अपने को तो सबमें अच्छा ही लगता है। वह यहाँ कहते हैं कि मूर्ख है, तुझे भान नहीं। पूर्ण धर्म के

www.vitragvani.com

अवयव को, पूर्ण अंगों को न जाननेवाला, उसमें एक भी सच्चा धर्म हो सकता नहीं। समझ में आया इसमें ?

कहते हैं, **वहाँ स्याद्वाद विद्या के बल से...** सच्चा ज्ञानी, यथार्थ तत्त्व को जाननेवाला। कार्य होता है, वह पर्याय में (होता है), द्रव्य वैसा का वैसा रहता है – ऐसे दोनों धर्म उसमें जानता हुआ, अपने अनुभव से जानता हुआ, अपने ज्ञान से जानता हुआ, वह सम्यग्ज्ञानी यथार्थरूप से वस्तु का निर्णय करके, उनकी अर्थात् अज्ञानियों की भिन्न-भिन्न कल्पना—एकान्त क्षणिक ही है, या एकान्त नित्य है— **उसकी भिन्न-भिन्न कल्पना दूर कर देता है। उसका उदाहरण–** उसका दृष्टान्त देते हैं।

सांख्यमती वसतु को नित्य ही मानता है,... एकदम नित्य है, पलटती नहीं, बदलती नहीं – सांख्य (वस्तु को) ऐसी मानता है। अपरिणामी कूटस्थ। **बौद्धमती क्षणिक ही मानता है।** यह बड़ा बौद्धमत है न अभी ? अनित्य है, एक ही समय वस्तु रहती है; दो समय तो दोष हो गया, विकारी हो गयी। एक क्षणिक ही मानता है, एक समय का ही आत्मा। कोई भी वस्तु एक समय ही रहती है, अधिक रहती नहीं – ऐसा मानता है।

स्याद्वादी कहता है कि जो वस्तु सर्वथा नित्य ही हो... आत्मा और परमाणु सर्वथा नित्य अर्थात् एकरूप रहनेवाले हों तो **अनेक अवस्थाओं का पलटना किस प्रकार बन सकता है ?** कहो ! समझ में आया ? आत्मा और परमाणु एक ही अवस्था, एक ही प्रकार से सर्वथा टिका रहना, एकरूप ही रहे – ऐसा यदि हो तो अनेक अवस्था का पलटना – आत्मा में भी अनेक दशा का होना, परमाणु में भी अनेक दशा का होना; **किस प्रकार बन सकता है ?** वह किस प्रकार होगा ? कहो ! समझ में आया इसमें ?

जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लें तो 'जो वस्तु पहले देखी थी, वह यही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? लो ! क्षणिक ही माने तो पहले थी, वह की वह यह चीज है, तू कल पैसे लेने आया था, वह का वह तू देने आया है। समझ में आया या नहीं ? या दूसरा है ? वस्तुरूप से। **'जो वस्तु पहले देखी थी, वह यही है'... जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक मान लें तो 'जो वस्तु पहले देखी थी, वह यही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?** यह तुम कल आये थे, वह न ? –

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

ऐसा नहीं कहते ? वह का वही रहा हो तो न ? तुम कल आये थे। हाँ, मैं आया था।

अत: कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है... देखो! यह जैनदर्शन का अनेकान्तपना, यह वस्तु का–जीव का सत्त्व है। उसे यहाँ आचार्य महाराज ने बहुत वर्णन किया है। यह समझे बिना अज्ञानी अपनी कल्पना से अनेक धर्मों में एकपना देखता है। अनेक धर्म में एकपना देखता है – ऐसा नहीं है। समझ में आया ?... अनेक दिखे, परन्तु फिर भी वस्तु की स्थिति पूरी अलग होती है। वस्तु को जानता नहीं। नहीं तो ऐसा कहे, एक है, और स्वयं ऐसा ध्यान करने लगे लो! इसका अर्थ क्या हुआ ? समझ में आया ? एक है, और एक ओर बाबा बैठता था – एक है तो यह क्या करता है यह ? एक ही हो, उसे फिर अन्दर देखने का क्या ? और उसे बाहर से हटना क्या ? एक ही आत्मा हो, एक ही आठमा हो—ऐसा माने, फिर कहे—तुम (ऐसा करो) तो ऐसा किसलिए करते हो ? अनेकपना माना है, इसलिए एकपना मानने के लिये। परन्तु अनेकपना माना... अनेक हो गया। पहली अवस्था ऐसी थी तो अब मुझे ऐसा करना है – यह तो अनेक अवस्था हो गयी; वस्तु एक न रही। आत्मा एक होवे तो... एक है तो फिर ऐसा किसलिए करता है अन्दर ? पहली अवस्था कुछ थी और दूसरी अवस्था को बदलाने को अन्दर में ध्यान करता है। इसका अर्थ कि वह का वही रहकर आत्मा बदलता है, ऐसी अवस्था एक में दो प्रकार है। वस्तु अपेक्षा से एक है और दशा अपेक्षा से अनेक है। वह की वही वस्तु अनेक हुई। अनेक न हो तो तू ऐसा करता है किसलिए ? समझता है किसलिए ? वेदान्त कहे, सच्चा है; यह कहे, वह खोटा है – यह तुझे कहाँ से आया ? वेदान्त कहे वही सच्चा है। खोटा था ? खोटा मानता था, वह कौन ? बदल गयी अवस्था, वह कौन ?

अत: कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है... कथंचित् अर्थात् टिकने में कायम की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है **और पर्याय की अपेक्षा से...** बदलने की अपेक्षा से वह वस्तु, वह की वह वस्तु भी क्षणिक है। जिस अपेक्षा से नित्य है, उस अपेक्षा से क्षणिक है – ऐसा नहीं। समझ में आया ? यह सब ज्ञान के बोल हैं, भाई! जिस अपेक्षा से नित्य है, उसी अपेक्षा से अनित्य है–ऐसा नहीं। वस्तु कायम टिकने की अपेक्षा से नित्य है और पलटने की अपेक्षा से अनित्य है। वह की वही वस्तु में दो धर्म हैं। यह कुछ पता

www.vitragvani.com

नहीं पड़े, इसलिए करो फिर, त्याग करो और बैठ जाओ सब छोड़कर एक ओर। परन्तु क्या छोड़ना? भ्रम तो छोड़ा नहीं। वस्तु के स्वरूप की स्थिति है, उसे तो जानी नहीं।

इस भाँति जब स्याद्वाद से... स्याद् अर्थात् अपेक्षा से कथन किया था। नित्य कहा था, वह नित्य टिकने की अपेक्षा से। अनित्य कहा था, क्षणिक कहा था, वह पलटने की अपेक्षा से। स्याद्-कथंचित् वाद द्वारा **सर्वांग वस्तु...** पूरी चीज को क्षणिक और नित्य को **निर्णय करने में आता है, तब एकान्त श्रद्धा का निषेध हो जाता है।** तब उसे एकान्त श्रद्धा का निषेध होता है। समझ में आया? लो! यह श्रावकाचार शुरु करने में... ऐसे ग्रन्थ का नाम श्रावकाचार है, परन्तु उसके पहले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कैसा होता है? - उसे बताते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना श्रावकपना, व्रत आदि नहीं होते। अभी पहले इसका ठिकाना नहीं और श्रावक के व्रत कहाँ से आ गये? - ऐसा बताते हैं। हो जाए लो! व्रत लिये, इसलिए पाँचवाँ गुणस्थान हो गया! जमुभाई! ऐसा ही था, लो!... व्रत वहाँ हो गया? यह सब लड़के खायें बीस-बीस वर्ष के और वह वृद्ध न खाये इतना तो त्याग सही न? इतना तो व्रत सही न! ...अन्दर समकित बिना व्रत होंगे? व्रत थे कब? जिसमें स्थिर होना है, वह चीज ही कैसी है, (इसका पता नहीं)। नित्य बदलती अनन्त गुण का धर्म, पर की अपेक्षा रहित निरपेक्ष चीज है—ऐसा जहाँ अन्दर निर्णय नहीं कि जहाँ स्थिर होना है, उस चीज के भान बिना स्थिर कहाँ होगा? और स्थिर हुए बिना चारित्र हो नहीं सकता।

एकान्त श्रद्धा का निषेध हो जाता है। जब वस्तु के सर्वांग वस्तु का निर्णय करे, पूरी चीज़ का निर्णय करे कि आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। सब बोल नीचे भावार्थ में हैं। **एकान्त श्रद्धा का निषेध हो जाता है। पुनः कैसा है स्याद्वाद? 'सकलनय-विलसितानां विरोधमथनं'** लो! **समस्त नयों से प्रकाशित जो वस्तु-स्वभाव,...** देखो! **उसके विरोध को दूर करता है।** क्षणिक, अवस्था की अपेक्षा से; नित्य, ध्रुव की अपेक्षा से - ऐसा करके सब नयों का प्रकाश, वह वस्तु का स्वभाव है। वह विरोध दूर करता है। ऐसा कैसे होगा? ऐसा कैसे (क्या), सुन न! रहने की अपेक्षा से क्षणिक है, टिकने की अपेक्षा से नित्य है, ऐसे विरोध दूर हो जाता है। कार्य की अपेक्षा से पलटती

www.vitragvani.com

है, वस्तु की अपेक्षा से कारण त्रिकाल रहता है। **समस्त नयों से प्रकाशित जो वस्तु-स्वभाव,...** देखा? समस्त नयों से प्रकाशित जो वस्तु का स्वभाव। वस्तु का स्वभाव कैसा है? कि समस्त नयों से प्रकाशित है। नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि नयों से वस्तु का स्वभाव प्रकाशित है। वस्तु का स्वभाव प्रकाशित है। वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसा सकल नय से प्रसिद्ध है - प्रकाशित है।

वस्तु में, जो आत्मा में स्वभाव, परमाणु का स्वभाव है, वह नयों से प्रकाशित है। है उसे नयों से प्रकाशित करते हैं। **उसके विरोध को...** और **उसके विरोध को दूर करता है।** प्रकाशित करते हैं और विरोध को दूर करते हैं। नित्य-अनित्य है? सुन न! टिकने की अपेक्षा से नित्य है, पलटने की अपेक्षा से अनित्य है। एक और अनेक.. वस्तु की अपेक्षा से एक है, गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेक है। सब होकर अनेक है - ऐसा नहीं। अपनी चीज की अपेक्षा से वस्तु एक है और उसके गुण और पर्याय की अपेक्षा से वह की वही चीज अनेक है। एक और अनेक दोनों उसके धर्म हैं। विरोध को दूर करनेवाला स्याद्वाद-अनेकान्त है। जिस अपेक्षा से एक कहा, उस अपेक्षा से अनेक नहीं; जिस अपेक्षा से अनेक कहा, उस अपेक्षा से एक नहीं, दोनों की अपेक्षा अलग है।

यह तो ज्ञान की बात ऐसी सूक्ष्म। समयसार में तो ऊपर-ऊपर से बात आ जाए। यह तो श्रावकाचार है न! इसमें पहले इष्टदेव (को नमस्कार किया)। इष्टदेव कैसे? ऐसे। जिनकी पर्याय में तीन काल-तीन लोक भलीभाँति ज्ञात हों, वैसे। परमागम कैसा? कि अनेकान्त जिसका जीव है। दो सार कहे। ऐसे परमागम को, ऐसे शास्त्र को नमस्कार करता हूँ। पंचास्तिकाय.....

भावार्थ : नय-विवक्षा से वस्तु में अनेक स्वभाव हैं... नय अर्थात् ज्ञान के एक अंश के प्रकार से... कहना। ज्ञान के एक पहलू से कहना, ऐसे वस्तु में अनेक स्वभाव हैं, वस्तु में अनेक धर्म हैं। विवक्षा से अर्थात् विवक्षा से कहना-कथनी। **और उनमें परस्पर विरोध है।** वस्तु में, आत्मा में और परमाणु में नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरोध भी है। अब, दृष्टान्त देते हैं। **जैसे कि अस्ति और नास्ति का प्रतिपक्षीपना है...** जो आत्मा अस्ति है, वही आत्मा नास्ति है। नहीं हो न ऐसा? होता है - ऐसा कहते हैं यहाँ तो।

www.vitragvani.com

जैसे कि अस्ति और नास्ति का प्रतिपक्षीपना है परन्तु जब स्याद्वाद से स्थापन करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है। जो वस्तु अस्ति है, वही वस्तु नास्ति है। आहाहा..! अपनी अपेक्षा से अस्ति है और पर की अपेक्षा से नास्ति है - ऐसा उसका अपना धर्म है। समझ में आया? परन्तु किसे फुर्सत है इसमें? यह पहला सिद्धान्त अस्ति से ही उठाया। विरोध क्या है? कि अस्ति है, है वह नहीं? है वही नहीं? नहीं वह है? ऐसे। यह क्या? है वह नहीं? नहीं वह है? कि हाँ; है वह नहीं - इसका विरोध यहाँ दूर करते हैं। नहीं वह है - इसका भी विरोध दूर करते हैं। देखो! स्पष्ट खुलासा करते हैं।

परन्तु जब स्याद्वाद से स्थापन करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है। किस प्रकार? एक ही पदार्थ कथंचित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है,... लो! वह का वही आत्मा, वह का वही परमाणु - एक ही पदार्थ कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से, किसी अपेक्षा से अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है, ऐसा। देखो! आत्मा अपने द्रव्य से, अपने क्षेत्र से, अपने काल से और अपने भाव से अस्ति है, अस्ति है, है। एक ही पदार्थ आत्मा; ऐसे एक-एक परमाणु किसी अपेक्षा से अर्थात् स्वयं की अपेक्षा से - स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है। स्वचतुष्टय समझे न? चार। इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। ऐसे द्रव्य। परमाणु भी द्रव्य; द्रव्य की अपेक्षा से है, उसके क्षेत्र की अपेक्षा से परमाणु है, उसके काल की अर्थात् अवस्था की अपेक्षा से वह परमाणु है और उसकी शक्ति की अपेक्षा से परमाणु है।

ऐसे आत्मा, गुण-पर्याय के पिण्डरूप द्रव्य से है; क्षेत्र से है; क्षेत्र अर्थात् असंख्यात प्रदेशी। अपने क्षेत्र से है और अपनी अवस्था से; अवस्था है उसका काल, पर्याय उसकी अवस्था, वह अवस्थायी है, अवस्थायी है और अपनी शक्ति से है। शक्ति अर्थात् भाव। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - यह स्वचतुष्टय - चार चतुष्टय। अपने चतुष्टय से है।

कथंचित् परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तिरूप है। वह का वह आत्मा नास्तिरूप है। पर से नास्ति न होवे तो अपने स्वरूप में रह सके ही नहीं; पर और ये दोनों एक हो जाएँ। अपनी अपेक्षा से अस्ति है। अपनी अपेक्षा से अस्ति न हो तो भिन्न रहे नहीं; पर की अपेक्षा से नास्ति न हो तो दोनों एकमेक हो जाए। समझ में आया?

www.vitragvani.com

यह एक ही बोल समझे न, तो इन सबके विवाद उड़ जाए, लो! इससे ऐसा हो और इससे ऐसा हो। यह ग्रन्थ मैंने किया... ग्रन्थ के परमाणु तो उनकी पर्याय से हुए हैं, उनके स्वकाल से हुए तो दूसरा उसे करे क्या? ऐसा इसमें आ गया। भाषा बोले, तब निमित्त से कथन था।

एक ही आत्मा, निगोद का हो या सिद्ध का हो; वैसे एक ही परमाणु, स्कन्ध का हो या पृथक् हो, वह स्व–अपने स्व चार, अपने स्व चार, स्व चार की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है; कथंचित् पर के चार की अपेक्षा से, पर के चार की अपेक्षा से – पर के चार। लो! पर के भी चार कहे – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। देखो! शरीर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अलग; आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग। वाणी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग, आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग। कर्म के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग और आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग। परचतुष्टय अर्थात् उन कर्म के चार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से आत्मा नास्तिरूप है। कर्म की अपेक्षा से आत्मा नास्तिरूप है, अपनी अपेक्षा से (अस्तिरूप है।) कहो! समझ में आया इसमें? ऐसा न हो तो वस्तु अनेक सिद्ध होगी नहीं। अनेक सिद्ध नहीं होगी और वस्तु में अनेक गुण भी सिद्ध नहीं होंगे।

पहले दो बोल में अस्ति–नास्ति से उतारा है। जो वस्तु 'है', वह वस्तु 'नहीं।' अपने अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से नहीं। जो वस्तु 'नहीं', वह वस्तु 'है।' एक पण्डित को पूछा था। तुम्हारा चन्द्रकान्त था न? पूछा – जड़ है या नहीं? एक कहे तो हैं, न कहें तो नहीं। यह स्याद्वाद है न जैन में तो? समझे न? जड़ है या नहीं? कहें तो है, न कहें तो नहीं। चन्द्रकान्त आचार्य था वहाँ। परन्तु किस प्रकार? कहा – ऐसा होय? जड़, जड़रूप से है; जड़, पररूप से नहीं। जैन में ऐसा स्याद्वाद... जड़ होवे भी सही और जड़ न भी हो। परन्तु किस प्रकार न हो? जड़, जड़रूप से तो है; जड़, पररूप से नहीं। जड़ कहें तो है, न कहें तो नहीं – इसका अर्थ क्या परन्तु? मानें तो एक है और मानें तो अनेक हैं, ऐसा। समझ में आया? ये अस्ति–नास्ति के दो भंग हुए।

अब, **कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है,...** देखो! आत्मा और

www.vitragvani.com

परमाणु स्वयं अनन्त गुण का समुदाय है। वह समुदाय की अपेक्षा एक है। कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है। परमाणु या आत्मा सभी अनन्त गुण का समुदाय है न? समुदाय है न? पिण्ड। - इस अपेक्षा से एक है। वह का वही **कथंचित् गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है।** कहें तो एक है और कहें तो अनेक है, ऐसा नहीं। आत्मा को माने तो एक ही है और आत्मा न माने तो अनेक ही है - ऐसा नहीं। आत्मा को माने तो एक ही है और आत्मा को न माने तो अनेक ही है। दूसरा क्या? — ऐसा नहीं है। उसमें अनन्त गुण और पर्याय के समुदायरूप से देखो तो एक है और गुण-शक्तियाँ तथा पर्याय के भेद की अपेक्षा लें तो वह अनेक है। वह का वही एक और अनेक है। समझ में आया?

समुदाय की अपेक्षा से एक है, गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेक है - ऐसे अन्तर पड़ गया। यह का यही अपेक्षा से एक है और यह की यही अपेक्षा से अनेक है - ऐसा नहीं है। वस्तु - यह आत्मा अपने समुदाय, गुण के समुदाय की अपेक्षा से एक है; गुण-पर्याय अपेक्षा से अनेक है। एक है, वह अनेक है, परन्तु वह किस अपेक्षा से? अनेक है, वह एक है - यह किस अपेक्षा से? अनेक है, वह गुण-पर्याय से; एक है वह समुदाय से। ऐसे दोनों का विरोध स्याद्वाद मिटा देता है और जैसा उसका स्वभाव है, वैसा बताता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३ गाथा-२ से ४ गुरुवार, माघ कृष्ण २, दिनांक २९.१२.१९६६

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है, दूसरी गाथा चलती है। पहली गाथा में इष्टदेव को-मूर्ति को नमस्कार किया। पुरुष अर्थात् आत्मा, उसके प्रयोजन की सिद्धि, चैतन्य के स्वरूप की प्रयोजन की सिद्धि होने को, चैतन्यस्वरूप को पूर्ण प्राप्त - ऐसे परमेश्वर को ऐसी पर्याय है, ऐसा ज्ञान करके, ज्ञानसहित उन्हें इष्टदेव स्वीकार करके नमस्कार किया है।

दूसरी गाथा में आगम को नमस्कार (किया)। परमागम का बीज जो अनेकान्त, परमागम का बीज / जीव, परमागम का जीव अनेकान्त है, उसकी व्याख्या की। यहाँ आया है, देखो! भावार्थ में।

www.vitragvani.com

कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है, कथंचित् गुण–पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है। यहाँ तक आया है। भावार्थ, दूसरी गाथा का भावार्थ। क्या कहा? कि यह आत्मा आदि पदार्थ ऐसे हैं। पहले तो ऐसा कहा, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और पर से नहीं। है और नहीं विरोध जैसा दिखता है। है और नहीं विरोध जैसा (दिखे), तथापि **'विरोधमथनं'** — ऐसा कहा है न? उस विरोध का मंथन करनेवाला है, नाश करनेवाला है। कौन? अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद। स्वपने है और परपने नहीं – इस तरह विरोध का नाश करनेवाला है। समझ में आया? 'है' वह कैसे 'नहीं'? और 'नहीं' वह कैसे 'है'? अर्थात् विरोध हुआ। उसका – यहाँ विरोध का **'मथनं'** करनेवाला – नाश करनेवाला है, अभाव करनेवाला है। अपने स्वरूप में – द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव से है और परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं; इस प्रकार स्याद्वाद, वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को सिद्ध करता है। इसलिए अनेकान्त को नमस्कार किया गया है। समझ में आया?

तीसरा बोल आया। **कथंचित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है, कथंचित् गुण–पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है।** यह वस्तु जो है, उसके समुदाय अर्थात् गुण समुदाय का एकरूप, इस अपेक्षा से एक है और गुण–पर्याय की अपेक्षा से अनेक है। यह दो विरोध है, दो विरोध है। एक, वह अनेक कैसे? और अनेक, वह एक कैसे? तथापि **'विरोधमथनं'** विरोध का **'मथनं'**। विरोध को नाश करनेवाला अनेकान्त है। दूसरी गाथा का भावार्थ, दूसरी गाथा का भावार्थ। **'मथनं'** है न? **'मथनं'** मथन, मथन करता है न? समझ में आया? पुस्तक रखना, पुस्तक है न?

तीसरा बोल। **कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से गुण–पर्यायादि अनेक–भेदरूप है।** कौन? वस्तु। वस्तु किसी अपेक्षा से, कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा, संज्ञा से। क्योंकि आत्मा का नाम आत्मा, गुण का नाम गुण, यह संज्ञा में अन्तर है। संख्या में अन्तर है – द्रव्य एक, गुण, अनेक। लक्षण में अन्तर है – द्रव्य का लक्षण गुण–पर्याय का धारण; गुण का लक्षण पर्याय का प्रगट आदि होना। **गुण–पर्यायादि अनेक–भेदरूप है।** प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु, गुण और अवस्था द्वारा भेदरूप है। अनेक का अर्थ भेदरूप है। समझ में आया?

www.vitragvani.com

कथंचित् सत् की अपेक्षा से अभेदरूप है। वस्तुरूप से अभेद है। वैसे देखो तो यह भेद, वह अभेद - विरोध दिखता, परन्तु इस विरोध का मंथन करनेवाला, मथन करनेवाला अनेकान्त, उसका मंथन करके नाश करता है। अनेक गुण की अपेक्षा से और पर्याय की अपेक्षा से उसे भेद कहते हैं; वस्तु की अपेक्षा से उसे अभेद कहते हैं तो विरोध का नाश करता है। एक का एक भेद और वह का वह अभेद कैसे होगा? उसका (इस विरोध का) नाश करता है। देखो! परमागम का जीव है यह! शास्त्र का यह जीव है। दूसरी गाथा में आया न?

कथंचित् द्रव्य अपेक्षा से नित्य है, कथंचित् पर्याय अपेक्षा से अनित्य है। वस्तु है, वह कायम टिकने की अपेक्षा से नित्य है; उसकी अपेक्षा से अनित्य है - ऐसा नहीं है और पर्याय-अपेक्षा से, बदलने की अपेक्षा से अनित्य है, ऐसी विरोधता दिखने पर भी, द्रव्य-अपेक्षा से नित्य और पर्याय-अपेक्षा से अनित्य - ऐसे विरोध का मंथन-नाश करता है। पाठ में है न? **'विरोधमथनं सकलनयविलसितानां नमाम्यनेकान्तम्'** आचार्य स्वयं अनेकान्त को नमस्कार करते हैं। अनेकान्त, वह आत्मा का स्वरूप है, अमृतस्वरूप है, उसे नमस्कार करते हैं। अनेकान्त तो, जड़ में भी अनेकान्त है तो उसे नमस्कार किया? यहाँ तो अनेकान्त को नमस्कार करते हैं। आत्मा को, अनेकान्त-स्वरूप है, उसे नमस्कार करते हैं। अनेकान्त का जो ज्ञान और भान, उसे यहाँ नमस्कार करते हैं। भाई! वरना अनेकान्त तो जड़ में भी है। समझ में आया, इसमें?

यह आत्मा स्वयं अपने स्वरूप की—गुण-पर्याय अपेक्षा से भेद(रूप है), सत् की अपेक्षा से (अभेद है)। भेद, वह अभेद कैसे हो? पर्याय से आश्रय करे तो पर्याय तो भेदरूप है, आश्रय करे वह अभेद है। तो भेद होवे, वह अभेद कैसे हो? कि भाई! भेद हो, वह अभेद कैसे? वस्तु की अपेक्षा से अभेद है, गुण-पर्याय की अपेक्षा से भेद है; इस तरह अनेकान्त-स्याद्वाद विरोध के भाव का नाश करनेवाला है। कहो, समझ में आया?

कथंचित् द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है,... भगवान आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, **कथंचित् पर्याय-अपेक्षा से अनित्य है।** जिस अपेक्षा से नित्य है, उस अपेक्षा से अनित्य होवे तो विरोध आवे, परन्तु जिस अपेक्षा से नित्य है, उस अपेक्षा से अनित्य

नहीं; इसलिए उसमें विरोध नहीं आता – ऐसा कहते हैं। पर्याय से काम लिया जाता है। वह काम लेने की वस्तु जो ध्रुव है, उसमें वह पर्याय नहीं है; इसलिए विरोध नहीं आता। **इस प्रकार स्याद्वाद सर्व विरोध को दूर करता है।** उस **'विरोधमथनं'** का अर्थ किया। इस प्रकार भगवान आत्मा, त्रिकाल स्वरूप की अपेक्षा से द्रव्य से नित्य है, अवस्था से अनित्य है। इस प्रकार अवस्था से अनित्य और द्रव्य से नित्य कहकर विरोध का नाश करनेवाला है।

स्यात् अर्थात् कथंचित् नय–अपेक्षा से; वाद अर्थात् वस्तु–स्वभाव का कथन, इसे स्याद्वाद कहते हैं, इसी को नमस्कार किया है। लो! स्याद्वाद को नमस्कार किया। स्याद्वाद तो छहों द्रव्यों को है। यहाँ अनेकान्त का ज्ञान हुआ न! भले पर का हो और स्व का (हो)। परमागम का बीज अनेकान्त है। जो ज्ञान हुआ कि स्वरूप से शुद्ध, ध्रुव; पर्याय से अशुद्ध, पलटती दशा, स्वभाव ध्रुव — एक द्रव्य में ऐसा कैसे होगा? विरोध दिखता है, उसे अनेकान्त, ज्ञान द्वारा उस विरोध का नाश करता है। ऐसे अनेकान्त को, यहाँ अपने सम्यग्ज्ञानस्वरूप अनेकान्त भाव, उसे नमस्कार किया है। कहो, समझ में आया?

गाथा - ३

आगे आचार्य, ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं-

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।३।।

जो त्रिलोक का एक नेत्र, जाना प्रयत्न से आगम को।
यह पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय है प्रगट करूँ विद्वानों को।।३।।

अन्वयार्थ - (लोकत्रयैकनेत्रं) तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र (परमागमं) उत्कृष्ट जैनागम को (प्रयत्नेन) अनेक प्रकार के उपायों से (निरूप्य) जानकर अर्थात् परम्परा जैन सिद्धान्तों के निरूपणपूर्वक (अस्माभि:) हमारे द्वारा (विदुषां) विद्वानों के लिये (अयं) यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक ग्रन्थ (उपोद्ध्रियते) उद्धार करने में आता है।

टीका : 'अस्माभि: विदुषां अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय: उपोद्ध्रियते' - मैं ग्रन्थकर्ता, ज्ञानी जीवों के लिए यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक ग्रन्थ अथवा चैतन्य पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने का उपाय प्रकट करता हूँ। 'किं कृत्वा'-क्या करके। 'प्रयत्नेन'-अनेक प्रकार से उद्यम करके सावधानीपूर्वक-'परमागमं निरूप्य'-परम्परा से जैन -सिद्धान्त का विचार करके।

भावार्थ : जिस प्रकार केवली, श्रुतकेवली और आचार्यों के उपदेश की परम्परा है, उसका विचार करके मैं उपदेश देता हूँ। स्वमति से कल्पित रचना नहीं करता हूँ। कैसा है परमागम। 'लोकत्रयैकनेत्रं'-तीन लोक में त्रिलोक सम्बन्धी पदार्थों को बताने के लिये अद्वितीय नेत्र है।।३।।

www.vitragvani.com

गाथा ३ पर प्रवचन

अब, **आगे आचार्य, ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं–** पहले श्लोक में इष्टदेव को नमस्कार किया; दूसरे श्लोक में शास्त्र में अनेकान्तभाव को नमस्कार किया। यह शैली है — देव-शास्त्र-गुरु तीन। गुरु को (नमस्कार) न करके, किसके लिये बनाया है — यह अमृतचन्द्राचार्यदेव की शैली है। समयसार में भी पहले 'नमः समयसाराय' कहा; फिर सिद्धान्त को नमस्कार किया; तीसरे (श्लोक) में, मैं यह शास्त्र कहूँगा - यहाँ से शुरु किया है। तीसरे में, मैं इस शास्त्र को कहूँगा - यहाँ से शुरु किया है। यह शैली यहाँ ली है।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।३।।

इस ग्रन्थ की विशिष्टता ऐसी है कि मैं यह विद्वानों के लिये कहता हूँ। यह एक शब्द यह बात खास इसमें यह प्रयोग किया है। **'विदुषां'** — ज्ञानी के लिये - ऐसा कहा है। देखो, भाषा। यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, जिसे 'जिन प्रवचन रहस्य कोष' भी कहा गया है। बाद में शब्द में लिखा है। टोडरमलजी में ऐसा नहीं है। इसमें फिर ऐसा है। पहला अधिकार पूरा होता है न? वहाँ ऐसा लिखा है। जिन प्रवचन रहस्य कोष। पहले में नहीं है। यह दर्शन का अधिकार जहाँ पूर्ण होता है न जहाँ, वहाँ लिखा है। वहाँ लिखा, जिसका दूसरा नाम 'प्रवचनरहस्य कोष' है। दर्शन का अधिकार ३६ पृष्ठ। कारण कि भाई में नहीं - टोडरमल में नहीं। है न अन्तिम शब्द! प्रवचन रहस्य कहा है। वहाँ फिर जैन आगम प्रवचन रहस्य — ऐसा कहा, परन्तु वह इसमें नहीं, किन्तु दूसरे में है। उसमें से डाला लगता है। देखो! यहाँ ऐसा लिखा है - प्रवचन रहस्य। और ज्ञान का अधिकार पूरा हुआ, ४३ (पृष्ठ) वहाँ फिर जिनप्रवचन रहस्य कोष - ऐसा लिखा है। वह भी टोडरमल (जी) में नहीं। किसी में शब्द ऐसा डाला, किसी में ऐसा डाला, समान शब्द नहीं हैं। एक प्रकार के शब्द नहीं है, चाहे जिस प्रकार... किसने सब किया है? समान नहीं, समान शब्द आना चाहिए न तब तो। क्योंकि उसमें कहीं नहीं। कहो, क्या कहा? देखो! इसका अन्वयार्थ।

www.vitragvani.com

अन्वयार्थ – तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय नेत्र... कैसा है यह परमागम? कि तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने में अद्वितीय, अजोड़ एक नेत्र (है)। **उत्कृष्ट जैनागम को...** परम आगम। परम अर्थात् उत्कृष्ट। **ऐसे जैनागम को 'प्रयत्नेन' अनेक प्रकार के उपायों से...** भाषा ऐसी है। **'प्रयत्नेन'** — इसका अर्थ किया – अनेक प्रकार के उपायों से। **'निरूप्य'** — निरूप्य का अर्थ तो कहना होता है। यहाँ जानकर किया है। जानना होता है, परन्तु जानकर का अर्थ दूसरा लेते हैं। **अर्थात् परम्परा जैन सिद्धान्तों के निरूपणपूर्वक...** ऐसा लिया। परम्परा जैन सिद्धान्त में केवली, श्रुतकेवली, आचार्यों ने जो कहा है, उसके निरूपणपूर्वक इसे हम कहेंगे। इसमें जो कोई अनादि से केवलज्ञानी तीर्थंकर कहते हैं, वह इसमें कहूँगा। हमारी कल्पना की बात इसमें नहीं है।

'अस्माभिः' हमारे द्वारा... देखो! इसमें भाषा ऐसी आयी। समयसार आदि में ऐसा नहीं आता। तीसरे श्लोक में आया कि हम पर्याय से ऐसे हैं, द्रव्य से ऐसे हैं। हम यहाँ **विद्वानों के लिये...** देखो! कर्ता है या नहीं इसमें? वह कहे कर्ता नहीं, वह तो निमित्त का कथन है। पहले तो कहते हैं कि आगे कहेंगे कि वाणी, वाणी से रचती है। शब्दों के विचित्र से यह अक्षर हो गये; मुझसे नहीं। यहाँ तो निमित्तपना बतलाते हैं। **'अस्माभिः'** अर्थात् इसमें निमित्तपना अमृतचन्द्राचार्य का है। इससे बना है — ऐसा नहीं, परन्तु उनका निमित्तपना है, इतना बतलाने को **'अस्माभिः'** शब्द पड़ा है। है न? हमारे से, **हमारे द्वारा...** बना है। इसमें लोग विवाद करते हैं। हमारे द्वारा अर्थात् निमित्त तो मैं हूँ — ऐसा बताने को बात है। आगे तो अन्तिम में निकाल डालेंगे... उस श्लोक में। वही कहते हैं... ऐई! कहा ही नहीं, ऐसा। कहते समय का ही आशय ऐसा है कि यह होता है शब्दों से, परन्तु हम निमित्त हैं; इसलिए हमारे द्वारा–इतना कहने में आया है। कहो! यह सब बड़ा विवाद चलता है। कल पन्ने आये हैं, हों! भाई! यह पन्ने कल ५६ आये हैं। ६२४ तक कल आये हैं। समझ में आया?

हमारे द्वारा... भाषा तो ऐसी ही कहे न, हम कहते हैं वह सुनो! ऐसा बोलते है न! उसका अर्थ ऐसा ही ले लेवे कि कहने के शब्दों का रचनेवाला ही आत्मा है। (वह तो)

www.vitragvani.com

स्वतन्त्र है। व्यवहार से कहा जाता है और व्यवहार को ही निश्चय मान ले... पर आगे स्वयं कहेंगे, भाई! कि व्यवहार को निश्चय माने, वह उपदेश के योग्य नहीं है। यही कहता हूँ, इसने यह शब्द कहे हैं, इसका यह भावार्थ है। व्यवहार से कहा जाता है, उसे ही निश्चय मान ले, वह जीव तो उपदेश के भी योग्य नहीं है। है न? समझ में आया? देखो! छट्ठी गाथा, छट्ठी... छट्ठी।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।६।।

व्यवहार को ही खास जाने, व्यवहार को ही निश्चय जान ले, वह देशना के योग्य नहीं है। कहा न उसमें? '**अस्माभि:**' में आ गया। यह '**अस्माभि:**' – कहते हैं। व्यवहार से कहें, उसे तू निश्चय मान ले कि हम ही कर्ता हैं (तो वह मिथ्या है)। स्वतन्त्र है न! माने। यहाँ तो स्पष्ट कर दिया है। छट्ठी में, देखो! व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। व्यवहार, वह कहा, उसे मान ले कि वास्तव में हम शास्त्र के कर्ता हैं तो वह उपदेश के योग्य नहीं है, सुनने के योग्य नहीं है।

मुमुक्षु : व्यवहार तो है न!

उत्तर : व्यवहार यह नहीं, व्यवहार से — इसका अर्थ क्या? निमित्त कौन है? – उसका ज्ञान करते हैं। व्यवहार से कर्ता है और निश्चय से कर्ता नहीं – तो दो का मेल कुछ रहा नहीं। कर्ता है ही नहीं, परन्तु हमने कहा, उसमें से यदि तू व्यवहार को निश्चय मान ले तो तू हमारी बात सुनने योग्य नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...! योग्य नहीं, क्योंकि समझाने में व्यवहार की कथन पद्धति आती है और तू जब व्यवहार को पकड़ बैठे, तब हमें कहना है तो व्यवहार से वह निश्चय; बताना है वह; व्यवहार का लक्ष्य छुड़ाना है। उसके बदले तू वहाँ कहता है कि देखो! तुमने कहा नहीं था? हमने कहा है — ऐसा नहीं कहा था? हमने कहा है — ऐसा नहीं कहा था? अब सुन न! हमने कहा था, वह तो निमित्त से कहा था, परन्तु तू उसे निश्चय मान लेता है (कि) हम ही शब्दों के कर्ता है – (तो तू) समझता नहीं, बात को समझ सकेगा नहीं, तू समझने के योग्य ही नहीं है। ना ही किया है, देखो न! उसे उपदेश नहीं – ऐसा कहा है। क्या कहना? सामने ही पड़े, वहाँ...

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

बोल भाई! मौन होने से लाभ हो। तब तुम मौन क्यों नहीं होते? लो! वह सीधे ऐसा पकड़ता है। बोल नहीं सकते, तब तुम यह बोलते हो न? अब सुन न! किस अपेक्षा से बात चलती है? व्यवहार को ही पकड़े तो तू सुनने योग्य नहीं है। समझ में आया?

हमारे से — ऐसा कहा न? **विद्वानों के लिए...** फिर भाषा ऐसी है। विद्वानों के लिए यह शास्त्र रचा जाता है। क्योंकि बहुत नयों से क्या शैली है निश्चय की, सद्भूत –व्यवहारनय की, असद्भूतव्यवहारनय की क्या अपेक्षा है? — वह अपेक्षा यदि तू नहीं समझे तो यह वस्तु नहीं समझ सकेगा। यथावत् निश्चय–व्यवहार के श्रोता को लेंगे। श्रोता का लेंगे कि निश्चय–व्यवहार का ज्ञाता, वह श्रोता इस बात को सुनने योग्य है। यहाँ श्रोता की अलग गाथा है। यह समझ में आया? श्रोता ऐसे होना चाहिए — ऐसा कहते हैं, आगे कहेंगे। ८ वीं (गाथा)। ८ वीं में श्रोता की बात करेंगे। ८ वीं है न?

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।८।।

आठवीं गाथा है। श्रोता ऐसे होने चाहिए। श्रोता के लिये इतनी जवाबदारी है। उसे निश्चय–व्यवहार का जो शब्द आया कि हम कहते हैं – इसमें उसे जानना चाहिए कि यह तो व्यवहार से कहा है। समझ में आया? सुनानेवाले को सीधे पकड़े कि व्यवहार से तुम... भाई! हम कहते हैं, वह समझो – ऐसी भाषा आवे, तब (पकड़े कि) देखो! आया या नहीं? तुम कहते हो — एक आया और तुम्हारे से वहाँ समझ में आता है – यह आया। हम कहते हैं, वह समझो, भाई! तुम कहते हो, वह ख्याल है। हम कहते हैं – अर्थात् भाषा ऐसी; समझो, वहाँ हमारे से – पर से समझ सके, उसके क्रमरहित पर्याय और एक यह हो तो क्रम टूट गया, लो! भाई! तू झगड़ा करे, परन्तु तू व्यवहार और निश्चय के ज्ञान बिना श्रोता–श्रवण के योग्य नहीं है – ऐसा कहा। जब–जब व्यवहार के कथन आवे, (वहाँ समझना कि) यह व्यवहार से कहा है। निमित्त कौन था? — उसका ज्ञान कराया है, उसे समझ। उसमें भी समझनेवाला योग्य है। उसे यह निमित्त होता है, इससे समझ – ऐसा कहा। ऐसे व्यवहार और निश्चय का जाननेवाला हो। भले वक्ता विशेष जानकार है, परन्तु श्रोता में इतना तो व्यवहार–निश्चय का यदि थोड़ा भी लक्ष्य ज्ञान न हो तो व्यवहार–निश्चय

www.vitragvani.com

की बात को एकान्त करके निकाल देगा (कि) नहीं; व्यवहार से कहा, वह भी ठीक है, निश्चय से कहा, वह भी ठीक है। समझ में आया ?... चौथी गाथा कहने के पश्चात् वह आठवीं लेगें — मुख्य-उपचार का ज्ञान चाहिए। मुख्य अर्थात् निश्चय। चौथी गाथा में है न ? और उपचार अर्थात् व्यवहार कथन। उपचार कथन है, व्यवहार अर्थात् उपचार कथन है। मुख्य, वह निश्चय है। उपचार से कहा गया, उसे यथार्थ मान ले तो वह व्यवहार का जाननेवाला नहीं है। समझ में आया ?

हमारे से – ऐसा जो कहा और वह विद्वानों के लिये – फिर ऐसा भी आया न ? यह समझनेवाले के लिये। अब समझता है अपने आप उसके कारण और तू कहे कि विद्वानों के लिये। ऐई... ! परन्तु क्या हो ? यह शैली ऐसी कोई है न ! हम इनके लिये, इनके लिये (कहते हैं)। यह कहा न ? इनके लिये। ऐ... रतिभाई ! यह पर के लिये कहा है ? लिखने में बात (कथन) में ऐसा आता है, बापू ! उसे पता नहीं। वरना तो स्वयं का विकल्प उत्पन्न हुआ, यह दूसरे के लिये कहते हैं ? आहाहा... ! परन्तु यह शैली ऐसी होती है न कि यह समझे, यह शैली, ऐसा विकल्प का प्रकार स्वयं का आया है। तब कहते हैं कि **'विदुषां'** विद्वानों के लिये। कारण कि यह तो निश्चय-व्यवहार की सन्धि और उसका स्वरूप भलीभाँति (समझना चाहिए।) वास्तविक भूतार्थ निश्चय; व्यवहार, अभूतार्थ है। अभूतार्थ कहो या यहाँ उपचार कहो। श्रोता, उपचार कथन और अभूतार्थ कथन को न समझे तथा भूतार्थ और निश्चय को न समझे तो वह श्रोता कुछ की कुछ गड़बड़ करेगा; सामनेवाले की भूल निकालेगा। जो हेतु समझाने का (है उस) हेतु को पकड़ेगा नहीं। देखो ! इसलिए इन्होंने कहा— **'विदुषां'** के लिये इस परमागम को मैं कहता हूँ। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं।

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक ग्रन्थ... देखो ! भाषा ऐसी है। यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, पुरुषार्थ — चैतन्यस्वरूप के प्रयोजन की सिद्धि, इस नाम का ग्रन्थ **'उपोद्ध्रियते' उद्धार करने में आता है।** देखो ! सर्व शास्त्र में से निकालकर, छाँटकर उद्धार करने में आता है – ऐसा कहते हैं। ग्रन्थ उद्धार करने में आता है, ग्रन्थ किया जाता है। नीति और प्रश्न व्यवहार आया।

टीका : 'अस्माभिः विदुषां अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः उपोद्ध्रियते'–मैं

www.vitragvani.com

ग्रन्थकर्ता,... लो! हम ग्रन्थकर्ता। प्रवचनसार में अन्त में ऐसा कहा, भाई! हम इसके वाक्य करनेवाले हैं और इससे वाणी तुझे समझाती है और उस द्वारा तू समझने के योग्य है — ऐसा व्यामोह निकाल दे। गजब बात! समझ में आया? हम व्याख्याता हैं और ये शब्द व्याख्येय हैं और ये तुझे समझाते हैं — ऐसा व्यामोह निकाल दे। यहाँ कहते हैं कि हम इसे समझाते हैं। ऐई...! एक के एक अमृतचन्द्राचार्य का वहाँ का कथन और यहाँ कथन, बहुत अन्तर है! यह कहते हैं कि व्यवहार और निश्चय का उसे उपचार और अनुपचार का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। यहाँ श्रोता की भी इतनी जवाबदारी गिनने में आयी है। समझ में आया? क्या हो? इसमें दूसरा बने क्या?

मैं ग्रन्थकर्ता, ज्ञानी जीवों के लिए... 'विदुषां' का अर्थ किया अर्थात् समझाने के ज्ञानी को कुछ समझने की जिज्ञासा है और समझने का इच्छुक है, ऐसे **ज्ञानी जीवों के लिए यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय नामक ग्रन्थ अथवा...** पुरुषार्थसिद्धि–उपाय का अर्थ करते हैं। **चैतन्य पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने का उपाय प्रकट करता हूँ।** लो! ऐसा सिद्ध किया। कैसा है प्रभु आत्मा? चैतन्यपुरुष! चैतन्यपुरुष का प्रयोजन, अर्थात् चैतन्यपुरुष है आत्मा; उसका प्रयोजन सिद्धि, सिद्धि, उसका प्रयोजन सिद्ध करने का उपाय प्रगट करते हैं, प्रगट करते हैं। भाईसाहब! आहाहा...! अरे..रे! क्या हो? ऐसा विवाद, ऐसा विवाद (करे) इसमें ऐसा लिखा है न, सिर फोड़े।

'किं कृत्वा'–क्या करके। 'प्रयत्नेन'–अनेक प्रकार से उद्यम करके... ऐसा। अनेक प्रकार से प्रयत्न (करके)। प्र...यत्न, है न शब्द? अर्थात् प्र से, विशेष पुरुषार्थ से, सावधानी से। कहीं अन्दर अन्तर नहीं आवे – ऐसी सावधानी से पुरुषार्थसिद्धि–उपाय–चैतन्य के चैतन्यरूपी पुरुष की प्रयोजन की सिद्धि सावधानी से करना। समझ में आया? जिसमें पुरुषार्थ – चैतन्य का प्रयोजन सिद्ध होगा – ऐसी बात मैं करूँगा। कहो, समझ में आया? यह समयसार का कथन है। न्यालभाई! इसमें भी दूसरे के प्रकार होते हैं। ऐसा कि यह सब समयसार... बात तो एक हो, परन्तु उसके भी प्रकार, बहुत पहलूओं में विविधता में विरोधता कहीं दिखती हो, विविधता में विरोधता कहीं दिखती हो तो उस विरोधता के मथनं–नाश करने के ये सब प्रकार हैं। समाधितन्त्र, पुरुषार्थसिद्धि–उपाय सब बताते तो जो

www.vitragvani.com

है वही है, परन्तु वस्तु के बहुत प्रकार के पहलू होते हैं, उन्हें समझाने के लिये यह बात है। समझ में आया?

'परमागमं निरूप्य'–परम्परा से जैन सिद्धान्त का विचार करके। ऐसा यहाँ कहा। विचार करके, वहाँ जानकर – ऐसा कहा, पहले में जानकर (–ऐसा कहा था)। यह तो निरुपणपूर्वक – ऐसा कहा। परम्परा से भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर की जो वाणी, वह केवली, श्रुतकेवली और आचार्यों से आयी है। उनके जैन सिद्धान्तों का विचार। परमागम है न? अन्य के शास्त्र नहीं। परम भगवान की वाणी जो परम्परा (से) आयी है; उसके अनुसार हम विचार करके यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय कहेंगे; इसमें कोई फेरफार आयेगा नहीं।

भावार्थ : जिस प्रकार केवली, श्रुतकेवली और आचार्यों के उपदेश की परम्परा है... जिस प्रकार अनादि केवली की प्ररूप, प्ररूप–उपदेश की परम्परा है, जिस प्रकार केवली के उपदेश की परम्परा है, ऐसे एक–एक पर लेना। ऐसे श्रुतकेवली के उपदेश की परम्परा है। ऐसे ही आचार्यों के उपदेश की परम्परा है। समझ में आया? उसका विचार करके, **उसका विचार करके...** हम श्रुतकेवली छद्मस्थ और सर्वज्ञ और आचार्य–श्रुतकेवली न हों – ऐसे दूसरे आचार्य, उनके **उपदेश की परम्परा है, उसका विचार करके मैं उपदेश देता हूँ।** हम उपदेश करते हैं। उपदेश किया नहीं जा सकता और यहाँ उपदेश करते हैं (– ऐसा कहते हैं), विकल्प आया है, इतना ज्ञान कराने को उपदेश करते हैं – ऐसा निकलता है, भाई! क्या हो? यह वस्तु की शैली ऐसी है, इससे श्लोक में इन्होंने ऐसा कहा है कि श्रोता, व्यवहार और निश्चय का जाननेवाला होना चाहिए। भाई! यह न जाने तो उसका कुछ का कुछ अर्थ कर डालेगा – शास्त्र के अर्थ में भी गड़बड़ खड़ी करेगा। क्या हो?

स्वमति से कल्पित रचना नहीं करता हूँ। स्वमति से कल्पित रचना नहीं करते। देखो! प्रमाण सिद्ध किया। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर (की) परम्परा से जो आया, श्रुतकेवलियों ने कहा और आचार्यों ने कहा, जो कुन्दकुन्द आदि आचार्यों (ने कहा), उसके अनुसार हम कहेंगे। विचार, उसका भी विचार करके। **'निरूप्य'** है न? समझकर, विचारकर,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मनन करके, निर्णय करके। ऐसा का ऐसा दे रखा – ऐसा नहीं। आहा! वस्तु को स्वच्छ सिद्ध करने को कितनी अपेक्षाएँ रखते हैं।

कैसा है परमागम। परम-आगम, महा शास्त्र, महा सिद्धान्त। **'लोकत्रयैकनेत्रं' – तीन लोक में त्रिलोक सम्बन्धी पदार्थों को बताने के लिये अद्वितीय नेत्र है।** जगत के-तीन लोक में जो पदार्थ हैं; तीन लोक में केवली भी हैं, अनन्त निगोद के जीव भी हैं, सिद्ध भी हैं, तीर्थंकर भी हैं। कहो, समझ में आया? **'लोकत्रयैकनेत्रं'** तीन लोक में, तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को बताने के लिये यह परमागम अद्वितीय नेत्र है, अजोड़ नेत्र है अथवा एक ही आँख है। परमागम एक ही आँख है। सिद्ध को बताने, परमात्मा को बताने, पंच परमेष्ठी के स्वरूप को बताने, मोक्ष का मार्ग (बताने); तीन लोक में सब आ गया न यह? बन्धमार्ग को बताने, मोक्षमार्ग को बताने, अनन्त आत्माओं को बताने, परमानन्द की प्राप्ति – ऐसे परमात्मा को बताने को यह एक परमागम अद्वितीय एक अजोड़ नेत्र है।

गाथा - ४

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में वक्ता, श्रोता और ग्रन्थ का वर्णन करना चाहिए–ऐसी परम्परा है।

इसलिए प्रथम ही वक्ता का लक्षण कहते हैं–

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधाः।
व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।।४।।

मुख्य और उपचार कथन से शिष्यों का अज्ञान हरें।
जानें निश्चय अरु व्यवहार सुधर्म–तीर्थ उद्योत करें।।४।।

अन्वयार्थ : (मुख्योपचार विवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः) मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से प्रकटरूपेण शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा (व्यवहारनिश्चयज्ञाः) जो व्यवहारनय और निश्चयनय के ज्ञाता हैं, ऐसे आचार्य (जगति) जगत में (तीर्थं) धर्मतीर्थ का (प्रवर्तयन्ते) प्रवर्तन कराते हैं।

टीका : 'व्यवहार निश्चयज्ञाः जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते' – व्यवहार और निश्चय के जाननेवाले आचार्य इस लोक में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं। कैसे हैं आचार्य? 'मुख्योपचार विवरण निरस्त दुस्तर विनेय दुर्बोधाः' – मुख्य और उपचार कथन से शिष्य के अपार अज्ञानभाव को जिन्होंने नाश किया है, ऐसे हैं।

भावार्थ : उपदेशदाता आचार्य में अनेक गुण चाहिए परन्तु व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए। किसलिए? जीवों को अनादि से अज्ञानभाव है, वह मुख्य (निश्चय) कथन और उपचार (व्यवहार) कथन के जानने से दूर होता है। वहाँ मुख्य कथन तो निश्चयनय के आधीन है, वही बताते हैं। 'स्वाश्रितो निश्चयः' जो अपने ही आश्रय से हो उसको निश्चय कहते हैं। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव पाये जावें, उस द्रव्य में उनका ही स्थापन करना, तथा परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करने का

www.vitragvani.com

नाम स्वाश्रित है। उसका जो कथन है, उसी को मुख्य कथन कहते हैं। (मुख्य–निश्चय) 'इसको जानने से अनादि शरीरादि परद्रव्य में एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञानभाव का अभाव होता है, भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, सर्व परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। वहाँ परमानन्ददशा में मग्न होकर केवलदशा को प्राप्त होता है। जो अज्ञानी इसको जाने बिना धर्म में प्रवृत्ति करते हैं, वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय जानकर, संसार का कारण जो शुभोपयोग, उसे ही मुक्ति का कारण मानकर, स्वरूप से भ्रष्ट होते हुए संसार में भ्रमण करते हैं। इसलिए मुख्य (निश्चय) कथन का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।' और वह निश्चयनय के आधीन है, इसलिए उपदेशदाता निश्चयनय का ज्ञाता होना चाहिए। कारण कि स्वयं ही न जाने तो शिष्यों को कैसे समझा सकता है?

तथा 'पराश्रितो व्यवहार:' जो परद्रव्य के आश्रित हो, उसे व्यवहार कहते हैं। किंचित् मात्र कारण पाकर अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित कहते हैं।' उसी के कथन को उपचार–कथन कहते हैं। इसे जानकर शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप संसारदशा है, उसका ज्ञान करके, संसार के कारण जो आस्रव–बन्ध हैं, उन्हें पहिचान कर, मुक्त होने के उपाय जो संवर–निर्जरा हैं, उनमें प्रवर्तन करे। अज्ञानी इन्हें जाने बिना शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है, वह पहले ही व्यवहार–साधन को छोड़कर पापाचरण में लीन होकर, नरकादि के दु:ख–संकटों में जा गिरता है। इसलिए उपचार–कथन का भी ज्ञान होना चाहिए। और वह व्यवहारनय के आधीन है, अत: उपदेशदाता को व्यवहार का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इस भाँति दोनों नयों के ज्ञाता आचार्य, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं, अन्य नहीं।।४।।

गाथा ४ पर प्रवचन

अब, **इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में वक्ता, श्रोता और ग्रन्थ का वर्णन करना चाहिए ऐसी परम्परा है।** इस गन्थ की शुरुआत में वक्ता कैसा होना चाहिए – कहनेवाला कैसे होना चाहिए, प्ररूपक कैसा होना चाहिए, यह नयी पुस्तक अभी छपा है '....'! बहुत सादी भाषा है, कोई ऐसी बहुत (कठिन) नहीं है, थोड़ी–थोड़ी सीखना।

www.vitragvani.com

श्रोता : कठिन पड़ता है।

उत्तर : कठिन पड़े तो सादी (भाषा में) कहते हैं। कहो, समझ में आया? इस ग्रन्थ की शुरुआत में वक्ता / कहनेवाला कैसा चाहिए? शास्त्र का प्ररूपक कैसा चाहिए? और शास्त्र का सुननेवाला कैसा चाहिए? समझ में आया? और ग्रन्थ में वर्णन क्या आयेगा? – ये तीन बातें करेंगे। **ऐसी परम्परा है।** ऐसी अनादि की परम्परा है। श्रोता कैसा, वक्ता कैसा और क्या कहना है – इसकी परम्परा से यह बात हम कहेंगे।

इसलिए प्रथम ही वक्ता का लक्षण कहते हैं–

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधा:।
व्यवहार निश्चयज्ञा: प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।।४।।

देखो! यहाँ से उठाया है, मुख्य। **मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से...** मुख्य अर्थात् निश्चय। देखो! यहाँ मुख्य अर्थात् निश्चय, वह मुख्य है और व्यवहार अर्थात् उपचार कथन है। उनके कथन के विवेचन द्वारा, स्पष्टता द्वारा **प्रकटरूपेण शिष्यों का दुर्निवार... 'निरस्त दुस्तर विनेय' दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने नष्ट कर दिया है...** समझ में आया? **'विनेय'** विनेय शिष्य, विनेय अर्थात् शिष्य। उसका **'दुर्बोधा:'** अर्थात् अज्ञानभाव, **'निरस्तदुस्तर'** दुर्निवार, उसका नाश किया। समझ में आया? ऐसे गुरु–वक्ता चाहिए – ऐसा कहते हैं। शिष्य का बाद में कहेंगे।

मुख्य और उपचार कथन के विवेचन से प्रकटरूपेण शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव... जो अज्ञान–अनादि से निवारण नहीं किया जा सका, उसके अज्ञान को **जिन्होंने नष्ट कर दिया है...** शिष्य का, लो! **शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने नष्ट कर दिया है...** लो! आया या नहीं? ऐ..ई..! इसका अर्थ कि जिसका अज्ञान नाश हो, ऐसा इसका ज्ञान है, ऐसी इनकी कथनी है, ऐसा इन्हें भाव उठा है कि इसी भाव से अज्ञान नाश होगा। अज्ञान जो है, वह इससे नाश होगा, ऐसे कथन करनेवाले, निश्चय और व्यवहार को भलीभाँति जाननेवाले ये वक्ता, शिष्य के दुर्निवार अज्ञान को नाश करने में निमित्त हैं; उसे नाश करते हैं – ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

ऐसे तथा... एक तो यह। उसे यहाँ स्वच्छन्द है और कहाँ भूलता है, वह व्यवहार–

www.vitragvani.com

निश्चय बतावे उसे। समझ में आया? और स्वयं **व्यवहारनय और निश्चयनय के ज्ञाता हैं,...** समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं कि वक्ता ऐसा है कि सामनेवाले के दुर्निवार अज्ञान का नाश ही हो, ऐसी बात है। आहाहा! समझ में आया? उनका उपदेश ही ऐसा होता है। जिन्हें पूर्वापर विरोधरहित निश्चय और व्यवहार का भलीभाँति उपचार और मुख्यता का ज्ञान है। **ऐसे आचार्य, जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं।** लो! शिष्य के दुर्निवार अज्ञान को नाश करने की जिनकी सामर्थ्य है अर्थात् ऐसा जो जिनका भाव (है), उसमें कहाँ–कहाँ उसकी भूल है और कहाँ वह स्वयं अटका है... समझ में आया? उसे सन्धि बतलाते हैं। स्वयं निश्चय–व्यवहार के ज्ञाता हैं। यथार्थ मुख्य वस्तु के ज्ञाता हैं, उपचार से कहने में आयी हुई बात को भी, उपचार से क्यों कहा – इसका भी ज्ञान है। कहो, समझ में आया इसमें? इसमें बहुत स्पष्टता है। समयसार में तो अकेला मक्खन भरा है। उसे दूसरे प्रकार से वापस श्रोता–वक्ता के बहुत प्रकार से इसे यहाँ समझाते हैं।

तथा जगत में धर्मतीर्थ **'प्रवर्तयन्ते'**। लो! धर्मतीर्थ प्रवर्ताते हैं। लो! ऐई...! प्रत्येक गाथा में निश्चय–व्यवहार का ज्ञान नहीं होवे तो कहते हैं श्रोता को समझ में नहीं आयेगा और व्यवहार तथा निश्चय का ज्ञान इसे न हो तो उसका (श्रोता का) अज्ञान नाश नहीं होगा – ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? शास्त्र में आवे तो कहे, यह कहा, देखो! इसमें कहा। यह शब्द हम रचते हैं, हम शब्द के कर्ता हैं। निमित्तकर्ता हैं – ऐसा तो आता है या नहीं शास्त्र में? भाई! वह तो व्यवहार का कथन है, कर्ता–फर्ता तो नहीं। किसका कर्ता? किसकी पर्याय कौन करे? द्रव्य की धारावाही पर्याय जहाँ चले, उसे दूसरा करे कौन? अपनी धारावाही चले, वह दूसरे के करने में रुके कौन? समझ में आया? परन्तु व्यवहार के कथनों की पद्धति ही–वाणी ऐसी होवे, ऐसा उसे ज्ञान ठीक से होना चाहिए।

प्रवर्तन कराते हैं। देखो! धर्मतीर्थ प्रवर्ताते हैं। कितनी भाषा है इसमें? और स्वयं कहे – केवली, श्रुतकेवली और आचार्यों की परम्परा का विचार करके हम यह शास्त्र रचते हैं; इसमें कुछ भी फेरफार नहीं, सन्धि जुड़ती है – ऐसा कहते हैं। भगवान कहते हैं, उसी बात को हम कहेंगे, दूसरी बात है नहीं।

टीका : 'व्यवहार निश्चयज्ञाः जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते'–लो! यह तो आया न

उसमें ? व्यवहार–निश्चय का जाननेवाला। आठवीं गाथा में। महारथी समयसार! वह बात है। **व्यवहार और निश्चय के जाननेवाले आचार्य...** उपचार का क्या स्वरूप है और क्यों कहा गया ? और निश्चय का वास्तविक क्या स्वरूप है, उसे क्यों कहना है ? – इसके भलीभाँति जाननेवाले आचार्य चाहिए। इसे जाने बिना उपदेशक बने तो वह उपदेश स्वयं को नुकसान करे, दूसरे को भी नुकसान करे – ऐसा कहलाये। यहाँ 'मिटाते हैं' – ऐसा है न ? यह करे। कहो, समझ में आया इसमें ? व्यवहार, उपचार कथन है, अभूतार्थ कथन है; निश्चय, वास्तविक कथन है, यथार्थ वस्तु है। इसके जो **जाननेवाले आचार्य इस लोक में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं।** लो! दया जहाँ आयी; पर की दया; वहाँ वह (कहने) आवे कि देखो! यह पर की दया आयी। पर की दया, वह धर्म! परन्तु भाई! यह तो व्यवहार–उपचार का कथन है! पर की दया कोई कर नहीं सकता; मात्र पर की स्थिति में इसे जावे शुभभाव आया, उसका ज्ञान कराने को ऐसा कहा है कि यह पर की दया पालन की! और उसे व्यवहारधर्म भी कहा जाता है। व्यवहारधर्म अर्थात् उपचार से कहलाता है; वह वास्तविक धर्म नहीं है। वह दया ही वास्तविक नहीं है। लोग चिल्लाने लगते हैं। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं – राग की अनुत्पत्ति, वह अहिंसा; राग की उत्पत्ति, वह हिंसा (है)। चाहे तो शुभराग हो या चाहे तो अशुभराग हो। भले ही कहीं शुभराग को व्यवहारधर्म कहा हो तो भी, वह निश्चय से तो राग की उत्पत्ति है, वह हिंसा है। समझ में आया ? इसका भी विवाद, अभी तो बहुत विवाद उठे हैं। सब बाहर आये। गुप्त थे, वे (बाहर आये।) इसमें बहुत लिखान आया है।

इस लोक में, इस लोक में ऐसे आचार्य, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं। लो! अर्थात् कि तीर्थ चलनेवाले के निमित्त ऐसे जीव होते हैं – ऐसा कहते हैं। उसकी उपादान दशा में तिरने के उपायों को साधता है, उसे ऐसे आचार्य निमित्तरूप होते हैं, खोटे होते नहीं – इतना सिद्ध करना है। कहो, समझ में आया ? ऐसे तिरनेवाले के आत्मा को, तिरनेवाला आत्मा शुद्ध चैतन्य की मूर्ति का आश्रय लेकर, जो पर्याय में तिरता है, संसार से तिरता है, ऐसे जो तीर्थ और साधक जीव, उन्हें ऐसे आचार्य निमित्त होते हैं – ऐसा कहते हैं। जिन्हें

निश्चय-व्यवहार का ज्ञान नहीं, जिन्हें परमागम क्या है - इसका भान नहीं, अनेकान्त क्या चीज है - उसका पता नहीं; ऐसे जीव, उन्हें निमित्त नहीं होते हैं। इसलिए उसे ऐसे निमित्त होते हैं, उन्हें जगत का तीर्थ प्रवर्तन कराते हैं - ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

कैसे हैं आचार्य ? मुख्य और उपचार कथन से... देखो ! मुख्य अर्थात् यथार्थ / निश्चय, **उपचार...** अर्थात् व्यवहार के कथन द्वारा ! **शिष्य के अपार अज्ञानभाव को... 'निरस्त'** कहा है न ? अज्ञानभाव को जिन्होंने नाश किया है, ऐसे हैं। लो ! यहाँ तो अज्ञानभाव को नाश किया है, ऐसे ही आचार्य लिये हैं। उपादान-निमित्त दोनों समरूप लिये हैं। समझ में आया या नहीं ? (समयसार) पाँचवीं गाथा में आया न ? **'जदि दाएज्ज पमाणं'** बस ! यह शब्द है। दिखाऊँ तो अनुभव करना, अनुभव करके प्रमाण करना, ऐसा। दिखाऊँ तो अनुभव करके प्रमाण करना, बस ! यह शैली है, लो ! पाँचवीं गाथा। **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण'** बस ! इतना। यह सामान्य बात। फिर **'जदि दाएज्ज पमाणं'** दिखाऊँ तो अनुभव करके प्रमाण करना।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं - मुख्य अर्थात् निश्चय और उपचार अर्थात् व्यवहार कथन द्वारा **शिष्य के अपार अज्ञानभाव को...** अपार अज्ञानभाव को, लो ! **जिन्होंने नाश किया है,...** ऐसे आचार्य हैं। अज्ञानभाव का नाश किया और मिथ्यात्वभाव का नाश किया - उसकी ही यहाँ तो बातें चलती हैं। फिर स्थिरता की बातें करेंगे। अभी पहले अज्ञान का नाश हुए बिना, ज्ञान हुए बिना स्थिर कहाँ हो ? यह ग्रन्थ है तो श्रावकाचार, हों ! समझ में आया ? श्रावक में भी श्रावक के जीव को अज्ञाननाशक आचार्य मिलते हैं, तब उसका अज्ञान नाश होता है; फिर उस श्रावक के योग्य व्रत के विकल्प उसे होते हैं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

भावार्थ : उपदेशदाता आचार्य में अनेक गुण चाहिए,... भावार्थ है न ? उपदेशदाता-उपदेश का देनेवाला; दाता अर्थात् देनेवाला। उपदेशदाता। देखो ! ऐ..ई... ! एक ओर कहे कि एक समय की पर्याय को द्रव्य, दाता नहीं। अरे..अरे... ! यह तो क्या बात ! चन्दुभाई ! योगसार में कहते हैं - भगवान आत्मा, वह एक समय की पर्याय का द्रव्य

www.vitragvani.com

दाता नहीं। आहाहा! ऐ..ई! पर्याय, वह स्वतन्त्र प्रगट होती है; द्रव्य दाता नहीं, क्योंकि यदि द्रव्य दाता होवे तो द्रव्य की पर्याय सब एक सरीखी होनी चाहिए; और भिन्न-भिन्न प्रकार की पर्याय आती है; इसलिए वास्तव में द्रव्य, दाता नहीं है, परन्तु उसकी स्वतन्त्र पर्याय का काल ही ऐसा है, ऐसी प्रगट होती है। आहाहा! शोभालालभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! जैनदर्शन ऐसी चीज है। आहाहा!

भगवान आत्मा, अरे...! कोई भी परमाणु भी उसकी पर्याय का दाता किस प्रकार सिद्ध होगा? द्रव्य और गुण तो ऐसे के ऐसे हैं। ऐसा का ऐसा, तो भी भिन्न-भिन्न प्रकार की पर्याय प्रगट होती है, उसका कारण यदि द्रव्य-गुण कहोगे तो द्रव्य-गुण तो ऐसे के ऐसे हैं। समझ में आया? बापू! सत् को सिद्ध करने की (शैली है।) उत्पाद किस प्रकार होता है? सत् का उत्पाद स्वतन्त्र है, उसका ध्रुव भी दाता नहीं है। आहाहा! यह वस्तु की स्थिति का निश्चय वस्तु है। यहाँ उपदेश दाता, आहाहा! भाई! किस अपेक्षा से है – यह व्यवहार-निश्चय भलीभाँति जानना चाहिए। समझ में आया? कहो, चन्दुभाई! यह तो सब पूर्व-पश्चिम का फर्क है। कहते हैं कि उसे मुख्य और उपचार-दो का ज्ञान तो आचार्य को होना चाहिए। समझ में आया? फिर श्रोता का कहेंगे। आठवीं गाथा में, यह आठवीं गाथा में कहेंगे। यहाँ तो (वक्ता की) बात ली है। आठवीं में वह कहेंगे। समझ में आया? **श्रोता कैसे गुणवाला होना चाहिए? 'व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।'** यह आठवीं में कहेंगे। बहुत सरस! 'पुरुषासिद्धि-उपाय'! यह तो एक-एक शास्त्र, दिगम्बर सन्तों द्वारा कहा गया, अलौकिक रीत है! समझ में आया? सर्वज्ञपरमेश्वर से आये हुए भावों को उसी प्रकार परम्परा से प्रवाहित रखा है। दिगम्बर मुनि महासन्त, धर्म के स्तम्भ!

कहते हैं, उपदेशदाता! भाषा देखो न! समझ में आया? **उपदेशदाता आचार्य में...** अथवा उपदेश करनेवाला जो आत्मा है, उसमें **अनेक गुण चाहिए...** अनेक गुण होते हैं, **परन्तु व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए।** देखो! भाषा। दूसरे गुण भले (हों), परन्तु यह जो व्यवहार-निश्चय, (उनका जानपना तो होना ही चाहिए।) क्योंकि यह तो जैनधर्म का स्तम्भ अथवा वस्तुस्वरूप को समझने की मुख्यता और प्रयोजन... उपचारता, यह तो वस्तु की स्थिति है, उसे यदि न जाने तो दूसरे गुण चाहे कितने भी हों परन्तु वह गुण सबको नुकसान कर डाले। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए। देखा? मुख्य चाहिए। यह, जिसे ज्ञान में यह मुख्य चाहिए। कहो, समझ में आया? वास्तविक तत्त्व और उपचारिक तत्त्व का जहाँ ज्ञान न हो तो उस मुख्य बिना वह उपदेश करेगा क्या? गड़बड़ करेगा और जगत के जीवों को नुकसान का कारण होगा। वह तो यहाँ लाभ का कारण कहना है न? उपदेशदाता नुकसान का कारण (होगा), ऐसा। व्यवहार के सब कथन ऐसे ही होते हैं। समझ में आया? आहाहा! वजन यहाँ है—**व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए।** जानपना मुख्य चाहिए। त्यागी हो गया हो या अत्यन्त बहुत वीतरागी हो गया हो, यह प्रश्न नहीं। भले मुनि है, आचार्य निर्ग्रन्थ (हों) परन्तु उन्हें यह मुख्य चाहिए। उनके ज्ञान में निश्चय और उपचार / व्यवहार - दो का ज्ञान मुख्य होवे तो वह गाड़ी चलायेगा, वरना पूरी गाड़ी टूटेगी, गाड़ी अटकेगी, मार्ग नहीं चलेगा - ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसका अभी विवाद। व्यवहार के कथन आवे न, इतने अधिक कथन पढ़े, सब पढ़े... ५६८ पृष्ठ पढ़े, ६२४ पृष्ठ है, ठीक, परन्तु अब लोगों को जानकारी मिलेगी। जिसे समझना हो, उसे... फूलचन्दजी जैसे भी बहुत मेहनत की न।

वाणी स्वाश्रित है या पराश्रित है? - ऐसे प्रश्न हैं। 'वक्ता पमाणं पुरुष पमाणं' — ऐसे शास्त्र में लिखा है। ऐई! देखो! उपदेशदाता कहा या नहीं? वक्ता प्रमाणे... क्या कहा? पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण, पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण। ऐई..! देवानुप्रिया! पण्डितजी! पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण। वचन की प्रमाणता पुरुष के प्रमाण से है। वचन की प्रमाणता वचन के कारण कहाँ से आयी? व्यवहार सिद्ध हो गया, देखो! आता है या नहीं बहुत जगह? वक्ता जैसा हो, वैसी उसकी वाणी प्रमाण की हो।

यहाँ कहा न? वक्ता-उपदेशदाता ऐसा हो तो उसकी वाणी अच्छी हो। वाणी का आधार तो उपदेश का (वक्ता का) आया। वाणी पराश्रित हुई। वाणी को प्रमाणपना पराश्रितपने आया, परन्तु यह व्यवहार है; ऐसा यथार्थ नहीं है। वाणी की पर्याय प्रमाणरूप से स्व-स्वयं के आश्रय से ही परिणम रही है, वाणी का ऐसा धर्म है। समझ में आया? शास्त्र में कथन ऐसा आया कि वक्ता के प्रमाण से वचन प्रमाण। वहाँ (ऐसा कहते हैं), देखो! वाणी को इसका आधार आया... देखो! परन्तु वाणी की पर्याय स्वतन्त्र हुई है, वहाँ

www.vitragvani.com

आधार–फाधार है ही नहीं, सुन न! वाणी में भगवान के भाव भरे हैं। भरे नहीं; वाणी में तो वाणी के भाव भरे हैं। भगवान के भाव वहाँ कहाँ से (आये)? वह (वाणी) तो पुद्गल की पर्याय है, शब्द है। वाणी तो शब्द की पर्याय है, (शब्दरूप) पर्याय में वहाँ भगवान के भाव कहाँ से आये? आत्मा के भाव वहाँ आये? अरे! बहुत कठिन बात है! ऐई! शोभालालजी! तुम्हारे कितने ही तारणस्वामी के पण्डित बहुत कहते हैं, देखो! वाणी में ऐसा है, मूर्ति में ऐसा है, वाणी (ऐसा है) परन्तु दोनों को समझते नहीं। मूर्ति में कहाँ भाव आये परन्तु? वाणी में तो उसके भाव हैं, ऐसा है; परन्तु उसमें भी भाव जड़ के हैं, वहाँ कहाँ आत्मा के थे? आहाहा! बड़ी चर्चा चली है इसमें, पृष्ठ आयेंगे, बहुत विस्तार से लेंगे। वाणी के रजकण स्वतन्त्र स्वयं से परिणमते हैं। आत्मा था, इसलिए परिणमते हैं – ऐसा नहीं है। वाणी स्वाश्रित प्रमाण है। आहाहा!

प्रश्न : केवलज्ञान अनुसारिणी...

उत्तर : केवलज्ञान का कार्य व्यवहार से कहा जाता है। आता है शास्त्र में। अनुसारिणी का कार्य भी आता है। केवलज्ञान कारण–ज्ञान कारण और वाणी कार्य। लो! परन्तु क्या है इसमें? अर्थात् क्या? वाणी कार्य है? यह तो निमित्तपना बतलाया है। परमाणु का पर्याय में–स्कन्ध की पर्याय में वाणी का भाव है। भगवान के भाव वहाँ आये हैं? ऐसे जिसे व्यवहार–निश्चय का पता नहीं है – ऐसा जो आचार्य, (वह) उपदेश के योग्य नहीं होता। समझ में आया? मुख्य गुण यह चाहिए। **किसलिए?** यह विशेष आयेगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४ गाथा–४ शुक्रवार, माघ कृष्ण ३, दिनांक ३०.१२.१९६६

चौथी गाथा चलती है। देखो! इस चौथी गाथा में मुख्य वस्तु है, देखो! ऐसा कहा न? **'मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधाः व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्'**

भावार्थ : उपदेशदाता... उपदेश के देनेवाले, **आचार्य में अनेक गुण चाहिए...**

उपदेश के करनेवाले वक्ता में अनेक गुण चाहिए। **परन्तु व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए।** देखो! सबमें यह मुख्य कहा है। पूरा इस पर जैनदर्शन का अथवा वस्तुतत्त्व का आधार है। **व्यवहार और निश्चय का ज्ञान मुख्यरूप से चाहिए।** किसे व्यवहार कहते हैं, किसे निश्चय कहते हैं ? – इसका यदि ज्ञान न हो तो यथार्थ उपदेश नहीं कर सकता और यथार्थ उपदेश के बिना शिष्य के अज्ञान को मिटा नहीं सकता।

किसलिए? जीवों को अनादि से अज्ञानभाव है, वह मुख्य... अज्ञानी को अज्ञानभाव है, वह इतना। जीवों को अनादि का अज्ञानभाव है। यह बात। **(निश्चय) कथन और उपचार (व्यवहार) कथन के जानने से दूर होता है।** समझ में आया ? अनादि का मिथ्याभ्रम और अज्ञान जो है, वह मुख्य ज्ञान – मुख्य कथन और उपचार/व्यवहार कथन द्वारा उसका अज्ञान नाश होता है। **वहाँ मुख्य कथन तो निश्चयनय के आधीन है,...** मुख्य का कहना, वह तो निश्चयनय के आधीन है। **वही बताते हैं।** लो!

'स्वाश्रितो निश्चयः' स्व-आश्रय, वह निश्चय; **जो अपने ही आश्रय से हो उसको निश्चय कहते हैं।** स्व-आश्रय, वह निश्चय — ऐसा इसे ज्ञान हो। स्व-आश्रय में अपने द्रव्य में जो भाव हो, उसे निश्चय कहते हैं। इसके भी दो अर्थ हैं — स्व-आश्रय में अपने द्रव्य में हो और अपने अभेदभाव में हो, उसे भी स्व-आश्रय कहा जाता है। समझ में आया ? निश्चय का विषय अभेद विषय है; इसलिए स्व-आश्रय में पर-आश्रय नहीं होता और उसमें वास्तव में तो गुण-गुणी के भेद का भी पर-आश्रय, स्व-आश्रय में नहीं होता। समझ में आया ? स्व / अपना स्वरूप जो अभेद है, उसके आश्रय से निश्चय प्रवर्तता है। कहो, वजुभाई! अपने ही आश्रय से जो हो, उसे निश्चय कहते हैं। एक बात तो, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय अपने आश्रय से है, उसे निश्चय कहते हैं और दूसरी बात, कि अभेद में भेद नहीं; उस अभेद को भी निश्चय कहते हैं। समझ में आया ?

स्व चैतन्यस्वरूप अभेद स्व-आश्रय में... (समयसार की) ११ वीं गाथा लो तो भूतार्थ अकेला अभेद, वह स्व है और उसकी पर्यायभेद और गुणभेद, सब स्व-आश्रय में नहीं आता। नहीं आता इतना तो थोड़ा मेल नहीं करता ? नहीं तो अन्दर जरा भूला हो जाए। समझ में आया ? एकरूप चैतन्य, पर से भिन्न, परन्तु पर से भिन्न होने पर दृष्टि स्व के ऊपर

जाए तो वह भेद से भी भिन्न हो गया है। समझ में आया? आत्मा, वह परद्रव्य से भिन्न; शरीर–कर्म आदि से भिन्न — ऐसा कहते ही उसका स्व–आश्रय अभेद रह गया।

मुमुक्षु : .....

उत्तर : यह तो यह का यह आया। परद्रव्य से भिन्न — ऐसा स्वद्रव्य बतावे, तब परद्रव्य से भिन्न स्व–आश्रय बतावे। पर से भिन्न होने पर, स्व–आश्रय अभेद अकेला रहा। उसमें राग और भेद भी स्व–आश्रय में नहीं आया। समझ में आया? देखो! यह '**मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधा:**' इसका '**प्रवर्तयन्ते जगति**' मुख्य चाहिए। इसका ही अभी मूल विवाद है। निश्चय और व्यवहार वास्तविक किसे कहना — इसके स्वरूप के अज्ञान के कारण सब गड़बड़ उठी है। समझ में आया?

स्व–आश्रित निश्चय। एक तो स्व /अपना द्रव्य–गुण और पर्याय, यह अपने में रहे हुए भाव; पर के भाव इसमें नहीं। इसलिए एक तो आगमदृष्टि से सामान्य स्व से लें तो पर से भिन्न स्वद्रव्य, इसका आश्रय हुआ; परन्तु अन्तर निश्चयदृष्टि–अध्यात्मदृष्टि से लें तो स्व–आश्रय अर्थात् अभेद, वह स्व रहा। उसके गुण–पर्याय; परद्रव्य तो भिन्न रह गया, परन्तु इसके गुणभेद और पर्यायभेद भी पर में और व्यवहार में और पर में गये। समझ में आया?

स्व–आश्रय, वह निश्चय। भगवान आत्मा अभेद अनुपचार पदार्थ, वह स्व। उसके आश्रय से निश्चय का कथन चलता है। इस प्रकार निश्चय की वास्तविकता न जाने तो उसका उपदेश यथार्थ नहीं हो तो दूसरे का अज्ञान मिटाने को निमित्त भी नहीं हो। समझ में आया?

जो अपने ही आश्रय से हो, उसको निश्चय कहते हैं। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव पाये जावें, उस द्रव्य में उनका ही स्थापन करना, जो द्रव्य के होने में, पदार्थ के होने में, जो भाव हो उस द्रव्य में उसकी ही स्थापना करना, इसका नाम निश्चय। आहाहा! द्रव्य के–पदार्थ के होनेपने में जो भाव... यहाँ ज्ञायकभाव लेना है न? द्रव्य का त्रिकाली भाव लेना है, पहला साधारण भाव और फिर त्रिकाली। कारण कि साधारणभाव इसका स्वयं में है और पर नहीं, परन्तु पर से भिन्न पड़ने पर उसे साधारण अकेला ज्ञायकभाव ही स्वयं में है — ऐसी दृष्टि जाती है। समझ में आया?

www.vitragvani.com

द्रव्य के होने में जो भाव प्राप्त हो, उस द्रव्य में उसका स्थापन करना। परद्रव्य के गुण-पर्याय और द्रव्य, आत्मा में नहीं। ऐसे जब पर, आत्मा में नहीं और अपना भाव अपने में है, अपना भाव अपने में है; पर के द्रव्य-गुण भाव, आत्मा में नहीं; अपना भाव अपने में है — ऐसा करने पर, परद्रव्य के गुण-पर्याय मुझमें नहीं, उसका लक्ष्य छोड़ने पर, मेरा भाव मुझमें हैं — ऐसी दृष्टि जाने पर, निश्चय में तो गुणभेद और पर्यायभेद भी स्व-आश्रय में नहीं रहते। समझ में आया? कहो, समझ में आता है या नहीं?

स्व-आश्रय, वह निश्चय। अर्थात् स्व-शब्द में दो प्रकार — एक, स्व अर्थात् पर से भिन्न और एक स्व अर्थात् अकेला अभेदभाव, वह स्व। समझ में आया? ऐसा जो कथन चले अथवा ऐसा जो भाव अन्दर भासित हो, स्वद्रव्य आश्रय, उसे निश्चय कहने में आता है। यह गाथा ही पूरी सिद्धान्त में, निश्चय और व्यवहार के मुख्य गुण को अथवा उपचार को जानकर, वास्तविक जानना और कहना, वह सम्पूर्ण जैनशासन का तीर्थ प्रवर्तने में मुख्य हेतु है। समझ में आया?

परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करना... देखो! कल्पना तो आयी यहाँ। देखो! पहले में—व्यवहार में कल्पना करनी—ऐसी बात (आयेगी)। **उसे स्वाश्रित कहते है।** एक अंश भी पर का अपने में कल्पित न करना, अन्य कल्पना (न करनी), उसे स्व-आश्रित कहते हैं। एक तो परद्रव्य और परद्रव्य के गुण-पर्याय को अंशमात्र अपने में कल्पित न करना। समझ में आया? और अभेद में भेद जो पर है, उसे भी अभेद में कल्पित न करना। समझ में आया? कठिन पड़ता है? **परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करना...** एक अंश भी परद्रव्य का इसमें है — ऐसा न कहना। इसका अर्थ हो गया कि परद्रव्य से भिन्न पड़ने पर, उसे अन्तरदृष्टि में अभेद-आश्रय हुआ; उसमें भेद का भी वास्तव में आश्रय नहीं रहा; इसलिए भेद भी इस दृष्टि से व्यवहार हो गया; स्व-आश्रय में रहा नहीं। समझ में आया? क्या कठिन पड़ता है इसमें?

वस्तु है; एक समय में अनन्त स्वभाव गुण सम्पन्न पदार्थ है। अब स्व-आश्रय निश्चय की व्याख्या चलती है। स्व-आश्रय, स्व-अवलम्बन; स्व-अवलम्बन के आश्रय निश्चय है। आश्रय कहो या अवलम्बन कहो। स्व-अवलम्बन के आश्रय निश्चय है,

www.vitragvani.com

इसका अर्थ हुआ कि परपदार्थ का अवलम्बन का एक अंश भी इसमें नहीं आता। अब, जब परपदार्थ का एक भी अंश अवलम्बन के लिये अथवा इसमें नहीं आता, तब स्व-आश्रय, वह स्व-अवलम्बन का आश्रय करना, यह निश्चय। इसका अर्थ हुआ कि इसमें गुण और पर्याय के भेद का भी अवलम्बन नहीं रहता। गुण और पर्याय का अवलम्बन अर्थात् आश्रय नहीं रहता, अवलम्बन नहीं रहता, आधार नहीं रहता, लक्ष्य नहीं रहता; इससे स्व-आश्रय में अकेला अभेद अनुपचार पदार्थ, जिसे निश्चय में आता है, उसे यहाँ निश्चय कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें? इतना सब किस प्रकार याद रहे? धर्मचन्दजी! रात्रि को यह सब पूछें तो याद रहे? इसमें इतना सब कहाँ था? इसमें तो थोड़ा, बहुत संक्षिप्त है।

भगवान आत्मा स्व-अवलम्बी निश्चय; पर-अवलम्बी व्यवहार। स्व-अवलम्बी निश्चय, अर्थात् भगवान आत्मा में परद्रव्य का एक अंश किंचित् भी नहीं। (पर के अंश की) ऐसी कल्पना करना छोड़ देना। पर का अंश मुझमें नहीं और जब पर का अंश मुझमें नहीं अर्थात् स्वद्रव्य, वह मैं हूँ — ऐसी दृष्टि जाने पर स्व का अवलम्बन अकेला अभेद रह गया। अभेद अवलम्बन में उसके गुणभेद का भी अवलम्बन, लक्ष्य, आश्रय रहा नहीं; इस कारण स्व-आश्रय में अकेला अभेद ही अवलम्बन रह जाता है; उसे यहाँ वास्तव में निश्चय कहा जाता है, क्योंकि पाँचवीं गाथा में यही कहेंगे। **'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्'** है न ११ वीं गाथा? वही यहाँ अब कहेंगे। समझ में आया?

आचार्य यहाँ (कहते हैं कि) **'मुख्योपचार विवरण'** वह यदि मुख्य-उपचार का ज्ञान जानता होवे तो वह यथार्थरूप से प्ररूपण। कथन करे अथवा जाने तो उसे अज्ञानपना जो है, मुख्यपना किये बिना और गौण-भेद को और पर को गौण किये बिना, उपचार के व्यवहार के भेदों को छोड़े बिना, अभेद के आश्रय बिना शिष्य का अज्ञान मिटता नहीं। कहो, समझ में आया इसमें? वजुभाई! अज्ञान का मिटना अर्थात् मिथ्यात्व का टलना, यह मुख्य-उपचार के ज्ञान द्वारा होता है। इसका अर्थ यह कि जो इसे मिथ्यात्व है, इसे परद्रव्य से भिन्न बताने से स्वद्रव्य में आश्रय कराने से, इसके गुण-पर्याय के भेद का अवलम्बन और आश्रय छुड़ाने से... क्योंकि वह उपचार और व्यवहार में जाता है; अकेला अभेद

www.vitragvani.com

चैतन्यमूर्ति भूतार्थ रहता है। उसके आश्रय से निश्चयनय प्रवर्तता है — ऐसा यदि इसे कहे, ऐसा यदि यह जाने, ऐसा यदि यह प्रवर्ते तो इसका अज्ञान दूर हो। कहो, समझ में आया इसमें ?

यह गाथा तो मुख्य में ली। तीर्थ प्रवर्तने में यह मुख्य वस्तु ली। इसे निश्चय और व्यवहार अथवा यथार्थ और उपचार... समझ में आया ? **मुख्य और उपचार** – मुख्य अर्थात् यथार्थ, निश्चय यथार्थ और उपचार आरोपित कथन, भेद का कथन, पर का कथन सब। समझ में आया ? वह सब उपचार का कथन, व्यवहार का कथन है। ऐसे निश्चय और व्यवहार के वास्तविक तत्त्व को जानता नहीं, उसका ज्ञान, जगत को वास्तविक कह नहीं सकता। वास्तविक नहीं कहे तो शिष्य को अज्ञान मिटाना है तो अज्ञान मिटाने का उपाय कि जो परद्रव्य से भिन्न और गुणभेद से भी भिन्न—ऐसा उसे कहे बिना, उसका अज्ञान, स्व का आश्रय लिये बिना मिटे नहीं। समझ में आया ? लोगों को यह बहुत सूक्ष्म (पड़ता है)। इसलिए ऐसा कहते हैं — यह यात्रा कर लें, यह कर लें, अमुक कर लें, देखो न ! कितना उत्साह था। बाहुबलीजी को चौदह वर्ष होते हैं, चलो... चलो। यह बाहुबल अनन्त काल में नहीं चढ़ा अन्दर में यह तो देख ! इसने कभी इसकी यात्रा ही नहीं की। आहाहा.. !

भगवान आत्मा स्व परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव-एकरूप भाव, उसके आश्रय से प्रवर्तता निश्चय, ऐसा जो वह ज्ञान जानता हो, उस प्रकार जगत को कहता हो, उस प्रकार अपने लक्ष्य में आता हो तो उस प्रकार पकड़कर उसके अज्ञान का नाश हो। कहो, समझ में आया ?

परमाणुमात्र भी अन्य कल्पना न करने का नाम स्वाश्रित है। उसका जो कथन है, उसी को मुख्य कथन कहते हैं। देखो ! इसे ही मुख्य कथन कहते हैं, मुख्य ही यह है। **इसको जानने से...** इसे जानने से। देखो ! अब। किसे ? निश्चय को, मुख्य को जानने से। **अनादि शरीरादि परद्रव्य में एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञानभाव का अभाव होता है,...** देखो ! **इसको जानने से अनादि शरीरादि परद्रव्य में एकत्व श्रद्धानरूप...** यह सब मैं हूँ — ऐसी जो दृष्टि पर में थी। शरीरादि... समझ में आया ? कर्म आदि परद्रव्यों

www.vitragvani.com

में एकत्वबुद्धि–परद्रव्यों में एकपने की बुद्धि थी, उस **एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञानभाव का अभाव होता है,...** शरीरादि परद्रव्यों में एकत्वबुद्धि थी, वहाँ से टलकर स्वद्रव्य में एकत्वबुद्धि हुई। इसका अर्थ ही यह हुआ। समझ में आया?

उपासना का कहा न? मूल तो यही बात लेते हैं। परद्रव्य से भिन्न उपासित होता हुआ वह शुद्ध कहलाता है। परद्रव्यों से भिन्न, भिन्न, परन्तु परद्रव्यों से भिन्न करते अभेद में दृष्टि गयी, तब उसके राग का भी सेवन नहीं रहा। जब अभेद का सेवन हुआ, तब ही उसे निश्चय कहा जाता है। समझ में आया?

इसको जानने से... इसे अर्थात्? मुख्य को, इसे अर्थात् निश्चय को, इसे अर्थात् स्व–आश्रित निश्चय को, स्व आश्रय को, इसे अर्थात् स्व–अवलम्बन को। समझ में आया? **इसको जानने से...** स्व–अवलम्बन को जानने से, स्व–आश्रय निश्चय को जानने से। स्व–आश्रय, वही मुख्य है उसे, यथार्थ है उसे जानने से अनादि शरीरादि परद्रव्यों में जो परलक्ष्यी बुद्धि थी, एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञानभाव का अभाव होता है। इसका अर्थ ही हुआ कि पर–आश्रय छुड़ाकर, स्व–आश्रय कराते हैं। स्व–आश्रय करने से इसकी पर्याय पर भी लक्ष्य नहीं रहता। पर का लक्ष्य छोड़ने पर इसका पर्याय पर भी लक्ष्य नहीं रहता, इसके राग पर और पर्याय पर लक्ष्य नहीं रहता हो, उसे पर का आश्रय छोड़ने पर स्व का आश्रय होता है और स्व का आश्रय आने पर उसके गुण–पर्यायभेद भी दृष्टि में नहीं रहते, तब इसका अज्ञान नाश होता है। कहो, वजुभाई! इसमें है या नहीं यह? बड़ा विवाद! फिर यह कहेंगे, अभेद... अभेद... अभेद।

गुण–गुणी भेद भी व्यवहार है; यह व्यवहार है, वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, अर्थात् पर है, अर्थात् झूठा है, इसमें नहीं – ऐसा। समझ में आया? क्या कहा? आत्मा में पर तो नहीं, परन्तु आत्मा एकरूप दृष्टि के स्व–आश्रय के अवलम्बन में इसके गुणभेद और पर्यायभेद भी अवस्तु हो गयी, अवस्तु हुई। अवस्तु अर्थात् स्व–आश्रय में रही नहीं, अभेद में रही नहीं, स्व–अवलम्बन में रही नहीं; इसलिए वह अवस्तु हो गयी। इसलिए इस दृष्टि से गुण–गुणीभेद और पर्यायभेद भी व्यवहार में जाता है। समझ में आया इसमें?

भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है,... देखो! अज्ञानभाव का अभाव होता है, इसलिए

www.vitragvani.com

भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, अर्थात् कि पर से भिन्न का भान होता है। जब पर से भिन्न स्व-आश्रय अभेद का आश्रय ले, तब पर से भिन्न होता है। पर से भिन्न होने पर उसे राग से भी भिन्न की सेवा हो गयी। समझ में आया? पर-आश्रय में लक्ष्य था, वहाँ राग था और पर-आश्रय का लक्ष्य जहाँ छूटा और स्व-आश्रय आया, तब उसे परद्रव्य तो रहा नहीं, परन्तु परद्रव्य के लक्ष्य से (होता हुआ) राग भी नहीं रहा। उसका लक्ष्य राग पर नहीं रहा, परन्तु वर्तमान पर्याय पर (भी) नहीं रहा - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तब उसने निश्चय को जाना कहलाता है। तब अज्ञान टले और भेदविज्ञान हो न! वरना किस प्रकार हो?

भेदविज्ञान किस प्रकार हुआ? पर से भिन्न और अभेद में एकाकार हुआ, उसे निश्चय कहा; तो पर से भिन्न पड़ने पर, गुण-गुणी भेद और पर्याय का लक्ष्य रहा नहीं, तब पर से भिन्न पड़ा, तब भेदविज्ञान हुआ। समझ में आया? भेदविज्ञान अर्थात् पर से भिन्न, सव से अभिन्न - ऐसे भेदविज्ञान है। पर से भिन्न — ऐसे भेदविज्ञान कहा। समझ में आया? यहाँ पर से भिन्न विकल्प... ऐसा नहीं। पर से भिन्न और अपने से अभेद — ऐसा होने पर स्वयं ज्ञायकभाव चैतन्यस्वरूप अभेद में एकरूप का अवलम्बन और आश्रय हुआ, भेदविज्ञान हुआ तब। तब तो पर से भिन्न पड़ा; (वरना) किस प्रकार भिन्न पड़े? समझ में आया? आहाहा..!

अज्ञानभाव का अभाव होता है,.... ऐसे दो बोल लिये हैं। और भेदज्ञान (प्राप्त होता है)। नास्ति ली और पहले अस्ति ली - इतनी बात है। बात तो वह की वह है। पर का आश्रय टलने पर, स्व का आश्रय होने पर, पर के आश्रय की एकत्वबुद्धि का नाश (हुआ), तब हुआ क्या? भेदज्ञान की प्राप्ति। समझ में आया? **भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है,...** भगवान आत्मा! ऐसा निश्चय का स्व-आश्रित भाव और उपचरित व्यवहार का भाव, यह क्या है — इसका जिसे ज्ञान नहीं, उसके कथन में विपरीतता आये बिना रहती नहीं और अन्य का (श्रोता का) अज्ञान टलता नहीं। कहो, समझ में आया इसमें?

अस्ति-नास्ति से बात की है — अज्ञानभाव का अभाव, भेदज्ञान की प्राप्ति। स्व-आश्रय — स्व आलम्बी, स्व-अवलम्बन की अपेक्षा से परवस्तु तो भिन्न रह गयी, परन्तु स्व के अवलम्बन में उसके गुण-पर्याय के भेद भी स्व-अवलम्बन में रहे नहीं। समझ

www.vitragvani.com

में आया? इसे यह रीति ही कभी ख्याल में नहीं आयी। ये जो हो किया करे — यह करो, यह करो, यह भक्ति करो, व्रत पालो, दया पालो, भगवान का स्मरण करो, सामायिक करो! परन्तु सामायिक किसकी? शोभालालभाई! मिथ्यात्व सेवे तब सन्तोष हो, अज्ञान का सेवन करे, तब इसे सन्तोष हो... स्व का आश्रय अभेद क्या है — इसकी दृष्टि का पता नहीं पड़ता, इसलिए इसमें (क्रियाओं में) रुके, तब इसे ऐसा लगता है कि कुछ करता हूँ। करता क्या है? जो करता है, वह करता है, अनादि का एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व। समझ में आया?

यह तो पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है। पुरुषार्थ — पुरुष चैतन्य के प्रयोजन की सिद्धि स्व–आश्रय से होती है और उपचार कथन जो जाननेयोग्य है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आचार्य भी भिन्न–भिन्न शास्त्र रचते, भिन्न–भिन्न प्रकार से वस्तु की विशेषता बताते हैं, स्पष्टीकरण–स्पष्ट करते हैं। समयसार और इसमें परस्पर कहीं विरोध नहीं है, हों! लालभाई नहीं? गये। इसमें समयसार का ही आता है। मैंने कहा, समयसार का ही आता है परन्तु दूसरे ढंग से आता है। रीति तो वही आती है न! दूसरी रीति आवे किसकी? समझ में आया? यह तो स्वयं खास ग्रन्थ रचा है, वह (समयसार की) तो टीका थी (और यह तो) अमृतचन्द्राचार्य का स्वयं का ग्रन्थ है।

सर्व परद्रव्य से भिन्न... देखो! स्व–आश्रय निश्चय में उसे मुख्य करके जानने में आवे, तब अनादि अज्ञान का नाश होकर भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है। देखो न! टोडरमल का कथन बहुत! **सर्व परद्रव्य से भिन्न...** अब, देखो! सर्व परद्रव्य — कर्म, शरीर, वाणी, मन, देव–गुरु–शास्त्र सब; कर्म और नोकर्म। **परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है।** भाषा देखो! वापस ऐसा नहीं कि परद्रव्य से भिन्न स्वयं की पर्याय, राग आदि का अनुभव होता है।

मुमुक्षु : शुद्धस्वरूप का....

उत्तर : शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है, क्योंकि ऐसे पर से भिन्न स्व–आश्रय हुआ, वहाँ स्व–आश्रय में शुद्ध चैतन्य ही दृष्टि में रह गया। समझ में आया? स्व–आश्रय, वह निश्चय और स्व–आलम्बी, वह निश्चय — ऐसा कहते ही पर–आश्रय और

www.vitragvani.com

पर-आलम्बन छूटने पर... कहा न? **सर्व परद्रव्य से भिन्न...** अर्थात् पर-आश्रय — पर-आलम्बन छूटने पर, ऐसा। परद्रव्य से भिन्न अर्थात् पर-आश्रय और पर-अवलम्बन छूटने पर, **अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है।** इसका अर्थ कि पर-आश्रय में परद्रव्य आदि तो आये, परन्तु गुणभेद भी पर में आया। उससे भी छूटकर यहाँ शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है। समझ में आया? है न पुस्तक सामने? यहाँ तो पुस्तकें अब तो तैयार हुई हैं, फिर तो यह शुरु किया है। समझ में आया?

इसे 'जिनप्रवचन रहस्य कोष' भी एक नाम दिया है। चाहे जिसने दिया हो। समझ में आया? 'जिनप्रवचन रहस्य' — उसका रहस्य है, उसका यह कोष है। तुम्हारे दवा का कोष होता है न एक? ...वैसे यह सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त का रहस्य कोष है, रहस्य कोष है, मर्म का कोष है यह। समझ में आया?

सर्व परद्रव्य से (भिन्न) स्व-आश्रय निश्चय में, स्व-आश्रय-अवलम्बन में, निश्चय की मुख्यपने की दृष्टि में, निश्चय के अन्तर अभेद के मुख्यपने में आने पर **परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप...** देखो! अपना यह। अपना वह राग और पर्याय अंश ऐसा नहीं। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो त्रिकाल, उसका अनुभव होता है। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह द्रव्य हो गया, वस्तु हुई। समझ में आया? **परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का...** अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह स्व-आश्रय में रह गया। समझ में आया? पुस्तक दी है न? तुम्हें दी है न? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, लड़के ने दिया है। बहुत सूक्ष्म बात है यह। आहाहा...!

भगवान आत्मा...! यहाँ तो अपने स्व-आश्रय का वजन देकर सब अर्थ होता है। स्व-आश्रय निश्चय। स्व-आश्रय निश्चय कब हुआ कहलाये? कि जब इसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो है, उसका आश्रय हुआ, उसका अवलम्बन हुआ, (तब) अनुभव होता है, तब उसका अनुभव होता है। आहाहा...! समझ में आया?

'स्व-आश्रयो निश्चय', 'स्व-आश्रयो मुख्य।' स्व-आलम्बी निश्चय, स्व-आलम्बी सत्य। लो! और दूसरा शब्द आया। स्व-आश्रयो निश्चय, स्व-आश्रय-स्वालम्बी निश्चय, स्वालम्बी सत्य, परालम्बी असत्य, ऐई..! समझ में आया? स्वालम्बी सत्य, स्वालम्बी

www.vitragvani.com

मुख्य, स्वालम्बी एक चैतन्य, शुद्ध चैतन्यस्वरूप, लो! ऐसे आश्रय होने पर शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है, देखो! कितनी बात लिखी है... ! टोडरमलजी भी....

एक व्यक्ति कहे – पुरुषार्थसिद्धि-उपाय लो। और एक व्यक्ति कहता था – समयसार तीन दिन में पढ़ लिया। तीन दिन में समयसार! परन्तु तुम्हारे महाराज क्या इतने वर्ष से पढ़ा ही करते हैं, अभी... ऐई! जीतू गया या नहीं? जीतू है या नहीं? वह जीतू कहता था कि मेरी माँ को किसी ने कहा यहाँ... तुम्हारे महाराज, इतने-इतने वर्ष हुए परन्तु यहाँ तो तीन दिन में समयसार पूरा पढ़ लिया, लो! उसमें क्या नया? पोषाये ऐसी बात करे। आहाहा..! भाई! स्व-आश्रय समयसार पढ़ना चाहिए, वह पढ़ा कहलाता है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अभेद चैतन्यज्योति का आश्रय लेकर, उसका अनुभव करने पर शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ही आश्रय रह गया – ऐसा कहते हैं और इससे उसका अनुभव होता है, उसका अनुभव होता है। जिसका आश्रय रहा, उसका अनुभव हुआ। इसका आश्रय रहा नहीं – पर का आश्रय रहा नहीं, पर का अवलम्बन रहा नहीं, पर का पक्ष रहा नहीं, पर का लक्ष्य रहा नहीं। इसी प्रकार गुणभेद का आश्रय रहा नहीं, गुणभेद का पक्ष रहा नहीं, गुणभेद का लक्ष्य रहा नहीं। समझ में आया?

कहते हैं — तीन बातें की हैं। क्या तीन? कि स्व-आश्रय निश्चय को दृष्टि में लेने से, आश्रय करने से, अवलम्बन करने से अज्ञान का अभाव होता है, भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है और शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अपने शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है। लो! तीन बोल लिये। कहो, समझ में आया? इस प्रकार भेदज्ञान तो ऐसे कहा। अज्ञान का अभाव, भेदज्ञान की प्राप्ति, इसका (चैतन्यस्वरूप का) अनुभव, ऐसा। समझ में आया? इसमें ऐसा है या नहीं? है? टोडरमलजी ने लेखन तो गजब किया है, हों! ऐसे लेखन करनेवाले को और फिर हम जाननेवाला टोडरमल प्रमाण... उनकी अपेक्षा हमने बहुत शास्त्र जाने हैं (– ऐसा कहते हैं।) अरे भाई! देखो न! कितना तोल-तोलकर रखा (लिखा) है। समझ में आया? समयसार में पण्डित जयचन्द (जी) का है, यह टोडरमल (जी) का है।

भाई! स्व-आश्रय निश्चय का ज्ञान, आचार्य को अथवा वक्ता को, जैसा है, वैसा

www.vitragvani.com

न होवे तो शिष्यों का अज्ञान दूर नहीं होगा; अज्ञान दूर नहीं होने पर भेदज्ञान नहीं होगा, भेदज्ञान नहीं होने पर शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं होगा। स्व-आश्रय अभेद का ज्ञान हो तो उसके कथन में वह मुख्यरूप से आने पर, शिष्य भी उस मुख्यपने के स्व-आश्रय को लक्ष्य में, दृष्टि में लेकर तथा अनादि पर की एकबुद्धि का अज्ञान नाश होकर, पर से भिन्न पड़ने पर शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। कहो, समझ में आया या नहीं? धीरे-धीरे नरम पड़ा या नहीं? अब कितना-सा रहा? यह तो घूँटता है, धीरे-धीरे तो घूँटता है। यह कोई प्रोफेसर की तरह एकदम नहीं चलता है। आहा...! अरे...!

मुख्य कहकर, निश्चय कहकर, स्व-आश्रय कहकर, यही तू पूरा एक ही है — ऐसा कहते हैं, लो! समझ में आया? यही अखण्डानन्द प्रभु अभेद, जिसे यहाँ अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप — ऐसा शब्द प्रयोग किया है। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वही सत्य, वही मुख्य, वही स्व-आश्रय, वही आश्रय करनेयोग्य, वही अवलम्बन करनेयोग्य - ऐसा निश्चय से ऐसा जिसे स्व-आश्रय निश्चय का ज्ञान है, वह यथार्थ उपदेश कर सकता है। फिर दूसरे शास्त्र भले अनेक हो — धवल, जयधवल और महाधवल - उनमें कोई दूसरा नहीं होता; उनमें भी यह की यही बात सिद्ध करने की व्यवहार की दूसरी बात होती है। समझ में आया? यह जिसके लक्ष्य में-दृष्टि में नहीं, उसे सच्चा ज्ञान नहीं और वह सच्चा ज्ञान दूसरे को कह सकता नहीं। उपचार के कथनों को सच्चा ठहराकर पर का आश्रय छुड़ाता नहीं, उसे अज्ञान मिटता नहीं, भेदविज्ञान होता नहीं और शुद्धस्वरूप का अनुभव होता नहीं। समझ में आया?

वहाँ परमानन्द दशा में मग्न होकर... अब, देखो! आगे बढ़ते हैं। क्या कहते हैं? पहला तो यह स्व-आश्रय निश्चय का भान हुआ; क्या हुआ? कि अज्ञान का नाश हुआ, भेदज्ञान की प्राप्ति हुई, अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव हुआ। यह निश्चय स्व-आश्रय, स्वावलम्बन; इससे **वहाँ परमानन्द दशा में मग्न होकर...** देखो! बाकी क्रियाकाण्ड करते-करते केवलज्ञान पाता है - ऐसा नहीं, भाई! क्या कहा, समझ में आया? **वहाँ परमानन्द दशा में...** जो परमानन्द का अनुभव हुआ था, यह वस्तु शुद्ध चैतन्य अपना अनुभव हुआ, उसी-उसी में लीन हुआ, यह अब चारित्र हुआ। समझ में आया? यह चारित्र हुआ।

अपना शुद्धस्वरूप, एक—उसका आश्रय लिया पर्याय ने, अर्थात् कि अनुभव हुआ। अनुभव होने पर अज्ञान का नाश हुआ, भेदविज्ञान की प्राप्ति हुई और यहाँ आनन्द का अनुभव हुआ। ऐसा आत्मा जहाँ अनुभव में आया; अब, उसी–उसी में लीन होने पर... अब केवलज्ञान प्राप्त करना है न? **परमानन्द दशा में मग्न होकर...** देखा? परमानन्ददशा में मग्न होकर। यहाँ फिर दशा लीन है। यह जाना है, उसी–उसी में लीन होकर। आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... **केवल दशा को प्राप्त होता है।** लो! यह केवलज्ञान की–पूर्णता की प्राप्ति को प्राप्त करता है। शुरुआत से, बीच में और ठेठ – तीनों। समझ में आया? नथुलालजी! इसमें है या नहीं? अब तो बहुत हिन्दी (लोग) गुजराती पढ़ना सीख गये हैं। थोड़ा–थोड़ा अभ्यास करना चाहिए वहाँ। कहो, समझ में आया इसमें? इस भाषा में जिस शैली से आवे न, वह उसमें – हिन्दी में अटक जाता है। यह लिखान तो फिर गुजराती है। हिन्दी में भी यही है, हिन्दी की ही गुजराती है, हों! इसमें कोई घर का नहीं डाला है, इसमें। लो!

वहाँ परमानन्द दशा में मग्न होकर... अब कहते हैं, केवलज्ञान कैसे पाये? अपनी स्व–आश्रय की दृष्टि होकर, अनुभव हुआ; इस स्व–शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव हुआ, यह निश्चय हुआ, यह मुख्य हुआ। अब केवल(ज्ञान) कैसे पावे? केवल(ज्ञान) प्राप्त करने की कोई दूसरी विधि होगी? कि यह आत्मा जो आनन्द के अनुभव में आया, उसी–उसी में आनन्द में विशेष मग्न होने पर (केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।) है न? इसलिए भाषा ऐसी ली है, देखा? परमानन्ददशा में मग्न है – ऐसी भाषा ली है, क्योंकि आनन्द, जो यह स्वरूप ऐसा है, ऐसे जहाँ शुद्ध अनुभव हुआ, उस आनन्द में मग्न होकर, खूब मग्न हो गया। **मग्न होकर केवल दशा को प्राप्त होता है।** उसमें मग्न होकर केवलज्ञान को पाता है। व्रत के विकल्प करके केवलज्ञान को पाता है — ऐसा नहीं है। आहाहा!

दूसरी जगह कहा कि व्यवहार के कथन हैं, जाननेयोग्य कहेंगे। उपचार के कथन, व्यवहार के कथन, आरोपित कथन, भेद के कथन — ये सब जाननेयोग्य हैं, आदरनेयोग्य नहीं। कहो, समझ में आया? इसीलिए कहते हैं कि इस मुख्य और उपचार का जिसे

ज्ञान नहीं, वह सब गड़बड़ करेगा। दूसरे शास्त्र में कहा है... परन्तु इस वस्तु को निश्चय रखकर, भेदरूप और पररूप के जितने कथन हैं, वे सब उपचारिक हैं, वे ज्ञान करने के लिये हैं, आदर करने के लिये नहीं। तब अब इसने कहा कि निमित्त का ज्ञान कर - ऐसा कहाँ शास्त्र में है? और ऐसा डाला है। ज्ञान करने के लिये नहीं, तब क्या कहा यह? जानने के लिये है। आदरणीय तो यह एक ही है। व्यवहार का ज्ञान किया, वह भी आदर करने के लिये है और यह भी आदर करने के लिये है तो दो पहलू पड़े क्यों? मुख्य और उपचार हुए कैसे? दोनों आदरणीय होवे तो दो पहलू पड़े कैसे? दोनों मात्र जानने के लिये ही हों तो दो पड़े कैसे? समझ में आया?

(यहाँ) कहते हैं **जो अज्ञानी इसको जाने बिना**... देखो? **जो अज्ञानी इसको जाने बिना**... इसको अर्थात्? स्व-आश्रय निश्चय अपना शुद्धस्वरूप, इसका अनुभव किये बिना, जाने बिना, पहिचाने बिना। समझ में आया? आहा...! **जो अज्ञानी इसको जाने बिना**... स्व-आश्रय अनुभव, वह वस्तु है; स्व-आश्रय, वह निश्चय है; स्व-आश्रय, वह मुख्य है - ऐसा जिसे ज्ञान भी नहीं है, जाना भी नहीं है, जानने में मुख्यपना इसका है - यह भी वह लेता नहीं। **धर्म में प्रवृत्ति करते हैं,**... इसे जाने बिना धर्म में लगता है, वह क्या लगता है? **वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय जानकर,**... क्योंकि वह तो शरीर की क्रिया हुई। यह पूजा, भक्ति, यह दया पालन की, सामायिक की, णमो अरिहंताणं - णमो सिद्धाणं (का) विकल्प उठे, वह सब, वह वाणी मैं बोला - णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं... जाप होता है न? जाप, यह सब शरीर पर है। ऐसे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय जाने, इसे आदरणीय माने। यहाँ जो आदरणीय स्व-आश्रित है, उसका तो जिसे ज्ञान भी नहीं है। समझ में आया? ऐसा **जाने बिना धर्म में प्रवृत्ति करते हैं,**... देखो! जाने बिना धर्म में तो लगता है न? धर्म में अर्थात् मानता है कि मैं धर्म में लगा। तथा ऐसा ऊपर अर्थ करे। देखो! इसे जाने बिना भी धर्म में तो लगता है न? है या नहीं, परन्तु इसमें क्या लिखा है? **इसको जाने बिना धर्म में प्रवृत्ति करते हैं,**... धर्म में लगता है, अर्थात् मैं धर्म करता हूँ — ऐसा मानता है।

मुमुक्षु : ....

www.vitragvani.com

उत्तर : ....अन्दर वस्तु की दृष्टि की खबर नहीं। मैं धर्म करता हूँ — ऐसा मानता है।

इसको जाने बिना धर्म में प्रवृत्ति करते हैं,... अर्थात् कि धर्म करता हूँ – ऐसा मानता है। **वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड...** देखो! यह शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया, विकल्प की क्रिया, मन की क्रिया, यह सब... मैंने स्तुति की, मैंने स्तुति की, लो! शरीर से मैंने अपवास किया, शरीर जीर्ण हुआ, देखो! रोटियाँ नहीं खायी। यह सब **क्रियाकाण्ड को उपादेय जानकर,...** ऐसे जो स्व–आश्रय अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जानता नहीं, उसकी दृष्टि नहीं, उसका ज्ञान नहीं और धर्म करने लगा है, वह शरीर की क्रिया को धर्म मानेगा। आहाहा..! समझ में आया? यहाँ तो यहाँ स्व–आश्रय में जब ज्ञान नहीं तो पराश्रय में धर्म (मानता है।) – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? स्व–आश्रय शब्द है न? इसलिए यहाँ फिर पराश्रय में, शरीराश्रय में – ऐसा कहते हैं।

स्व–आश्रय (अर्थात्) पर से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के आश्रय से धर्म होता है, इसका तो पता नहीं, इसका ज्ञान नहीं; इसलिए शरीराश्रित अर्थात् पराश्रित **क्रियाकाण्ड को उपादेय जानकर,...** लो! **संसार का कारण जो शुभोपयोग...** ठीक! शरीर से लक्ष्य जाने पर शुभोपयोग हो; दया में, दान में, भक्ति में, पूजा में, व्रत में, ब्रह्मचर्य पालन के शुभभाव हों। समझ में आया? शुभ। **संसार का कारण जो शुभोपयोग...** देखो भाषा? उसे ही मुक्ति मानता है। यही संसार, यही मुझे सम्मत है। संसार का कारण जो (शुभोपयोग)। पहले शरीराश्रित क्रियाकाण्ड है न? आश्रय है न? उसका लक्ष्य होकर शुभभाव हुआ न? दया का, दान का, भक्ति का, परोपकार का, पूजा का; कोई परभाव से, वह शुभ है; शुभ है, वह तो संसार है।

संसार का कारण, भटकने का कारण **शुभोपयोग, उसे ही मुक्ति का कारण मानकर,...** देखो! यह ब्रह्मचर्य मैंने पालन किया, मैंने यह किया – ऐसा विकल्प–राग उठता है। शरीराश्रित.. ऐसा अन्दर परलक्ष्यी शुभभाव है। वह तो शुभ है, वह संसार का कारण है। वाणी से कभी मैं बोला हूँ कि हिंसा करो, ऐसा करो, अमुक करो? हम तो बस, दया पालो, यह करो (–ऐसा कहते हैं।) समझ में आया? मन से भी हम यह कहते हैं।

ऐसा करो – ऐसे नहीं। यह शुभभाव है। ऐसा करो–सत्य बोलो, झूठ नहीं बोलना, परिणाम प्रवर्ताना... मन में भी हमने शुभयोग को किया है। इस शुभयोग **उसे ही मुक्ति का कारण मानकर,...** यह हमारे मोक्ष का कारण है। कारण शब्द से संवर और निर्जरा। यह शुभ उपयोग ही हमारे संवर और निर्जरा है, लो! समझ में आया? यह कहते हैं न? यह स्पष्ट बात अभी करते हैं, स्पष्ट करते हैं। मुक्ति का कारण अर्थात् मोक्ष का कारण ही यह शुभोपयोग है। बाहुबलीजी की यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा, यह भाव शुभ है। हो भले, परन्तु यह बन्ध का कारण है। इसे संवर–निर्जरा का कारण मानता है, क्योंकि स्व –आश्रय अभेद का पता नहीं, इसलिए इसका लक्ष्य वहाँ जाता है। इस प्रकार आश्रय का पता नहीं, इसलिए यहाँ आश्रय में जो शुभभाव हो, उसे ही मोक्ष का कारण मानता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह तत्त्व के, न्याय के आधार से है। इस गाथा में **मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधा:** अज्ञानी का अज्ञान नाश होने में यह कारण है, तो इस कारण का तो यह स्पष्ट स्पष्टीकरण करते हैं। यहाँ क्या है पाठ? **मुख्योपचार विवरण** एक बात। फिर **निरस्तदुस्तरविनेय दुर्बोधा:** जो अज्ञान महा कठिनाई से नाश हो, ऐसे अज्ञान का नाश शिष्य को होता है। अज्ञान का नाश हो, ऐसा वह मुख्य और उपचार का उपदेश करे। इसी का यह स्पष्टीकरण है। समझ में आया?

अज्ञान का नाश करने के लिये मुख्य उपदेश जो है और उपचार है, इन दोनों का जिसे भलीभाँति ज्ञान है। समझ में आया? इसलिए इसे मुख्य का उपदेश होकर अज्ञान का नाश होगा, उपचार के कथन से, इसे क्या है, इसका ज्ञान होगा। ज्ञान होगा अर्थात् जानने में रहेगा। अज्ञान तो मुख्य के कथन और मुख्य के आश्रय से (नाश) होता है। यह इसका स्पष्टीकरण करते हैं, घर का नहीं। इसलिए कहा न? **व्यवहार निश्चयज्ञा: प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्** संसार में... समझ में आया? जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते हैं। गजब बात है! बहुत सरस बात है, हों! अरे! परन्तु इसके ज्ञान का जहाँ ठिकाना नहीं, स्वाश्रित–पराश्रित का; कहीं का कहीं लगा देता है। पराश्रित में स्व का लाभ मनवा दे और स्वाश्रित कौन है – इसका पता भी नहीं। समझ में आया?

संसार का कारण जो शुभोपयोग... लो! **उसे ही मुक्ति का कारण मानकर,...** उसे ही मोक्ष का कारण मानकर, वही संवर–निर्जरा अर्थात् मोक्ष का मार्ग, ऐसा। शुभोपयोग को ही मोक्ष का मार्ग, लो! यही अभी स्पष्ट कहते हैं न? शुभोपयोग ही क्षायिक समकित का कारण है, इसलिए क्षायिक समकित की क्षपकश्रेणी चढ़े, वह क्षायिक समकिती है। शुद्धोपयोग तब होगा। अब यदि तुम नीचे शुभोपयोग के क्षायिक समकित नहीं मानो तो क्षायिक समकित रहित क्षपकश्रेणी किस प्रकार चढ़ेगा? और नीचे तो शुभोपयोग ही है – ऐसा कहते हैं। अरे.. भगवान! परन्तु मार्ग क्या है? गाढ़ करते हैं न? मिथ्यात्व की गाढ़ करते हैं। आहाहा! समझ में आया?

शुभोपयोग, ऐसे स्व–आश्रय तत्त्व के अभेद की ओर का आश्रय नहीं, ज्ञान नहीं, भान नहीं, श्रद्धा नहीं, रुचि नहीं; इससे उसे भेद अर्थात् पर–आश्रय में ही उसका लक्ष्य रहा करता है; तो पराश्रय में शरीर, वाणी, और मन के आश्रय से होता जो शुभभाव, बस! उसे ही वह मुक्ति का कारण मानेगा। ऐसे (स्वाश्रय को) कारण नहीं माने। इसका अनुभव, वह मोक्ष का कारण है। इसका अनुभव स्व–आश्रय का अनुभव, वह मोक्ष का कारण है और उसमें लीन होते ही केवलज्ञान होता है, ऐसा जहाँ भान नहीं; इसलिए जो पर–आश्रय में शुभोपयोग हो, उसे हित का कारण मानेगा। हित का कारण कहो या मोक्ष का कारण कहो! ऐसा। मेरा हित है – ऐसा कहे न? मेरे हित को कारण है, उसमें मेरा हित है; हित कहो या मोक्ष कहो। हित के कारण से, मेरा हित इसमें होता है। समझ में आया? णमोकार जपे – णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं... वह पराश्रय है, शुभभाव हुआ। वह कहाँ स्व–आश्रय है? इस स्व–आश्रय का पता नहीं, इसलिए पराश्रित में धर्म माने बिना रहेगा नहीं। शोभालालभाई! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात है। आहाहा!

शुभोपयोग उसे ही मुक्ति का कारण मानकर, स्वरूप से भ्रष्ट होते हुए... है न? स्व–अखण्ड आनन्द ज्ञायकस्वरूप भाव अभेद है, उससे तो भ्रष्ट है। भ्रष्ट होता हुआ, वहाँ ही रुकता हुआ – शुभोपयोग में धर्म मानता हुआ पराश्रय में होते हुए भाव को धर्म मानता हुआ; स्व–आश्रय के भाव का पता नहीं। **संसार में भ्रमण करते हैं। स्वरूप से भ्रष्ट होते हुए संसार में भ्रमण करते हैं।** बहुत सरस बात की है। चौथी गाथा का

www.vitragvani.com

उपोद्घात बहुत सरस किया है! फिर यह पाँचवीं आयेगी। **इसलिए मुख्य (निश्चय) कथन का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।** लो! इसलिए निश्चय का कहो, मुख्य का कहो, अभेद का कहो, स्व-अवलम्बन का कहो। इसके कथन का जानपना, हों! अवश्य चाहिए। इसके अन्तर के मुख्यपने के ज्ञान बिना जितना सब करे, उसे मोक्षमार्ग माने और संसार में भटके। इसलिए मुख्यपने का ज्ञान अवश्य चाहिए।

वह निश्चयनय के आधीन है,... मुख्यपने का ज्ञान, वह निश्चयनय के, स्व-आश्रय के आधीन है; पराश्रय के आधीन वह ज्ञान नहीं है; **इसलिए**... ऊपर शब्द था न? उपदेशदाता; वहाँ से शुरु हुआ था। कहाँ? भावार्थ की पहली लाईन-उपदेशदाता **इसलिए उपदेशदाता निश्चयनय का ज्ञाता होना चाहिए।** सारांश किया है! देखो न! इसलिए उपदेश का देनेवाला निश्चयनय का जानकार चाहिए। **कारण कि स्वयं ही न जाने तो शिष्यों को कैसे समझा सकता है?** स्वयं जानता न होवे तो वह दूसरों को कैसे समझावे? इसलिए स्व-आश्रय मुख्य का ज्ञान चाहिए। उपचार का क्या है - यह फिर कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५ गाथा-४ से ५ शनिवार, माघ कृष्ण ४, दिनांक ३१.१२.१९६६

जो उपदेशक, मुख्य और उपचार का कथन भलीभाँति न जानता हो, मुख्य और व्यवहार का ज्ञान न हो, वह शिष्य के अज्ञान को मिटा नहीं सकता; इसलिए उसे मुख्य-निश्चय और उपचार का ज्ञान भलीभाँति होना चाहिए। निश्चय के ज्ञान की, निश्चयाश्रित की बात पहले आ गयी। अब पराश्रित व्यवहार का ज्ञान चाहिए। अकेले निश्चय का हो और व्यवहार का न हो तो भी भ्रष्ट हो; यथार्थरूप से निश्चय न हो, ऐसा।

तथा 'पराश्रितो व्यवहार:'... निश्चय की बात तो पहले पेराग्राफ में हो गयी। **जो परद्रव्य के आश्रित हो, उसे व्यवहार कहते हैं।** आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के आश्रित जो कुछ भाव कहलावे, होवे, उसे व्यवहार कहने में आता है। **किंचित् मात्र कारण पाकर अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित कहते**

हैं। कुछ भी निमित्त देखकर या संयोग देखकर उसमें भाव हुआ हो तो उसे अपना भाव कहना, **अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित कहते हैं। उसी के कथन को उपचार–कथन कहते हैं।** वस्तुतः तो कर्म के निमित्त से होता विकार आदि आत्मा का वास्तव में मानना, वह मिथ्यात्व है। कर्म के निमित्त से होते उपाधिभाव, शरीर, राग आदि को भी आत्मा का मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि है परन्तु यह व्यवहारनय ऐसा कहता है कि हमारा है – जीव का है, इतना ज्ञान इसे कराते हैं। समझ में आया? किंचित् छल (कारण) पाकर – ऐसा कहा न? किंचित् कारण पाकर। व्यवहार कहता है कि आत्मा के हैं, राग, आत्मा का है। आत्मा करता है – ऐसा व्यवहारनय कहता है। वास्तव में इसका है ही नहीं। करता है व्यवहार, निश्चय करता नहीं। कहो, समझ में आया? आती है न वह १४ वीं गाथा? वह पाँचवीं के साथ मिलायेंगे। चौदहवीं गाथा में आता है न? **'सर्वोऽपि संसारः'** कहा न? पाँचवीं गाथा। यह चौदहवीं गाथा में कहते हैं, देखो! मूल पाठ, यहाँ से उठाकर बात ली है। दृष्टान्त लिया है, उसका हेतु है न! हेतु! वहाँ यह लिया, देखो! १४, १४ गाथा

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

है? चौदहवीं गाथा, पृष्ठ १९, परन्तु व्यवहारनय कहे सही, परन्तु मान लेता है, उसे भान नहीं है। व्यवहार से है — ऐसा जानना। १४ वीं – **'एवमयं कर्मकृतैर्भावैर–समाहितोऽपि'** कर्मकृतभाव से रहित है; संयुक्त न होने पर भी, ऐसा। है? वास्तव में आत्मद्रव्य, कर्म के संयोग से हुए भाव से सहित है ही नहीं; व्यवहारनय कहता है कि है। इतना इसे पराश्रित भाव को जानना चाहिए। समझ में आया? है न इसमें? दोनों लिये हैं, हों! भाव अर्थात् रागादि; और शरीरादि। **अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है।** संसार, वही वास्तव में संसार है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह पाँचवीं गाथा के साथ मिलायेंगे। पाँचवीं में भूतार्थ–अभूतार्थ है सही न?

व्यवहारनय अभूतार्थ को कहता है। समझ में आया? जो इसका भाव नहीं है, उसे

www.vitragvani.com

इसका कहता है। शरीरादि इसके नहीं है; रागादि (इसके नहीं हैं), परन्तु इतना इसे सम्बन्ध है, इतना इसे जानना चाहिए। यह कहेंगे, देखो! **किंचित् मात्र कारण पाकर अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित कहते हैं। उसी के कथन को उपचार-कथन कहते हैं।** देखो! अभूतार्थ कथन कहो, व्यवहार कथन कहो या उपचार कथन कहो। **इसे जानकर...** देखो! अब आया। **शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप संसार दशा है,..** यह व्यवहार हुआ। यह व्यवहार है न? शरीरादि के साथ और रागादि के साथ सम्बन्धरूप संसारदशा है। निश्चय में ये इसके नहीं हैं। समझ में आया?

शरीर का यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है या नहीं? और रागादि का सम्बन्ध है या नहीं? ऐसा न जाने तो इसे छोड़ने का प्रयत्न करे ही नहीं। इसे, शुभयोग से भी भ्रष्ट हो - ऐसा कहेंगे। देखो! **इसे जानकर (जीव को) शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप संसारदशा है...** ऐसा लेना। यहाँ जीव की बात है न? इसे जानकर अर्थात् उपचार कथन को जानकर, पर के पर में भाव कहनेवाले व्यवहारनय के कथन को जानकर, शरीरादि के साथ अर्थात् शरीर और रागादि के साथ सम्बन्धरूप संसाररूप दशा है। समझ में आया?

जीव को और शरीर को ऐसे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है और रागादि परिणाम जीव में है, संसारदशा है, वह व्यवहार है, वह उपचार है। समझ में आया? इसे जानकर अर्थात् किसे? कि अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य में स्थापन करे, वह पराश्रित; उसका कथन उपचार कथन है। इसे जानकर। जानना चाहिए ठीक से कि कर्म के और आत्मा के निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है; शरीर को और इसे सम्बन्ध है; आत्मा में रागादि भाव हैं। यहाँ व्यवहारनय की बात है, हों! निश्चयनय कहता है कि ऐसे भी ऐसा मान ले तो भव का बीज है, भव का बीज है। समझ में आया?

व्यवहार से इसे ज्ञान में भलीभाँति जानना चाहिए। राग और संसार नहीं होवे, संसार नहीं... नहीं... नहीं... दु:ख तो नहीं तो फिर मिटाना क्या? संसारदशा व्यवहारनय वाली कहते हैं कि संसार है, राग-द्वेष है, शरीरसम्बन्ध है, कर्म का सम्बन्ध है। समझ में आया? इन दो नय के परस्पर न्याय समझे बिना यह सब विरोध उठा है न! इसलिए कहते हैं, मुख्य-उपचार का ज्ञान तो भलीभाँति उपदेशक आचार्य को.. आचार्य की प्रधानता है, हों!

www.vitragvani.com

उसे होना चाहिए। इसके बिना तो निश्चय में व्यवहार डाल दे और व्यवहार में निश्चय डाल दे और गड़बड़ी हो तथा वास्तविक तत्त्व इसे प्रतीति में आवे नहीं। लो!

इसे जानकर, अर्थात् किसे? व्यवहार को, उपचार को। क्या जाने? कि शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप विकार है, शरीर सम्बन्ध है – ऐसा जाने, बस! उसे न जाने, तब तो हो रहा। यह सम्बन्ध नहीं तो फिर सम्बन्ध निश्चय से नहीं – यह कहाँ से आया? सम्बन्ध, व्यवहार से है; निश्चय से नहीं। समझ में आया? उसे जानकर **सम्बन्धरूप संसार दशा है, उसका ज्ञान करके, संसार के कारण जो आस्रव–बन्ध हैं,...** लो! देखा? क्या कहा पहले? कि उपचार को जानकर **शरीरादि के साथ सम्बन्धरूप संसार दशा है, उसका ज्ञान करके,...** संसार है, राग–द्वेष है, पुण्य–पाप है, अशुद्धता है। उसे **उसका ज्ञान करके, संसार के कारण...** वह संसार का कारण है। देखो! यह संसार है, उसके कारण जो आस्रव और बन्ध, **उन्हें पहिचान कर,...** आस्रव–बन्ध को पहिचानना चाहिए न! विकारी परिणाम, वह आस्रवभाव... समझ में आया?

संसार के कारण जो आस्रव–बन्ध हैं, उन्हें पहिचान कर,... लो! यह सब व्यवहार हुआ। समझ में आया? राग–द्वेष है, शरीर–सम्बन्ध है, यह संसारदशा है, इसे जानकर, तथा इसके कारणरूप आस्रव और बन्ध को पहिचानकर। भलीभाँति जानना चाहिए कि पुण्य–पाप के भाव, वह आस्रव है; अटका है, वह बन्ध है। पर के (कर्म के) रजकण आवें, वह द्रव्य–आस्रव है; रजकण बँधे, वह द्रव्य–बन्ध है। इनका वर्णन करेंगे, तब दो–दो करेंगे, आस्रव–बन्ध का वर्णन है न? इसमें कहीं है न यह? नव तत्त्व में। समझ में आया? तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है या नहीं? तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन की व्याख्या है न? कौन–सी गाथा? यह सम्यग्दर्शन की होगी, ठीक! २२ गाथा, ठीक! यह तो सम्यग्दर्शन का शुरु करते हैं यह।

'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्' समझे न? वहाँ आगे आस्रव–बन्ध की व्याख्या जरा–सी दूसरे प्रकार से की है। **'आस्रवतत्त्व – जीव के रागादि परिणामों से योग द्वारा आनेवाले पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहते हैं।'** इस प्रकार लिया है। है न? उस ओर २८ वाँ पृष्ठ है। है न आस्रव? यहाँ अपने आस्रव–

www.vitragvani.com

बन्ध चलता है न यह ? **'आस्रवतत्त्व – जीव के रागादि परिणामों से...'** ये भाव **'योग द्वारा आनेवाले पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहते हैं।'** यहाँ आस्रवतत्त्व ऐसे सिद्ध किया है। जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धा की व्याख्या स्पष्ट की है, (वहाँ ऐसा लिया है।)

'बन्धतत्त्व – जीव की अशुद्धता के निमित्त से आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरणादिरूप अपनी स्थिति और रससंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्धरूप होने को बन्धतत्त्व कहते हैं।' ऐसा लिया है। संवर में ऐसा लिया है, निर्जरा में ऐसा लिया है। व्यवहार से भेदरूप है न इसलिए। समझ में आया ? मेरी दशा में संसार है, विकार है, शरीर का सम्बन्ध है – ऐसे व्यवहार / उपचार को भलीभाँति जानना चाहिए। उपचार है, उसे नहीं जानना कि नहीं, नहीं; वह कुछ नहीं – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? जानने के लिये बात है, हों! वस्तु के साथ सम्बन्ध धरावे, तब तो मिथ्यात्व हो जाए। यह एक जाननेयोग्य वस्तु है।

मुक्त होने के उपाय... अब, वे संसार के कारण जाने, संसार और बन्ध, आस्रव और बन्ध। अब **मुक्त होने के उपाय जो संवर–निर्जरा हैं उनमें प्रवर्तन करे।** देखो! आस्रव–बन्ध को जानकर; मुक्ति होने का उपाय, मोक्ष होने का जो उपाय संवर –निर्जरा, उसमें प्रवर्ते, पर्याय में प्रवर्ते — संवर–निर्जरा पर्याय में प्रवर्ते – ऐसा कहा न ? समझ में आया ?

अज्ञानी इन्हें जाने बिना... यह संसारदशा, राग–द्वेष सम्बन्ध, शरीर का सम्बन्ध, यह संसार; इसके कारण आास्रव–बनध, इन्हें टालने का उपाय संवर और निर्जरा, मोक्ष का उपाय। **अज्ञानी इन्हें जाने बिना शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है,...** अभी संसारदशा है, उसका ज्ञान किया नहीं और शुद्धोपयोग हो ? किस प्रकार हो ? समझ में आया ? **शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है, वह पहले ही व्यवहार–साधन को छोड़कर...** क्योंकि विकार आदि है, उसे तो छोड़ना नहीं; विकार है छोड़ने का, उसे ज्ञान (में) निर्णय करना चाहिए। यह व्यवहार साधन कहा यहाँ ? देखो! व्यवहार साधन को छोड़कर... है न ? क्या साधन कहा ? क्या शब्द है ? यह शुभराग–उपयोग जो है न, पहले राग तीव्र है, उसे मन्द करने का वहाँ होता है या नहीं व्यवहार साधन में ? व्यवहार साधन

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

में, व्यवहार–उपचार कथन में, उपचार का ज्ञान करने में – ऐसी यहाँ बात है। सन्तोष की कहाँ बात है? यह तो यदि इसे रागवाला, संसारवाला, बन्धवाला, निमित्त के सम्बन्ध शरीरवाला न जाने तो इसे शुभभाव हो कहाँ से? शुभभाव नहीं होगा, क्योंकि इसे, ऐसे जाने तो इसे छोड़ूँ – ऐसा विकल्प हो, और शुभभाव न हो तो फिर भ्रष्ट हो – ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी इन्हें जाने बिना शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है, वह पहले ही व्यवहार–साधन को छोड़कर... विकल्प है, शुभभाव है, यह जाना, वह सब शुभभाव है। वह आस्रव है, वह बन्ध है, वह संसार है — ऐसा जाना न? ऐसा अन्दर विकल्प–शुभभाव है। उसे जाने बिना सीधे **शुद्धोपयोगी होने की इच्छा करता है, वह पहले ही व्यवहार–साधन को छोड़कर...** शुभोपयोग को छोड़कर **पापाचरण में लीन होकर,...** ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

नरकादि के दु:ख–संकटों में (जा गिरता है। इसलिए उपचार–) कथन का भी ज्ञान होना चाहिए। जानपना चाहिए – ऐसा कहते हैं यहाँ। आत्मा को और कर्म को निमित्त–निमित्त सम्बन्ध है, शरीर को और आत्मा को निमित्त सम्बन्ध है; आस्रव–बन्ध, संसार के कारण हैं, उन्हें टालने का–मुक्ति का उपाय यह संवर–निर्जरा की प्रवृत्ति है – ऐसे इसे निश्चित जानना चाहिए। ये सब उपचार हैं, परन्तु जानना चाहिए – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? समयसार की शैली की इसमें अधिक स्पष्टता है। सादी–साधारण बात ली है। समझ में आया? वह तो अकेला मक्खन भरा है।

इसलिए **वह व्यवहारनय के आधीन है,...** यह जानना व्यवहारनय के आधीन है। राग–द्वेष, विकार, कर्म–सम्बन्ध का जानना व्यवहारनय के आधीन है। **वह व्यवहारनय के आधीन है, अत: उपदेशदाता को व्यवहार का भी ज्ञान होना आवश्यक है।** इसे भलीभाँति (जानना) चाहिए। फिर गड़गड़ वहाँ डाले तो शुभयोग से भ्रष्ट होगा और निश्चय में आ सकेगा नहीं। **इस भाँति दोनों नयों के ज्ञाता आचार्य धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं, अन्य नहीं।** लो! समझ में आया? निश्चय से कर्मकृत विकार आदि संयुक्त नहीं, परन्तु व्यवहार से संयुक्त है; इसे न जाने तो, 'नहीं' — ऐसा निश्चय कहाँ से

www.vitragvani.com

करेगा ? समझ में आया ? व्यवहार से कर्म और कर्म के निमित्त से होनेवाला विकार, इससे संयुक्त जीव पर्यायदृष्टि से है; स्वभावदृष्टि से देखने पर, उसे अपना माने तो मिथ्यात्व है, संसार का बीज है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : व्यवहारनय का स्थान ही नहीं।

उत्तर : स्थान नहीं। ले, व्यवहारनय को विषय नहीं ? वस्तु नहीं तो विषय नहीं तो नय भी नहीं। नय है, (तो) उसका विषय है या नहीं कुछ ? आहा... ! ज्ञान करने के लिये वस्तु नहीं कि यह बन्ध है, राग है, द्वेष है, सम्बन्ध है ? — इसका ज्ञान नहीं करे तो इन्हें छोड़ने का शुभ-विकल्प भी नहीं करे। समझे न ? छोड़ने के लिये छोड़ूँ — ऐसा भाव भी नहीं करे। उपदेशदाता को व्यवहार का भलीभाँति जानना, जैसा है, वैसा उसे होना चाहिए। इससे व्यवहार से निश्चय होता है - ऐसी यहाँ बात सिद्ध नहीं करनी। समझ में आया ? व्यवहार से निश्चय हो और व्यवहार करते-करते (निश्चय हो) - ऐसा यहाँ सिद्ध नहीं करना। यहाँ तो पर्याय में राग-द्वेष, पुण्य-पाप है, संसारदशा है, जीव को और शरीर को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, जीव को और कर्म को निमित्त सम्बन्ध है—इतना इसे जानना चाहिए। यदि इसे ऐसा ज्ञान न होवे तब तो सत् का उपदेश किस प्रकार देगा ? व्यवहार, वह भी व्यवहार से तो सत् है या नहीं ? समझ में आया ? साधन किसने कहा ? शुभ उपयोग को छोड़ेगा, उसके ज्ञान में व्यवहार नहीं होवे तो - ऐसा कहते हैं। ज्ञान में, रागादि से सम्बन्ध है, शरीर से सम्बन्ध है — ऐसा नहीं होवे तो शुभ उपयोग नहीं रहे; क्योंकि उसे छोड़ता यह है, है ऐसा विचार ही नहीं, तब तो फिर इसे शुभभाव भी नहीं। है — ऐसा विचार करना, वह शुभभाव है। समझ में आया ? उसे छोड़ देगा तो भ्रष्ट होगा, अकेले पाप के विचार रहेंगे - ऐसा कहते हैं। वजुभाई !

इस भाँति दोनों नयों के ज्ञाता... यहाँ जानने का वजन देना है न ? **आचार्य धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं, अन्य नहीं।** ठीक से पर्यायभेद, गुणभेद, रागादि निमित्त सम्बन्ध है, ऐसा ठीक से जानना चाहिए। ऐसा न जाने तो शिष्य को, व्यवहार सम्बन्ध है — ऐसा तो कहेगा नहीं; सम्बन्ध नहीं तो कहेगा; तो सम्बन्ध है, उसे तोड़ने का तो रहेगा नहीं। यह संसार ही नहीं तो संसार के कारण आस्रव-बन्ध नहीं, तो उन्हें

www.vitragvani.com

मिटाने का उपाय संवर–निर्जरा की परिणति प्रवृत्ति भी नहीं, तब तो व्यवहार रहा ही नहीं। समझ में आया?

व्यवहार के आश्रय से संवर–निर्जरा होते हैं कि यह प्रश्न यहाँ नहीं; परन्तु होती हुई प्रवृत्ति के परिणाम को उपचार से जीव का कहा जाता है। वास्तविक निश्चय से तो द्रव्य के स्वरूप में वे है नहीं। समझ में आया? परन्तु व्यवहार से व्यवहार नहीं, तब तो फिर निश्चय उसे साबित किस प्रकार करेगा? ऐ.. धर्मचन्दजी! अटपटी बात गजब! सत्य बात है। समझ में आया?

पर्याय में संसार ही नहीं, संसार नहीं तब तो व्यवहार नहीं, अर्थात् पर्याय उपचार भी नहीं। विकार ही नहीं पर्याय में तो आत्मा में उपचाररूप से जो विकार कहलाता है, वह नहीं। समझ में आया? निश्चय में नहीं। यदि ऐसी दृष्टि करे कि वह मेरे द्रव्य में है, तब तो मिथ्यादृष्टि है, परन्तु पर्याय में है – ऐसा तो इसे ज्ञान होना चाहिए। ऐ... वजुभाई! समझ में आया? वरना निश्चयाभास हो जाएगा, शुभभाव भी रहेगा नहीं।

गाथा – ५

आगे कहते हैं कि आचार्य दोनों नयों का उपदेश किस प्रकार करते हैं–

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः।।५।।

निश्चय है भूतार्थ और व्यवहार यहाँ अभूतार्थ कहा।
भूतार्थ–बोध से विमुख अहो प्रायः सारा संसार रहा।।५।।

अन्वयार्थ : (इह) इस ग्रन्थ में (निश्चयं) निश्चयनय को (भूतार्थं) भूतार्थ और (व्यवहारं) व्यवहारनय को (अभूतार्थं) अभूतार्थ (वर्णयन्ति) वर्णन करते हैं। (प्रायः) प्रायः (भूतार्थबोध विमुखः) भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह (सर्वोऽपि) समस्त ही (संसारः) संसारस्वरूप है।

टीका : 'इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति' आचार्य इन दोनों नयों में निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।

भावार्थ : भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। भूत अर्थात् जो पदार्थ में पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'। उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं। जिस प्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता। वहीं यहाँ बताया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। यही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है। इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थ का है। अभूत अर्थात् जो पदार्थ में न पाया जावे और अर्थ अर्थात् भाव। उनको जो अनेक प्रकार की कल्पना करके प्रकाशित करे उसे अभूतार्थ कहते हैं। जैसे कोई असत्यवादी पुरुष जरा से भी कारण का बहाना–छल

www.vitragvani.com

पाकर अनेक कल्पना करके असदृश को भी सदृश कर दिखाता है। उसी को बताते हैं। जैसे यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छल (बहाना) पाकर 'आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्य से एकत्वरूप कहता है।' मुक्त दशा में प्रकट भिन्नता होती है। तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न–भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है। अत: व्यवहारनय असत्यार्थ है। 'प्राय: भूतार्थ बोध विमुख: सर्वोऽपि संसार:' अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है, उसके परिज्ञान से विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है, वह समस्त संसारस्वरूप ही है।

भावार्थ : इस आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर, शरीरादिक परद्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे, उसी का नाम संसार है। इससे जुदा संसार नाम का कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं उन्हें शुद्धनय* के सन्मुख रहना योग्य है। इसी को उदाहरण देकर समझाते हैं। जिस प्रकार बहुत पुरुष कीचड़ के संयोग से जिसकी निर्मलता आच्छादित हो गई है, ऐसे गंदले जल को ही पीते हैं और कोई अपने हाथ से कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जल को अलग–अलग करता है। वहाँ निर्मल जल का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है, उसी निर्मल जल का वह आस्वादन करता है। उसी प्रकार बहुत से अज्ञानी जीव, कर्म के संयोग से जिसका ज्ञानस्वभाव ढँक गया है, ऐसे अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। कुछ ज्ञानी जीव अपनी बुद्धि से शुद्धनिश्चयनय के स्वरूप को जानकर कर्म और आत्मा को भिन्न–भिन्न करते हैं, तब निर्मल आत्मा का स्वभाव ऐसा प्रगट होता है जिसमें अपने चैतन्यपुरुष का आकार प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार वह निर्मल आत्मा का स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। अत: शुद्धनय कतकफल समान है, उसी के श्रद्धान से सर्वसिद्धि होती है।।५।।

आगे कहते हैं कि यदि एक निश्चयनय के श्रद्धान से ही सर्व सिद्धि होती है तो फिर आचार्य व्यवहारनय का उपदेश क्यों करते हैं? उसका उत्तर – अर्थ इस गाथा में कहा है।।५।।

---

* शुद्धनय का विषय–त्रैकालिक पूर्णरूप अपना निश्चय परमात्मा।

www.vitragvani.com

गाथा ५ पर प्रवचन

अब, **आगे कहते हैं कि आचार्य दोनों नयों का उपदेश किस प्रकार करते हैं?** दो बात की — मुख्य और उपचार। इनकी व्याख्या की। अब निश्चय और व्यवहार है कैसा? समझ में आया? **आचार्य दोनों नयों का उपदेश किस प्रकार करते हैं?** यह बात पाँचवीं गाथा में करते हैं।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः।।५।।

'वर्णयन्त्य' न? कहते हैं या नहीं? अभूतार्थ भी कहते हैं या नहीं? देखो! संसार की व्याख्या की।

अन्वयार्थ : 'इह' शब्द पड़ा है न? **'इह'** किसे लागू पड़ता है? आचार्य को या ग्रन्थ को? **'निश्चयमिह भूतार्थं'** इस ग्रन्थ में या आचार्य ऐसा कहते हैं — ऐसा आवे, **'इह'** किसमें आता है? इसमें लिखा है कि इस ग्रन्थ में, और इनने उसमें जहाँ पूरा शब्द रखा है वहाँ आचार्य इन दोनों नयों में.... ऐसा लिखा है। टीका है न? टीका, इससे कहा यह **'इह'** वास्तव में किसे लागू पड़े? दोनों को समुच्चय लागू पड़े। **'इह'** — ऐसा कहा न? आचार्य दो नय का उपदेश किस प्रकार करते हैं? यह आचार्य, भूतार्थ-व्यवहार... निश्चय को भूतार्थ और वर्णन को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। **'वर्णयन्त्य'** है न?

मुमुक्षु : 'इह' का अर्थ मूल में नहीं, अन्वयार्थ, इसमें तो है।

उत्तर : ....इसमें भी है। **'इह'** का अर्थ इस ग्रन्थ में किया है और टीका में **'इह'** का अर्थ आचार्य ने किया है। समझ में आया कहता हूँ वह?

मुमुक्षु : हिन्दी में से किया है अन्वयार्थ।

उत्तर : हिन्दी अनुसार ही किया है। **'इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति' आचार्य इन दोनों नयों में निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।** इसमें आचार्य लिखा है। **'इह' इस ग्रन्थ में....** देखो! **इस ग्रन्थ**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

में... इस ग्रन्थ में–पुरुषार्थसिद्धि–उपाय शास्त्र में आचार्य **निश्चयनय को भूतार्थ...** इस निश्चयनय को सत्य कहते हैं, सत्य कहते हैं, सत्यार्थ कहते हैं। निश्चय के कथन को सच्चा कहते हैं। भूत–विद्यमान भाव कहते हैं, सच्चा भाव कहते हैं। **व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं।...** और व्यवहारनय को खोटा है, उपचार है, व्यवहार है, झूठा है—ऐसा वर्णन करते हैं। अभूतार्थ अर्थात् झूठा है—ऐसा वर्णन करते हैं। समझ में आया? परन्तु झूठा जानना नहीं चाहिए? झूठा भी है या नहीं? स्वरूप में नहीं परन्तु राग, रागरूप से; संसार, संसाररूप से; निमित्त, निमित्त सम्बन्धरूप से है या नहीं?

वर्णन करते हैं, **'वर्णयन्ति'** लो! वर्णन करते हैं, ऐई..! वापस आया। आचार्य वर्णन करते हैं, आचार्य वर्णन करते हैं — ऐसा लिखा है। अमृतचन्द्र स्वयं कहते हैं। ऐई..! देवानुप्रिया! वर्णन करते हैं – ऐसा कहा। वर्णन कर सकते होंगे न? परन्तु वाणी में आवे क्या? ऐसे ही कथन आते हैं। कहते हैं कि झूठे कथन की शैली ऐसी होती है; इसलिए उपचार कथन ही ऐसे होते हैं। है न? छोटा भाई! वर्णन करते हैं आचार्य। और आचार्य स्वयं कहते हैं कि मैंने कहा नहीं। यहाँ कहते हैं, आचार्य वर्णन करते हैं। वहाँ कहते हैं कि मैंने कहा नहीं, शब्द ने कहा है। कहने के बाद में भी पहले यही कहते हैं। वहाँ आगे ऐसा वर्णन आता है, शब्दों में ऐसा वर्णन आचार्य के ज्ञान में इस प्रकार से तैरता है और वर्णन वाणी में इस प्रकार आता है – ऐसा कहते हैं। निश्चय–व्यवहार का वास्तविक तत्त्वज्ञान ज्ञान में वर्तता है और वाणी में उस प्रकार से आता है; इसलिए निमित्त से कथन किया कि आचार्य इसका वर्णन करते हैं। अरे...! झगड़ा!

'प्राय:' प्राय: भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है,... देखो! वजन यहाँ है। उसने दूसरा कहा कि व्यवहार का ज्ञान नहीं, इसलिए भ्रष्ट है। भाई मक्खनलालजी ने इसका अन्वयार्थ किया है। इसकी पूरी शैली यह चली आती है। **'व्यवहारनय केवलपि देशना नास्ति'** व्यवहार पर वजन है। निश्चयनय के लिए – ऐसा नहीं कहा। बहुत करके संसारी जीव निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध वास्तविक भगवान आत्मा, राग और सम्बन्ध से रहित ऐसा निर्विकल्प आत्मा ज्ञायकभाव है। उसके–निश्चय के ज्ञान से रहित जीव **समस्त ही संसारस्वरूप है।** ऐसा जो अभिप्राय, वह संसाररूप है

www.vitragvani.com

– ऐसा कहते हैं। निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय, शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव आत्मा, वह सम्यग्दर्शन का विषय और शुद्ध चैतन्य का अनुभव, वह निश्चय – ऐसे अभिप्रायरहित जो अभिप्राय। कहो, समझ में आया? राग से धर्म होता है, राग से मोक्ष होता है, व्यवहार से मोक्ष होता है — ऐसा सब जो अभिप्राय, **समस्त ही संसारस्वरूप है।** यहाँ तो यह कहते हैं, लो! अभिप्राय, संसारस्वरूप है — ऐसा यहाँ वजन दिया है। आहा! पूरा जोर यहाँ है।

भगवान आत्मा अखण्ड, अभेद, शुद्ध चैतन्यज्योत, इस निश्चय के ज्ञानरहित, ऐसे व्यवहार से ही माननेवाले—राग और पुण्य का सम्बन्ध है, इससे आत्मा का कल्याण होगा—ऐसा जिनका अभिप्राय है अथवा यह व्यवहार करते-करते निश्चय होगा—ऐसा जो अभिप्राय है, वह निश्चयनय के ज्ञान से विपरीत ज्ञान है। समझ में आया? व्यवहार दया, दान, शुभभाव करते-करते निश्चय होगा, यह अभिप्राय, निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध अभिप्राय है। व्यवहार को जानने को कहा; होता है बराबर, परन्तु उससे निश्चय होता है — ऐसा जो अभिप्राय, वह स्व अखण्ड ज्ञायकभाव का जो निश्चय, ऐसे अभिप्राय से यह अभिप्राय, विरुद्ध अभिप्राय है। समझ में आया?

मुमुक्षु : बहुत करके अर्थात्?

उत्तर : बहुत करके अर्थात् बहुत ऐसे जीव होते हैं, ऐसा। अज्ञानी बहुत ऐसे ही होते हैं। बहुत करके अर्थात्? बहुत करके अर्थात् निश्चय का ज्ञान नहीं, ऐसा। बहुत करके जीव बहुत ऐसे ही होते हैं — निश्चयनय के बोधरहित। कोई ज्ञानी हैं, वे भले हो। प्राय: शब्द प्रयोग किया है अर्थात् बहुत करके।

भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है,... निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय, यहाँ वजन है। '**भूतार्थबोध विमुख:**' ऐसा शब्द है न? महासिद्धान्त है, भाई! एक-एक शब्द में... यह तो अमृतचन्द्राचार्य के शब्द हैं। '**भूतार्थबोध विमुख:**' भगवान आत्मा सत्यार्थ प्रभु शुद्ध चैतन्यमूर्ति के ज्ञान से विमुख है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और दूसरा सब ज्ञान है, कहते हैं। व्यवहार का, शास्त्र का, इस राग का, कर्म के सम्बन्ध का और कर्म की प्रकृतियों का।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : ......

उत्तर : हाँ; भले रहा न। हाँ, कोई दिक्कत नहीं, कोई दिक्कत नहीं। बहुत करके कहा है न? अतिशय ठीक है। विशेष है न, वह तो ठीक है। अतिशयपने कहा। अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चय। देखो! यह बहुत अच्छा अर्थ किया है। ऐसा डाला है। इसमें डाला है। इसमें होगा। अन्त में डाला है, घर का तो नहीं डाले। इसमें होगा। यह है न, बहुत करके, टोडरमल में यह है। अर्थात् प्राय: आत्मा का परिणाम निश्चयनय के सिद्धान्त से विमुख होकर सहज... आत्मा का है न? आहाहा! इसमें नहीं, इसमें भी नहीं। टोडरमल में है। वह तो इनके कुछ घर का डाले... अतिशयपने कहाँ आया? **'प्राय: भूतार्थबोध विमुख: सर्वोऽपि संसार:' अतिशयपने सत्यार्थ जो...** क्या कहते हैं; समझ में आया? अभूतार्थ वर्णन करता है। खास करके भूतार्थ निश्चयनय के ज्ञान से, अतिशय अर्थात् ऐसा। समझ में आया? खास करके **निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है,...** लो! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप अभेद (है), उसके अभिप्राय का पता नहीं और उसके ज्ञान का पता नहीं। अकेले व्यवहार के ज्ञान से आत्मा को लाभ होता है — ऐसा जिसका अभिप्राय है, वह भूतार्थबोध विमुख है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

जिसे निश्चय का ज्ञान, भूतार्थ का ज्ञान नहीं, वह भूतार्थ ज्ञान से विमुख है, अर्थात् अभेद चैतन्य ज्ञायकस्वभाव, वह जो आत्मा है — ऐसा जिसका ज्ञान और अभिप्राय नहीं है; वह उससे विमुख व्यवहार–राग से, पुण्य से और इससे मेरा आत्मा है और इससे मुझे लाभ होता है — ऐसा जिसका अभिप्राय है, लो! **समस्त ही संसारस्वरूप है।** समझ में आया? १४ वीं गाथा में कहा न? भव बीज है।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभास: स खलु भवबीजम्।।१४।।

जो कोई, आत्मा को रागादि का सम्बन्ध व्यवहार से है, वैसा ही आत्मा को मान ले। समझ में आया? पर्याय में सम्बन्ध है, वैसा आत्मा को मान ले तो वह **'बालिशानां'** अज्ञानी, उसका ज्ञान, भवबीज है। लो! समझ में आया? वस्तुस्वरूप (आत्मा) राग और

www.vitragvani.com

शरीर से भिन्न है — ऐसा जो आत्मा का स्वरूप, उसका जो बोध, उससे विमुख इसे रागवाला और व्यवहारवाला, रागवाला और व्यवहारवाला अर्थात् रागवाला, यह रागवाला आत्मा है — ऐसा मान लेता है। वह निश्चयनय के ज्ञान से विपरीत अभिप्रायवाला, वह संसार है। कहो, समझ में आया इसमें ?

समस्त ही संसारस्वरूप है। अर्थात् मिथ्यात्वस्वरूप है। समझ में आया ? वह अभिप्राय ही मिथ्यात्व है — ऐसा कहते हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो इस खास भूतार्थ निश्चय का जो ज्ञान, अभेद का ज्ञान और अभेद, यह आश्रय करनेयोग्य है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी अभिप्राय (अर्थात्) राग का आश्रय करना, निमित्त का आश्रय करना, संयोग का आश्रय करना - इससे लाभ होगा - ऐसा जो सब अभिप्राय, वह **'भूतार्थबोध विमुखः'** वह इससे विपरीत, यह सब अभिप्राय संसार है। है न ? यह अभिप्राय, संसार है। यहाँ तो अभिप्राय, वह संसार है। समझ में आया ? यह मिथ्यात्वभाव, वह संसार है — ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। यह तो समझ में आये ऐसी भाषा है, कोई बहुत वैसी (कठिन) नहीं है।

आत्मा भूतार्थबोध ज्ञायकस्वरूप, अभेदस्वरूप का जो बोध और उसका जो अभिप्राय, उसके विमुख बोध (अर्थात्) व्यवहार है तो उससे निश्चय होगा, व्यवहार है तो आत्मा को उसके कारण आलम्बन मिलेगा, निश्चय का आलम्बन मिलेगा — ऐसा जो इसका निश्चय के आश्रय के अवलम्बन के बोध ज्ञानरहित व्यवहार के आलम्बनवाला जितना बोध है, वह सब मिथ्यात्व है और वह मिथ्यात्व, संसार है। देखो! यहाँ मिथ्यात्व को संसार, अभिप्राय को संसार कहा। देखो! **'भूतार्थबोध विमुखः सर्वोऽपि संसारः'** ऐसा कहा न ? **'भूतार्थबोध विमुखः सर्वोऽपि संसारः'** लो! समझ में आया ? ऐसा विवाद करते हैं — ऐसा है और वैसा है। सुन न अब! यहाँ मिथ्यात्व, वही संसार (है-ऐसा) सिद्ध करना है। सम्यग्दर्शन, वही मोक्ष का कारण और मोक्षस्वरूप है। समझ में आया ?

अकेला भगवान शुद्ध चैतन्य पिण्ड प्रभु, जिसमें राग और पर का सम्बन्ध ही नहीं - ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव - दृष्टि, वह मोक्ष है, वह मोक्ष है क्योंकि वस्तु,

www.vitragvani.com

मोक्षस्वरूप है। उसका आश्रय करके दशासहित का आत्मा हुआ, वह समकित ही मोक्ष है। समझ में आया? मोक्ष से होता भाव, वह मोक्षस्वरूप है; मोक्षस्वरूप से विपरीत भाव, अभिप्राय, वह मिथ्यात्व, वह संसार है।

देखो! संसार की व्याख्या इतनी संक्षिप्त! संसार तो कैसा बड़ा! चार गति... राग-द्वेष, वह यहाँ नहीं कहा। भाई! यहाँ तो मिथ्या अभिप्राय, वह संसार है। वजन है... वह संसार है, वह संसार है। आहाहा! इसका अर्थ हुआ कि भूतार्थ से विमुख नहीं और भूतार्थ से यथार्थ-सन्मुख ज्ञान है, वह मोक्ष है। आहाहा! समझ में आया? निश्चय के आश्रय से होती दशावाला वह भाव ही मोक्ष है। इससे विरुद्धवाला भाव, संसार है। लो! ऐई...! पण्डितजी! इसमें से निकलता है?

यहाँ तो वजन कहाँ है अपने? देखो! कि इस ग्रन्थ में निश्चयनय को सत्य कहेंगे और व्यवहारनय को अभूतार्थ – झूठा कहेंगे। – ऐसा स्पष्ट शब्दार्थ पहला (है)। उसमें खास करके, सच्चे निश्चय का अर्थात् सच्चे ज्ञान से विरुद्ध, सच्चे के ज्ञान से विरुद्ध, लो! ठीक! सच्चे ज्ञान से विरुद्ध, सच्चा-सत्य प्रभु ज्ञायकभाव, अभेदभाव, वह सच्चा; उसके ज्ञान से विरुद्ध। सच्चा बोध, वह मुक्त और सच्चे बोध से विमुख, वह संसार। कहो, गुलांट खाकर बात आती है या नहीं इसमें? समझ में आया?

क्योंकि स्वरूप सच्चे तत्त्व का बोध (कहो) तो तत्त्व, मुक्तस्वरूप है। समझ में आया? यह मुक्तस्वरूप, ऐसा भगवान आत्मा, इसका जो बोध, वही मुक्तस्वरूप का बोध, वह मोक्षस्वरूप है। इस ज्ञान में सब आ गया, दर्शन-चारित्र सब (आ गया)। समझ में आया? और इसका विमुख बोध, लो! इससे अकेले व्यवहार का ज्ञान, संसार का ज्ञान, प्रकृति का ज्ञान, अमुक का ज्ञान, अमुक का ज्ञान। समझ में आया? कर्मप्रकृति का ज्ञान। एक सौ अड़तालीस ऐसे होती है और उसका अमुक होता है, और अमुक होता है, यह सब ज्ञान-निश्चय के बोधरहित का बोध जो है, वह बोध स्वयं ही मिथ्यास्वरूप है। वास्तव में तो यहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'भूतार्थबोध विमुखः' देखो! विमुख का अर्थ यहाँ अभिप्राय किया, भाई! समझ में आया? **'भूतार्थबोध विमुखः'** अर्थात् अभूतार्थ बोध, ऐसा। इसका अर्थ ही यह किया।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

'भूतार्थबोध विमुखः' भूतार्थबोध विमुख अर्थात् अभिप्राय। अथवा भूतार्थ-सच्चे बोध से रहित विपरीत अर्थात् अज्ञान। समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य परमानन्द ज्ञायकभाव, शुद्धस्वरूप, उसके जो ज्ञान-श्रद्धा, वह वास्तविक स्वरूप अर्थात् मुक्तस्वरूप, उसका ज्ञान-बोध, वह मुक्तस्वभाव-मुक्तभाव, उससे विपरीत बोध। अकेले, व्यवहार से लाभ होता है, राग से लाभ होता है, प्रकृति के ज्ञान से, परतरफ की सन्मुखता से—ऐसा जो सब अभिप्राय, उसे भगवान आचार्यदेव, संसार कहते हैं। देखो! यहाँ स्त्री-पुत्र, संसार नहीं; शरीर, संसार नहीं; पैसा-बैसा, संसार नहीं। शोभालालजी! बँगला, संसार नहीं।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : ....रख कौन सकता है? रखे कौन और छोड़े कौन?

यहाँ तो संसार का वास्तविक मूलरूप यह है कि वास्तविक ज्ञायक भगवान बोधस्वरूप चैतन्यस्वरूप के ज्ञान से, श्रद्धा से, सन्मुखता से विरुद्ध जितने अभिप्राय हैं, वह सब अभिप्राय अकेला संसार है। आहाहा! समझ में आया? जैन दिगम्बर साधु नौवें ग्रैवेयक गया, परन्तु कहते हैं कि निश्चयनय के बोधरहित जो उसे ग्यारह अंग नौ पूर्व का ज्ञान, वह समस्त ही संसार, मिथ्या अभिप्रायस्वरूप है, वह संसारस्वरूप है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया या नहीं? नौ पूर्व पढ़ा, ग्यारह अंग पढ़ा और पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण विकल्प (किये), वह इस स्वभाव के बोध के आश्रय के अवलम्बन रहित ज्ञान, वह सब अकेला बोध, वह सब मिथ्या अभिप्रायवाला है। वह संसार है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : पर में सुख है – यह अभिप्राय...

उत्तर : यह अभिप्राय मिथ्या संसार (है), इसके लिये तो यहाँ कहा है। 'भूतार्थ बोध विमुख'। भूतार्थ बोध विमुख — अभूतार्थ बोध अर्थात् मिथ्या अभिप्राय, ऐसा। समझ में आया? धर्मचन्दजी! धर्म-विरुद्ध, वह अधर्म। आहाहा! आचार्यों की शैली भी...! वैसे तो (यह) श्रावकाचार चरणानुयोग का ग्रन्थ है, परन्तु उसका मूल क्या? मूल तो यह दर्शन

www.vitragvani.com

है — यह आगे कहेंगे। अखिल प्रयत्न द्वारा पहले उपाय से सम्यग्दर्शन प्रगट करना — ऐसा कहेंगे आगे। समझ में आया? दर्शन की शुरुआत करेंगे न!

देखो! २१ गाथा, २१; श्रावक की शुरुआत करते हैं, वहाँ! **इन तीनों में प्रथम किसको अंगीकार करना चाहिए, वह कहते हैं–** २१।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।२१।।

महा गाथा, देखो! **'तत्र'** श्रावक को, गृहस्थों को भी... यह श्रावकधर्म का व्याख्यान शुरु होता है। ऊपर देखो! श्रावकधर्म व्याख्यान। श्रावक को भी तब पहले, **'तत्रादौ' 'तत्र'** प्रथम में प्रथम **'अखिलयत्नेन' समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये।** है?

मुमुक्षु : यह तो छह द्रव्य जाने, उसमें आ गया।

उत्तर : छह द्रव्य में कहाँ आया? धूल में। यहाँ तो कहते हैं, यहाँ निश्चय स्वभाव अभेद है, उसका दर्शन, उसे दर्शन कहते हैं। छह द्रव्य का ज्ञान तो एक समय की पर्याय में अभव्य को भी होता है। वह मिथ्याज्ञान–मिथ्या अभिप्राय है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह छह द्रव्य का ज्ञान, स्वद्रव्य का ज्ञानसहित है यह। छह द्रव्य में स्वयं द्रव्य साथ में आ गया। समझ में आया?

'क्योंकि' देखो! २१ में है **'तस्मिन् सति एव' सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।** है न? क्योंकि **'तस्मिन् सति एव'** समझ में आया? **'यतो'** का अर्थ यह किया है क्योंकि **'यतो'** है न? **'यत'**। **'तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम–खिलयत्नेन।'** देखो! सम्यग्दर्शन अखिल प्रयत्न से होता है, ऐसे के ऐसे नहीं होता। समझ में आया? प्रयत्न बिना होता है? वह कहे – क्रमबद्ध है। परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय किया, वह स्वरूप के प्रयत्न से किया, तब क्रमबद्ध का निर्णय हुआ। समझ में आया? विपरीत निर्णय भी कहीं प्रयत्न बिना है? यह तो 'अखिल प्रयत्न' – इतना जोर है आत्मा का। ऐसे

www.vitragvani.com

समस्त प्रकार से। सावधानरूप यत्न से, **'यत्नेन'** सावधानरूप यत्न से। सम्यग्दर्शन, श्रावक होने के पहले, पहला यह अंगीकार करना। जन्मा, इसलिए हो गया समकित — दिगम्बर में जन्मा, इसलिए समकित! अब व्रत लेना, ऐसे और ऐसे। क्या हो अब? बड़ा भाग बढ़ गया है। समाज को कुछ पता नहीं। साधारण जिस प्रकार से चलता हो, उस प्रकार से चलने दो। दूसरे साधारण विचार आवे तो इसके दो भाग पड़ जाए। किसी को व्यवहार का आग्रह हो जाए और किसी को निश्चय की मुख्यता रहे और व्यवहार का ज्ञान। समझ में आया? क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर भी, उसके होते ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है, चारित्र को चारित्र हो। तो ज्ञान और चारित्र हो; नहीं तो ज्ञान–चारित्र हो नहीं। कहो, समझ में आया इसमें?

टीका : 'इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति' आचार्य इन दोनों नयों में निश्चयनय को भूतार्थ कहते हैं... देखो! वे कहते हैं कि सब सबकी अपेक्षा सच्ची; इसलिए किसी को सच्चा और खोटा कहना नहीं। ऐसे दृष्टान्त देते हैं। वे कैसे? सन्मति तर्क का श्लोक है न? समझ में आया? यहाँ तो आचार्य कहते हैं — दोनों नयों में निश्चयनय को सच्चा कहते हैं। ऐसे बहुत कथन इसमें आते हैं, उसमें भी आते हैं। एक को सच्चा और दूसरे को खोटा — ऐसा कहना नहीं, निराकरण करना नहीं; वरना एकान्त हो जाएगा। यह तो अस्तित्व धराता है, उसका विषय है, विषय है परन्तु यह निश्चय सच्चा है। **और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।** खोटा कहते हैं, अर्थात् वह है अवश्य, परन्तु जो स्वरूप कहता है, वैसा वह नहीं है – ऐसा कहते हैं। इसके सब विवाद। वे कहें – अभूतार्थ है, झूठा है सब? तो फिर यह शरीर और वाणी के सब स्कन्ध व्यवहार है, लो! व्यवहार झूठा है यह? कर्म है, शरीर है, वाणी है, भगवान है, परम औदारिक शरीर है, आठ कर्म, यह सब संयोगी बात है, व्यवहारिक बात है। एक परमाणु, वह निश्चय द्रव्य है, दो परमाणु तो व्यवहार द्रव्य हो गया। व्यवहार द्रव्य, तो व्यवहार है या नहीं? व्यवहार से सत् उपचार से द्रव्य है या नहीं वह। अनुपचार से द्रव्य, अकेला द्रव्य वह है। भगवान भी अनुपचार से एक द्रव्य उसे अनुपचार से देखते हैं और संयोगी को सत् उपचार है.. समझ में आया? उपचार कहते हैं, उपचार का सत् है। यह उपचार का सत् है। उसे ऐसा जानते हैं, भगवान ऐसा जानते हैं। वाणी में भी ऐसा आता है। अरे..! भगवान! निकलने का रास्ता

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कठिनता से हाथ में आया, उसमें ऐसे लिखान में उसमें झगड़े। यह पृष्ठ नहीं कहलाता, अमुक नहीं कहलाता, अपने को दुःख दे, नदी की बाढ़ दुःख दे; अकेला परमाणु देता है? यह व्यवहार है या नहीं? पानी का पूर, वह कष्ट मारता है। कर्म के बहुत रजकण, आत्मा को राग का निमित्त होते हैं, अकेला रजकण नहीं होता। यह है या नहीं? अमुक है या नहीं? ऐई...! सब प्रश्न हैं सब। है, उससे किसने मना किया? व्यवहार से है, व्यवहार से व्यवहार है; यथार्थपने वह नहीं। व्यवहार से व्यवहार है न। कहो, समझ में आया?

आचार्य इन दोनों नयों में निश्चयनय को सच्चा कहते हैं। यह तो ग्यारहवीं गाथा है और **'व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते है'** ११ वीं गाथा, समयसार। **'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।'** यहाँ यही व्याख्या है, अमृतचन्द्राचार्य की। समझ में आया? झगड़ा! नय के हल के लिये, आत्मा के हल के लिये नय है, तब वहाँ उलझन के लिये कर डाला।

टीका : भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। देखो! आया न? सच्चे का नाम भूतार्थ है, सच्चे का नाम भूतार्थ है। खोटे का नाम अभूतार्थ है। खोटा, खोटेरूप से तो सच्चा है या नहीं? या खोटा, खोटेरूप से नहीं तो फिर वह खोटा सच्चा साबित ही नहीं हुआ, खोटा साबित हुआ। झूठा बोलो, झूठा बोलनेरूप से तो सच्चा है या नहीं? सच्चा अर्थात् ऐसा है या नहीं? या है ही नहीं? पण्डितजी! तो सच्चा क्या है? लो!

भूत अर्थात् जो पदार्थ में पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'। समझ में आया? **भूत अर्थात् जो पदार्थ में पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'। उनको जो प्रकाशित करे...** उसमें हो, उसे प्रकाशे, पदार्थ में हो, उसे प्रकाशे। समझ में आया? पदार्थ में जो भाव हो, उसे प्रकाशे — ऐसा कहते हैं। न हो उसे? – ऐसा नहीं। भूतार्थ तो जो हो, उसे कहते हैं। **पदार्थ में पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'।** ऐसा। समझ में आया? ऐसा कहा इसमें। तत्त्वार्थ है न? **भूत अर्थात् जो पदार्थ में पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव'। उनको जो प्रकाशित करे...** यहाँ तो उसमें भाव हो, उसे प्रकाशे – यह सिद्ध करना है। **उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकार की कल्पना**

www.vitragvani.com

न करे,.... समझ में आया? उसमें दूसरा कुछ नहीं होता। जो भाव – अखण्ड ज्ञायकभाव, ज्ञायकभाव को प्रकाशे। **किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं।** उसे सच्चा कहते हैं। समझ में आया? अकेले ज्ञायकभाव में ज्ञायकभाव को प्रकाशे; उसमें राग–द्वेष और भेद को नहीं — ऐसे भाव को, ऐसे नय को सत्यार्थ, भूतार्थ, सच्चा कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

जिस प्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है,... सत्य बोलनेवाला तो सत्य ही बात करे। **कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता।** जरा भी कल्पना करके कहे नहीं। जैसा हो वैसा सच्चा–सत्य, सत्यवादी कहे। **वहीं यहाँ बताया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है...** देखो! जीव और पुदगल का अनादि से एकक्षेत्र में व्यापने में सम्बन्ध है। **दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं...** दोनों मिले हुए जैसे दिखते हैं; मिले नहीं (हैं)। मिले हुए नहीं हैं, मिले हुए जैसे दिखते हैं। मिले क्या? धूल। दोनों कहा। **दोनों मिले हुए जैसे....** दोनों मिले हुए (कहा), तो दो रहे और मिले हुए जैसे दिखते हैं – इसका अर्थ क्या है? कि दोनों ऐसे संयोग में दिखते हैं।

तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। देखा? तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि, रागादि, सबसे, हों! निश्चयनय भगवान आत्मा को शरीर, वाणी, कर्म, राग–द्वेष इन सब परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है। वह भले कर्म से और शरीर से भिन्न प्रकाशता है, इसका अर्थ यह हो गया कि द्रव्य पर दृष्टि देने से राग से भी भिन्न पड़ जाता है। समझ में आया? परद्रव्य से भिन्न प्रकाशता है, अर्थात् पर के लक्ष्य से छूटकर स्वद्रव्य में आता है, तब परद्रव्यों से भिन्न हुआ, तब राग से भी भिन्न हो गया।

मुमुक्षु : मिले हुए –

उत्तर : मिले हुए, एक साथ दिखते हैं। दूध और पानी एक साथ दिखते हैं, परन्तु हैं भिन्न–भिन्न। दूध, वह दूध है और पानी, वह पानी है। समझ में आया?

यही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है। है, वर्तमान में ऐसा ही है, वह भिन्नता

www.vitragvani.com

मुक्ति में प्रगट होती है। **इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है।** इसलिए वह निश्चयनय सच्चा है। सच्चा कथन करता है, सच्चा ज्ञान, सच्ची वाणी, सच्चा देश, वह निश्चयनय सच्चा है। लो! फिर व्यवहार की बात करेंगे। उसमें व्यवहार से शुरु हुआ, निश्चय कल पूरा हुआ।....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ६ गाथा-५ रविवार, माघ कृष्ण ९, दिनांक ०१.०१.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, अमृतचन्द्राचार्य कृत है। पाँचवीं गाथा चलती है। है? गुजराती है या हिन्दी है? ठीक! क्या कहते हैं? देखो! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि हुए हैं। भगवान के पश्चात् ६०० वर्ष में कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में विराजमान थे। उन्होंने जो समयसार आदि शास्त्र रचे, उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य आज से नौ सौ वर्ष पहले महा दिगम्बर सन्त मुनि वनवासी थे। तीन शास्त्रों की तो उन्होंने टीकायें की हैं — समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय। यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, तत्त्वार्थसार आदि ग्रन्थ उन्होंने रचे हैं। उसमें यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की पाँचवीं गाथा चलती है। देखो!

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः।।५।।

क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है।

भावार्थ : भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। भूत-विद्यमान, जो मौजूदगी चीज है, त्रिकाल मौजूदगी अस्तिवाली चीज है, उसे यहाँ भूतार्थ कहते हैं। भूत कहते हैं, पदार्थ... अर्थ, अर्थ कहने से भाव, यहाँ ऐसा लेना है। आत्मा में त्रिकाल भाव ज्ञायकभाव है। समझ में आया? आत्मा में ज्ञायकभाव भूत, विद्यमान, मौजूदगी भाव है, उसे बतलानेवाला निश्चयनय है अथवा वह स्वयं निश्चयनय है। सूक्ष्म बात आयी।

भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है। सत्य वस्तु, सत्। जो आत्मा ध्रुव ज्ञायकभाव

www.vitragvani.com

शुद्धभाव परमभाव — ऐसा भाव धारक आत्मा, वही भाव सत्य है, भूतार्थ है, सच्चा है। उसे बतलानेवाले नय को निश्चयनय कहा जाता है। सच्चा ज्ञान भूतार्थ को बतलाता है। नय का ज्ञान, वह सच्चा ज्ञान — ऐसा अर्थ किया। नय अर्थात् सच्चे ज्ञान का अंश यथार्थ वस्तु को बतलाता है। आत्मा, जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना होवे, उसे जिसे आत्मा का धर्म करना होवे तो वह धर्म किस प्रकार होता है ? कि आत्मा कायम ज्ञायकभाव भूत -विद्यमान, मौजूद भरा है, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से। क्योंकि वह सत्यार्थ पदार्थ है, सत्यार्थ पदार्थ की अन्तर्दृष्टि करने से सत्य की प्रतीति सम्यग्दर्शन इस कारण से होती है। शोभालालजी ! सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : वास्तविक बात है।

उत्तर : वास्तविक बात है। वास्तविक बात यह है। निश्चय कहो, सत्य कहो, वास्तविक कहो, यथार्थ कहो, वास्तविक कहो। जैसा इसका भाव मौजूदगी-अस्ति में है, उसे ही निश्चय कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

कहते हैं कि **उनको जो प्रकाशित करे...** ऐसे आत्मा में ज्ञायकभाव त्रिकाल है। राग, शरीर, कर्म नहीं और शरीर, कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न हुए पुण्य-पाप के भाव भी आत्मा के मूल भाव में नहीं। यह व्यवहार.. व्यवहार कहते हैं न ? दया, दान, व्रत, विकल्प — वह शुभराग है अवश्य, परन्तु उस विद्यमान भाव — ज्ञायकभाव में वह है ही नहीं। समझ में आया ? वह ज्ञायकभाव जो यथार्थ सत्यार्थ वास्तविक सत्य स्वरूप है; उसे शरीर, वाणी, मन से भिन्न करके और शरीर, मन, वाणी, कर्म के लक्ष्य से हुए (भाव), यदि पर का लक्ष्य छोड़कर अन्दर भूतार्थ का लक्ष्य करे तो इनका — शरीरादि परद्रव्यों का तो लक्ष्य छूटता ही है, परन्तु ये रागादि विकल्प है, उनका भी लक्ष्य छूट जाता है, तब ज्ञायकभाव चैतन्यस्वरूप की दृष्टि इसे होती है। इसका नाम निश्चयनय, यथार्थनय, उचित सत्य की शरण ली — ऐसा कहा जाता है। आहा.. !

अन्दर वस्तु भूतार्थ कहा न ? ध्रुव ! जो भाव अन्दर में है **उनको जो प्रकाशित करे...** अन्तर ज्ञान में त्रिकाल भाव चैतन्यस्वभाव ज्ञान में प्रकाशित हो अथवा वह भाव ज्ञात हो, उसे निश्चय कहते हैं। **अन्य किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ**

कहते हैं। दूसरी कल्पना न करे। दूसरे प्रकार से, उसमें रागादि है, शरीरादि है, कर्म आदि है — ऐसी कल्पना न करे। समझ में आया? **उसे भूतार्थ कहते हैं।** उसे यहाँ भूतार्थ ज्ञायक मूल चीज है यह (– ऐसा कहते हैं।) अनन्त काल से यह निश्चय सत्यार्थ चीज क्या है — इसकी इसने रुचि की ही नहीं, दृष्टि की ही नहीं। अकेला व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार (किया)। शरीर की क्रिया, मन की क्रिया, वाणी की क्रिया, दया, दान के परिणाम, शुभाशुभभाव की दृष्टि रखी, जो कि अभूतार्थ है। त्रिकाल चीज में वे नहीं हैं। अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, उनका लक्ष्य किया, उनका अस्तित्व स्वीकार किया। वह दृष्टि तो संसार, मिथ्या संसार है। समझ में आया?

कहते हैं, **किसी प्रकार की कल्पना न करे, उसे भूतार्थ कहते हैं। जिस प्रकार कि सत्यवादी सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता।** जैसा हो, वैसा कहे। समझ में आया? यह कहा था न? अफीम का केस चला था। तीन घण्टे केस चला। उम्र १७ वर्ष की। हमारे सभी सगे-सम्बन्धियों को ऐसा लगा कि यह तो... तीन घण्टे केस (चला) एक दिन। (संवत्) १९६३ में। महीने के तीन हजार के वेतनवाला (जज था)। उस दिन तीन हजार, हों! मासिक। १९६३ का साल। तीन घण्टे कोर्ट में (गये थे)। हमारा छोटा भाई कहे — भाई! कैसे हुआ? मैंने कहा — अपने को सत्य था, वह कहना था, सत्य था, वह कहना है। अपने को कल्पना करनी नहीं थी या दूसरा कुछ करना नहीं था; इसलिए उलझन थी नहीं। प्रवीणभाई! यह बात बनी थी। समझ में आया? बाहर निकले तो... तीन घण्टे, मेरी साक्षी थी। सत्रह वर्ष की उम्र। (संवत्) १९४६ में जन्म और १९६३ में वह बड़ा गोरा, तीन हजार का मासिक वेतन, उस दिन! समझ में आया? तीन घण्टे (चला), बाहर निकलकर छोटा भाई कहे-कैसे क्या हुआ? यहाँ तो जैसी सत्य बात थी, वह कह दी। अपने को कल्पना करके कहाँ लगानी है?

इसी प्रकार सत्यवादी तो जो है, वैसा कहे, कल्पना करके न कहे कि ऐसे लगाओगे तो ऐसा होगा, ऐसे लगाओगे तो ऐसा होगा — ऐसा कुछ है नहीं। सत्यवादी... है न? **सत्य ही कहता है, कल्पना करके कुछ भी नहीं कहता।** झूठा कुछ लगाना होवे तो कल्पना हो। सत्य तो सत्य है। त्रिकाल ज्ञायकभाव अनन्त गुणराशि प्रभु आत्मा विराजमान है, उसे

www.vitragvani.com

निश्चयनय बतलाता है; और उसकी दृष्टि करना, उसकी दृष्टि करना - वही प्रथम में प्रथम सम्यग्दर्शनरूपी धर्म, आत्मा का साक्षात्कार होता है, उसे यहाँ धर्म कहते हैं। समझ में आया?

वहीं यहाँ बताया जाता है। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है... भगवान आत्मा जीव और यह पुद्गल कर्म, शरीरादि; अनादि से एकक्षेत्रावगाह — एक क्षेत्र में व्यापक दिखते हैं। भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्य प्रभु और शरीर, कर्म आदि, इसमें राग भी; एकक्षेत्रावगाह, एक क्षेत्र में साथ में दिखते हैं। **दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं...** दूध और पानी की तरह इकट्ठे हों - ऐसे दिखते हैं। आत्मा और शरीर, कर्म तो भिन्न हैं; शरीर जड़ है, कर्म जड़ है और कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न हुए पुण्य-पाप के भाव भी वास्तव में तो वे अज्ञान, अचेतन, जड़ हैं, क्योंकि पुण्य-पाप के भाव में ज्ञानभाव का अभाव है। ज्ञान-चैतन्यभाव, चैतन्यभाव, ज्ञायकभाव में अज्ञान ऐसे रागभाव का अभाव है और रागभाव — पुण्य-पाप के भाव में ज्ञानभाव का अभाव है। ऐसा भेदज्ञान इसने कभी सुना नहीं और सुना तो अन्तर में भेदज्ञान करने का प्रयास किया नहीं। वरना सत्य तो वहाँ मिलता है, कहते हैं। एक क्षेत्र में रहने पर भी, पुण्य-पाप, कर्म, शरीर (और) भगवान आत्मा (एक क्षेत्र में रहने पर भी) दोनों भिन्न-भिन्न हैं; दोनों एक हुए नहीं, एक है नहीं। कहो, समझ में आया?

एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए जैसे दिखाई पड़ते हैं... ऐसे दो बातें की। अवगाह है, मिले हुए जैसे दिखते हैं। **तो भी निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है।** अन्तर निश्चयदृष्टि, आत्मा को एकसाथ क्षेत्र में दिखने पर भी-मिले हुए जैसे दिखने पर भी, सत्यदृष्टि शरीर, कर्म से आत्मा को भिन्न दिखलाती है। कहो, समझ में आया? प्रथम मूल चीज यह है। यह समझे बिना — सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ दया, दान, व्रतादि के परिणाम करे, उन सबसे मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधता है। उसे मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधता है। आत्मा की शान्ति और आत्मा का धर्म अन्तर ज्ञायकभाव, निश्चयनय कहता है, ऐसा अन्तर में समझे, अनुभव करे तो उसे सम्यक् सत्य का पता लगे और सम्यग्दर्शन हो जाए। समझ में आया?

www.vitragvani.com

कहते हैं, **निश्चयनय आत्मद्रव्य को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न ही प्रकाशित करता है।** शरीरादि शब्द भले ही लिया है। परद्रव्य से भिन्न बताते हैं, ऐसी बात करते हैं। परद्रव्य — शरीर, वाणी, कर्म से भिन्न दिखलाया तो इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर इस चीज से भिन्न है तो परलक्ष्य से भिन्न है; तो लक्ष्य छूटने से अपने आत्मा के ज्ञायकभाव का लक्ष्य हुआ तो राग से भी भिन्न पड़ गया। समझ में आया? इस तत्त्व को लोगों को... यह व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म और अमुक धर्म... परन्तु भाई! निश्चय अर्थात् यह। इस निश्चय के भानसहित होने के पश्चात् दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के शुभभाव होते हैं, उन्हें व्यवहारधर्म कहते हैं। जो पुण्यबन्ध का कारण है, उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है। परन्तु ऐसी दृष्टि, अनुभव और निश्चय नहीं होवे तो उसे तो व्यवहार ही नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं, **यही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है।** कहते हैं — भिन्नता बतलाते हैं, वह भिन्नता मुक्तदशा में प्रगट दिखती है। अन्दर से पृथक् पड़ा, मैं शरीरादिक से भिन्न हूँ, मेरे द्रव्यस्वभाव से मैं अभिन्न हूँ, मेरे द्रव्य के स्वभाव से अभिन्न हूँ। आत्मा वस्तु है, उसका त्रिकाली ज्ञायक चैतन्यस्वभाव से अभिन्न हूँ और इन परद्रव्यों से भिन्न हूँ — ऐसा होने पर वर्तमान में उसकी दशा में मुक्तपना भासित होता है, और जब सर्वथा मुक्ति होवे, वहाँ सर्वथा छूट जाता है। समझ में आया?

यही भिन्नता मुक्तदशा में प्रकट होती है। अर्थात् दो प्रकार हैं। भिन्नता है — ऐसी अन्तर में दृष्टि करने से, वहाँ प्रगट भिन्न है – ऐसा भासित होता है और फिर सर्वथा भिन्न पड़ जाए, तब तो प्रगट भासित होता ही है कि आत्मा में राग और शरीर थे ही नहीं तो भिन्न पड़ गये। आत्मा में पुण्य–पाप के भाव थे नहीं; शरीर, कर्म थे नहीं; अतः छूट गये। नहीं थे, इसलिए छूट गये; होते तो छूटते नहीं। समझ में आया? आहा! मूल रकम का पता नहीं होता और ऊपर की रकम की सब बातें करे, इसमें कुछ पता नहीं लगता।

इसे अनन्त काल हुआ। चैतन्य महासत्ता प्रभु, एक समय में जिसमें अनन्त सिद्ध परमात्मा अन्दर में भरे हैं। एक आत्मा में अनन्त सिद्ध पड़े हैं। पर्याय है न? सिद्धपर्याय है। ऐसी अनन्त पर्यायें प्रगट होने की शक्ति का मूल सरोवर तो आत्मा है। आत्मा, वह सरोवर, समुद्र, सागर है। उसमें से अनन्त परमात्मा बहते हैं। परमात्मा, हों! एक समय की

www.vitragvani.com

परमात्मदशा, दूसरे समय की, तीसरे समय की..। सादि-अनन्त परमात्मा। सादि-अनन्त एक सिद्ध की परमात्मदशा आत्मा के स्वभाव में पड़ी है। उसमें कोई राग-द्वेष, शरीरादि नहीं; अतः निश्चयदृष्टि करने से वर्तमान में मुक्तपना भासित होता है; पृथक् है तो मुक्तपना भासित होता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और सर्वथा मुक्त होवे वहाँ तो प्रगट व्यवहारनय से भी कहेंगे कि छूटा है, ऐसा यहाँ कहेंगे। समझ में आया? **इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ है।** इसलिए सच्ची दृष्टि करना और सच्ची दृष्टि के विषय को दृष्टि में लेना, वह ही सत्य है।

अभूतार्थ नाम असत्यार्थ का है। यहाँ तक तो अपने कल आया था। यहाँ तक कल आया था। अब 'अभूतार्थ' दूसरा शब्द है न? **अभूत अर्थात् जो पदार्थ में न पाया जावे और अर्थ अर्थात् भाव।** जिसमें जो भाव न हो, उसे अभूतार्थ कहते हैं। **उनको जो अनेक प्रकार की कल्पना करके...** देखो! अनेक कल्पना करे कि आत्मा में राग है, शरीर का सम्बन्ध है, कर्म का सम्बन्ध है या नहीं? कर्म का सम्बन्ध है या नहीं? शरीर का सम्बन्ध है या नहीं? राग का सम्बन्ध है या नहीं? संसार है या नहीं? मलिनता है या नहीं? वह अभूतार्थ—पदार्थ में 'नहीं' — ऐसे पदार्थ की कल्पना व्यवहारनय करता है। समझ में आया? **अनेक कल्पना करे उसे अभूतार्थ कहते हैं।**

पदार्थ में न पाया जावे और अर्थ अर्थात् भाव। वास्तव में तो भगवान आत्मा को शरीर का सम्बन्ध भी नहीं है; कर्म का सम्बन्ध भी नहीं, तो भावकर्म का सम्बन्ध भी नहीं। पुण्य-पाप का जो राग है, उसका भी आत्मा में सम्बन्ध नहीं, वह अभूतार्थ है। व्यवहारनय उसे प्रकाशित करता है। है, है, है — ऐसे व्यवहारनय कल्पना करके, आत्मा में विकार है, आत्मा में शरीर है, आत्मा में कर्म है... समझ में आया? आत्मा, कर्म बाँधता है; आत्मा, कर्म छोड़ता है—ऐसे पर के सम्बन्ध की कल्पना करके व्यवहारनय इस प्रकार कहता है। समझ में आया? अभूतार्थ, लो!

जैसे कोई असत्यवादी पुरुष जरा से भी कारण का बहाना-छल पाकर.... छल अर्थात् बहाना। बहाना कहते हैं न? थोड़ा कुछ बहाना देखकर। **असत्यवादी पुरुष जरा से भी कारण का बहाना-छल पाकर अनेक कल्पना करके असदृश को भी**

www.vitragvani.com

सदृश कर दिखाता है। अज्ञानी ता सदृश कर दिखावे, लो! खोटी बात हो, एकदम झूठी हो। यह था, देखो! यह व्यक्ति था, यह था। एक काम नहीं, अनेक काम थे। बहुत पंख दिखे न? बहुत पंख होय तो बहुत कौए होय तो बहुत पंख है नहीं। झूठ बोलनेवाला अनेक कल्पना करके अभूतार्थ का 'है' – ऐसा कहता है। **सदृश कर दिखाता है।** क्या विकार नहीं? विकार का सम्बन्ध नहीं? है; अब सुन न! वह तो अभूतार्थ सम्बन्ध है। समझ में आया? शरीर का सम्बन्ध नहीं? बिल्कुल शरीर का सम्बन्ध ही नहीं? है; तुझे कल्पना करके निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध करना है न? है; परन्तु है, करके वह तो कल्पना दृष्टि से सम्बन्ध है, यथार्थ में सम्बन्ध नहीं है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यज्योति प्रभु, स्फटिक रत्न, चैतन्य स्फटिक रत्न, उसकी दृष्टि करना, वही सम्यग्दर्शन और निश्चयनय है। व्यवहारनय तो कल्पना करके कहता है। ऐसा है नहीं। विकार न हो तो विकार का अभाव किस प्रकार करेगा? तो विकार है या नहीं? है। कल्पना करके व्यवहारनय अनेक (बातें करे)। अन्दर वास्तव में नहीं है। स्वभाव में विकार नहीं, स्वभाव में कर्म नहीं, स्वभाव को शरीर का सम्बन्ध नहीं। व्यवहारनय उन्हें कहता है कि है। बहाना देखकर, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है न? इतना छल देखकर 'है' कहता है; और एक समय का विकृतभाव भी वस्तुतः स्वभाव में निमित्त सम्बन्ध है, हों! वह भी, हों! व्यवहार है न? व्यवहार, वह असत्य हुआ, पर हुआ। रागादि भाव व्यवहार, इसलिए पुण्य आदि भाव पर हो गये। है या नहीं? परन्तु वह तो कल्पना करके 'है' – ऐसा कहता है। वस्तु में कहाँ है? शान्तिभाई! गजब सूक्ष्म बात, भाई!

भगवान आत्मा, जिसे यहाँ निश्चय कहते हैं, वह तो जो भाव उसमें है, उसे बताने को वह निश्चय का विषय है। उसमें नहीं, तथापि 'है' — ऐसी कल्पना सम्बन्ध से, एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से अथवा एक समय की विकृत पर्याय का अंश; पूरा समुदाय त्रिकाल आनन्दकन्द में एक कृत्रिम अंश देखकर, छल देखकर, आत्मा में है — ऐसी कल्पना व्यवहारनय करता है। समझ में आया? आहाहा..!

जैसे यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है,... यद्यपि भगवान आत्मा

और पुद्गल का अस्तित्व, सत्व-होनापना भिन्न है। दो अंगुलियों में एक अंगुली का सत्व दूसरी अंगुली के सत्व से भिन्न है। सत्व अर्थात् सत्ता, होनापना। इस अंगुली में दूसरी अंगुली के अस्तित्व का अभाव है। इसी तरह आत्मा में शरीर के अस्तित्व का अभाव है। आत्मा में पुद्गल के अस्तित्व का अभाव है। ऐसे आत्मा में वास्तव में तो विकार के अस्तित्व का अभाव है। समझ में आया? ये सब पुद्गल ही हैं। एक ओर ज्ञानभाव, एक ओर अज्ञानभाव। ज्ञानभाव जो सर्वज्ञपद, वह आत्मा और अज्ञानभाव। जो पुण्य-पाप, शरीर, कर्म, वह अज्ञानभाव। दोनों भिन्न-भिन्न हैं, दोनों का सत्व भिन्न है, दोनों की सामर्थ्य भिन्न है, दोनों का लक्ष्य भिन्न है, दोनों का फल भिन्न है। समझ में आया?

पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है,... लो! भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, रागादि का विकारस्वभाव है, शरीरादि का भी अचेतनस्वभाव है। सत्व भिन्न, **स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है,...** भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी शुद्धस्वभाव का पिण्ड है, वे प्रदेश भिन्न हैं और पुण्य-पाप की कल्पना, शरीर, वाणी, कर्म के प्रदेश भी वास्तव में तो भिन्न हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप, रत्न, चैतन्य रत्नाकर के क्षेत्र का अंश-भेद भिन्न है और राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर, कर्म के प्रदेशभेद, क्षेत्रभेद, अंशभेद; इस स्वभाव से अत्यन्त भिन्न है, दोनों का एक क्षेत्र नहीं है। अरे... अरे! नवरंगभाई! राग का क्षेत्र भिन्न! यह तो संवर (अधिकार में) अपने आ गया। संवर में आ गया। उस अधिकार का विस्तार अभी अहमदाबाद में बहुत पढ़ा। पीछे से लिया था, अन्तिम से, तीसरे दिन। जो कहा, वह बात सूक्ष्म पड़े, इसलिए दो दिन नहीं ली, फिर तीसरे दिन से ली थी।

आत्मा का स्वभाव और विकार, दो के बीच आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं। स्वभाव आधार और विकार के आधार से आधेय रहे - ऐसा नहीं तथा विकार आधेय और आत्मा आधार; आत्मा के आधार में विकार रहता है - ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म वस्तु है। इसे मनुष्यपना अनन्त बार मिला, त्यागी भी अनन्त बार हुआ। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' आत्मज्ञान के बिना यह द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि चार गतियों में भटकेगा। समझ में आया?

www.vitragvani.com

कहते हैं, भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभाव है और पुण्य-पाप का राग, वह तो विकार स्वभाव है। शरीर, कर्म का अचेत स्वभाव है और भगवान आत्मा का ज्ञायकभाव है। दोनों के भाव ही भिन्न हैं। स्वभाव कहो या भाव कहो। पहले सत्त्व कहा, अस्ति, मौजूदगी भिन्न है; फिर दोनों के स्वभाव भिन्न है — (ऐसा कहा।) आहाहा! समझ में आया? धनजीभाई! गजब बात, भाई! ऐसी बातें! बापू! परन्तु यह तो तेरे मूल घर की बात है। तेरा सत्त्व तो ज्ञायकभाव का है और रागादि का सत्त्व तो विकारी है। शरीर, कर्म का अचेतन सत्त्व है। दोनों के स्वभाव भिन्न हैं। सत्त्व भिन्न, स्वभाव भिन्न, प्रदेश भिन्न — तीन ले लिये। आहाहा! समझ में आया? संवर में तो चार बोल लिये थे न? कहे थे न उस दिन? संवर (अधिकार, समयसार)।

भगवान आत्मा स्वभाव, चैतन्यस्वभाव, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म... समझ में आया? श्रीफल का दृष्टान्त दिया था। श्रीफल होता है न? श्रीफल, नारियल। नारियल कहते हैं न? नारियल में जो बाहर जो बाहर की छाल है, ऊपर छाल होती है न? और काँचली है और काँचली की ओर की लालिमा है। काँचली की ओर की लालिमा। तीन बोल है न? संवर अधिकार में तीन बोल है; इसलिए यह दृष्टान्त वहाँ लिया था। श्रीफल-नारियल है, उसमें एक ओर छाल है, छाल; फिर काँचली और काँचली की ओर की लालिमा है। लालिमा होती है न? खोपरापाक करते हैं न? तो छिलने में लाल-लाल रंग की लालिमा है, वह निकाल देते हैं न? लाल रंग की बारीक पतली छाल वह सब काँचली की ओर की चीज है। शोभालालभाई! वह सफेद मीठे गोले की वस्तु नहीं है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञायक मीठा आनन्द गोला है। सफेद का अर्थ शुद्ध और मीठास का अर्थ आनन्द। आत्मा तो शुद्ध आनन्दकन्द का गोला है, वह आत्मा है और पुण्य-पाप के भाव, वे छाल हैं। (श्रीफल की) लाल छाल है (ऐसे)। समझ में आया? और काँचली है, वह आठ कर्म हैं तथा यह शरीर है, वह छाल (जटा) है। समझ में आया? ये तीन कहकर, भावकर्म — पुण्य-पाप के भाव; जड़कर्म-काँचली, और जटा-नोकर्म, इनमें आत्मा नहीं और आत्मा में ये नहीं, क्योंकि दोनों का सत्त्व भिन्न है, दोनों के स्वभाव भिन्न हैं। समझ में आया? और दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! स्वभाव भिन्न कहा; सत्त्व

www.vitragvani.com

भिन्न, स्वभाव भिन्न और प्रदेश भिन्न (कहा)। क्षेत्र भी अलग डाला है। जिस अंश में उत्पन्न होते हैं, मलिन क्षेत्र के अंश में (उत्पन्न होते हैं), वह क्षेत्र स्वभाव का क्षेत्र है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

दोनों के बीच अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। पुण्य-पाप के भाव में आत्मा नहीं है, आत्मा में पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं। कर्म, आत्मा में नहीं और कर्म में आत्मा नहीं। शरीर में आत्मा नहीं, आत्मा में शरीर नहीं। अब दोनों के बीच अत्यन्त स्वरूप विपरीतता, भेद है। स्वभावदृष्टि से। समझ में आया? पुण्य-पाप के भाव का स्वरूप, चैतन्यस्वरूप जो ज्ञायकभाव निश्चयस्वरूप है, उससे अत्यन्त विपरीत है। कर्म और शरीर का स्वरूप तो विपरीत है ही। तीनों को अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। ज्ञायकभाव जो निश्चय है, उससे अभूतार्थ भाव जो व्यवहार है, दोनों का स्वरूप अत्यन्त विपरीत है और दोनों में आधार-आधेय नहीं।

जैसे वह सफेद-छोला, मीठा खोपरा है, वह लाल के आधार से रहा नहीं। लालिमा है न? उसे निकाल देते हैं, तो भी खोपरा रहता हे, उसे निकाल डालने पर भी रहता है। यदि लालिमा के आधार से हो तो लाल निकलने पर साथ ही नारियल का भी नाश हो जाए। समझ में आया? भगवान आत्मा... जैसे वह सफेद गोला लालिमा के आधार से नहीं, काँचली के आधार से नहीं, शरीर (जटा) के आधार से नहीं; इसी तरह लालिमा-कर्म और शरीर, आत्मा के आधार से नहीं। आत्मा के आधार से होवे तो पृथक् नहीं पड़ जाए। पृथक् पड़ जाता है; आत्मा रह जाता है और वह उसके कारण उसके आधार से निकल गया। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य गोला भिन्न निश्चयस्वरूप भूतार्थ है। उसे पुण्य-पाप का आधार नहीं है। पुण्य-पाप को आत्मा का आधार नहीं है और आत्मा को उनका आधार नहीं है और उन पुण्य-पाप को आत्मा का आधार नहीं है। आत्मा है तो पुण्य-पाप होते हैं — ऐसा नहीं और पुण्य-पाप है तो आत्मा टिकता है - ऐसा नहीं। समझ में आया?

भेदज्ञान सूक्ष्म बात है। 'भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान।' बाकी सब अज्ञान है। अनन्त काल में इसने कभी भेदज्ञान नहीं किया। 'भेदज्ञान साबु भयो, समरस निर्मल

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

नीर, धोबी अन्तर आतमा, धोवे निजगुण चीर।' बनारसीदास हुए हैं, उन्होंने भेदज्ञान का दृष्टान्त दिया है।'भेदज्ञान साबु भयो, समरस निर्मल नीर।' साबुन लेकर पानी में धोते हैं न? क्या कहलाता है अपने? तारवे। दूसरी कुछ भाषा है। स्त्रियों की खास भाषा है। यह कुछ कहते हैं। छोटी उम्र में सुनी हुई बात ऐसी की ऐसी रह गयी है। नदी में पानी बहुत आवे न? लकड़ी का लेकर जाए। खडका! लकड़ी का खड़का लेकर जाए। वहाँ रेत में कहाँ मारे? लकड़ी का खड़का और .....खुल्ले पानी में.. निचोड़े। समझ में आया? ये ऐसा करे, इसलिए वह मैल जो हो, वह पृथक् पड़ जाए।

ऐसे 'समरस निर्मल नीर' — भगवान आत्मा, राग–द्वेष से भिन्न।'भेदज्ञान साबु भयो, समरस निर्मल नीर' — स्वाभावसन्मुख हुआ और जो शान्ति का अंश आया, उसमें राग के मैल का नाश हुआ। समझ में आया?

मुमुक्षु : समरस अर्थात्?

उत्तर : समरस अर्थात् समता। राग से भिन्न पड़ा न? राग से भिन्न पड़ा, उतना अरागभाव हुआ, वह समरस हुआ। उसमें मैल निकल गया।'धोबी अन्तर–आतमा' — वह अन्तरात्मा धोबी है।'धोबे निज गुण चीर' — अपने गुण की दशा में विकार है, उसे स्वभाव–सन्मुख होकर धोता है। समझ में आया? कहाँ दरकार है? अभी खाना, पीना, मौज (करना है)। धर्म के बहाने बाहर की क्रिया करते हैं तो हो गया धर्म, जाओ! समझे? धर्म, वह कहाँ होगा? एक सैकेण्ड का धर्म जिसे जन्म–मरण के अन्त की भनकार बुलावे। एक सैकेण्ड का धर्म जिसे मुक्ति का प्रयाण बतावे। नाश–व्यय, उत्पाद। समझ में आया? आहाहा!

चैतन्यपिण्ड ज्ञायकभाव, जो भूतार्थ–निश्चय है, उसमें यह व्यवहार नहीं, क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, क्षेत्र भिन्न है, आधार भिन्न (है)। भगवान आत्मा ज्ञायकभाव है तो पुण्य–पाप, शरीर, कर्म — वह अज्ञानभाव है। इसमें भी विवाद करते हैं —अज्ञान कैसे कहते हो? वह सब अज्ञान ही है; सुन न! भाई! तुझे पता नहीं। ये सब रजकण अन्धे हैं, कर्म अन्धे हैं और पुण्य–पाप के भाव भी अन्धे हैं। पुण्य–पाप, शुभराग अन्धा है। आहाहा! यह शुभराग–दया, दान, व्रत का भाव—राग अन्धा है, राग है। वह देखता नहीं, देखता

www.vitragvani.com

(सूझता) तो भगवान आत्मा है। आहाहा! अन्धे और सूझते का स्वभाव भिन्न है। ऐसे अन्तर में दृष्टि करने (को) यह बात गाथा में करते हैं। पुरुषार्थसिद्धि–उपाय। पुरुष अर्थात् चैतन्य की प्राप्ति का उपाय। यह उपाय है। समझ में आया? अभी नौ गाथा तक तो उपोद्घात करेंगे। दसवीं गाथा से पुरुषार्थसिद्धि–उपाय शुरु करेंगे। यहाँ तो अभी नौवीं गाथा तक उपोद्घात है – भूमिका बाँधते हैं। ये अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त वनवासी नौ सौ वर्ष पहले दिगम्बर सन्त थे। वे पुरुषार्थसिद्धि–उपाय में पाँचवीं गाथा में कहते हैं कि भाई! तेरे स्वभाव का सत्त्व और राग — पुण्य–पाप का सत्त्व भिन्न है; तेरे स्वभाव का भाव और विकार का भाव भिन्न है। तेरे स्वभाव के अंशरूप प्रदेश और विकार के प्रदेश–अंश भिन्न हैं। किसी का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है। व्यवहारनय, सम्बन्ध है — ऐसी कल्पना करता है। निश्चय में नहीं है।

तथापि एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छल (बहाना) पाकर... छल प्राप्त करके। इतना जरा क्षेत्र का सम्बन्ध देखकर व्यवहारनय '**आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्य से एकत्वरूप कहता है।**' एक है, एक है, एक है (– ऐसा कहता है।) कौन कहता है? अभूतार्थ व्यवहारनय। **मुक्तदशा में प्रकट भिन्नता होती है। तब व्यवहारनय स्वयं ही भिन्न–भिन्न...** यहाँ अब सिद्ध करते हैं। पूर्णदशा प्रगट हुई, वहाँ साथ में रहे नहीं। रागादि रहे नहीं तो व्यवहारनय कहता है कि दो भिन्न है। संसार और मोक्ष दोनों पर्यायें भिन्न हैं, द्रव्य त्रिकाल भिन्न है। समझ में आया? आहाहा!

भिन्न–भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है। अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है। पृथक्–भिन्न पड़े, तब व्यवहारनय कहता है कि ठीक है। पहले भिन्न है — ऐसा नहीं मानता, इसलिए (व्यवहारनय) खोटा है — ऐसा कहते हैं। झूठे का न्याय दिया है। भिन्न पड़े, तब कहता है कि दोनों भिन्न हैं, परन्तु वर्तमान भिन्न है – ऐसा नहीं कहा; इसलिए वह नय झूठा है। समझ में आया? सम्यक्दृष्टि क्या है और सम्यग्दर्शन का विषय क्या है — यह ही इसने अनन्त काल में लक्ष्य में ही लिया नहीं, बाकी सब किया। करो, यह करो, पुण्य करो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो... सब शुभराग है। शुभराग करने से बन्ध है; क्रिया से नहीं, बहुत तो पुण्य है, शुभभाव है। मनुष्यदेह में वेष बदल जाएगा तो कदाचित्

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

स्वर्ग का देव (होगा)। आत्मा बदलेगा नहीं। आत्मा बदले बिना इसे कुछ सुधार होगा — ऐसा कभी होता नहीं। शरीर बदलने से आत्मा में क्या सुधार हुआ? समझ में आया?

कहते हैं, **अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है। 'प्रायः भूतार्थ बोध विमुखः सर्वोऽपि संसारः'** अब कहते हैं। प्रायः अर्थात् विशेषरूप से-खास करके। भूतार्थ बोध विमुख। सच्चे तत्त्व का आत्मबोध, ज्ञायकभाव — वह आत्मा, ऐसा बोध, उससे **'सर्वोऽपि संसारः' अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है, उसके परिज्ञान से विपरीत...** है। क्या कहते हैं? **'भूतार्थ बोध विमुखः सर्वोऽपि संसारः'** अब इसकी व्याख्या-प्रायः की व्याख्या। प्रायः अर्थात् **अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय...** भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धभाव, वही सत्य है, ऐसा जो निश्चयनय **उसके परिज्ञान से...** उसका जानपना। स्व सत्त्व स्वभाव और अपने प्रदेश पर से भिन्न है-ऐसा जानपना; उससे उल्टा-उसके उल्टा जानपना। **जो परिणाम (अभिप्राय)...** मैं रागवाला हूँ, मैं पुण्यवाला हूँ, मैं कर्मवाला हूँ, मैं शरीरवाला हूँ — ऐसा निश्चयनय के अभिप्राय से उल्टा अभिप्राय, **वह समस्त संसारस्वरूप ही है।** वह अभिप्राय संसारस्वरूप है। समझ में आया? स्त्री-पुत्र, संसार नहीं है — ऐसा कहते हैं। बीड़ी, संसार नहीं है, इसलिए कुछ रख सकते हैं?

मुमुक्षु : अभिप्राय, संसार है।

उत्तर : अभिप्राय, संसार है। मकान, बीड़ी, करोड़ों रुपये, वह संसार नहीं है; ऐसे भगवान इनकार करते हैं। संसार किसे कहते हैं? सुनो! इसके सामने मोक्ष आयेगा, हों! भगवान आत्मा ज्ञायकभाव, शुद्धभाव, ध्रुवभाव, अभेदभाव, आनन्दभाव, वह निश्चय; उसका ज्ञान करना, वह सच्चा ज्ञान है। उस ज्ञान से विपरीत बोध (अर्थात्) मैं रागवाला, मैं पुण्यवाला, मैं शरीरवाला, मैं विकार हूँ — ऐसा अज्ञान, व्यवहार का बोध, वह प्रायः संसार है। प्रायः अर्थात् अतिशयरूप वह संसार है। सब संसारी जीव है, ऐसा यहाँ नहीं। वही संसार है। आत्मा के सम्यक् निश्चयबोध से उल्टा बोध, विपरीत बोध, वही संसार है। बोध की व्याख्या ऐसे की। फिर अभिप्राय लिया। समझ में आया?

आत्मा, पर का कर सकता है, राग का कार्य मेरा है अथवा राग मुझमें है, पुण्य मुझमें है, शरीर मुझमें है, कर्म मुझमें है... जो नहीं — ऐसे बोध से उल्टा। आत्मा में विकार, कर्म,

शरीर एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी, अन्दर में नहीं है। ऐसा बोध जो नहीं करता, वह बोध से विमुख है। तो उसे व्यवहार का ज्ञान है। मैं ऐसा हूँ, मैं रागवाला हूँ, मैं शरीरवाला हूँ — यह बोध, विपरीत-मिथ्यात्वभाव का बोध है और विपरीत मान्यता को अथवा विपरीत बोध को... बोध शब्द पड़ा है, इसका अर्थ अभिप्राय लिया है। उसे भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव दिगम्बर सन्त, दिगम्बर मुनि, जंगल में बसनेवाले मुनि कहते हैं (कि) जिसे निश्चय का बोध नहीं और निश्चय से विरुद्ध अकेले रागादि का सम्बन्ध है, मेरे हैं — ऐसा बोध है, वही मिथ्या अभिप्राय, संसार है। वह संसार है। आहाहा! समझ में आया?

'संसरण इति संसार' — स्वभाव से खिसककर-हटकर, विकार, शरीर, कर्म मेरे हैं और उनमें मैं हूँ; वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ; पूरा ज्ञायकभाव उनमें है और वे मेरे हैं — ऐसा अभिप्राय पूरे निश्चयनय के बोध से विपरीत-उल्टा अभिप्राय, उल्टा ज्ञान, उल्टा बोध; यह बोध ही संसार है। देखो! भाषा। लो! यह तो संसार उल्टे बोध में ला दिया — ऐसी कोई टीका (आलोचना) करते हैं। समझ में आया? और मोक्ष कहा सुलटे बोध में, इसमें वास्तव में तो ऐसा है। क्या कहते हैं, समझ में आया? यह तो अभी पहले संसार साबित करते हैं। यहाँ तो तुमने लाकर कहाँ रखा? परन्तु ये दिगम्बर आचार्य-मुनि हैं, वे कहते हैं। पाँचवीं गाथा देखो! है? **'प्राय: भूतार्थ बोध विमुख: सर्वोऽपि संसार:'** भगवान आत्मा स्वभाव के पूर्ण शुद्धभाव का भण्डार भावस्वरूप, उसका बोध नहीं करके, उसकी सन्मुखता का ज्ञान नहीं करके, सन्मुखता की प्रतीति नहीं करके, सन्मुखता का सत्कार, स्वभावसन्मुख नहीं होकर; जितना राग का ज्ञान, राग का सत्कार, पुण्य का भाव, पुण्यभाव का सत्कार वह सब ज्ञान, निश्चयनय से विपरीत बोध है। वह बोध, संसार है। वह उल्टा बोध, संसार है (-ऐसा कहा)। यहाँ तो ऐसा कहें, स्त्री-पुत्र संसार, कर्म संसार। नहीं, कर्म भी संसार नहीं। कर्म भी नहीं। कर्म, संसार नहीं; कर्म तो जड़ है। जड़ में कहीं आत्मा के दोष का संसार होगा? संसार तो दोष है, संसार तो दोष है। वह दोष स्वभाव में स्वभाव से उल्टे में दोष होय। वहाँ कहाँ संसार पड़ा है, वह वह संसार होय। समझ में आया? आहाहा! कहो, प्रवीणभाई! लो, यह संसार! अरे... अरे...! ऐसा संसार? तुमने तो अकेली निश्चय की बात की - ऐसा कहते हैं, लो! परन्तु कहते हैं क्या? सुन न!

www.vitragvani.com

इस निश्चय के — तत्त्व के स्वभाव के भान बिना के जितने बोध और श्रद्धा है — व्यवहार की श्रद्धा, व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार के पहलू, कर्म की प्रकृति के और उसके तथा नौ पूर्व का ज्ञान और ग्यारह अंग का ज्ञान — यह सब आत्मा के निश्चय बोध रहित यह बोध है, यह सब मिथ्या अभिप्राय है — ऐसा कहते हैं। लो! आहाहा! और मिथ्या बोध तथा मिथ्या अभिप्राय, वही जीव की पर्याय का संसार है। पर्याय में संसार है न? संसार बाहर रहता होगा? दोष, वह गुण की विपरीत दशा में रहे या दोष बाहर रहता होगा? समझ में आया? गजब बात, भाई! अब यह तो निश्चय कहा; परन्तु यह स्त्री-पुत्र संसार को पहले छोड़े तो यह हों - ऐसा आता है न? देखो! निमित्त का छोड़े, तब नैमित्तिक छूटे, आता है या नहीं? अरे..! सुन! यह तो अध्यवसाय छुड़ाने के लिये निमित्त को छोड़ा - ऐसा कहते हैं। वहाँ... नहीं? अध्यवसाय छुड़ाते हैं। ये रागादि मेरे, पर आदि मेरे — ऐसा अध्यवसाय छोड़ने पर परचीज का लक्ष्य छूट गया, उसे 'पर छोड़ा' - ऐसा कहा जाता है। क्या हो?

स्त्री, पुत्र पैसा, शरीर तो संसार नहीं, परन्तु आठ कर्म तो संसार है या नहीं? संसार का मूल कारण तो कर्म है, तो वह संसार है या नहीं? नहीं; स्त्री-पुत्र-शरीर, संसार नहीं, कर्म संसार नहीं। संसार की बड़ी खान मिथ्या अभिप्राय अर्थात् निश्चय के बोध से जितना विपरीत बोध है, उस बोध को यहाँ संसार कहते हैं। छोटाभाई! यह तो निश्चय आया। पहले व्यवहार-स्त्री-पुत्र, संसार है — ऐसा तो तुम कहते नहीं। संसार — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव — ऐसे पाँच बोल आते हैं, लो! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। यहाँ तो वास्तव में अशुद्ध निश्चय का भाव कहो या व्यवहार का भाव कहो, वह संसार है - ऐसा कहते हैं; बाकी बाहर का तो निमित्त हो गया। द्रव्य, क्षेत्र, काल, (भाव) और भव। पाँच में से भाव लिया। पाँच प्रकार के परिवर्तन हैं न? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव में अनादि काल से परिवर्तन करता है न? वह एक भाव ही संसार है, अन्य तो निमित्त हैं। समझ में आया? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव, ये चार तो निमित्त हैं। वह भाव उपादान मूल संसार है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा, पूर्ण चैतन्यप्रभु का बोध नहीं करके, निश्चय का बोध नहीं करके

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अकेला व्यवहार, राग, पुण्य, शरीर, कर्म ही अपनेरूप स्वीकार करके, उसका जो विपरीत बोध है, सम्यक् से — निश्चय से (विपरीत बोध है), वह अभिप्राय ही संसार है। पलटाकर बात करें तो मिथ्यात्व जाने पर स्वभावसन्मुख जो भाव हुआ, वह ही मोक्ष है, क्योंकि स्वभाव मुक्तस्वरूप है। स्वभाव — चैतन्यस्वभाव, ज्ञायकभाव, मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप सन्मुख बुद्धि, दृष्टि हुई, भाव हुआ, ज्ञान हुआ तो मुक्तस्वभाव का ज्ञान, वह ज्ञान ही मुक्तस्वरूप है। समझ में आया? आहाहा! 'मुक्त एव' नहीं आता? कलश में आता है। आता है, बहुत सब बातें आ गयी हैं।

यह तो एक अलग प्रकार से स्वाध्याय करने के लिये यह उठाया। कभी व्याख्यान में इसकी स्वाध्याय नहीं की। पहला-पहला है। गुजराती हुआ और लोगों के हाथ में रहे और श्रावकाचार किसे कहते हैं? — इसका (पता पड़े)। लोगों को ऐसा लगता है कि ठीक! यह पढ़ते हैं। श्रावकाचार में पहले तो यहाँ दर्शन की शुरु की है। यह तो अभी उपोद्घात करते हैं, फिर दर्शन की बात लेंगे। श्रावक होने से पहले इसे अखिल प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन को प्रगट करना चाहिए। पहली गाथा ली है। समझ में आया? है न? कितनी वीं गाथा कही? २१? गुजराती में ख्याल आ जाता है, अभी तो गुजराती पढ़ा है न? देखो! २१ गाथा

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।२१।।

क्या कहते हैं? देखो! **'तत्रादौ सम्यक्त्वं'** प्रथम में प्रथम सम्यग्दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट करना अथवा श्रावक हुए पहले भी सम्यग्दर्शन प्रगट करना। इससे पहले श्रावक हो सकता नहीं। २१ गाथा है। **'तत्रादौ'** है न? **'तत्रादौ'** इसे **प्रथम समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से...** देखो! प्रथम समस्त प्रकार से जो बने तो **सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये...** जो बने अर्थात् जिस प्रकार अन्दर हो, उस प्रकार से सम्यग्दर्शन प्रगट करना। बने तो — ऐसा नहीं; यदि बने, होवे तो करना अर्थात् यह होता है - ऐसा कहते हैं। **इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है।** सम्यग्दर्शन होने पर, आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनुभव होने पर अवश्य मोक्ष पायेगा।

इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता। यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है। अत: इसके अंगीकार करने में किंचित्मात्र भी प्रमाद नहीं करना। मृत्यु का वरण करके भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना। देखो! **बहुत कहाँ तक कहें? इस जीव के भला होने का उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं।** समझ में आया? इस उपाय का पता नहीं होता, सम्यग्दर्शन क्या है, इसका पता नहीं होता और चलो, करो पुरुषार्थ। परन्तु क्या करे? आहाहा! फिर कहते हैं, हों! **इसे ही प्रथम अंगीकार करने का क्या कारण है, वह कहते हैं। 'यत: तस्मिन् सति एव ज्ञानं च चरित्रं च भवति।' उस सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है।** सम्यग्दर्शन होवे तो सम्यग्ज्ञान होवे, तो सम्यक्चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन के बिना चाहे ग्यारह अंग पढ़ जाए, नौ पूर्व पढ़ जाए तो भी वह अज्ञानी है। सम्यग्दर्शन के बिना पंच महाव्रत आदि क्रिया करे तो भी अज्ञानी है। समझ में आया? आहाहा! मूल बात पड़ी रही।

यहाँ तो **'आदौ'** शब्द लिया है। पहले में पहला धर्म करनेवाले जिज्ञासु को सम्यग्दर्शन प्रगट करना। यह सम्यग्दर्शन, भूतार्थ पदार्थ के आश्रय से प्रगट होता है। भूतार्थ – त्रिकाल क्या है?—यह पहले समझना चाहिए, ज्ञान में लेना चाहिए कि यह त्रिकाल क्या है? यह चीज क्या कहते हैं? पूरा तत्त्व, क्षणिक और राग और यह क्या है? ऐसा इसके ज्ञान में भाव का बोध जैसी सामने चीज है, वैसी ज्ञान में भासे — ऐसा अन्दर में प्रथम ज्ञान करना। यह द्रव्य कहते हैं, भाव कहते हैं, त्रिकाल कहते हैं – यह क्या? और यह क्षणिक राग कहते हैं – यह क्या? ऐसा भलीभाँति ख्याल करके स्वभाव-सन्मुख होना। यह प्रयत्न करना ही धर्मी जीव का प्रथम कर्तव्य है। समझ में आया? कहो, नवरंगभाई! ऐसा ही है? यह सब कहाँ गया? वह छानकर पी गया। पानी छानकर (पीना)। आत्मा का बल राग को छानकर पीना, राग से भिन्न है – ऐसा पीना। फिर होता है, शुभभाव होता है। उसकी क्रिया उसके साथ उसके कारण होती है, हों! वह कहीं आत्मा नहीं करता, परन्तु इस आत्मा के मूल दर्शन बिना और मूल ज्ञान बिना के बोध को और सबको आत्मा का ज्ञान नहीं कहते, उसे व्रत भी नहीं कहते।

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन अर्थात् त्रिकाल आत्मा के अन्तर बोध और अनुभव बिना यह व्रत और व्रतधारी नहीं कहते। वह कुलिंगधारी है। वह आत्मा के व्रत का धरनेवाला नहीं है, क्योंकि **'तस्मिन् सत्येव'** सम्यग्दर्शन होने पर भी, **'यतो'** इस कारण **'भवति ज्ञानं चरित्रं च'।** तो उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। इस सम्यग्दर्शन बिना एक रहित शून्य है, एक (अंक) रहित शून्य है। ऐसे सम्यक्त्व और अन्तरदृष्टि तथा अनुभव बिना इसके तप, त्याग और व्रत सब रण में शोर मचाने जैसा है। यह एक बिना की शून्य है। पुण्य बाँधे तो वह तो अनादि से है, वह बँधता है, उसमें नयी वस्तु कहाँ आयी? समझ में आया? स्वर्ग आदि मिल जाए तो यह अनन्त बार मिला है। उसमें क्या मिला? इसे उसमें क्या मिला? मिलते समय तो वहाँ की आकुलता है। पुण्य सामग्री के भोग भोगना, वह तो आकुलता है, अंगारों में सिकेगा। कषायरूपी अंगारों से सिकता है। समझ में आया?

अतिशयपने सत्यार्थ जो निश्चयनय है, उसके परिज्ञान से विपरीत जो परिणाम (अभिप्राय) है, वह समस्त संसारस्वरूप ही है।

भावार्थ : संसार कोई जुदा पदार्थ नहीं है। है? आहाहा! आस्रव और बन्धभाव, वह संसार है। भाव आस्रव और भाव बन्ध, वह संसार है। भावार्थ में है न? **संसार कोई जुदा पदार्थ नहीं है। इस आत्मा का परिणाम...** देखो! यह आत्मा के परिणाम; परिणाम अर्थात् पर्याय; पर्याय अर्थात् भाव। **निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर,...** देखो! यह परिणाम की व्याख्या करते हैं। **निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर,...** भगवान आत्मा अभेदस्वरूप चैतन्य परिपूर्ण परमात्मा है — ऐसे बोध से विमुख होकर **शरीरादिक परद्रव्यों के साथ एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे...** शरीर, कर्म, राग, द्वेष, पुण्य, भावकर्म और नोकर्म के साथ एकत्व श्रद्धानरूप प्रवर्ते - ये मेरे हैं, एक हैं - ऐसा माने।

उसी का नाम संसार है। उसका ही नाम संसार। स्पष्टीकरण बहुत अच्छा किया है। समझ में आया? जयन्तिभाई! यह संसार। धन्धा-पानी करे, वह संसार? नहीं। तेरा संसार तुझसे भिन्न रहे? तेरी शरीर, राग-द्वेष की एकताबुद्धि — अभिप्राय है, वही तेरा संसार है। समझ में आया? **इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं...**

www.vitragvani.com

इसलिए ऐसे परिणाम से मुक्त होना चाहता है, **उन्हें शुद्धनय के सन्मुख रहना योग्य है।** उसे तो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसके सन्मुख रहना योग्य है। उसकी विमुखता से हट जाना, सन्मुख रहना, परिपूर्ण स्वभावसन्मुख रहना। भले फिर शुभभाव आदि हो, परन्तु स्वभावसन्मुख रहना, इसका नाम संसार के अभाव करने का उपाय कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७ गाथा-५-६ मंगलवार, माघ कृष्ण ८, दिनांक ०३.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय, अमृतचन्द्राचार्य कृत। इसकी पाँचवीं गाथा, इसका भावार्थ देखो! थोड़ा आ गया है परन्तु फिर से लेते हैं। **संसार कोई जुदा पदार्थ नहीं है।** व्यवहार और निश्चय की व्याख्या करते हैं। **इस आत्मा का परिणाम...** संसार किसे कहना? कि **इस आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर,...** देखो! अकेली श्रद्धान से विमुख बात ली है। चैतन्यस्वरूप आत्मा, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के बोध से विपरीत बोध। इससे – श्रद्धा से विमुख होकर.... पाठ विमुख शब्द है सही न? **शरीरादिक परद्रव्यों के साथ...** शरीर, राग, भावकर्म, द्रव्यकर्म आदि। शरीर नोकर्म, **एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे...** ये दोनों एक हैं — ऐसी श्रद्धा प्रवर्ते। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव के साथ के भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म की एकत्वबुद्धि से प्रवर्ते, इसका ही नाम संसार है। कहो, समझ में आया? **उसी का नाम संसार है।** दूसरा संसार नहीं, ऐसा। यह संसार है।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव का कहो।

उत्तर : हाँ; आज आचार्यपद का आरोहण (दिवस है)। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज को पोष कृष्ण अष्टमी को आचार्यपद (मिला) था। वह यह पोष कृष्ण अष्टमी है। महीना फर्क है। उनका यह कथन है, उनका यह कथन है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज उस समय में सन्तों में प्रमुख थे। संघ ने आज उन्हें आचार्यपद दिया था। पोष कृष्ण की अष्टमी।

www.vitragvani.com

शोभालालजी! यह पोष कृष्ण अष्टमी तुम्हारे हिसाब से। हमारे (गुजराती में) मगसर कृष्ण अष्टमी है। परन्तु पोष कृष्ण अष्टमी को आचार्यपद दिया, संघ ने मिलकर आचार्यपद दिया। फिर भगवान के पास गये थे। तब भगवान ने वहाँ कहा कि वहाँ भरतक्षेत्र के ऐलाचार्य। संघ मिलकर दे - आचार्यपद दे। ये सब आचार्य हैं। साधु तो होवे, भावलिंगी साधु होवें, फिर आचार्यपद दे, फिर आचार्यपद मिले। ये संघ के प्रमुख हैं — ऐसी स्थापना करे।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव को आचार्यपद मिला।

उत्तर : आज मिला। आज पोष कृष्ण अष्टमी है। संघ ने एकत्रित होकर उन्हें आचार्यपद दिया, वह आज की तिथि है। फिर भगवान के पास गये थे, फिर ये शास्त्र रचे हैं। देखो! उनकी ११ वीं गाथा (समयसार की) है, उसका ही यह शब्द है। यहाँ अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं वह) ही भाव और वही वस्तु है। गाथा भी यही वहाँ की है। समझ में आया? आचार्य स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं।

आचार्यपद प्राप्त (ऐसा कहते हैं) कि संसार उसे कहना कि आत्मा के निश्चय शुद्ध चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण से विरुद्ध शुद्ध चैतन्यस्वरूप, शुद्ध चैतन्यस्वभाव ऐसा आत्मा, यह स्वभाव, ऐसा आत्मा, हों! शुद्धस्वभाव, शुद्ध चैतन्यभाव ऐसा आत्मा, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति अर्थात् आचरण से विपरीत जितना परिणाम शरीर, राग, पुण्य, विकल्प आदि मेरे हैं — ऐसी जो मान्यता, उसे यहाँ आचार्य महाराज, संसार कहते हैं। कहो! यहाँ इन स्त्री-पुत्र को संसार नहीं कहते। राजमलजी! पैसा और यह संसार नहीं, ये सब तो निमित्त हैं। अशुद्ध उपादान का भाव, व्यवहारनय का अकेला बोध, निश्चय के भान रहित — ऐसे बोध को यहाँ (विपरीत बोध कहा है)। व्यवहार से विरुद्ध नय से विरुद्ध-विमुख अर्थात् व्यवहार रगाादि मेरे, विकल्प आदि मेरा, शुभस्वरूप, वह मैं, कर्म वह मैं, शरीर वह मैं — ऐसे एकत्व श्रद्धानरूप प्रवर्ते। देखा? **एकत्व श्रद्धानरूप होकर प्रवर्तन करे उसी का नाम संसार है।** उसका हो नाम महान दोष है। भूल, संसार है! भ्रम, वह संसार है। भ्रम कैसा? कि शुद्ध चैतन्य अभेद अखण्ड स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से विमुख अकेले पुण्य-पाप के विकल्प, दया, दान, व्रत आदि के भाव;

www.vitragvani.com

शरीर-कर्म, वह मेरे; उनमें एकत्वबुद्धि, वह एक ही विपरीत परिणाम निश्चयनय से विरुद्ध है, उसे यहाँ संसार महादोष कहते हैं। समझ में आया?

इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं... अब वापस इसका सारांश / सार लेना है न? बतलाकर भी करना है क्या? इसलिए जो संसार से... कोई भी आत्मा, संसार से अर्थात् इस प्रकार के परिणाम - पुण्य-पाप के परिणाम, शरीर आदि, कर्म आदि मैं — ऐसी जो मान्यता के मिथ्यात्व परिणाम संसार, उससे मुक्त होना चाहता है, उसे शुद्धनय के सन्मुख रहना योग्य है। उसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप — ऐसा आत्मा, उसके सन्मुख श्रद्धा-ज्ञान करनेयोग्य है। कहो, समझ में आया? बहुत, यह तो संक्षिप्त में दोनों बातें आ गयी। संसार किसे कहना और जिसे मुक्ति चाहिए हो, संसार से छूटना हो, उसे क्या करना? — ये दोनों बातें संक्षिप्त में आ गयी। धर्मचन्दजी! आहाहा!

मुमुक्षु : अभी यही नहीं किया।

उत्तर : यह इसने नहीं किया; किया है वह उल्टा—पुण्य-पाप के विकल्प, कर्म और शरीर। यहाँ तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म को अपना मानकर, उनमें एकत्व होकर, मिथ्या भ्रम को सेवन कर महादोषरूप संसार में भटका है, महादोषरूप संसार। कहो, न्यालभाई!

इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होने के इच्छुक हैं... ऐसे निश्चयनय से विमुख, ऐसे जो संसार के परिणाम, उनसे छूटने का इच्छुक हो, **उन्हें शुद्धनय के सन्मुख रहना योग्य है।** अकेले महासिद्धान्त है! उसे तो स्वभाव शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा, परमानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख रहना योग्य है कि जिससे पर को सन्मुखता का भाव मिट जाता है। पर की सन्मुखता का अर्थात् इससे (स्वभाव से) विमुखता का। लो! यहाँ तो आया था। अब यहाँ तो सन्धि करते हैं।

वही बताते हैं। जिस प्रकार बहुत पुरुष... जल का दृष्टान्त पहले (देते हैं)। जल... जल... बहुत मनुष्य, कादव के संयोग से जिसका अर्थात् पानी का निर्मलपना ढँक गया है **ऐसे गंदले जल को...** एक मेलवाले पानी को ही **जल को ही पीते हैं और कोई अपने हाथ से...** स्वयं। किसी को कहकर नहीं कि इसमें यह निर्मली औषधी

www.vitragvani.com

डालना। वह फिर कितनी डाले, कैसे डाले, कहाँ डाले? समझ में आया? एक ओर डाले, मध्य में न डाले, मध्य में डाले, समरूप हो, इसलिए स्वयं अन्दर डाले।

मुमुक्षु : इन सबको नौकर होते हैं?

उत्तर : नौकर भी सब ठिकाने बिना के होते हैं; स्वयं करना - ऐसा कहते हैं। वह काम कमजोर कर डाले। यह तो **अपने हाथ से कतकफल (निर्मली) डालकर कीचड़ और जल को अलग-अलग करता है।** पानी-जल स्वच्छ, निर्मल पीने के लिये। समझ में आया? **वहाँ निर्मल जल का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है...** देखो अब! मेलरहित, उसमें निर्मल औषधि डालने से, **निर्मल जल का स्वभाव ऐसा प्रकट होता है, जिसमें अपना पुरुषाकार प्रतिभासित होता है,...** स्वयं पुरुष उसमें -पानी में दिखे। ऐसा निर्मल, मेल गया, इसलिए ऐसा दिखता है। **उसी निर्मल जल का वह आस्वादन करता है।** कहो! कितना निर्मल हुआ? कहते हैं, जिसमें पुरुषपने का आकार दिखे, आकार, हों! मुँह और ऐसा सब दिखे, इतना निर्मल है - ऐसा बताना है। समझ में आया? यह तो दृष्टान्त है, हों! सिद्धान्त तो ऊँचा है।

जिसमें अपना पुरुषाकार... अपने देह का पुरुषपना दिखायी दे, उसमें प्रतिभासित हो। **ऐसे निर्मल जल का वह आस्वादन करता है।** यह दृष्टान्त हुआ।

उसी प्रकार बहुत से अज्ञानी जीव, कर्म के संयोग से जिसका ज्ञानस्वभाव ढँक गया है... कर्म के संग में गया हुआ जीव, इसे उसका संयोग है। फिर इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि कर्म के कारण ज्ञानस्वभाव ढँक गया है। इसमें से वापस यह निकालते हैं। इसका अर्थ यह कि कादव का संग पानी ने किया है, इसी तरह इसने संग किया है। कर्म के संयोग से स्वभाव को भूलकर...। कर्म के संयोग, परवस्तु के सम्बन्ध से जिसका अर्थात् आत्मा का **ज्ञानस्वभाव ढँक गया है...** शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वभाव, इसकी दृष्टि में नहीं आता। कर्म के संयोग के सम्बन्ध में अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप ढाँक दिया है, स्वयं ने। समझ में आया?

ऐसे अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। ऐसे जैसे मेलवाला पानी अनुभवता है, वैसे मेलवाले आत्मा को अनुभवता है, यही मिथ्यात्वभाव है। कहो, समझ में आया

इसमें ? भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप आत्मा, शुद्धस्वभाव आत्मा को मेलपने अनुभव करता है, यही मिथ्यात्व और भ्रम है। समझ में आया ? **अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।** पूरी संक्षिप्त व्याख्या! भगवानस्वरूप, इसका जो शुद्ध भूतार्थ चैतन्यस्वभाव, शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... पवित्र स्वभाव ऐसा आत्मा, उसे अनुभव न करके, कर्म के संग में पड़ा; मेल को उत्पन्न करके, यह अशुद्ध ऐसे मेलवाला आत्मा है, इस तरह उसे वह मेलवाला अनुभव करता है, अर्थात् अशुद्ध अनुभव करता है। अशुद्ध अनुभव करता है, यही मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। कहो, समझ में आया ?

कुछ... अब सुलटी बात। **कुछ (ज्ञानी जीव) अपनी बुद्धि द्वारा....** गुरु ने कहा, शास्त्र ने कहा, देव ने कहा कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वह तेरा है; मेलपना (मलिनता) है, वह तेरा स्वरूप नहीं – ऐसा कहा; इसने झेला। इसलिए कहते हैं कि **जीव अपनी बुद्धि द्वारा...** वापस सामनेवाले की बुद्धि द्वारा नहीं। **कुछ आत्मा अपनी बुद्धि से शुद्धनिश्चयनय के स्वरूप को जानकर....** शुद्ध निश्चयनय का स्वरूप अर्थात् शुद्ध आत्मा यह है – ऐसा जानकर, **कर्म और आत्मा को भिन्न–भिन्न करते हैं,...** अर्थात् कर्म का लक्ष्य छोड़कर चैतन्य के लक्ष्य में आता है। यह पृथक् करता है, उसका अर्थ यह हुआ न ? समझ में आया ?

ऐसे जो (पर के) लक्ष्य में एकत्व था, उसे पर के लक्ष्य से छूटकर, स्व के लक्ष्य में आता है, वह **कर्म और आत्मा को भिन्न–भिन्न करते हैं,...** इसका अर्थ ऐसा नहीं कि यह कर्म है और मैं आत्मा हूँ। इसका अर्थ कि यह कर्म है और आत्मा – ऐसे दो लक्ष्य रहे, तब तक तो अभी विकल्प है और एकत्वबुद्धि है; परन्तु इसका अर्थ यह कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ऐसा आत्मतत्त्व और अशुद्धता, वह संयोग से उत्पन्न हुई (मलिनता), उसका लक्ष्य छोड़कर, आत्मा के अन्तर शुद्धस्वरूप ऐसा जो आत्मा, उसके सन्मुख होकर एकाग्र हुआ, इससे उसे कर्म और आत्मा दो पृथक् हुए। कहो, समझ में आया इसमें ?

यह मूल रकम की बात है, मूल रकम! सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम दशा; सुखी होने की, स्वतन्त्र होने की, सत् के पूर्णस्वरूप की शरण में जाने की पहली दशा

www.vitragvani.com

यह है कि पहले ज्ञान में धारणा करे कि यह वस्तु एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप भिन्न है और मलिन परिणाम, पर के संग से हुए — ऐसा यह ख्याल करे। ख्याल करके फिर उनका लक्ष्य छोड़कर चैतन्य के शुद्धस्वरूप पर जाए, तब आत्मा और कर्म – दो भिन्न पड़े — ऐसा कहने में आता है। यह धार्मिक क्रिया कहलाती है। वे कहते हैं – ऐसे भगवान के सामने देखकर समकित होता है, भगवान के दर्शन से समकित होता है, प्रतिमा के दर्शन से (समकित होता है); कल ही 'जैन गजट' में आया है, किसी आर्यिका ने कहा, बस! ऐसे होता है, इसका ऐसे होता है। 'धवल' के पहले अध्याय का उसने ऐसा पकड़ा है।

जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म के टुकड़े-चूरा उड़ जाता है... परन्तु ऐसे सामने देखकर चूरा उड़ता होगा या ऐसे सामने देखकर ? परन्तु चूरा किस प्रकार उड़ता होगा ? जब तक उसके सन्मुख देखे, तब तक तो उनका आदर है। यहाँ अन्दर सन्मुख देखे, तब इसका (स्वभाव का) आदर होता है। क्या हो ? परन्तु ऐसी बात को छोड़ दिया है और लोगों को गड़बड़ में (रख दिया है)। बेचारे को पीछे हटना, वह ठीक है, यह रुचि में नहीं आता। इसलिए ऊपर कहा था न ? **शुद्धनय के सन्मुख रहना योग्य है।** ऐसा कहा था। उसका यह स्पष्टीकरण-खुलासा करते हैं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा, यह शुद्ध चैतन्य निर्मल निर्मलानन्द प्रभु आत्मा के अन्तर सन्मुख होकर; जो मलिन परिणाम (पर) संग से हुए, उनके लक्ष्य को छोड़कर, दो के बीच भिन्न हुआ, अर्थात् जो एकत्वबुद्धि अकेली परलक्ष्य में थी, वह स्वलक्ष्य में आया तो एकत्वपना मिटा, अर्थात् भिन्न हो गया, ऐसा। समझ में आया ?

कुछ अपनी बुद्धि... लो! यह साधन कहा, फिर कोई कहता है न! साधन द्वारा... द्वारा। ऐ..ई..! करण, करण। कोई करण चाहिए न ? सुन न भाई! करण है, देखो न! आहाहा! अपने ज्ञान में, ज्ञान की बुद्धि द्वारा ऐसे अन्तर (में) झुकाना, बुद्धि द्वारा अन्तर (में) झुकाना, यह करण हुआ, साधन है। वह शुभविकल्प तो मेल है। मेल से पृथक् पड़ने में वह मेल / विकल्प साधन कैसे हो ? समझ में आया ? पंचास्तिकाय में बहुत जगह लिखा है, भाई! व्यवहार, साधन; निश्चय, साध्य। यह तो निमित्त को व्यवहाररूप से कहा

है। इसके राग की रुचि और मलिनता का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव–सन्मुख जाए, तब सम्यग्ज्ञान हो, तब उस राग की मन्दता को पूर्व की अपेक्षा से साधन कहा जाता है; वर्तमान रहे, उसे भी साधन व्यवहार से कहा जाता है, ऐसा है। समझ में आया?

बात ही पहले अभी तो क्या सत्य है — इसकी बात सुनी नहीं। सुने तो इसे अन्दर से यह हाय... हाय...! यह सब उड़ जाता है मेरे। उड़ाना है या नहीं तुझे? सच्चा करना है और खोटा उड़ाना है या नहीं? कहते हैं, भाई! तुझे सत्य चाहिए हो, सुखी होने की राह लेना हो तो, अन्तर में जो मलिन परिणाम पर तेरी दृष्टि, रुचि और एकता का भाव है, ऐसा जो संसार है – ऐसा कहा न? उसके परिणाम से दृष्टि उठा; स्वभाव चैतन्यस्वरूप आत्मा भगवान है, उसके सन्मुख हो तो कर्म अर्थात् मलिनता और निर्मल, दोनों अलग पड़ जाएँगे। समझ में आया? (स्व) सन्मुख निर्मलता होने में मलिनता साथ में नहीं रहेगी। समझ में आया?

चैतन्य शुद्धस्वरूप ऐसा आत्मा, उसे वर्तमान बुद्धि द्वारा अन्तर में जाने पर यह मेल और वह दोनों अलग पड़ गये, साथ में नहीं रहे। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म परन्तु! यदि रुपये देकर कुछ हो जाता हो न! सेठ! साठ–सत्तर लाख, करोड़ में से पाँच लाख दे दें, ले न! यदि धर्म होता होवे तो। धूल भी नहीं होता। क्या हो? आहा! रुपये तो अजीव हैं, उनसे तो पृथक् पड़ना है। उस अजीव की ओर के राग से पृथक् पड़ना है। इस अजीव के प्रति का कोई मन्दराग करके दया, दान के परिणाम हुए, ऐसे राग से भी पृथक् पड़ना है। अब पृथक् पड़ना है उसे शामिल रखकर कैसे हो? समझ में आया? आहाहा! गजब बात, भाई! यह शास्त्र का बोध जो परलक्ष्यी विकल्प, इससे भिन्न पड़ना है, यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! विकल्प की, देव–गुरु की व्यवहार श्रद्धा जो है, यहाँ तो उससे भी पृथक् पड़ना है। समझ में आया?

जहाँ दिशा–फर्क है, परदशा तरफ का राग है, उसे इस दशा की तरफ के झुकाव में उसका साथ कैसे हो? माँगीरामजी! क्या है? गजब बात कठिन। प्रभु! साधु बेचारे उलझ गये। ऐसा चाहिए, वैसा चाहिए और अमुक चाहिए। भाई! ....दूसरा क्या करें? ये तो मानते हैं और सबको अनादि से (रुचता है)। यह करें, यह सब करें, यह त्याग करें,

www.vitragvani.com

व्रत पालें, भक्ति करें, ऐसे मन्दिर बनावें और पूजा करावें, व्रत पालन करावें, शान्तियज्ञ... क्या कहलाता है? शान्तिस्तोत्र, शान्तितात्र — ऐसा सब करावें तो साधन हो तो प्रगटे...। अरे.. भगवान! क्या हुआ? भाई! अब इसमें मेरे कहे क्या कहने की जरूरत? तुम जो आये थे पूछने, इसमें तो तुम ही मानते हो कि ऐसा है। अब इसमें मेरे कहने का क्या रहा? साधु आये थे। 'पालेज'... महात्माजी! ऐसा करके आये थे, बैठे थे। बताओ कुछ कि आत्मा कैसे ज्ञात हो? ऐसा पूछा था। मैंने पूछा कि भाई! देखो! आत्मा ऐसे ज्ञात नहीं होता, ऐसे करते-करते ज्ञात नहीं होता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यहाँ क्या कहते हैं? जो अशुद्ध आत्मा का अनुभव करता है; उसे अब जब आत्मा का ज्ञान करना है, अर्थात् धर्म करना है, उसे क्या करना? अन्तर में पहले ज्ञान में यह चीज क्या है, और यह चीज क्या है — ऐसे विकल्पसहित, विकल्पसहित उसका ज्ञान करना। यह ज्ञान करके अब उसे अन्तर से उस बुद्धि को अन्तर में झुकाना, तब मेल और आत्मा दो पृथक् पड़े अर्थात् कर्म और आत्मा दो पृथक् पड़ जाएँ। समझ में आया? यह सूक्ष्म बातें और यह हमारे से होगा नहीं, हमारे से होगा नहीं, तब फिर तुझे करना है सच्चा; अब यह न हो और करना सच्चा, दोनों कैसे बनेंगे? इसी प्रकार धर्म किया जाता है, दूसरे प्रकार से कोई धर्म है नहीं। तीन काल-तीन लोक में वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ तीर्थंकर के पंथ के मार्ग में दूसरा कोई मार्ग है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : अनादि का सम्बन्ध टूट जाए।

उत्तर : सम्बन्ध है ही नहीं। एक समय का है। अनादि का - प्रवाह से बात है। कहो, समझ में आया? एक समय के सम्बन्ध में पड़ा है, वहाँ तोड़ ऐसे जाकर, कहते हैं। आहाहा! जो जोड़ा है, वह तू तोड़; जोड़े, वह तोड़े। ऐसे राग और पर के साथ लक्ष्य वहाँ करके एकत्वबुद्धि में तू पड़ा है, ऐसे चैतन्य के शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा के साथ इन रागादि की एकत्वबुद्धि करके तू स्वयं पड़ा है। अब बुद्धि की निर्मलता द्वारा अन्तर में सन्मुख हो! कर्म और आत्मा पृथक् पड़ने पर **तब निर्मल आत्मा का स्वभाव ऐसा प्रगट होता है....** वहाँ निर्मल आत्मा का स्वभाव। देखो! यहाँ स्वभाववान और स्वभाव

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

– ऐसा लेना है न ? यह निर्मल आत्मा का स्वभाव, ऐसा। ऐसा प्रगट होता है, ऐसा। आत्मा प्रगट होता है – ऐसा नहीं; आत्मा का स्वभाव (प्रगट होता है।) समझ में आया ?

निर्मल आत्मा का स्वभाव ऐसा प्रगट होता है जिसमें अपने चैतन्यपुरुष का आकार प्रतिभासित हो जाता है। अर्थात् कि जिसमें चैतन्यस्वरूप ही भासित हो, ऐसा। जैसे पहले राग और पुण्य और पाप भासित होते थे, वे मलिन परिणाम–संसार के परिणाम, निश्चयनय से विमुख परिणाम, उनमें तो मलिन ही भासित होता था। समझ में आया ? भगवान आत्मा! यह कुछ बातें करे और कुछ मिले – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? यह कुछ बहुत पठन करने से भी मिले, ऐसा नहीं है। इसमें कोई ज्यादा तपस्यायें करे तो मिले, ऐसा भी नहीं है। इसमें कोई दान बहुत करे या मौन रहकर बैठा रहे तो मिले, ऐसा भी नहीं है। आहाहा !

ऐसा भगवान शुद्ध चैतन्य पूर्ण स्वभाव से भरपूर तत्त्व, उसे अन्तर्मुख की दृष्टि–बुद्धि द्वारा करने पर दो पृथक् होने पर एक चैतन्य शुद्धस्वरूप, ज्ञान में उसका स्वरूप ज्ञात होता है। उसे आकार ज्ञात होता है – ऐसा कहा गया है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है – ऐसे ज्ञान में ज्ञात हो। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है – यह ज्ञान जाने। यह वस्तु शुद्ध चैतन्य है, शुद्ध चैतन्य है, उसके समीप में गया तो शुद्ध चैतन्य है – ऐसा ज्ञान में भासित हुआ। **अपने चैतन्यपुरुष का...** चैतन्य पुरुष का। समझ में आता है न ? **आकार प्रतिभासित हो जाता है।** चैतन्य पुरुष का, अर्थात् स्त्री का आत्मा फिर दूसरा होगा ? इस चैतन्य पुरुष का आकार ऐसा भासित होता है। ऐई... धर्मचन्दजी ! और स्त्री का ? चैतन्य पुरुष अर्थात् चैतन्य आत्मा; उसका आकार अर्थात् स्वरूप।

मुमुक्षु : उसका क्षेत्र।

उत्तर : क्षेत्र–फेत्र कुछ नहीं। जो ऐसे मलिन भासित होता था, मलिन का भास–अनुभव था, वह संसार था। उसका लक्ष्य छोड़कर, ऐसे चैतन्यस्वरूप के सन्मुख होकर गया, वहाँ वह अपना चैतन्य शुद्धस्वरूप ज्ञान में भासित हुआ। यह बहुत सरस बात है ! देखो ! आज कुन्दकुन्दाचार्य महाराज की आचार्य आरोहण तिथि है। समझ में आया ? ओहोहो ! कुन्दकुन्दाचार्य ने तो पंचम काल में तीर्थंकर जैसा कार्य किया है। अमृतचन्द्राचार्य

www.vitragvani.com

ने गणधर जैसा (कार्य किया है।) देखो न! एक अमृतचन्द्राचार्य के श्लोक, उनका अपना बनाया हुआ है। ओहो! '**प्राय: भूतार्थबोधविमुख: सर्वोऽपि संसार:**' 'मक्खनलालजी' ने संसार सब अर्थ किया है। सब संसार व्यवहारनय की समझ से विरुद्ध है – ऐसा लिया है। समझ में आया? संसारी जीव व्यवहारनय के बोध से विमुख है, क्योंकि संसार यह है, यह है, इसके बोध से विमुख है — ऐसा अर्थ किया है। यह स्वयं परिणाम ही सर्व संसार है। समझ में आया?

भगवान आत्मा चैतन्य शुद्धस्वरूपी प्रभु का बोध, उससे विपरीत अर्थात् अकेले राग, पुण्य, दया, दान, विकल्प, कर्म, शरीर का बोध, एकत्व परिणाम, इस बोध के परिणाम अज्ञान के, उन्हें यहाँ मिथ्यात्व कहते हैं और उसे यहाँ संसार कहते हैं। वह संसार है। निगोद में यह संसार और नौवें ग्रैवेयक में गया हुआ मिथ्यादृष्टि साधु था और गया था, उसे यह संसार है। समझ में आया? उसमें ये दो स्वरूप दो हैं। एक मलिन, कर्म और शरीर तथा निर्मलानन्द प्रभु आत्मा। एक ओर आत्माराम तथा एक ओर मलिन आदि सब समूह। दोनों की एकता का भाव जो अनादि का था, वह संसार था। उसे अन्तर्मुख में अपनी बुद्धि द्वारा अंश में वर्तमान मलिन के लक्ष्य में जो पड़ा था, उसमें से हटकर बुद्धि को अन्तर्मुख चैतन्यस्वभाव शुद्ध भगवान आत्मा की ओर झुकाने पर दोनों भिन्न पड़े और ज्ञान में चैतन्य पुरुष का स्वरूप ज्ञात हुआ।

इस प्रकार वह निर्मल आत्मा का स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। आहाहा! ऐसे निर्मल आत्मा को। देखो! निर्मल स्वभाव कहा न? स्वभाव ऐसे आत्मा को। **स्वानुभवरूप...** स्व-अनुभवरूप, अपने ही अनुभवरूप अन्दर अनुसरण कर होता आनन्द का आस्वाद लेता है। आत्मा को स्व-अनुभवरूप आस्वादता है। इस आत्मा को स्व-अनुभव से अतीन्द्रिय के आनन्द का आस्वाद लेता है। दो बातें की (हैं) — ज्ञान की निर्मलता में स्वरूप प्रकाशित हुआ, चैतन्य पुरुष का आकार प्रतिभासित हुआ। भाई! दो बातें (की)। भगवान आत्मा अपने अन्तर शुद्ध स्वरूप की ओर ढलने पर उसके ज्ञान में चैतन्य पुरुष का स्वरूप प्रकाशित हुआ और प्रकाशित होने में उसे वेदन करते-अनुभव करते आनन्द को-अतीन्द्रिय आनन्द को साथ में आस्वादता है। आहाहा! यह इसका नाम

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

आत्मा जाना और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! यह बात सूक्ष्म बहुत परन्तु भाई! साधारण को क्या करना? पूरे दिन धन्धा करना, व्यापार करना; उसे यह झट समझ में आये, ऐसी कोई विधि होगी? पूरे दिन व्यापार–धन्धा, फुर्सत नहीं मिले (उसे) थोड़े समय में समझ में आये, ऐसी (कोई बात है)? परन्तु थोड़े में यही बात है। समझ में आया? इसके बिना दूसरा प्रकार सुखी होने का तीन काल में नहीं है। सब दुखी होने के मार्ग हैं। दु:खी होगा यह? शान्तिभाई! ७००–८०० का वेतन आवे, अकेला है, विवाह करना नहीं। अब ऐसे सुखी नहीं कहलायेंगे? सुखी कहलायेंगे या नहीं? पैसा–वैसा एकत्रित होवे तो भाईयों की आधीनता मिटे। आहाहा! कहते हैं कि यह सब तो भिखारीपन है। यह बादशाही तो यहाँ आत्मा में है। समझ में आया?

भगवान आत्मा, जिसे शुभविकल्प की भी जरूरत नहीं, गरज नहीं – ऐसा कहते हैं। पैसा नहीं, कर्म नहीं, शरीर नहीं, शुभविकल्प की भी गरज नहीं। एक गरज रही शुद्ध चैतन्यस्वरूप (के) सन्मुख होकर रहना यह। तब इसे बादशाह चैतन्यस्वरूप ज्ञान में प्रकाशित हुआ। तब उसे ज्ञान में चैतन्यस्वरूप प्रकाशित होने पर, इसका मूल जो आनन्द स्वाद, वह प्रगटरूप ज्ञान की पर्याय था, परन्तु आनन्दरूप प्रगट नहीं था और प्रगटरूप ज्ञान में जो अनादि से रागादि प्रकाशित करता था, प्रगटरूप ज्ञानपर्याय में यह रागादि ज्ञात होते थे; वह ज्ञान ऐसे झुकने पर चैतन्यस्वरूप प्रकाशित हुआ और आनन्द का अंश तो जरा-सा भी था नहीं, आकुलता थी... समझ में आया? परसन्मुख में ज्ञान के अंश में मलिनता और कर्म, शरीर से एकत्वपना भासित होता था और आकुलता थी। इस चैतन्य की अन्तरबुद्धि द्वारा अन्तर में जाने से, शुद्ध चैतन्यस्वरूप को पकड़ने से, मेल और कर्म एक ओर, भगवान दोनों पृथक् पड़ने पर अपने ज्ञान में यह शुद्ध स्वरूप है — ऐसा प्रकाशित हुआ। पहली पर्याय में वह (कर्मादि) प्रकाशित होता था; इस पर्याय में यह प्रकाशित हुआ और जो ज्ञान, जो आकुलता थी, उसके बदले यहाँ ज्ञान के प्रकाश में – चैतन्यस्वरूप प्रकाश में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अनुभव में आया। उसे आत्मा जाना कहा जाता है और उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहाहा! योगेशभाई! बातें बहुत सूक्ष्म! तुम्हें सुनने को भी मिले नहीं, वहाँ कमाने में और अमुक में। कहो, समझ में आया? भगवान भाई! ऐसी

बात भी सुनी नहीं थी भावनगर में किसी दिन। इतने वर्ष में प्रौषध, प्रतिक्रमण और सामायिक कर–करके कचूमर निकल गया। परन्तु कहाँ जहाँ दिशा ही फर्क है, उसमें दिशा फर्क में मुट्ठी बाँधकर चलने लगा। जाना (है) पूर्व में और जाता है (ऐसे) पश्चिम में। बहुत दौड़ना, परन्तु किसकी ओर? ऐसी जहाँ दशा स्वसन्मुख होने की क्या है – इसका ही पता नहीं पड़ता; परसन्मुख से हटना है और स्वसन्मुख में आना है, इस बात का पता नहीं पड़ता, वह जाए कहाँ? समझ में आया?

अभी श्रद्धा में ही ऐसा होवे कि इस परसन्मुख में जो है, वह कुछ करते हैं, इसमें से कुछ कल्याण होगा... अब उस ओर से हटे कहाँ से और अन्दर आने की जरूरत है – ऐसी रुचि कहाँ से हो? आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, गजब बात है! अभी यह सब कसदार बात है। पानी निकले और कह नहीं आता नीचे? कह समझे? कह, पानी को धोध निकलता है न नीचे, उसके ऊपर का होवे, उसे देखकर कहे कि – यह कह है – ऐसा कहे। 'कह' अर्थात् पानी का पूर जाता है। दो हाथ दूर हो तो भी समझ ले। कह, सुना है या नहीं? कह; जमीन में यह पानी निकलता है न? पानी निकलता है हो, उसे 'कह' कहते हैं। कह; यह जमीन ऐसी ऊँची हुई है और इस प्रकार की हुई है तथा नीचे कुछ गीला है, इसलिए ऐसी ऊँची हो गयी। नीचे पानी का धोध चला जाता है – ऐसा कहे। कह; इसी प्रकार इस चैतन्य पुरुष का 'कह' अन्दर पड़ा है, बड़ा। पहिचान ले और आनन्द को आस्वादे। आहाहा! यह धर्म की पद्धति है और यह धर्म प्राप्त करने की कला है, इसके सिवाय सब व्यर्थ–व्यर्थ है।

मुमुक्षु : सच्चा 'कह' तो यह बैठे तब कहलाये।

उत्तर : किसलिए, यह बैठाने के लिए कहा जाता है या? कहो, समझ में आया?

अतः शुद्धनय कतकफल समान है,... जैसे मलिन पानी में निर्मली औषधि डालने से पानी और मेल पृथक् पड़ जाते हैं; इसी प्रकार शुद्धनय–अन्तर्मुख का लक्ष्य करना, वह शुद्धनय कतकफल–समान हैं। मेल और निर्मल दोनों को भिन्न करता है। कहो, समझ में आया? शुद्धनय कतकफल है। शुद्धनय का विषय है, वही कतकफल है। उसकी ओर लक्ष्य जाते ही दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। **उसी के श्रद्धान से सर्वसिद्धि होती**

www.vitragvani.com

है। लो! इसके श्रद्धान से सर्वसिद्धि–मुक्ति–केवलज्ञज्ञन आदि इससे होते हैं; इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से नहीं होते। समझ में आया?

उसी के श्रद्धान से... किसके श्रद्धान से? यह शुद्धनय का फल आया। शुद्धनय स्वभाव जो भगवान आत्मा, इसकी श्रद्धा हुई; पहली एकत्व श्रद्धा थी, राग–विकल्प आदि मेरे हैं अथवा उनसे लाभ होता है — ऐसा करके वहाँ पड़ा था न? उसकी एकत्वबुद्धि में अकेली संसार की सिद्धि और संसार का भटकना सिद्ध होता था। इसके स्वभावसन्मुख की दृष्टि होने पर, इसकी जो श्रद्धा हुई, शुद्धस्वभाव ही आत्मा है — ऐसी श्रद्धा हुई। भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव ज्ञान में जानने और आस्वादन लेने पर जो श्रद्धा हुई – ऐसा कहते हैं। अकारण जाने बिना – ऐसा नहीं। ज्ञान में जानने पर और आनन्द का आस्वाद लेने पर यह श्रद्धा हुई (कि) आत्मा शुद्ध त्रिकाल है। ऐसी **श्रद्धान से सर्वसिद्धि होती है।** इस श्रद्धान से चारित्र होता है, केवलज्ञान होता है, मुक्ति होती है; समस्त सम्पदा की प्राप्ति इस श्रद्धान से होती है। समस्त, समझे? केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य सब। कहो, समझ में आया? राजमलजी! लो! तुम यहाँ आये और यह सब आया। आज माल–माल आया।

मुमुक्षु : सर्दी में माल–माल ही खावे न!

उत्तर : हाँ, बहुत पाक खावे। उड़द के खावे और मूसलीपाक खावे, सालमपाक खावे (तो) कह रहे। मर गये खाकर। ऊ..ऊ हो गया था जाओ! यह घबराहट कुछ अन्दर में ऊँ.. ऊ होता था। जाओ! उड़ो संसार में। आहाहा! बहुत मक्खन जैसी बात और बहुत सीधी व सरल बात है।

भगवान आत्मा अपने स्वभाव का पिण्ड प्रभु स्वयं, उसके सन्मुख से, उसके भान में और उसके आस्वादन में उसकी श्रद्धा हुई। बस! वह श्रद्धा सर्व शान्ति और सर्व सुख का मूल है। समझ में आया?

आगे कहते हैं कि यदि एक निश्चयनय के श्रद्धान से ही सर्व सिद्धि होती है... महाराज! आप तो, ऐसा भगवान शुद्धस्वरूपी प्रभु अनन्त–अनन्त शान्तरस और आनन्दरस का नाथ आत्मा स्वभाव है। उसके सन्मुख की यह श्रद्धा, निश्चय की श्रद्धा,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

स्वाश्रय की श्रद्धा, स्व की श्रद्धा से यदि सर्व सिद्धि होती है, इससे यदि सर्व सिद्धि होती है; **तो फिर आचार्य व्यवहारनय का उपदेश क्यों करते हैं?** समझ में आया? प्रश्न ठीक है या नहीं? माँगीरामजी! आहाहा! बात तो बहुत असल बात है। नहीं? बहुत अनुभवी है न! पुराने है न, पुराने व्यक्ति है। दिल्ली। आहाहा! जगत को बेचारे को मिलती नहीं। त्यागी हुए, बाबा हुए, साधु हुए परन्तु बेचारे ऐसे के ऐसे... जाए, लोकबुद्धि में पड़े। संसार... संसार... वस्तु क्या है – (इसका) पता नहीं पड़ता। परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने केवलज्ञान से देखकर क्या श्रद्धा का स्वरूप कहा — इसका इसे पता नहीं।

(यहाँ) शिष्य ने पूछा कि प्रभु! इतना अधिक जब आप निश्चयनय के श्रद्धान से ही जब सर्व मुक्ति, मुक्ति (कहते हो), तो मुक्ति का एक ही कारण बताया। भगवान आत्मा, पर से–राग से, शरीर से, जड़ के क्रियाकाण्ड, विकल्प से छूटकर अपने स्वरूप में सन्मुख होकर श्रद्धा–ज्ञान करे; आपने उससे ही – निश्चय से ही सिद्धि कही तो इसमें व्यवहार तो कहीं आया नहीं? समझ में आया? तो **आचार्य व्यवहारनय का उपदेश क्यों करते हैं? उसका उत्तर – अर्थ इस गाथा में कहा है।** उसका उत्तर–अर्थ इस गाथा में कहा है। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा – ६

अब जो श्रोता गाथा में कथित अर्थ के उपदेश को अंगीकार करने योग्य नहीं हैं उनका कथन करते हैं–

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।६।।

अज्ञानी को समझाने के लिए करें व्यवहार कथन।
जो केवल व्यवहार जानते उन्हें नहीं जिनराज वचन।।६।।

अन्वयार्थ : (मुनीश्वराः) ग्रन्थकर्ता आचार्य (अबुधस्य) अज्ञानी जीवों को (बोधनार्थं) ज्ञान उत्पन्न करने के लिये (अभूतार्थं) व्यवहारनय का (देशयन्ति) उपदेश करते हैं और (यः) जो जीव (केवलं) केवल (व्यवहारम् एव) व्यवहारनय को ही (अवैति) जानता है (तस्य) उसको–उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिये (देशना) उपदेश (नास्ति) नहीं है।

टीका : 'मुनीश्वराः अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति' – मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये अभूतार्थ ऐसा जो व्यवहारनय, उसका उपदेश करते हैं।

भावार्थ : अनादि का अज्ञानी जीव, व्यवहारनय के उपदेश बिना समझ नहीं सकता; इसलिए आचार्य महाराज, व्यवहारनय के द्वारा उसको समझाते हैं। वही यहाँ बता रहे हैं। जैसे किसी म्लेच्छ को एक ब्राह्मण ने 'स्वस्ति' शब्द कहकर आशीर्वाद दिया, तो उसे उसके अर्थ का कुछ बोध नहीं हुआ और वह ब्राह्मण की तरफ ताकता रहा। वहाँ एक दुभाषिया उससे म्लेच्छ भाषा में बोला कि यह ब्राह्मण कहता है कि 'तेरा कल्याण हो,' तब आनन्दित होकर उसे म्लेच्छ ने आशीर्वाद अंगीकार किया। ठीक इसी प्रकार आचार्य ने अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया, तब वह कुछ नहीं समझा और आचार्य की तरफ देखता रह गया। तब निश्चय और व्यवहारनय के

ज्ञाता आचार्य ने व्यवहारनय के द्वारा भेद उत्पन्न करके (-गुण-गुणी आदि विवक्षा-भेद द्वारा) उसे बताया कि - जो यह देखनेवाला, जाननेवाला और आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है, तब सहज परमानन्ददशा को प्राप्त होकर वह आत्मा को निजस्वरूप से अंगीकार करता है। इस प्रकार यह सद्भूत-व्यवहारनय का उदाहरण दिया।

आगे असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण देते हैं। जैसे घृत से संयुक्त मिट्टी के घड़े को व्यवहार से घी का घड़ा कहते हैं। यहाँ कोई पुरुष, जन्म से ही उसको घी का घड़ा जानता है। जब कोई पुरुष, घृत का घड़ा कहकर उसे समझाता है, तभी वह समझता है और यदि उससे मिट्टी का घड़ा कहकर सम्बोधन किया जाय तो वह किसी दूसरे कोरे घड़े को समझ बैठता है-घी के घड़े को नहीं। निश्चय से विचार किया जाय तो घड़ा मिट्टी का ही है परन्तु उसको समझाने के लिये 'घृत का घड़ा' कहकर ही सम्बोधन करना पड़ता है। उसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्याय से संयुक्त है। उसे व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहते हैं। अज्ञानी जीव अनादि से उस आत्मा को देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जानता है। जब कोई उसे देव, मनुष्य वगैरह नाम से संबोधित करके समझावे, तभी समझ पाता है और यदि आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे तो अन्य किसी परमब्रह्म परमेश्वर को समझ बैठता है। निश्चय से विचार करें तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है परन्तु अज्ञानी को समझाने के लिये आचार्यदेव गति, जाति आदि के भेद द्वारा जीव का निरूपण करते हैं। इस तरह अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये आचार्य महाराज व्यवहार का उपदेश करते हैं। 'केवलं व्यवहारं एव अवैति तस्य देशना नास्ति' - जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है, उसके लिए उपदेश नहीं है।

भावार्थ : निश्चयनय के श्रद्धान बिना केवल व्यवहारमार्ग में ही प्रवर्तन करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के लिये उपदेश देना निष्फल है।।६।।

गाथा ६ पर प्रवचन

अब जो श्रोता गाथा में कथित अर्थ के उपदेश को अंगीकार करने योग्य नहीं हैं उनका कथन करते हैं- समझ में आया? क्या कहा, समझ में आता है इसमें?

www.vitragvani.com

इस गाथा में दो बातें करेंगे कि निश्चयनय का आश्रय करना, स्वभाव की शुद्धता और वही श्रद्धा, वही श्रद्धा और वही ज्ञान, यही मुक्ति की सर्वसिद्धि का उपाय है। तो फिर आचार्यों ने व्यवहार का उपदेश किसलिए कहा? तो एक ही निश्चय करना चाहिए। दूसरा कि **श्रोता गाथा में कथित अर्थ के उपदेश को अंगीकार करने योग्य नहीं हैं...** कहते हैं, जो श्रोता अकेले केवल व्यवहार को ही जाननेवाले और व्यवहार को ही निश्चय माननेवाले हैं, वे श्रोता सत् को सुनने के योग्य नहीं है। समझ में आया?

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।६।।

वाह! यह पुस्तक व्याख्यान में पहली बार पढ़ी जा रही है। यह तो गुजराती हुई, वह सब के हाथ में आवे, तब वाँचना न? समाधिशतक तो वाँचन हो गया है। यह वाँचन नहीं हुआ था। समझ में आया? अब तो सबके हाथ में है। बहुत छप गयी हैं। कितनी छपाई? कितनी? हरिभाई! ४१०० लो! बहुत छपाये। क्या कहते हैं? रखा है या नहीं रखा? अब इसका अन्वयार्थ।

अन्वयार्थ : ग्रन्थकर्ता आचार्य... शिष्य का प्रश्न था कि जब निश्चयनय के आश्रय से – श्रद्धा से सर्वसिद्धि होती है, आत्मा के धर्म की सिद्धि, शान्ति की सिद्धि, मुक्ति की सिद्धि – सब सिद्धि (होती है) तो फिर व्यवहारनय को कहने का कारण क्या? तो कहते हैं कि **ग्रन्थकर्ता आचार्य, अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये व्यवहारनय का उपदेश करते हैं...** उसे–अज्ञानी को वस्तु का पता नहीं है, इससे उसे अन्तर में भेद द्वारा, व्यवहार द्वारा उसे निश्चय समझाकर, निश्चय का ज्ञान कराने के लिये यह बात करते हैं। व्यवहार को बताते हैं निश्चय को प्रगट करने के लिये। व्यवहार को बताते हैं, व्यवहार रखने के लिये नहीं। समझ में आया?

ग्रन्थकर्ता आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये... अब इसमें भी उल्टा विवाद लेना... देखो! व्यवहार के कारण ज्ञान होता है। अरे! सुन! क्या कहते हैं? इसे समझाते हैं कि जो यह आत्मा, दर्शन–ज्ञान–चारित्र को प्राप्त हो, वह व्यवहार हुआ; 'यह आत्मा' — ऐसा करके उसका व्यवहार का लक्ष्य छुड़ाकर अभेद में जाने के

लिये व्यवहार कहते हैं। दो बोल लेंगे, सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय के दो दृष्टान्त देंगे। समझ में आया? अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान आदि उत्पन्न कराने के लिये उसे व्यवहार से समझाते हैं। निश्चय से तो समझता नहीं। घड़े का दृष्टान्त है न? वह आयेगा। व्यवहार है, समझाने के लिये है; रखने के लिये नहीं। यह उसे समझाते हैं। वह समझता नहीं।

अकेला कोरा घड़ा समझता नहीं, उसे कहते हैं कि घी का घड़ा, वह घड़ा — ऐसा कहते हैं, परन्तु कहना है तो मिट्टी का घड़ा बताना है, परन्तु अकेला कोरा घड़ा देखा नहीं, इसलिए घी द्वारा उसे पहिचान कराते हैं। बतलाना है तो मिट्टी का घड़ा। इसी प्रकार यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, - यह व्यवहार कहो! व्यवहार। वह आत्मा — ऐसा कहकर वह निश्चय समझाते हैं। भेद डालकर समझाना है निश्चय, परन्तु यह भेद डालकर समझाने पर भी निश्चय समझाया — ऐसा यदि उसका लक्ष्य जाए और व्यवहार का लक्ष्य छोड़े तो व्यवहार उसे निश्चय से समझाया — ऐसा कहा जाता है।

देव, जीव, मनुष्य जीव... अकेला जीव तो देखा नहीं, अकेला जीव तो देखा नहीं। अभेद देखा नहीं, अकेला देखा नहीं। समझ में आया? अकेला अभेद चैतन्यस्वरूप कभी देखा नहीं; इसलिए उसे भेद से समझाते हैं कि जो यह आत्मा है न अन्दर? वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो प्राप्त हो, तीन को प्राप्त हो, (वह आत्मा)। श्रद्धा कौन करता है? कि आत्मा। जानता कौन है? कि आत्मा। लीनता कौन करता है? कि आत्मा, ऐसे। तीन के भेद द्वारा-व्यवहार द्वारा उस अभेद आत्मा को समझाते हैं। अनादि से अकेला अभेद समझा नहीं, इसलिए भेद द्वारा समझाने के लिये, व्यवहार द्वारा समझाने के लिये, निश्चय का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार द्वारा बात की है, परन्तु उस व्यवहार को ही पकड़े कि व्यवहार से निश्चय का ज्ञान होता है न, इसलिए व्यवहार सच्चा है। यह पकड़ता है, उसे तो कहते हैं कि देशना के योग्य नहीं है।

हमने व्यवहार द्वारा निश्चय को समझाने के लिये यह बात (की है), क्योंकि तू अकेला पृथक् अभेद कभी समझा नहीं और देव, मनुष्य आत्मा, मनुष्य आत्मा, एकेन्द्रिय आत्मा, दो इन्द्रिय आत्मा, केवली का आत्मा, सयोगी आत्मा, अयोगी आत्मा — ऐसे भेद

www.vitragvani.com

करके तुझे समझाते हैं; समझाना है वह (अभेद) आत्मा; परन्तु तू कभी योग बिना का आत्मा, देव बिना का आत्मा, मनुष्य बिना का आत्मा तूने देखा नहीं, इसलिए तुझे इनके द्वारा कहना है वह और पकड़ बैठे कि लो! तुमने व्यवहार का कहा था न कि देव, वह आत्मा, मनुष्य, वह आत्मा... परन्तु मनुष्य, वह आत्मा (– ऐसा) कहकर, वह आत्मा छुड़ाने – मनुष्यपना छुड़ाकर वहाँ ले जाने को कहा था। उसके बदले व्यवहार के कथन पकड़कर उसे ही मानता है। अब वह तो जो हेतु कहने का है, वह पकड़ने की योग्यता नहीं, उसे देशना देकर क्या लाभ? समझ में आया? वह तो झगड़ा ही खड़ा करेगा। देखो! व्यवहार की जरूरत पड़ी या नहीं? व्यवहार आया या नहीं? व्यवहार आया या नहीं? निमित्त अपने या नहीं? अरे...! भगवान! आया, वह आया किसलिए? वह व्यवहार उसे (निश्चय को) बतलाने के लिये है। व्यवहार, व्यवहार को बतलाने के लिये अथवा व्यवहार, व्यवहार को रखने के लिये नहीं। समझ में आया?

जो जीव केवल व्यवहारनय को ही जानता है... ऐसा क्यों लिया? पहला व्यवहार का भेद पाड़कर कहना, देव आदि से कहना वहाँ पकड़े। लो! तब तुमने कहा न, तुमने कहा न, तुमने कहा या नहीं? भाई! हमने कहा, परन्तु किस अपेक्षा से? वह निश्चय समझाने के लिये भेद पाड़ा था। उसके बदले तू वहाँ पकड़े! समझ में आया? कहते हैं कि वह देशना के सुनने योग्य नहीं है। आहाहा! जो कहने का आशय है, उसे न पकड़कर, व्यवहार से कहा, वहाँ व्यवहार को ही पकड़ा। आया या नहीं व्यवहार? आया या नहीं व्यवहार? व्यवहार के बिना समझा सकते हैं? गणधर भी कहते हैं, व्यवहार का आश्रय लेकर हम जगत को समझाते हैं, क्योंकि उससे बहुत जीव समझेंगे। लो! 'धवल' में ऐसा आता है। इसका अर्थ कि जीवों को, भेद किये बिना (कहा नहीं जा सकता।) देख भाई! यह एकेन्द्रिय, वह जीव; अकेला जीव कहे तो फिर चैतन्यस्वरूप, वह आत्मा, चैतन्यस्वरूप, वह आत्मा। फिर कोई ऐसा (समझेगा कि) परमेश्वर होगा, वह होगा। चैतन्यस्वरूप, वह आत्मा कहने पर और कोई दूसरे भगवान होंगे। इसका आत्मा, ऐसा यह नहीं समझता। समझ में आया न? अन्दर अर्थ में कहेंगे। चैतन्यस्वरूप, वह आत्मा — ऐसा यदि कहे तो फिर कोई परब्रह्म या परमात्मा को समझ ले। क्योंकि अकेला चैतन्यस्वरूप पृथक् तो

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

जाना नहीं। कोरा घड़ा तो किसी दिन देखा नहीं। कोरा समझे न? मिट्टी का अकेला (घड़ा)। घी वाला, पानीवाला और तेलवाला और ऐसे आटावाला — ऐसा घड़ा देखा है; इसलिए फिर उसके द्वारा इसे पहिचान कराते हैं। समझ में आया? परन्तु बतलाना है घड़ा। घी या आटावाला घड़ा कहकर कहीं घी या आटा में उसे अटकाना नहीं है। वहाँ वह कहता है — देखो! तुमने कहा था न घी का घड़ा?

पंचेन्द्रिय जीव, मनुष्य जीव, बादर जीव, सूक्ष्म जीव, पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव, देखो! तुमने कहा था न पर्याप्त जीव? परन्तु पर्याप्त कहकर, वह जीव कहना था। समझ में आया? पर्याप्तपना बतलाना नहीं था। समझ में आया? आहा! बहुत सरस बात है। श्लोक ऐसे रखे हैं। समयसार की शैली और शैली सब एक परन्तु इसकी पद्धति फर्क होता है। मूल चीज को पकड़ने के लिये।

दो बातें की हैं। एक तो आचार्य, अज्ञानी जीव को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये व्यवहारनय का उपदेश करते हैं, यह बात की थी। आता है न? व्यवहार के बिना उपदेश नहीं होता। यहाँ वे आये थे न? सोलिसीटर, तब (संवत्) १९९७ की साल में। देखो! इसमें आया यह। क्या आया परन्तु वहाँ? देखो! व्यवहार (आया)। परन्तु व्यवहार के बिना उपदेश नहीं होता; भेद पाड़कर समझाना, इसके बिना दूसरा उपायस नहीं है – ऐसा आया है। व्यवहार से लाभ हुआ (–ऐसा) इसमें कहाँ आया? कहा। सोलिसीटर था। (संवत्) १९९७ में मन्दिर (का कार्य) चलता था न। चिमनलाल, तुम्हारे वीरचन्द कामदार का लड़का। कहो, समझ में आया? अरे भगवान! क्या हो? इसके लिये तो यह गाथा ली है।

केवल व्यवहारनय को ही जानता है... ऐसा बतावे, देखो! दयाभाववाला आत्मा, हिंसाभाववाला आत्मा — ऐसा कहे, परन्तु बताना है वह (शुद्ध–अभेद) आत्मा। दयाभाव और यह तो राग है। समझ में आया? यह दयालु जीव है — ऐसा नहीं कहते? यह क्रूर जीव है, यह क्रोधी जीव है, यह मानी है, यह गहरे—पेट हाथ न आवे—ऐसा मायावी है.. परन्तु यह मायावी कहकर बताना है वह (शुद्ध) जीव। वह जीव मायावी नहीं, जीव क्रोधी नहीं, जीव मानी नहीं, जीव कपटी नहीं, जीव लोभी नहीं। इसे इनके द्वारा वह

www.vitragvani.com

जीव बताना है। वह बताना है कि देख यह, यह नहीं। देखो! यह। समझ में आया? दयालु जीव, अर्थात् ऐसा कहकर कि दया का भाव, वह जीव नहीं; जीव तो उस दया के भावरहित स्वरूप वह जीव। इसके द्वारा उसे बतलाना है। समझ में आया?

व्यवहारनय को ही जानता है... 'केवल' शब्द पड़ा है न? **जो जीव केवल...** अकेले व्यवहार को जानता है; यह समझाना है, वहाँ जाता नहीं; व्यवहार को (पकड़कर रखता है)। **उसको–उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिये उपदेश नहीं है।** वह उपदेश के योग्य नहीं है। इसका विस्तार करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८ गाथा–६ बुधवार, माघ कृष्ण ९, दिनांक ०४.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय चलता है। अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि आज से ९०० वर्ष पहले हुए। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि हुए। उन्होंने समयसार आदि (ग्रन्थ) बनाये। उनकी टीका रचनेवाले अमृतचन्द्राचार्य ने यह ग्रन्थ बनाया है। यहाँ अमृतचन्द्राचार्य छठवीं गाथा में ऐसा कहते हैं कि पहले प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि निश्चयनय है, वह यथार्थ है और व्यवहारनय है, वह अयथार्थ है। बाद में स्पष्टीकरण आयेगा, हों! निश्चय जो सत्य वस्तु है, निश्चय है, वह सत्य वस्तु को कहता है और व्यवहार है, वह असत्यार्थ, अभूतार्थ, अवस्तु को कहता है। अन्दर दृष्टान्त आयेगा।

निश्चय तो, आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वही कहता है। आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द पूर्ण शुद्धस्वरूप है, वह आत्मा है – ऐसा निश्चयनय कहता है। यह दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की शुरुआत की पहली सीढ़ी, पहला सोपान। निश्चयनय ऐसा कहता है कि यह तो चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धस्वरूप है, वह आत्मा है। निश्चय यह कहता है, वह यथार्थ कहता है, भूतार्थ कहता है, यथार्थ / सत्य कहता है, क्योंकि ऐसे चैतन्य शुद्धस्वरूप आत्मा की अन्तर्दृष्टि करने से, व्यवहार का लक्ष्य छोड़ने से, शुद्ध स्वभाव परिपूर्ण आत्मा का आश्रय करने से

www.vitragvani.com

सत्य ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। शोभालालजी! तो निश्चय सत्य को कहता है; व्यवहार उपचार को–असत्यार्थ को कहता है।

कहते हैं कि यदि निश्चय सत्य को कहता है और व्यवहार असत्य को कहता है तो ऐसे व्यवहार का उपदेश करने की आवश्यकता क्या है? व्यवहार ऐसा कहता है कि आत्मा–देव आत्मा, मनुष्य आत्मा, क्रोधी आत्मा, रागी आत्मा — ऐसा व्यवहारनय कहता है; तो शिष्य ने प्रश्न किया कि यदि निश्चय यथार्थ कहता है और व्यवहार अवास्तविक कहता है तो व्यवहार कहने की आवश्यकता क्या है? समझ में आया? एक प्रश्न यह है।

दूसरा, जो व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है, वह उपदेश के योग्य ही नहीं है। समझ में आया? व्यवहार का उपदेश चलता है निश्चय को बतलाने के लिये; परन्तु जो व्यवहार को ही मान ले; तुमने व्यवहार से कहा तो वह भी सत्य है – ऐसा माननेवाला सत्य उपदेश सुनने के योग्य नहीं है। समझ में आया? यह दो बातें छठवीं गाथा में कहेंगे। यह उपोद्घात किया।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।६।।

मुनिश्वर, सन्त, मुनि दिगम्बर सन्त **'अबुधस्य बोधनार्थं' 'देशयन्त्यभूतार्थम्'** धर्मात्मा आचार्य, अज्ञानी जीव को ज्ञान प्रगट करने के लिये—अज्ञानी जीव को वस्तु का यथार्थ बोध नहीं है, इसलिए उसका अज्ञान मिटाने के लिये और उसका यथार्थ ज्ञान क्या है – यह समझाने के लिये **'अभूतार्थं' व्यवहारनय का उपदेश करते हैं....** अज्ञानी को सत्य का ज्ञान नहीं है तो असत्य अर्थात् भेद पाड़कर अथवा संयोग का लक्ष्य कराकर आत्मा को बतलाते हैं। बतलाना तो आत्मा है न? सार में सार तो आत्मा है। आत्मा का अनुभव, सम्यग्दर्शन, वही पहला धर्म है। इसके अतिरिक्त धर्म नहीं होता। आत्मा बतलाने में अज्ञानी पहले आत्मा, शरीर से, राग से, कर्म से भिन्न है — ऐसा कभी समझा नहीं तो व्यवहार से उसे समझाते हैं कि आत्मा, देव–आत्मा, मनुष्य–आत्मा, परन्तु वह देव–मनुष्य–आत्मा नहीं है। ऐसा (तो) व्यवहार से समझाते हैं। **अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये....** चैतन्य शुद्धस्वरूप बतलाने को देव–आत्मा, मनुष्य–आत्मा,

www.vitragvani.com

एकेन्द्रिय–आत्मा, पंचेन्द्रिय आत्मा — ऐसे व्यवहार से निश्चय चैतन्यस्वरूप को बताने में बीच में व्यवहार आता है, इसलिए बतलाते हैं। उसे अभूतार्थ व्यवहार से उपदेश करते हैं।

भावार्थ : क्योंकि अनादि अज्ञानी, **अनादि का अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश बिना समझ नहीं सकता....** व्यवहार के उपदेश के बिना नहीं समझता। व्यवहार किये बिना नहीं समझता — ऐसा नहीं कहा। दोनों में अन्तर है। समझ में आया ? अनादि अज्ञानी व्यवहारनय के उपदेश के बिना नहीं समझता; व्यवहार किये बिना नहीं समझता — ऐसा नहीं है। समझ में आया ? क्या कहते हैं ? बाद में अर्थ आयेगा, हों !

व्यवहारनय के उपदेश बिना समझ नहीं सकता, इसलिए आचार्य महाराज व्यवहारनय के द्वारा उसको समझाते हैं। अज्ञानी को, आत्मा क्या चीज है, वास्तविक पदार्थ क्या है ? — यह अनादि से अज्ञानी समझा नहीं तो अज्ञानी को आचार्य, मुनि, सन्त व्यवहार से समझाते हैं। दृष्टान्त देते हैं। **जैसे किसी म्लेच्छ को....** कोई म्लेच्छ मुसलमान को **एक ब्राह्मण ने 'स्वस्ति' शब्द कहकर आशीर्वाद दिया,...** स्वस्ति–आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण ने किसी म्लेच्छ को–मुसलमान को आशीर्वाद दिया — स्वस्ति – ऐसा कहकर **आशीर्वाद दिया, तो उसे उसके अर्थ का कुछ बोध नहीं हुआ...** यह क्या कहते हैं ? यह 'स्वस्ति' क्या कहते हैं ? मुसलमान स्वस्ति का अर्थ समझा नहीं, समझा नहीं (कि) यह क्या कहते हैं ? 'स्वस्ति' क्या कहते हैं ? **वह ब्राह्मण की तरफ ताकता रहा।** स्वस्ति कहनेवाले की ओर उसकी नजर रही। क्या कहते हैं यह ? स्वस्ति हो, स्वस्ति हो—क्या कहते हैं ?

वहाँ एक दुभाषिया... वहाँ दूसरा दोनों भाषाओं का जाननेवाला; म्लेच्छ की भाषा को और यथार्थ भाषा को (जाननेवाला)। **उससे म्लेच्छ भाषा में बोला कि यह ब्राह्मण कहता है कि भैया! 'तेरा कल्याण हो,'....** अच्छा! यह स्वस्ति में नहीं समझा। स्वस्ति! स्वस्ति का अर्थ है – तेरा स्वरूप है स्व। तेरा भला होओ। स्वस्ति शब्द में नहीं समझा। तेरा भला हो – ऐसा तुझे कहते हैं। **तब आनन्दित होकर....** तब सुननेवाला म्लेच्छ, स्वस्ति का अर्थ – भला हो — ऐसा समझकर आनन्दित हुआ। ओ...हो... ! बहुत अच्छा कहते हैं, मुझे बहुत अच्छा आशीर्वाद दिया। समझे ? **उस म्लेच्छ ने आशीर्वाद**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अंगीकार किया। आशीर्वाद अंगीकार करता है। यह दृष्टान्त है, यह तो दृष्टान्त है।

इसी प्रकार अज्ञानी जीव को.... वह म्लेच्छ, यह अज्ञानी। **आचार्य ने अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर....** देखो, विशिष्टता! आत्मा - ऐसा कहा। आत्मा समझाना है न? अनन्त काल में आत्मा, देह में क्या चीज़ है — उसकी कभी पहिचान नहीं की। दूसरा सब बहुत किया, व्यवहार क्रियाकाण्ड — दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तप आदि सब अनन्त बार बहुत बार किया, परन्तु आत्मा क्या है — यह कभी समझा नहीं। इसलिए यहाँ **आचार्य ने अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया...** भाई! तू आत्मा है। समझ में आया? **आचार्य ने अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया तब वह कुछ नहीं समझा....** सुननेवाले को कुछ पता पड़ता नहीं (कि) क्या कहते हैं? आत्मा... आत्मा क्या कहते हैं? आत्मा क्या? (जैसे) वह (म्लेच्छ) स्वस्ति का अर्थ नहीं जानता; वैसे यह आत्मा का अर्थ नहीं जानता। क्या कहते हैं यह? समझे न?

कुछ नहीं समझा और आचार्य की तरफ देखता रह गया। कहनेवाले सन्त की ओर आत्मा सुननेवाला देखता रह गया। क्या कहते हैं यह? आत्मा... आत्मा क्या कहते हैं? **तब निश्चय और व्यवहारनय के ज्ञाता आचार्य ने....** वे आचार्य अथवा दूसरा कोई आया। **व्यवहारनय के द्वारा भेद उत्पन्न करके उसे बताया....** कहनेवाला निश्चय का भी जाननेवाला है। उस आत्मा सुननेवाले को आचार्य ने कहा कि आत्मा... तू आत्मा। वह नहीं समझा तो दूसरा आया, जो आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्द है, उसे भी जानता है और राग, पुण्य, विकार, शरीर, देव — ऐसे संयोग से कहता है, उसे उसका ज्ञान है, दोनों का ज्ञान है, वैसे आचार्य उसे उपदेश देते हैं। समझ में आया? **निश्चय और व्यवहारनय के ज्ञाता....** अर्थात् जिसे, भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द चैतन्यस्वरूप है, वह निश्चय है, उसका भी भान है और उस आत्मा को देव-आत्मा, मनुष्य-आत्मा, क्रोधी-आत्मा, मानी-आत्मा, एकेन्द्रिय-आत्मा, स्त्री-आत्मा, पुरुष-आत्मा — ऐसे व्यवहार से कहते हैं, उसका भी उसे ज्ञान है। निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान है। माँगीरामजी! समझ में आया?

www.vitragvani.com

व्यवहारनय के द्वारा भेद उत्पन्न करके उसे बताया कि – जो यह देखनेवाला,... भाई! तुझे 'आत्मा' — ऐसा कहा, उसका अर्थ यह है कि देखनेवाला, अन्दर देखनेवाला, देखनेवाला, वह आत्मा; जाननेवाला, वह आत्मा — ऐसा भेद पाड़कर कहा। अभेद से तो आत्मा को एकरूप कहा। वह अभेद से समझा नहीं; आत्मा — ऐसा कहा तो समझा नहीं; इसलिए फिर व्यवहार से समझाया। व्यवहार से समझाया (कि) देख भाई! अन्दर देखता है न? अन्दर देखता है न? वह देखनेवाला आत्मा, जाननेवाला आत्मा और **आचरण करनेवाला पदार्थ है, वही आत्मा है,....** जो आचरण करनेवाला है, स्वरूप में स्थिर रहनेवाला है, वह आचरण करनेवाला, वह आत्मा है। क्या कहा समझ में आया? भेद पाड़कर तीन प्रकार से समझाया। भेद करके समझाया वह भेद, वह भेद व्यवहार है। समझाना है आत्मा।

यह धर्म की मूल चीज पहले आत्मा से ही शुरु किया है। आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है। समझ में आया? अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आत्मा क्या चीज है – उसे जाने बिना अंशमात्र भी कभी किसी को धर्म नहीं होता।

(यहाँ) कहते हैं कि आचार्य ने श्रोता को 'आत्मा' — ऐसा कहा। ऐसा न समझा तो निश्चय और व्यवहार दोनों की जाननेवाले दूसरे धर्मात्मा–निश्चय / अभेद को भी जानते हैं और व्यवहार / भेद को भी जानते हैं। ये जाननेवाले, उसे भेद से बात करते हैं। समझ में आया? जाननेवाले उसे भेद से बात करते हैं। आत्मा समझा नहीं, स्वस्ति कहा, वह समझा नहीं। तेरा भला हो। वैसे ही आत्मा का अर्थ समझा नहीं। समझ में आया? इसका अर्थ किया — देखनेवाला। भाई! अन्दर देखता है, जिसमें दिखता है; और जिसमें दिखता है, जिसमें ज्ञात होता है, जो आचरण करता है, वह आत्मा हैं — ऐसा भेद डालकर उसे समझाया। **तब सहज परमानन्द दशा को प्राप्त होकर....** यहाँ तो बहुत थोड़ी बात की है। सद्भूत व्यवहार की बात पहले की।

देख भाई! तुझे 'आत्मा' — ऐसा कहा तो तू आत्मा समझा नहीं तो हम तुझे भेद करके, व्यवहार करके, व्यवहारमार्ग करके, भेद का लक्ष्य कराकर तुझे अभेद बतलाते

www.vitragvani.com

हैं। क्या? भाई! यह आत्मा क्या? शरीर, आत्मा नहीं; वाणी, आत्मा नहीं; कर्म, आत्मा नहीं। तो क्या? जाननेवाला, जो जानता है न? जानता है - देखता है और जानने-देखने में जरा टिकता है - आचरण करता है, आत्मा है। समझ में आया? राग करनेवाला आत्मा — ऐसा नहीं कहा। यह है ही नहीं। फिर कहेंगे परन्तु समझाना है आत्मा; परन्तु पहले तो यह भेद डालकर समझाया। भाई! यह आत्मा जो अन्दर है, वह जानता है - देखता है और आचरण करने की क्रिया आत्मा में होती है; आत्मा में, हों! यह आचरण करनेवाला अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप — इन तीन को जो प्राप्त हो, उसे हम आत्मा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

तब... पात्र जीव है न? देखो! **सहज परमानन्द दशा को प्राप्त होकर....** देखो! यह धर्म! उसे कहा कि भाई! प्रभु! तू आत्मा है। यह देहादि तो मिट्टी-धूल है; कर्म आदि तो मिट्टी है। आठ कर्म जड़ हैं। तू आत्मा है। कौन हो? जानना-देखना-स्थिर होना — ऐसा तू आत्मा है। आत्मा तो एकस्वरूप ही है, परन्तु तीन भेद करके बतलाया, वह व्यवहार करके बतलाया है। समझ में आया? व्यवहार करके बतलाया तो व्यवहार में रखने के लिये नहीं बतलाया। समझ में आया? व्यवहार से बतलाया परन्तु तेरा लक्ष्य व्यवहार पर रहे, इसके लिये नहीं बतलाया। जानने-देखनेवाला, वह आत्मा। आत्मा अभेद है, उसे भेद डालकर — बतलाकर अभेद बतलाया। सूक्ष्म बात है। इसने अनन्त काल से यह बता जानी नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, जब ऐसा आत्मा इसके ख्याल में आया कि ओहो...! यह जाननेवाला आत्मा, देखनेवाला आत्मा और जिसमें एकाग्र होता है - अन्दर स्थिर होता है, रमता है, वह आत्मा। एक आत्मा को तीन भेद डालकर बतलाया, वह व्यवहारनय से कहा है। व्यवहारनय से कहकर बतलाया अभेद आत्मा। भेद डालकर बतलाया अभेद। भेद, अभेद को बताता है; भेद, भेद में रहने के लिये नहीं बताते। समझ में आया? भेद से कहा, तब उसकी दृष्टि गयी। ओहो! यह जानने-देखनेवाला और स्थिरता-आचरण करनेवाला, वह आत्मा — इस प्रकार सुननेवाले की अन्तर्दृष्टि (हुई)। जो भेद कथन सुनने में आया, उसका लक्ष्य छोड़कर अभेद पर (दृष्टि) गयी तो **सहज परमानन्द दशा को प्राप्त**

www.vitragvani.com

होकर.... तब शुद्ध अभेद आत्मा पर दृष्टि जाने से उसकी वर्तमान दशा में स्वाभाविक परमानन्द दशा अर्थात् पर्याय की प्राप्ति हुई। इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र धर्म कहते हैं। किसका नाम?

जो भेद से कहा, उस भेद का लक्ष्य छोड़कर, यह आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्य दर्शन को प्राप्त, ज्ञान को प्राप्त, स्थिरता को प्राप्त — ऐसे तीन को लक्ष्य में लेकर अन्दर अभेद में गया। एकरूप चैतन्यप्रभु आत्मा अभेद है — ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि करने से अपनी वर्तमान दशा में आत्मा में, जो स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्द था, उसकी अन्तर श्रद्धा करने से, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन-अनुभव आया, इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र धर्म कहा जाता है। समझ में आया? भाई! सूक्ष्म बात है। भाषा भले हिन्दी हो, परन्तु भाव तो जैसा हो, वह आवे न! ये दिल्ली से आये हैं, इन्होंने माँग की थी (हिन्दी में लेने की)। समझ में आया?

भगवान अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर सन्त, ९०० वर्ष पूर्व (हुए)। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज दो हजार वर्ष पहले हुए। महा दिगम्बर सन्त (थे), परमात्मा के पास गये थे। सीमन्धर भगवान के पास कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले (गये थे)। आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि शास्त्र बनाये। उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की। उन अमृतचन्द्राचार्य ने यह पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय शास्त्र बनाया। दिगम्बर सन्तु वनवासी-जंगल में रहनेवाले।

निश्चय और व्यवहार का क्या स्वरूप है और व्यवहार किसलिए कहा जाता है? व्यवहार को कहते हैं और सुननेवाला व्यवहार को ही मान लेता है, वह सुनने के योग्य नहीं है — ऐसी दो बातें करते हैं। व्यवहार की आवश्यकता क्या? कि समझाने के लिये आवश्यकता है। समझाने के लिये, हों! करने की बात नहीं है।

आत्मा अखण्डानन्द प्रभु एक समय में पूर्ण शुद्ध चैतन्य सत्व, दल, 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' — सिद्धस्वरूप उसका स्वभाव है। उस एक को, अभेद को सीधे नहीं जाननेवाले ऐसे अनादि अज्ञानी जीव को आचार्यों ने व्यवहार अर्थात् भेद करके समझाया,

www.vitragvani.com

इतना व्यवहार का प्रयोजन है। व्यवहार से निश्चय को बतलाया, भेद से अभेद बतलाया – इतना व्यवहार का प्रयोजन है। तब वह आत्मा समझ जाता है। ओहो!

भगवान सन्त आचार्य, परमेश्वर केवलज्ञानी (कहते हैं) आत्मा अन्दर जानन-देखन, स्थिरता करनेवाला, वह आत्मा (है) — ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि करके अपनी दशा में सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानसहित परम अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसका नाम 'भगवान आत्मा जाना' — ऐसा कहा जाता है। गजब बात! समझ में आया? यह चौथे गुणस्थान की सम्यग्दृष्टि की बात है, हों! श्रावक तो बाद में होता है, मुनि तो कहीं बाद में होता है। यह तो अभी चौथे गुणस्थान की बात है। अविरत सम्यग्दृष्टि! कुशलालजी! क्या है? कुछ ऊँची बात है? पहली तो बात है। अज्ञानी को समझाया और उसने ज्ञान प्राप्त किया, उसकी तो बात है।

अनादि का अज्ञानी था – ऐसे आत्मा को आचार्य ने कहा कि आत्मा। इतने से वह समझा नहीं तो दूसरे दुभाषिया ने, जिसे निश्चय का भी भान है और व्यवहार का कथन किस प्रकार होता है — उसका भी ज्ञान है। उसने उसे व्यवहार से भेद पाड़कर समझाया। देख, भाई! आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा। तू आत्मा को ऐसे समझना कि जाननेवाला, वह आत्मा; देखनेवाला, वह आत्मा। उसमें कहीं तीन भेद नहीं है; वस्तु एक अखण्ड है। समझ में आया? जैसे सुवर्ण की ईंट एक है, ईंट, उसमें तीन भेद करना — पीताश, चिकनाहट, वजन – वह सोना। उसमें तीन भेद नहीं है, वस्तु तो एक है। इसी प्रकार आत्मा है तो अभेद अनन्त गुण का पिण्ड एक है, परन्तु उसे भेद पाड़े बिना अज्ञानी को समझ में नहीं आता। समझ में आया? माँगीरामजी! गजब बात भाई! समझाने में भी यह बात, हों! पहले तू ऐसा कर तो तुझे (धर्म) होगा — ऐसी बात इसमें नहीं आयी। समझ में आया? पहले तू कषाय की मन्दता कर तो तुझे तुरा आत्मा समझ में आयेगा — ऐसा इसमें नहीं आया। समझ में आया? आया क्या?

भगवान अमृतचन्द्राचार्य सन्त दिगम्बर महामुनि वनवासी, परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि अज्ञानी अनादि से आत्मा को जानता नहीं; उसे हम भेद पाड़कर समझाते हैं, इतना व्यवहार का प्रयोजन है... विजयमूर्तिजी! समझ में

www.vitragvani.com

आया ? व्यवहार करते–करते निश्चय होता है — यह बात ही यहाँ नहीं है। समझ में आया ? यहाँ तो इतना कहना है कि यह वस्तु भगवान आत्मा, इस देह अर्थात् मिट्टी से भिन्न है। यह (देह) तो मिट्टी–माँस है और अन्दर कर्म जो है, वह तो जड़ है और अन्दर में राग–द्वेष विकार होता है, वह तो मैल है; उनसे रहित भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अपरिमित वीर्य आदि है – ऐसा यह आत्मा। ऐसा यह आत्मा — ऐसे सीधे कहे, तो अनादि अज्ञानी समझता नहीं। अनादि का अज्ञानी है; इसलिए भेद पाड़कर कहा — भाई! ज्ञान, वह आत्मा; देखे, वह आत्मा; आचरण करे – अन्तर में एकाग्र हो, वह आत्मा — ऐसे तीन भेद पाड़कर आत्मा को बतलाया, तो सुननेवाला, सुननेवाला ऐसा पात्र था कि यह सुना और सुनकर अन्तरदृष्टि की। जो इन्होंने बतलाया, वहाँ दृष्टि गयी। ओहो! इस आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अभेदस्वरूप पर उसकी दृष्टि गयी। उस पर दृष्टि जाने से सहज परमानन्ददशा प्राप्त हुई।

अनादि से जो राग और पुण्य, विकार के साथ एकत्वबुद्धि थी, उसमें आकुलता थी। अनादि से पुण्य–पाप के विकल्प, जो राग है, उनके साथ एकत्वबुद्धि थी। उसमें आत्मा का बोध नहीं था, उसमें विकार है, उस पर लक्ष्य था; इससे विकार की एकता में विकार–आकुलता का अनुभव था। वही आत्मा जब अखण्ड अभेद... भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद पर दृष्टि गयी तो अपनी पर्याय में, वर्तमान दशा में जो राग की एकताबुद्धि थी वह, स्वभाव पर दृष्टि गयी तो राग की एकताबुद्धि छूट गयी और स्वभाव के साथ एकता हुई तो आकुलता मिटकर, सम्यग्ज्ञान होकर, सम्यग्दर्शन होकर, स्वरूप में आंशिक स्थिर होकर परमानन्द की शान्ति का–आनन्द का अनुभव हुआ; इसका नाम 'आत्मा जाना' — ऐसा कहा जाता है। समझ में आया ? आहा...हा... ! भाई! कुछ समझ में आता है ? गजब बात! अभी यह बात ऐसी है। अन्दर की मूल चीज चलती नहीं, इसलिए ऊपर–ऊपर से मानो कुछ ले लें। ऐसी चीज है नहीं।

परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल–तीन लोक जाने और सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में जिनकी दिव्यध्वनि निकली। दिव्यध्वनि–आवाज–ॐध्वनि। उसमें यह आया। वह सन्त कहते हैं। समझ में

www.vitragvani.com

आया? भाई! हमारा व्यवहार कहने का प्रयोजन इतना है कि अज्ञानी, अकेला अभेद आत्मा अनादि से अज्ञान के कारण जानता नहीं; इसलिए अभेद में भेद करके, उसमें गुण-गुणी का भेद करके (समझाते हैं)। गुण-गुणी तो अभेद ही है। शक्कर में मिठास और शक्कर दोनों एक ही है, परन्तु मिठास; वह शक्कर — ऐसा भेद करके शक्कर बतलानी है। इसी प्रकार गुण-ज्ञान, दर्शन, आनन्द वे आत्मा से अभेद हैं, परन्तु जो समझता नहीं, उसे बतलाते हैं कि भाई! जाननेवाला, वह आत्मा। जो जानने की क्रिया होती है न, वह आत्मा; श्रद्धा करे, वह आत्मा; देखता है, वह आत्मा; स्थिर होता है, वह आत्मा; परन्तु अभेद आत्मा में ले जाना है। ऐसे भेद करके अभेद को बतलाना — इतना व्यवहार का प्रयोजन है; इसलिए आचार्यों ने व्यवहार का उपदेश दिया है। समझ में आया? बहुत स्पष्टीकरण करते हैं। व्यवहार का प्रयोजन तो भेद पाड़कर बतलाना, इतना है। ऐसा नहीं कहा कि तू पहले व्यवहार कर तो फिर तुझे निश्चय होगा — ऐसे व्यवहार का उपदेश देना है - ऐसी बात नहीं है। समझ में आया?

सहज परमानन्द दशा को प्राप्त होकर.... अब क्या हुआ? देखो! **वह आत्मा को निजस्वरूप से अंगीकार करता है।** जो अनादि से आत्मा को पुण्य-पाप के रागसहित, शरीरसहित, मान्यता में अंगीकार किया था, वह अपना निज स्वरूप, तीन भेद करके अभेद पर दृष्टि की तो **आत्मा को निजस्वरूप से अंगीकार करता है।** देखो! अन्तर शुद्ध चिदानन्दस्वरूप निर्विकल्प परमानन्द वीतराग समरसी प्रभु को **स्वरूप से अंगीकार करता है।** राग से नहीं, भेद से नहीं, निमित्त से नहीं। समझ में आया? भाषा तो बहुत सादी है, हों! भाव ऊँचे हैं, परन्तु भाषा कोई ऐसी नहीं, सादी है, यह हिन्दी भी सादी है। हमारी हिन्दी तुम्हारे जैसी नहीं है। समझ में आया? शोभालालजी! परन्तु कुछ गरज ही नहीं है — आत्मा क्या चीज है? ऐसे के ऐसे अन्ध दौड़ जाता है। जिन्दगी पूरी करके जाए फिर चौरासी के अवतार में।

परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा, जहाँ बड़े सौधर्म और ईशान इन्द्र की उपस्थिति में भगवान की वाणी में आया है। समझ में आया? व्यवहार का उपदेश क्यों दिया? अकेले अभेद को अनादि से समझता नहीं, इसलिए उसे भेद करके बतलाया,

www.vitragvani.com

उतना व्यवहार का प्रयोजन है, परन्तु बतलाना है अभेद। समझ में आया? इस व्यवहार का झगड़ा है। कहो, धर्मचन्दजी! क्या है? व्यवहार बीच में आया या नहीं? व्यवहार के बिना निश्चय होता है? व्यवहार के बिना निश्चय होता है?... बहुत कठिन बात है। यहाँ तो साथ–साथ की बात भी नहीं।

यहाँ तो वस्तु जो अखण्ड आनन्दस्वरूप है, एक स्वरूप है, उस अभेद का जिसे लक्ष्य नहीं है, उसे भेद पाड़कर बतलाया, बस! इतनी बात है। भेद है और अभेद है — ऐसी यहाँ बात नहीं है। भेद से बतलाकर उसे अभेद बतलाया। अभेद पर दृष्टि गयी तो उसे आत्मज्ञान हुआ, तब उसे सम्यग्दर्शन हुआ, बस! इतनी बात है। लोगों को, एक तो फुर्सत नहीं मिलती, फुर्सत हो तो उल्टे रास्ते दौड़ गये। वास्तविक तत्त्व क्या है, (उसका पता नहीं पड़ा)। परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने केवलज्ञान में कैसा आत्मा देखा, कैसा है, कैसा कहा? विधि क्या है? और क्या विधि बतलाते हैं? वह समझा नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि जब अज्ञानी को ऐसा कहा... आहाहा! इतने शब्द! यहाँ तो भाई! आत्मा शब्द से ही बात उठाई है। वस्तु ही यह कहनी है न? 'लाख बात की बात यही निश्चय उर आनो' — छहढाला में आता है। दौलतरामजी की छहढाला है न? छहढाला है। 'लाख बात की बात (यही) निश्चय उर आणो।' भेद करके बतलाया, परन्तु निश्चय लक्ष्य में लेना। भगवान आत्मा एकस्वरूप, दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीन का लक्ष्य करके यहाँ लक्ष्य किया तो भेद का लक्ष्य छूट गया, भेद का लक्ष्य छूट गया। व्यवहार का लक्ष्य छूट गया, तब निश्चय का लक्ष्य हुआ। भेद का लक्ष्य था तो अभेद हुआ—ऐसा भी नहीं रहा। समझ में आया? राजमलजी! भेद का लक्ष्य हुआ, इसलिए अभेद हुआ—ऐसा भी नहीं। भेद के लक्ष्य से अभेद का लक्ष्य किया। ज्ञान, (वह) आत्मा—ऐसे भेद का लक्ष्य छूट गया, तब अकेला अभेद दृष्टि में आया। पहले भेद लक्ष्य में लिया, इसलिए अभेद का लक्ष्य हुआ — ऐसा नहीं। भेद का लक्ष्य समझाने के लिये आता है कि यह ज्ञान, इतना। वह लक्ष्य छोड़कर अभेद में जाता है, तब आत्मा का अनुभव / सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उसे होता है, जो धर्म की पहली सीढ़ी है। समझ में आया? आहा...!

ये जवान, संसार के अभ्यास के लिये, देखो न! कितना सिर फोड़ते हैं न? कितना

www.vitragvani.com

सिर फोड़ते हैं, बी.ए. और एल.एल.बी. के लिये। धूल में भी कुछ नहीं। ऐ...ई...! शान्तिभाई! अज्ञान के लिये इतना सिर फोड़ते हैं न? आत्मा के लिये कुछ मेहनत करे या नहीं? — ऐसा कहना है।५००-१००० (रुपये) वेतन के लिये तो बेचारे मर जाएँ। महीने मासिक एक पाँच सौ मिले, हजार मिले, उसके लिये पढ़ा करे, पढ़ा करे। नींद आवे तो सिर पर चोटी बाँधे। ऐसी पढ़ाई पाप की और फल में पाप तथा पढ़ने के बाद भी पैसा मिले, वह पूर्व का पुण्य होवे तो मिले, कोई पढ़ने से मिलते नहीं। पढ़े बिना भी मिलते हैं। पढ़े बिना के ठोठ विद्यार्थी अभी लोटिया बोरा महीने में पाँच-पाँच लाख की आमदनी करते हैं। उसमें धूल में क्या है? समझ में आया? ऐ...ई! यहाँ कहते हैं — संसार की पढ़ाई के लिये इतना प्रयत्न करता है तो जरा आत्मा के लिये अनन्त काल का परिभ्रमण मिटाना है, चौरासी के अवतार के दुःख का अभाव करना है, सुख की प्राप्ति करनी है — उसका उपाय तो इसे भलीभाँति समझना चाहिए। समझ में आया?

बहुत संक्षिप्त में यह अर्थ भी टोडरमलजी का है न! गाथा अमृतचन्द्राचार्य की और अर्थ टोडरमलजी के। मोक्षमार्गप्रकाशक के करनेवाले हुए न? सुना है? टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक के करनेवाले। अभी जयपुर में पाँच लाख का हॉल हुआ है। टोडरमल स्मृति हॉल। जयपुर में पूरणचन्द गोदिका गृहस्थ है न? उन्होंने बनाया है। हम जानेवाले हैं। फाल्गुन शुक्ल दूज को उद्घाटन है। पाँच लाख का एक हॉल - 'टोडरमल स्मृति हॉल' एक गृहस्थ ने बनाया है। मोक्षमार्गप्रकाशककर्ता टोडरमल बहुत होशियार, बहुत होशियार। उन्होंने यह अर्थ किया है — ऐसा कहना है। यह अर्थ। पहले तो गुजराती में लेते थे। भाई ने कहा कि थोड़ा हिन्दी में लो। थोड़ा, हों! ऐसा बोले। थोड़ा हिन्दी में लो, भाई ने तो ऐसा कहा था कि थोड़ा हिन्दी में लो। मैंने कहा - थोड़ा क्या? पूरा हिन्दी में लिया। समझ में आया? यह हिन्दी है टोडरमलजी की, उसमें से गुजराती बनाया है। क्या कहते हैं? देखो!

वह आत्मा को निजस्वरूप से अंगीकार करता है। देखो! अज्ञानी को आत्मा, भेद से समझाने के पश्चात् भेद का लक्ष्य छोड़कर अन्तर स्वरूप में आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को अंगीकार करता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप को अंगीकार करता है - उसका

www.vitragvani.com

आश्रय करके अनुभव करता है, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है; साथ में स्वरूपाचरण भी प्रगट होता है, साथ में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी (आता है)। आत्मा के भान में–सम्यग्दर्शन में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी साथ में आता है।

इस प्रकार यह सद्भूत–व्यवहारनय का उदाहरण दिया। सद्भूत–व्यवहारनय समझे? अन्दर ज्ञान–दर्शन है न? भेद पड़ा, इसलिए व्यवहार। बाकी है उसमें। ज्ञान, दर्शन, शान्ति उसमें (आत्मा में) है, उसका नाम सद्भूत, परन्तु भेद करके बतलाया, इसलिए व्यवहार। पहले सद्भूत व्यवहार का दृष्टान्त देकर समझाया।

मुमुक्षु : सत्यार्थ कहलाये?

उत्तर : सत्यार्थ नहीं कहलाये; व्यवहार असत्यार्थ है। सद्भूत है न? सत्यार्थ कहलाये या नहीं? — ऐसा कहते हैं। व्यवहार, उसमें है परन्तु व्यवहार भेद है, इसलिए असत्यार्थ है। समझ में आया? सद्भूत व्यवहार भी असत्यार्थ, असद्भूत व्यवहार भी असत्यार्थ। सब उपचरित, अनुपचरित भेद सब असत्यार्थ। भेद कहाँ अन्दर में अभेद है? समझ में आया?

देखो! यह चन्दन की लकड़ी है, चन्दन की। इसमें सुगन्ध, चिकनाहट के भेद हैं इसमें? सुगन्ध और चिकनाहट के भेद हैं? यह तो अखण्ड है। भेद करने बताना, वह भेद असत्यार्थ है; वस्तु अभेद सत्यार्थ है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द एकसाथ हैं, परन्तु भेद करके बताना कि ज्ञान, वह आत्मा; ऐसा भेद करना असत्यार्थ है। समझ में आया? एक दृष्टान्त दिया।

आगे असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण देते हैं। अब दूसरा। पहले सद्भूत का–नजदीक का कहा। अब असद्भूत का दृष्टान्त देकर आत्मा को समझाते हैं। **जैसे मिट्टी के घड़े को....** पहले स्वस्ति का, ब्राह्मण का दृष्टान्त दिया था। म्लेच्छ और ब्राह्मण। सद्भूत व्यवहार नय (के लिये वह दृष्टान्त दिया था)। इसमें घी के घड़े का दृष्टान्त है। **जैसे घृत से संयुक्त मिट्टी के घड़े को....** मिट्टी का घड़ा घी सहित है। उसमें घी भरा हुआ है। **व्यवहार से घी का घड़ा कहते हैं।** है तो मिट्टी का, परन्तु घी के सम्बन्ध से

www.vitragvani.com

घड़े को घी का घड़ा कहते हैं। घी का है नहीं, परन्तु घी का सम्बन्ध है, इसलिए घी का घड़ा कहते हैं।

यहाँ कोई पुरुष जन्म से ही उसको घी का घड़ा जानता है। पहले से घी का घड़ा जानता है; कभी खाली कोरा घड़ा देखा नहीं। घी का घड़ा... घी का घड़ा। घर में होता है न घी का घड़ा? घी की बरनी... घी की बरनी। **जब कोई पुरुष घृत का घड़ा कहकर उसे समझाता है तभी वह समझता है....** उसे घी का ही घड़ा दिखता है। घी से खाली तो कभी देखा नहीं। खाली घड़ा... घड़ा कहे तो समझे नहीं। खाली घड़ा कहे तो फिर कोई कुम्हार का घड़ा समझ जाए। यह घी का घड़ा कहकर मिट्टी का घड़ा समझाना है। **घृत का घड़ा कहकर उसे समझाता है तभी वह समझता है....** भाई! घी का घड़ा घीमय नहीं, मिट्टीमय है। घी का घड़ा, घी के संयोग से, घी के सम्पर्क से, घी के रहने के संयोग से घड़े को घी का कहा, परन्तु घी का घड़ा, घी का घड़ा नहीं है, मिट्टी का है — ऐसा समझाना है।

उससे मिट्टी का घड़ा कहकर सम्बोधन किया जाय तो वह किसी दूसरे कोरे घड़े को समझ बैठता है... देखो! समझे? कोई अकेला मिट्टी का कहे तो कोरा घड़ा समझ ले। **निश्चय से विचार किया जाय तो घड़ा मिट्टी का ही है....** घड़ा तो मिट्टी का है, घी का है? घी का घड़ा कभी बना है? घी का घड़ा कभी बना है? **परन्तु उसको समझाने के लिये 'घृत का घड़ा' कहकर ही सम्बोधन करना पड़ता है।** क्योंकि उसने घी से खाली कोरा घड़ा कभी देखा नहीं था; इसलिए उसे समझाने के लिये घी का घड़ा कहकर मिट्टी का घड़ा समझाना है। **'घृत का घड़ा' कहकर ही सम्बोधन करना पड़ता है।**

उसी प्रकार.... यह दृष्टान्त (कहा)। (अब) सिद्धान्त। **उसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा....** भगवान आत्मा तो चैतन्य - ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वरूप आत्मा है। चैतन्यस्वभाव आत्मा, चैतन्यस्वरूप आत्मा (है।) जैसे वह मिट्टी का घड़ा है, वैसे चैतन्यस्वरूप आत्मा। **कर्मजनित पर्याय से....** जैसे वह मिट्टी का घड़ा, घी के संयोग से था; वैसे अनादि (से) चैतन्यस्वरूप आत्मा, कर्म के निमित्त से **पर्याय से संयुक्त है।**

www.vitragvani.com

कर्म के संयोगसहित है। **उसे व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहते हैं।** कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए देव, मनुष्यपना, देव–आत्मा, मनुष्य–आत्मा, तिर्यंच–आत्मा — ऐसा कहना; घी का घड़ा कहना, वैसे आत्मा को देव–आत्मा, मनुष्य–आत्मा — ऐसी कर्मजनित पर्यायों से उसे बतलाना, ऐसा उसे असद्‌भूत व्यवहारनय से आत्मा को बताते हैं। समझ में आया ? भाई ! यह तो सादी भाषा है, यह कोई बहुत सूक्ष्म नहीं है।

अनादि आत्मा, कर्मजनित पर्याय से; कर्म से उत्पन्न हुई देव, मनुष्य आदि गति है न ? उनसे संयुक्त है, सहित है। **उसे व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहते हैं।** भाई ! यह गाय का आत्मा – ऐसा कहते हैं न ? मनुष्य का आत्मा। मनुष्य, गाय का आत्मा नहीं है; आत्मा तो आत्मा का है। घी का घड़ा नहीं है, घड़ा तो मिट्टी का है, परन्तु घी के संयोग से घड़ा बतलाना है। देखो, यह घड़ा ! इसी प्रकार यह गाय का आत्मा, देखो ! यह भैंस का आत्मा, देखो ! यह अश्व का आत्मा। अश्व और भैंस तो पुद्‌गल है, उनका आत्मा है ? आत्मा तो भिन्न है, परन्तु उसने भिन्न कभी देखा नहीं तो उसे कर्मजनित संयोग पर्याय से बताते हैं। भाई ! देव, वह आत्मा; मनुष्य, वह आत्मा; यह स्त्री का आत्मा; यह पुरुष का आत्मा — ऐसा कर्मजनित पर्याय बताकर कहते हैं।

अज्ञानी जीव अनादि से उस आत्मा को देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जानता है। अनादि से ऐसा ही जानता है, लो ! आत्मा अर्थात् यह देव, यह मनुष्य आत्मा। देव–मनुष्य तो जड़–मिट्टी है। आत्मा तो भिन्न है। यह (शरीर) तो मिट्टी है, धूल है। सत्य बात होगी ? यह तो माँस और हड्डियों का पुतला है। अन्दर भगवान आत्मा तो अरूपी आनन्दकन्द चैतन्यस्वरूप है; भिन्न है परन्तु कभी भिन्न देखा नहीं। संयोग से देखता है, इसलिए संयोग से समझाया है कि देख भाई ! देव, वह आत्मा। आत्मा वापस देव नहीं, हों ! देव, वह आत्मा। देव, आत्मा नहीं, मनुष्य, वह आत्मा परन्तु आत्मा मनुष्य नहीं। घी का घड़ा कहा; घड़ा घी का नहीं, घड़ा तो मिट्टी का है। समझ में आया ?

निश्चय से विचार करें तो आत्मा.... देखो ! **आत्मा को देव, मनुष्य इत्यादि स्वरूप ही जानता है। जब कोई उसे देव, मनुष्य वगैरह नाम से संबोधित करके समझावे तभी समझ पाता है और यदि आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे...** पहला

www.vitragvani.com

कोरा घड़ा कहा न? कोरा घड़ा। **आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे**... चैतन्यस्वरूप आत्मा, वह तो परमेश्वर हुए, कोई ईश्वर होगा, कोई परमेश्वर होगा। यह चैतन्यस्वरूप आत्मा है — ऐसा वह नहीं समझता। **आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे तो अन्य किसी परमब्रह्म परमेश्वर को समझ बैठता है।** और सीधे आत्मा समझे नहीं। चैतन्यस्वरूप आत्मा न समझे कि मैं चैतन्यस्वरूप — ऐसा न समझे। देव, वह आत्मा; मनुष्य, वह आत्मा; पर्याप्त, वह आत्मा - ऐसा कहा। समझ में आया?

निश्चय से विचार करें तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है.... जैसे निश्चय से विचार करे तो घड़ा तो मिट्टी का है। घी के संयोग से मिट्टी का घड़ा बतलाया है, क्योंकि अकेला घड़ा नहीं समझता इसलिए। इसी प्रकार देव, मनुष्य आदि पर्याय बतायी कि यह आत्मा। तेरा लक्ष्य आत्मा पर जाना चाहिए; देव, मनुष्य से हटना चाहिए। देव, मनुष्य कहे तो वह समझ जाए परन्तु यदि चैतन्यस्वरूप कहे तो वह समझ नहीं सकता; किसी परम ब्रह्म आत्मा को समझ ले। **निश्चय से विचार करें तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है....** देखो! भगवान आत्मा तो चैतन्य — ज्ञान-दर्शन का सूर्य है। आहाहा! आत्मा अर्थात् ज्ञान। ज्ञान-दर्शन के सूर्यस्वरूप है। राग, शरीर, कर्मस्वरूप आत्मा है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

आबालगोपाल — बालक से लेकर वृद्ध, पशु से लेकर स्वर्ग, सब अन्तर आत्मा जो है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है; जानन-देखन स्वभावस्वरूप आत्मा है। राग, शरीर, कर्मस्वरूप आत्मा है ही नहीं; परन्तु सीधे नहीं समझे, उसे देव, मनुष्य कहकर बतलाया। देव, मनुष्य का लक्ष्य छोड़कर आत्मा का लक्ष्य करना। समझ में आया? **परन्तु अज्ञानी को समझाने के लिये आचार्यदेव गति, जाति आदि के भेद द्वारा जीव का निरूपण करते हैं।** देखो! यह चार गति के नारकी का जीव, मनुष्य का जीव, देव का जीव, पशु का जीव। जाति-पंचेन्द्रिय जाति, चउ इन्द्रिय जाति... चार जाति बताते हैं न? ऐसे **भेद द्वारा जीव का निरूपण करते हैं।**

इस तरह अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये.... बस! इतना हेतु है। उसके आत्मा का सम्यग्ज्ञान हो, इसके लिये अन्तर गुणभेद करके बताया और

www.vitragvani.com

कर्मजनित पर्याय के भेद करके आत्मा को बताया। बस! इतना हेतु है। **कराने के लिये आचार्य महाराज व्यवहार का उपदेश करते हैं।** यह एक प्रश्न का उत्तर दिया। महाराज! तुम निश्चय को सत्य कहते हो और व्यवहार को झूठ कहते हो तो व्यवहार का उपदेश करने का कारण क्या? — ऐसा शिष्य का प्रश्न था। उसके उत्तर में दो दृष्टान्त देकर सिद्ध किया। स्वस्ति कहते हैं तो स्वस्ति का अर्थ वह म्लेच्छ समझता नहीं तो 'तेरा भला हो, तेरा भला हो' — ऐसा कहा। इसी प्रकार आत्मा अकेले अभेद को समझता नहीं, उसे 'ज्ञान-दर्शन-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा' — ऐसा भेद करके बताना — इतना व्यवहार का प्रयोजन है और दूसरा, कर्मजनित पर्यायरहित अकेला आत्मा उसने कभी देखा नहीं, तो कर्मजनित पर्याय का लक्ष्य करके बताया कि यह राग, वह आत्मा, द्वेष (वह) आत्मा। आत्मा, हों! रागवाला आत्मा, द्वेषवाला आत्मा, देव-आत्मा। आत्मा, रागवाला नहीं, द्वेषवाला नहीं — ऐसा समझाना है। समझ में आया? यह क्रूरता नहीं करते? क्रूर आत्मा — ऐसा कहते हैं न? क्रूरता तो विकार है। वह विकार, आत्मा नहीं। पीछे आत्मा है, उसे समझाना है। फिर क्रूरता का लक्ष्य छोड़कर आत्मा का लक्ष्य करने के लिये बताया है। समझ में आया? भाई! माँगीरामजी! अरे...अरे...! ऐसी बातें हैं।

अब, दूसरा बोल। एक बोल का उत्तर कहा। छठवीं गाथा कहने से पूर्व दो प्रश्न उठाये थे। महाराज! आप निश्चय को सत्यार्थ कहते हो, व्यवहार को असत्यार्थ कहते हो तो व्यवहार-असत्यार्थ (को) कहने की जरूरत क्या है? और जो व्यवहार को जानता है, हम व्यवहार कहते हैं, परन्तु उसे ही निश्चय जाने तो वह उपदेश के योग्य नहीं है। एक का उत्तर दिया कि देख भाई! अज्ञानी आत्मा को भेद करके समझाना और संयोगजनित पर्याय से समझाना — इतना व्यवहार का प्रयोजन है। समझाना तो है चैतन्यमूर्ति भगवान। अकेले चैतन्यस्वरूप आत्मा को कभी पहिचाना नहीं तो भेद का लक्ष्य कराकर अभेद में ले जाते हैं — इतना प्रयोजन है।

अब कहते हैं, हम जब उसे व्यवहार से समझाते हैं **केवल व्यवहार... 'एवं अवैति'** परन्तु वह अकेले व्यवहार को ही जानता है। देखो! अब यहाँ लिया; व्यवहार से

www.vitragvani.com

समझाया — ऐसा कहा, परन्तु व्यवहार से हम कहते हैं, परन्तु सुननेवाला व्यवहार को ही निश्चय मान ले कि देखो! तुमने कहा था या नहीं? घी का घड़ा कहा था। घी का घड़ा है या नहीं? घी का घड़ा है ही नहीं। तुमने कहा था या नहीं? गति जीव, यह जीव... परन्तु हमने गति आदि जीव कहा, वह गति से उठाकर जीव की दृष्टि कराने को कहा था; गति में रखने के लिये नहीं कहा था।

केवल व्यवहार... 'एवं अवैति' 'अवैति' अर्थात् श्रद्धा करता है, जानता है। हमारे कहने का आशय तो अभेद निश्चय का है। व्यवहार बताकर, बतलाना है निश्चय; परन्तु सुननेवाला अकेले व्यवहार को ही यथार्थ मान ले, व्यवहार बताया, उसे ही यथार्थ मान ले... गति, वह जीव; जाति, वह जीव; भेद, वह जीव; भेद, वह अखण्ड जीव — ऐसे व्यवहार को ही (निश्चय) मान ले... **केवल व्यवहार...** गाथा में बहुत अलौकिक बात है। व्यवहार कहने का हेतु बतलाया; वह व्यवहार कहने से शिष्य, व्यवहार को पकड़ ले और व्यवहार को छोड़कर निश्चयदृष्टि में न जाए तो ऐसे व्यवहार के माननेवाले को उपदेश लागू नहीं पड़ता; क्योंकि हमें तो निश्चय समझाना है, परन्तु जहाँ व्यवहार आया तो व्यवहार पकड़ लिया कि देखो! आया या नहीं? आया या नहीं? धर्मचन्दजी! गजब बात, भाई! मनुष्य, देव कहा नहीं था? मनुष्य का जीव नहीं कहा था? स्त्री का जीव, पुरुष का जीव, आदमी का जीव, महिला का जीव... परन्तु स्त्री-पुरुष का जीव तो जीव का है; स्त्री-पुरुष का कहाँ जीव है? यह तो तुझे समझाया था, उसे पकड़ लिया। व्यवहार से समझाया और जहाँ व्यवहार सुना और व्यवहार को ही परमार्थ मान लिया, वह सुनने के योग्य नहीं है। हमें निश्चय बताना है तो व्यवहार को ही पकड़ लिया तो निश्चय समझने के योग्य ही नहीं है।

केवल व्यवहार... 'एवं अवैति' 'अवैति' अर्थात् जानता है। **'देशना नास्ति' जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है,....** केवल व्यवहार अर्थात्? व्यवहार का ज्ञान रखे, फिर निश्चय की ओर जाए, वह ठीक है परन्तु **जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है,.... 'अवैति'** का अर्थ यह, श्रद्धान-जानना। **जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है, उसके लिए उपदेश नहीं है।** देखो! कितने

www.vitragvani.com

न्याय देते हैं। आहाहा! भाई! क्या कहें? व्यवहार असत्यार्थ है – झूठा है। वास्तविक तत्त्व व्यवहार नहीं कहता, परन्तु भेद करके बतलाने में है परन्तु जहाँ वाणी में आया, उसे ही पकड़कर कहे कि तुम भी 'व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा कहते थे।' व्यवहार से निश्चय कहते थे। तो पहले व्यवहार पकड़ लिया। हमारे उपदेश कहने का जो फल होना चाहिए था, वह हुआ नहीं; तू सुनने के योग्य नहीं है। जो व्यवहार को ही मानता है, वह निश्चय सुनने के योग्य नहीं है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पाठ है, हों! मूल पाठ है, देखो!

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।६।।

भेद और संयोग से आत्मा को बतलाने के लिये व्यवहार आता है। बतलाने के लिये, हों! उस वस्तु को समझाने के लिये (व्यवहार आता है), परन्तु व्यवहार को ही पकड़ ले (कि) देखो! आया या नहीं? — ऐसे व्यवहार को ही निश्चय मान ले और व्यवहार से निश्चय होता है — ऐसा मान ले तो वह सुनने के योग्य नहीं है। हमारा जो कहने का आशय है, उसे समझने के योग्य नहीं हुआ। हमारे व्यवहार से निश्चय समझाना है, यह आशय था। वहाँ व्यवहार को ही पकड़ लिया तो सुनने के योग्य नहीं है। ना करते हैं, तू सुनने के योग्य नहीं है। समझ में आया? **उसके लिए उपदेश नहीं है।**

भावार्थ : निश्चयनय के श्रद्धान बिना केवल व्यवहारमार्ग में ही प्रवर्तन करनेवाले.... देखो! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के सम्यग्दर्शन–ज्ञान बिना **केवल व्यवहारमार्ग में ही प्रवर्तन करनेवाले....** अकेले पुण्य — दया, दान, व्रत, विकल्प आदि में प्रवर्तता है, **मिथ्यादृष्टियों के लिये उपदेश देना निष्फल है।** क्योंकि व्यवहार को ही सब मानता है। आहाहा! गाथा बहुत सरस! देखो न! यह चरणानुयोग का अधिकार है। श्रावक का अधिकार कहने से पहले शुरुआत में यह बात उठाई है। श्रावक होने से पहले उसे सम्यग्दर्शन होना चाहिए। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक नहीं हो सकता। वह सम्यग्दर्शन, शुद्ध चैतन्यस्वरूप की अन्तर अनुभवदृष्टि करने से होता है। समझ में आया? व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर, चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन

www.vitragvani.com

होता है। ऐसा नहीं मानकर **केवल व्यवहारमार्ग में ही प्रवर्तन करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के लिये उपदेश देना निष्फल है।**

आगे केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का कारण बताते हैं :– क्यों व्यवहार को मान लेता है? अकेले व्यवहार को क्यों मान लेता है? हमने जहाँ व्यवहार की बात की, बिल्ली को सिंह बताया, बिल्ली... बिल्ली। सिंह ऐसा होता है, ऐसा क्रूर, ऐसा पंजा होता है, तो बिल्ली को ही सिंह मान लिया। इसी प्रकार व्यवहार से निश्चय बताया तो व्यवहार को ही मान लिया। ऐसा जीव सच्चे उपदेश के योग्य नहीं है। यह गाथा कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९ गाथा-६-७ गुरुवार, माघ कृष्ण १०, दिनांक ०५.०१.१९६७

अमृतचन्द्राचार्य। छठवीं गाथा है। छठवीं गाथा है और नय का अधिकार चलता है। निश्चय और उपचार अर्थात् निश्चय और व्यवहार, उनका जिन्हें ज्ञान है — ऐसे आचार्य, अनादि के अज्ञान का नाश करने में निमित्त हैं। यह निश्चय और व्यवहार दोनों का जाननेवाला तीर्थ का प्रवर्तन कर सकता है। फिर कहा कि वस्तु क्या? निश्चय, भूतार्थ है और व्यवहार, अभूतार्थ है। आत्मा का अभेद स्वभाव, वह भूतार्थ है, शेष सब अभूतार्थ है। व्यवहार उसे बताता अवश्य है परन्तु वह व्यवहार स्वयं अभूतार्थ है। इसका अर्थ हुआ कि '**भूतार्थ बोध विमुख संसार**' स्वभावसन्मुख के बोध से रहित, शुद्धस्वभाव के बोधरहित, अकेले व्यवहार के बोधवाला, वह संसार ही है। समझ में आया? इसका अर्थ यह हुआ कि भूतार्थ-विमुख, वह संसार और भूतार्थ-सन्मुख, वह मोक्ष। त्रिकालस्वरूप भूतार्थ अभेद, विकार से रहित का आश्रय कहो या सन्मुखता कहो। उसके सन्मुख है, वह मोक्ष के मार्ग में है। समझ में आया? उससे एकान्तरूप विपरीत व्यवहार से माननेवाले, वह अभिप्राय तो एकदम संसार है, ऐसा पाँचवीं (गाथा में) कहा।

तब कहते हैं, व्यवहार किसलिए कहते हैं? अज्ञानी, अकेला भिन्न आत्मा नहीं समझता, उसे जानने में नहीं आया। जो भूतार्थ वस्तु है; जो रागरहित, पर के सम्बन्ध रहित

www.vitragvani.com

ऐसी चीज इसके ज्ञान में अनादि से अज्ञानी को आयी नहीं; इसलिए उसे व्यवहार से भेद पाड़कर देव आदि के सम्बन्ध से उसके जीव की पहिचान–अभेद की (पहिचान) बताते हैं। समझ में आया? बताना है तो अभेदस्वरूप भूतार्थ, परन्तु अकेला आत्मा, रागरहित (आत्मा) कभी इसने देखा नहीं, जाना नहीं, माना नहीं, पहिचाना नहीं; इसलिए इसे भेद करके 'दर्शन–ज्ञान–चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा' — इतना भेद पाड़कर समझाया है। यह भेद, व्यवहार है। समझाया है अभेद; अभेद का आश्रय लेने के लिये; अभेद के सन्मुख होने के लिये व्यवहार का उपदेश है। व्यवहार का उपदेश, व्यवहार के सन्मुख रहने का नहीं है। समझ में आया?

शुरुआत से ही बहुत वर्णन किया। देखो! चौथी, पाँचवीं, छठवीं (गाथा)। वस्तु, भगवान आत्मा भूतार्थ से सन्मुख है। भूतार्थस्वभाव ज्ञायकभाव के सन्मुख है, वह मार्ग में है; उसे फिर विकल्प आदि होते हैं, उनका वह जाननेवाला है, परन्तु धर्मी जीव का सन्मुखपना स्वभावसन्मुख होता है। समझ में आया? इसलिए छठवीं (गाथा) में कहा कि वर्णन भेद से उसे कहा, परन्तु उसे कहना है कि यह वस्तु जो अभेद है, उसके सन्मुख हो। भेद से कहा है, उसकी सन्मुखता छोड़ दे। समझ में आया? और भेद से कहते ही वह यदि अकेले भेद को ही पकड़े, वहाँ से निश्चय का लाभ बताया था न! वह भी कुछ लाभदायक है या नहीं? — ऐसा करके वह व्यवहार को ही पकड़े (तो) कहते हैं कि उसे देशना / उपदेश के योग्य नहीं है। जो हेतु कहना था, वह हेतु पकड़ता नहीं और जहाँ व्यवहार द्वारा कहा, वहाँ उसे पकड़ा; कहने का आशय तो अभेद को है। समझ में आया?

देखो! इस श्रावक के अधिकार से पहले उसे इस वास्तविक भूतार्थ के सन्मुख बोध होता है और अभूतार्थ का उसे ज्ञान होता है। समझ में आता है न? यह आठवीं गाथा में कहेंगे। पहले चौथी गाथा में कह गये है (कि) उसे दोनों का ज्ञान होता है। आठवीं में कहेंगे कि शिष्य को भी दो का ज्ञान होता है – ऐसा कहेंगे। सुननेवाले को भी आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति के सन्मुख का बोध और व्यवहार है, उसका भी उसे ज्ञान होना चाहिए कि व्यवहार है, तो वह शिष्य सुनने के (देशना के) योग्य है। समझ में आया? कहनेवाले की योग्य की बात तो पहले आ गयी। भूमिका बहुत सरस बाँधी है, आठ गाथाओं द्वारा। देखो!

www.vitragvani.com

अन्तिम शब्द आया, भावार्थ का-छठवीं (गाथा) का, **निश्चयनय के श्रद्धान बिना केवल व्यवहारमार्ग में ही प्रवर्तन करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के लिये उपदेश देना निष्फल है।** जो अभेदस्वरूप के सन्मुख (होने के) लिये उपदेश किया था, उस उपदेश का आशय पकड़ा नहीं, उपदेश को पकड़ा। देखो! व्यवहार आया या नहीं? व्यवहार से कुछ लाभ है या नहीं पचास प्रतिशत? शोभालालजी! व्यवहार का पचास प्रतिशत, निश्चय के पचास प्रतिशत — ऐसा है या नहीं? भाई! यह तो व्यवहार-भेद पाड़कर समझाने का हेतु तो अभेद में सन्मुख होने के लिये है। समझ में आया? आहाहा! गजब.. भूमिका ही आठ गाथाओं में ऐसी बाँधी है न...! यह बात न समझे और व्यवहार से जहाँ कथन आवे, भेद से कथन आवे, संयोग के कथन से, उसे आत्मा को समझावे, उसे — भेद, संयोग को ही मान ले तो जो आशय कहना था, वह समझे नहीं तो उसे उपदेश किस प्रकार देना? समझ में आया? वह उपदेश के योग्य नहीं है। अब, ७ वीं में कहते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - ७

आगे केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का कारण बताते हैं–

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।।७।।

जिसे शेर का ज्ञान नहीं वह बिल्ली को ही सिंह जाने।
निश्चय से अनजान जीव व्यवहार–कथन निश्चय माने।।७।।

अन्वयार्थ : (यथा) जिस प्रकार (अनवगीत सिंहस्य) सिंह को सर्वथा न जाननेवाले पुरुष के लिये (माणवकः) बिलाव (एव) ही (सिंहः) सिंहरूप (भवति) होता है, (हि) निश्चय से (तथा) उसी प्रकार (अनिश्चयज्ञस्य) निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये (व्यवहारः) व्यवहार (एव) ही (निश्चयतां) निश्चयपने को (याति) प्राप्त होता है।

टीका : 'यथा हि अनवगीतसिंहस्य माणवक एव सिंहो भवति' – जिस प्रकार निश्चय से (वास्तव में) जिसने सिंह को नहीं जाना है, उसके लिये बिलाव ही सिंहरूप होता है तथा 'अनिश्चयज्ञस्य व्यवहारः एव निश्चयतां याति' – उसी प्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसको व्यवहार ही निश्चयरूप हो जाता है अर्थात् वह व्यवहार को ही निश्चय मान बैठता है।

भावार्थ : जैसे बालक, सिंह को न पहचानता हुआ बिलाव को ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप को न पहचानता हुआ व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। उसका स्पष्टीकरण करते हैं। जो जीव अपने शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप मोक्षमार्ग को नहीं पहचानता, वह जीव व्यवहारदर्शन, ज्ञान, चारित्र का साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है। अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दयाधर्म का श्रद्धान करके अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानता है और

www.vitragvani.com

किंचित् जिनवाणी को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रिया का साधन करके अपने को चारित्रवान मानता है। इस प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर, शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी है; इसलिए केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है। अत: उसे उपदेश देना निष्फल है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है तो फिर कैसे गुण-संयुक्त श्रोता चाहिए? इसका उत्तर आगे देते हैं।

गाथा ७ पर प्रवचन

आगे केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का कारण बताते हैं- हेतु क्या है? शिष्य व्यवहार को ही पकड़ता है। समझ में आता है न? इसलिए वह उपदेश के योग्य नहीं है — ऐसा कहने का आशय क्या है? यह सातवीं गाथा में कहते हैं। क्रमसर गाथा में ली हैं, हों!

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।।७।।

समझ में आया? क्या कहते हैं? **जिस प्रकार सिंह को सर्वथा न जाननेवाले पुरुष के लिये बिलाव ही सिंहरूप होता है,....** बिलाव को सिंह बतलाया कि सिंह कैसा होता है? कि देख, यह क्रूर जिसने नख हों, ऐसे काले बाल हों, और बड़ी पूंछ हों और बिल्ली के मुँह पर और काले काँटे हों, ऐसी क्रूरता हो और जिसके नख हों। ऐसा बताया, ऐसा सिंह। वहाँ उस बिल्ली को सिंह मान लिया। बिल्ली, बिलाव, बिलाव, हमारे (गुजराती में) मींदड़ी कहते हैं। बिल्ली... बिल्ली... बिलाव है न इसमें? बिलाव कहो या बिल्ली कहो या मींदड़ी कहो! हमारे काठियावाड़ में मींदड़ी (कहते हैं)।

मुमुक्षु : उससे कुछ मिलता तो है न?

उत्तर : कुछ मिलता नहीं जरा भी। यह तो उसे बताकर वहाँ ले जाना है। 'मींदड़ी बाघ तणी मासी' — ऐसा आता है, काठियावाड़ में आता है ऐसा। बाघ नहीं।

कहते हैं **सिंह को सर्वथा...** बिल्कुल **न जाननेवाले....** ऐसे पुरुष को मींदड़ी-

www.vitragvani.com

बिल्ली से बतलाया कि देख, यह सिंह ऐसा होता है। **सिंहरूप होता है,....** कहा था न एक बार ? ....लड़का, हाथी को नहीं जानता था, फिर उसे हाथी नहीं बताना था, उसे मच्छर बताना था, मच्छर। इतने पैर लम्बे करके बताया कि देख, मच्छर ऐसा होता है। मच्छर तो इतना (छोटा–सा) होता है, परन्तु वह लम्बे पैर करके उसे पैर की रेखाएँ बताने को नीचे से चौड़ी, अन्दर बारीक बताने को लम्बे चार पैर करके मच्छर बताया... देख, ऐसा मच्छर होता है। उसमें गाँव में हाथी आया, वह लड़का कहता है — लो, साहब! यह मच्छर आया। मच्छर को बड़ा लम्बा करके बताया, मच्छर का यथावतरूप बताने को; वहाँ उस मच्छर को वह हाथी मान लिया। जो बड़े चार पैर लम्बे और इसमें भी लम्बे थे, हों! मैंने चित्र ऐसे ठीक से देखा था, वहाँ नहीं था ? विद्यालय में था। ऐसे लम्बे पैर चार, उसके सब निचले पैर जरा चौड़े बताने को, रोम बताने के लिये बड़े किये। (लड़का कहे) – लो, साहेब लो! हाथी आया। देखा ? ...कि आपने नहीं बताया था ? परन्तु वह तो मैंने मच्छर बताया था, मैंने तो मच्छर को बड़ा करके बताया था, मच्छर के रूप का यथावत् ज्ञान कराने को। यह हाथी ऐसा मच्छर नहीं है, यह तो हाथी है। इसी तरह बिल्ली का रूप बताकर, सिंह ऐसा होता है — ऐसा बताने से बिल्ली को ही वह सिंह मान लेता है।

निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये.... देखो! **उसी प्रकार....** इसका दृष्टान्त। निश्चयनय के स्वरूप, **'अनिश्चयज्ञस्य'** जिसे निश्चय का भान नहीं कि वस्तु अभेद चैतन्यस्वरूप का ज्ञान, वह ज्ञान; उसकी श्रद्धा, वह श्रद्धा और उसके स्वरूप में रमना, वह चारित्र। ऐसे वस्तु के अभेद चैतन्यस्वरूप परमानन्द का जिसे ज्ञान नहीं है, उसकी जिसे श्रद्धा नहीं है, उसकी जिसे अन्तर रमणता नहीं है अथवा उसका ज्ञान ही नहीं है।

अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है। उसे तो इस व्यवहार से समझाया तो व्यवहार, निश्चय हो गया। भेद करके समझाया तो भेद ही निश्चय हो गया। देह से आत्मा कहा, देह से; यह देव, वह आत्मा; मनुष्य,वह आत्मा (तो) देव और मनुष्य ही आत्मा हो गया। कहो, समझ में आया ? कहते हैं, वह अज्ञानी तो देशना के भी योग्य नहीं है। यह ऊपर छठवीं (गाथा) में आ गया। कहो, समझ में आया इसमें ?

www.vitragvani.com

टीका : 'यथा हि अनवगीतसिंहस्य माणवक एव सिंहो भवति'-जिस प्रकार निश्चय से (वास्तव में) जिसने सिंह को नहीं जाना है, उसके लिये बिलाव ही सिंहरूप होता है.... बिलाव, बिल्ली। कहो! **'अनिश्चयज्ञस्य व्यवहार: एव निश्चयतां याति'** इसका दृष्टान्त है; यह सिद्धान्त है। **उसी प्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है,...** कि भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध के सन्मुख होना, वह निश्चय। वैसे सन्मुख से जिसने आत्मा को जाना नहीं। अभेद अखण्ड ज्ञायकमूर्ति चैतन्यज्योति पूर्ण है। ऐसे **निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसको व्यवहार ही निश्चयरूप हो जाता है....** उसे तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति परिणाम, इससे यह बताया कि लो! यह करनेवाला, वह आत्मा; यह आत्मा। यह नहीं, हों! यह आत्मा। वहाँ उसे वही सर्वस्व हुआ — यह दया ही आत्मा हो गया। दया के भाववाला, वह आत्मा — ऐसा कहा; बतलाना है आत्मा। दया के भाव में रोकना नहीं, परन्तु वहाँ दया का भाव, वह आत्मा। दया के भावसहित, वह आत्मा। आत्मा में तो... दया का भाव ही आत्मा हो गया उसे। ऐसा हो गया कि यह। कहो, माँगीरामजी! क्या हुआ है ? ऐसा हुआ है या नहीं ?

आत्मा में यह राग होता है। दया का, महाव्रत आदि का आत्मा को राग होता है। ऐसा कहकर 'राग, वह आत्मा' — ऐसा बताना नहीं है परन्तु 'रागरहित, वह आत्मा', वह यह आत्मा — ऐसा आत्मा अभेद बताना था राग से भिन्न। उसके बदले राग को ही आत्मा मान लेता है। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा इससे (बताया), देखो भाई! ऐसा जहाँ निमित्त हो, वहाँ अन्दर अभेद सन्मुख की दृष्टि हो, उसे ऐसा व्यवहार कहने में आता है। उसे पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण का राग — ऐसी जहाँ आगे निमित्तता हो, उसे अन्दर में नैमित्तिकता शुद्ध के स्वभाव की सन्मुखता की दृष्टि, ज्ञान और चारित्र होता है — ऐसा बताना था। वह आया था न ? प्रवचनसार की गाथा में! ***'द्रव्य अनुसारी चरणम् चरणं अनुसारी द्रव्यं, द्रव्यं अनुसारी चरणं, चरणं अनुसारी द्रव्यं।'*** उससे कहा कि भाई! द्रव्य के अनुसार चारित्र होता है। अर्थात् ? कि जो शुद्धस्वभाव को अनुसरण कर — सन्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र किये हैं, उसे ऐसे ही पंच महाव्रत के, अट्ठाईस मूलगुण आदि के परिणाम होते हैं। 'दव्वस अनुसं चरणं' और 'चरण अनुसार द्रव्यम्' और

जिसे अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत के परिणाम, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान हो, वहाँ आगे निश्चय ऐसा होता है। अभेद त्याग ऐसा होवे। उससे निमित्त ऐसा होवे, वहाँ नैमित्तिक ऐसा होता है — ऐसा बताने पर निमित्त को ही चिपट पड़ा। समझ में आया?

उसी प्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसको व्यवहार ही निश्चयरूप हो जाता है अर्थात् वह व्यवहार को ही निश्चय मान बैठता है। बताया कि देखो! ऐसे चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को स्वभावसन्मुखता की दृष्टि, ज्ञान और आंशिक रमणता हुई है, वहाँ उसे भाव होवे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का भाव, दया-दान का भाव, परमात्मा की भक्ति का भाव इत्यादि भाव होते हैं। वह भाव हो, वहाँ उसके सामने स्वभावसन्मुख के निश्चय दृष्टि, ज्ञान और रमणता होती है — ऐसा बताने पर वह पड़ा रहा, रह गया यह। निश्चय पड़ा रहा और व्यवहार रह गया। समझ में आया? यह रह गया (कि) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह समकित। अन्दर यह स्पष्टीकरण करेंगे, हों! और शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान; पंच महाव्रत के परिणाम, वह चारित्र, हो गया वहाँ। बताना था कि जिस-जिसको आत्मा के शुद्ध परमानन्द द्रव्यस्वभाव के सन्मुख जिसकी दृष्टि, ज्ञान, रमणता हुई है, उसे भूमिका प्रमाण में ऐसा व्यवहार होता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, शास्त्र का ज्ञान होता है — ऐसा बताने पर वह इसे ही व्यवहार और निश्चय मान बैठा कि यदि यह व्यवहार पहले आवे (तो) फिर निश्चय हो, ऐसा। वह कहा था या नहीं व्यवहार समझाने के लिये? इसलिए पहले व्यवहार, उसका फल निश्चय। वह अज्ञानी, व्यवहार को ही निश्चय मानकर बैठा है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? समझना, समझना और समझना।

भावार्थ : जैसे बालक, सिंह को न पहचानता हुआ बिलाव को ही सिंह मान लेता है,.... बिल्ली को सिंह मानता है।

मुमुक्षु : बड़े ने कहा है न?

उत्तर : बड़े ने कहा है क्या? उसने कहा कि सिंह ऐसा होता है, देख! सिंह ऐसा होता है, सिंह ऐसा होता है — इस प्रकार उसने कहा कि सिंह ऐसा होता है। ऐसा होता है, वहाँ वही मान बैठा। देख, निश्चय में व्यवहार ऐसा होता है। निश्चय जहाँ सम्यक्

www.vitragvani.com

सन्मुख दृष्टि आत्मा की हुई है, उसे व्यवहार ऐसा होता है; पाँचवाँ (गुणस्थान में) ऐसा व्यवहार होता है; छठवें (गुणस्थान में) ऐसा होता है, उसे ऐसा निमित्त होता है। वहाँ उसे चिपट पड़ा कि यह ही है — ऐसा कहते हैं। न्यालभाई! यह आश्रय, भाई! आ गया, हों! भूतार्थ विमुख में, भूतार्थ से विमुख कहा तो भूतार्थ के सन्मुख होना, इसमें आ गया। समझ में आया?

वस्तु अभेद चैतन्य प्रभु के सन्मुख, वह भूतार्थ और उससे विमुख अकेले व्यवहार और निमित्त का ज्ञान, वह संसार है, संसार है। इससे विपरीत, वह मोक्ष है। इसका अर्थ। समझ में आया? क्योंकि आत्मा अत्यन्त मुक्तस्वरूप ही है। उसका स्वरूप ही मुक्त है। उस मुक्तस्वरूप के सन्मुख दृष्टि, ज्ञान और चारित्र — यह इसका यथार्थ भूतार्थ भाव है। इस भाव की पहिचान कराने को उस व्यवहार से बात की, तब व्यवहार को ही चिपट पड़ा। बिल्ली, सिंह हो गयी, बिल्ली, सिंह हो गयी।

उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप को न पहचानता हुआ.... भगवान आत्मा परमार्थभूत चिद्घन, आनन्दकन्द पूर्ण आनन्द का रूप, ऐसा जो अभेदस्वरूप भगवान आत्मा का (स्वरूप), उसे तो पहिचानता नहीं। **व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है।** इससे पहले विकल्प आये कि इसे ऐसा व्यवहार होता है, ऐसा इसे व्यवहार होता है, निश्चयवाले को ऐसा व्यवहार होता है तो उस व्यवहार को निश्चय मान बैठा। व्यवहार है, इसे करते-करते हमारे निश्चय होगा। उसे सीधे निश्चय का कारण मान बैठा। समझ में आया? ऐसा आता है, हों! कारण और हेतु और सब। वह तो व्यवहारनय का कथन है। उसे छोड़कर स्वरूप के सन्मुख दृष्टि, ज्ञान करे तो शेष रहे हुए राग को व्यवहार कहा जाए — ऐसा है, भाई! बहुत यह... यह स्पष्टीकरण तो बहुत (सरस है।) पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में तो बहुत सरस स्पष्टीकरण किया है। प्राय: भूतार्थ से विमुख बोध, वह संसार और उस व्यवहार को पकड़कर ऐसा माने कि यह निश्चय है तो वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसे तो सीधा स्पष्टीकरण किया है। समझ में आया?

वही बताते हैं... निश्चय के स्वरूप को पहिचानता नहीं और व्यवहार को निश्चय मानता है, वही बताते हैं। **जो जीव अपने शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के....** देखो!

www.vitragvani.com

यह भूतार्थ वस्तु। **जो जीव अपने....** वापस अपने; परमेश्वर के, दूसरे के–उसके नहीं। **अपने शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के....** अपना शुद्धस्वरूप, चैतन्य शुद्धस्वरूप, अपना चैतन्य शुद्धस्वरूप आत्मा; उसे आत्मा कहा। उसका **श्रद्धान,....** देखो! उस भूतार्थ का श्रद्धान। अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान एकरूप वस्तु का श्रद्धान। देखो! उस भूतार्थ का श्रद्धान, उसका ज्ञान, उस अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ज्ञान। भाषा देखो! बहुत सरस लिखा है।

अपने जीव की अपनी, **अपने शुद्धचैतन्यरूप आत्मा के श्रद्धान,...** अपने शुद्धस्वरूप आत्मा का **ज्ञान,....** और अपने शुद्धस्वरूप आत्मा का **आचरणरूप मोक्षमार्ग को नहीं पहचानता,....** ऐसे मोक्षमार्ग को जानता नहीं। मोक्षमार्ग तो यह है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा वस्तु — अस्ति भाव, वस्तु में अस्ति भाव। भूतार्थ है न? भूत – अस्ति, अर्थ–भाव। अस्ति अर्थात् होनेरूप भाव। भगवान आत्मा में शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह अस्तिरूप भाव है। समझ में आया? आत्मा में शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह विद्यमान, अस्तिरूप, अर्थ अर्थात् वह उसका भाव है। ऐसे शुद्धस्वरूप, चैतन्य शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है; उसके सन्मुख का — शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है; शुद्ध चैतन्यस्वरूप अस्ति भावरूप आत्मा में रमणता, वह आचरण है। ऐसे **मोक्षमार्ग को....** ऐसे मोक्षमार्ग को पहिचानता नहीं। अभी तो पहिचानता नहीं, यहाँ बात लेते हैं। समझ में आया?

वह जीव व्यवहारदर्शन, ज्ञान, चारित्र का साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है। देखो! भाषा। ऐसी सरस आयी, देखो! साधन शब्द है। आता है न व्यवहार साधन, पंचास्तिकाय में? समझ में आया? अपना शुद्ध ध्रुव चैतन्य निर्मल भाव–स्वभाव, वह आत्मा। ऐसे आत्मा के सन्मुख की अर्थात् उसके आश्रय की श्रद्धा, उसके आश्रय से प्रगट हुआ ज्ञान, अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा, भावस्वरूप आत्मा। कैसा भाव? कि त्रिकाल शुद्ध ध्रुवस्वरूप भाव — ऐसा आत्मा। उसका ज्ञान, उसमें अन्तर आचरण, उसका नाम चारित्र — ऐसे मोक्षमार्ग को पहिचानता नहीं। देखो! यह मोक्षमार्ग। समझ में आया? यह एक ही मोक्षमार्ग है; दूसरा मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com

ऐसा शुद्ध चैतन्य भगवान स्वभाव आत्मा; भगवान स्वभाव अर्थात् महिमावन्त भाव; ऐसे आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और आचरण को तो जानता नहीं। मूल चीज है, उसे तो जानता नहीं। उसकी श्रद्धा का पता नहीं, ज्ञान का (पता) नहीं, आचरण का पता नहीं। **वह जीव, व्यवहारदर्शन,....** इसका स्पष्टीकरण करेंगे। व्यवहारदर्शन अर्थात् क्या ? पहले में स्पष्टीकरण किया — अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान, (यह) निश्चय मोक्षमार्ग (है)। वह जीव, व्यवहारदर्शन, व्यवहारज्ञान और व्यवहारचारित्र का **साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है।** व्यवहारसाधन करके मोक्ष का अधिकारी मानता है। अर्थात् क्या ? व्यवहारदर्शन अर्थात् क्या ? पहले तो बात की कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण, वह निश्चय-यथार्थ-भूतार्थ। मोक्षमार्ग भी भूतार्थ और वस्तु भी भूतार्थ।

वह जीव व्यवहारदर्शन,.... अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दयाधर्म का श्रद्धान करके अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानता है.... ठीक है ? सेठ! स्वीकार में आ गये अब। पहले ऐसा कोई कहता था कि न्यालभाई ऐसा कहते हैं कि सोनगढ़ में आचरण का कोई साधन नहीं, इसलिए एकान्त है। कहा, कोई दिक्कत नहीं, यह तो धीरे-धीरे ठीक हो गये हैं कि मेरे... आये बिना नहीं रहे, बुद्धिवाला है। समझ में आया ? आहाहा...! कहो, समझ में आता है ? ठीक से सुनाई देता है न ?

क्या कहते हैं कि **'माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य'** सिंह को नहीं जाननेवाले को तो बिल्ली ही सिंह हो गयी। इसी तरह **'व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य'** ऐसे निश्चय को नहीं जाननेवाले को तो व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त हो जाता है। मींदड़ी कहा, मींदड़ी, बिल्ली... बिल्ली, 'बिल्ली बाघ की भासी' — क्या कुछ आता है न ? दलपतराम में आता था।

कहते हैं, बहुत सरस बात है! ऐसी भूमिका आठ गाथा तक बाँधी है न ? आठ गाथा तक भूमिका है, हों! फिर शुरु होता है। 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय', लो! पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। फिर सम्यग्दर्शन को आगे लेंगे। समझ में आया ?

कहते हैं, बहुत सरस! अरे...! जीवों को, वास्तविक तत्त्व क्या है, उसके सन्मुख

www.vitragvani.com

की रुचि-ज्ञान नहीं; और वही करनेयोग्य है — ऐसा ज्ञान नहीं; इसलिए जहाँ उस व्यवहार साधन की व्याख्या शास्त्र में आवे कि यह व्यवहार साधन कहलाता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा पर विषय तो है न? वह आत्मा का विषय नहीं। आत्मा का विषय तो यह निश्चय, आत्मा का विषय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान निश्चय, इसमें आत्मा विषय आता है और इस व्यवहार विषय में आत्मा विषय नहीं आता। इसमें तो अरिहन्तदेव की श्रद्धा, वह परद्रव्य है; निर्ग्रन्थ मुनि-दिगम्बर सन्त मुनि-भावलिंगी मुनि, वे गुरु, उनकी श्रद्धा और दयाधर्म का श्रद्धान। दयाधर्म, अहिंसा, व्यवहार अहिंसा, हों! व्यवहार अहिंसा, दया, शुभभाव — उसका श्रद्धान करके अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है। कहो! हमारे सम्यग्दर्शन है। सच्चे अरिहन्तदेव को, सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु को मानते हैं और दयाधर्म — भगवान का मार्ग तो अहिंसा है। हम अहिंसा धर्म को मानते हैं। कौनसी अहिंसा? व्यवहार (अहिंसा)। दूसरे जीव को दु:ख न देना, दूसरे जीव की दया पालना — ऐसे जो भाव, उसे हम मानते हैं। यह हमारा धर्म, यह हमारी श्रद्धा है। (इस प्रकार) अज्ञानी अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है। यह (उसकी) झूठ बात है।

अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयाधर्म का श्रद्धान तो राग है, वह तो शुभविकल्प है; वह सम्यग्दर्शन नहीं है; परन्तु जिसे आत्मा के स्वभावसन्मुख का निश्चय सम्यग्दर्शन हुआ, उसका व्यवहार राग, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन की उपमा दी जाती है। वह सम्यग्दर्शन नहीं है। धर्म, बस! केवली प्ररूपित धर्म अर्थात् दया पालन करो, किसी जीव को दु:ख नहीं देना, भगवान... 'मत मारो, मत मारो' — यह बहुत सुना है। स्तुति में शुरुआत में पहले आता है — 'मत मारो, मत मारो जीव को' — यह भगवान का उपदेश। समझे न? ...यह जिनवाणी जान,....

कहते हैं कि, भाई! भाई! तेरी पूँजी महा चैतन्य और आनन्दकन्द प्रभु तू है। तेरे अन्तर में तो शुद्ध आनन्द, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध शान्ति अन्दर पड़ी है। ऐसे पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का तो तुझे विश्वास, उसकी दृष्टि, उसका भरोसा नहीं है; ऐसे आत्मा का तुझे ज्ञान नहीं है और ऐसे आत्मा का तुझे आचरण नहीं है; मात्र जहाँ व्यवहार से साधनरूप से, निमित्तरूप से पहिचान करायी कि देखो, भाई! ऐसा जहाँ हो —

www.vitragvani.com

स्वभावसन्मुख की दृष्टि, ज्ञान और रमणता (हो), वहाँ आगे उसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का भाव होता है, उसे साधनरूप से कहने में आता है। साधन कहो या निमित्त कहो या व्यवहार कहो या उपचार कहो। व्यवहार का साधन, हों! समझ में आया? वह (अपने को) सम्यग्दृष्टि मानता है कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ। लो! उसमें वे कहें — देव-गुरु की श्रद्धा की (तुम) सम्यग्दृष्टि, जाओ! ...अरे! ...भाई! देव-गुरु तो पर हैं; उनकी श्रद्धा में स्व आया कहाँ से? वह तो पर आया। पर तो, पहली श्रद्धा करे, तब अभी पूर्ण वीतराग हुआ नहीं; इसलिए व्यवहार में वहाँ ऐसा निमित्तरूप श्रद्धान आये बिना नहीं रहता, होता है। होता है, व्यवहार होता है।

मुमुक्षु : निश्चय के लिये ही पकड़ता है न?

उत्तर : निश्चय तत्त्व भी सच्चा नहीं पकड़ा... तीन तो सच्चे पकड़े। देव-गुरु-धर्म, ऐसे। यह तो व्यवहार तत्त्व है। निश्चय तत्त्व ज्ञायकभाव शुद्ध (है), उसे पकड़े बिना, ऐसे व्यवहार भाव को व्यवहार नहीं कहा जाता, व्यवहार ही नहीं कहा जाता। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा, शुद्धस्वभाव का पिण्ड प्रभु... उसके सन्मुख की दृष्टि, ज्ञान और आचरण — ऐसा शुद्ध स्वभावरूपभाव, उसे यहाँ मोक्षमार्ग कहा है। ऐसे मोक्षमार्ग के स्थान में-काल में ऐसी व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि होते हैं, उनका ज्ञान होता है, पंच महाव्रत के परिणाम भी होते हैं - ऐसा बताने पर उसे ही पकड़ लिया कि यह ही मेरा सच्चा तत्त्व है। समझ में आया? यह ही मेरी सच्ची श्रद्धा है। देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, अहिंसा धर्म की श्रद्धा, व्यवहार से... अरे! ...दया तो जीव का स्वभाव है और यह पर की दया पालना जीव का स्वभाव है। सिद्ध में भी भगवान ने करुणा कही है। परन्तु कौन सी करुणा? समझ तो सही, भाई! वृत्ति का उत्थान होवे (कि) इसे बचाना अथवा इसे दु:ख न देना, यह सब तो राग है।

किंचित् जिनवाणी को जानकर अपने को.... किंचित् जिनवाणी, देखा? किसलिए? वास्तविक जिनवाणी का अभिप्राय जाने, तब तो अन्दर स्वसन्मुख का ज्ञान होता है। जिनवाणी अर्थात् वीतरागी वाणी; वीतराग वाणी, वीतरागता को बतलाती है।

www.vitragvani.com

इसने तो **किंचित् जिनवाणी को जानकर....** देखो! किंचित्; भले ही ग्यारह अंग जाने तो भी किंचित् जिनवाणी। ऐसा हुआ या नहीं? नव पूर्व पढ़ा, परन्तु वह किंचित् है — ऐसा माने। क्योंकि जिनवाणी को वास्तविक कहना क्या है? अभेद स्वभाव चैतन्य की श्रद्धा, उसका आश्रय लेने को कहा था। जिनवाणी तो वीतरागता बताती है, वीतरागता की प्रसिद्धि करने को बताती है। जिनवाणी, राग की प्रसिद्धि बताती है? वीतरागता की प्रसिद्धि का हुआ ज्ञान, पश्चात् राग है, उसका ज्ञान करे, परन्तु जहाँ वीतरागता ही प्रसिद्ध नहीं हुई और अकेले राग को माने, वह तो कहते हैं कि वह व्यवहार को ही निश्चय मान बैठा।

किंचित् जिनवाणी को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है,.... लो! शास्त्र का जानकार हुआ, परन्तु पहिचान नहीं हुई। छह द्रव्य और उनके गुण और उनकी पर्याय और उनका अमुक और उनका यह और उनका यह। यहाँ तो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ऐसा द्रव्य, उसका जिसे ज्ञान है, उसे ज्ञान कहते हैं। उसके ज्ञान बिना ऐसा ज्ञान, उसे किंचित् जिनवाणी का ज्ञान, उसे व्यवहार का ज्ञान-पुण्य बन्ध का कारण कहते हैं। समझ में आया? **किंचित् जिनवाणी को....** ऐसी भाषा गजब शुरु की है। किंचित् — कुछ अथवा किसी प्रकार से — व्यवहार से जिनवाणी जाने। भगवान आत्मा, जो अकेला ज्ञानस्वभाव चैतन्य सरोवर प्रभु है; उसका ज्ञान, वह वास्तविक यथार्थ पूरा सच्चा ज्ञान। ऐसे ज्ञान को तो जानता नहीं और शास्त्र का किंचित्पना जाने — ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ा हो तो भी किंचित् है। व्यवहार, हों! समझ में आया? आहाहा...!

अपने को ज्ञानी मानता है,.... स्वयं ज्ञानी है — ऐसा मानता है। देखो! यह मिथ्यादृष्टि के लक्षण! समझ में आया? शुद्ध चैतन्यस्वभाव पूर्ण से भरपूर, उसका अन्तर -सन्मुख होकर ज्ञान हुआ, वह सच्चा ज्ञान और वह मोक्षमार्ग का ज्ञान। उसे न जानकर, ऐसे शास्त्र का जानपना कितना ही किंचित् थोड़ा - बहुत उघाड़ में किया, उसे मानता है कि यह मेरा ज्ञान, वह मोक्ष का मार्ग है। यह मार्ग है, भाई! धीरे-धीरे इससे (होगा)। धीरे-धीरे इससे होगा। जिनवाणी के जानपने से धीरे-धीरे सच्चा आत्मा का ज्ञान होगा — ऐसा माननेवाला, व्यवहार को ही निश्चय मानता है — ऐसा कहते हैं। व्यवहार की दिशा

www.vitragvani.com

बदलकर निश्चय में जाए। व्यवहार का यह ज्ञान रखकर, लक्ष्य में रखकर अन्दर में जाया जाता है — ऐसा है नहीं। समझ में आया?

महाव्रतादि क्रिया का साधन करके.... देखो! उसको शास्त्र... ज्ञान-दर्शन-चारित्र का साधन करके, और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह — ऐसे पंच महाव्रत के परिणाम रखे। पंच महाव्रत के परिणाम, यह भी पुण्यबन्ध का कारण है, वह कोई धर्म नहीं। जो अट्ठाईस मूलगुण कहे, वह तो शुभराग है; चारित्र नहीं। अब उसे चारित्र कहते हैं अभी, लो! वह चारित्र है, वह चारित्र, कुन्दकुन्दाचार्य ने पालन किया था... अरे...! अरे...! भगवान! पूरी जिन्दगी पालन किया और तुम उसे जहर कहो! पुण्य को जहर कहो (तो) सुना कैसे जाए? महाव्रत के परिणाम, वह शुभराग है — ऐसा कहते हैं। इन महाव्रतों को सब चारित्र मानते हैं, ये सब। समझ में आया?

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह — ऐसा जो भाव, वह सब परलक्ष्यी भाव है, इसलिए शुभभाव है। उसे वह साधन मानकर मोक्ष का मार्ग मानता है। व्यवहार को-बिल्ली को ही सिंह माना; व्यवहार को ही निश्चय माना — ऐसी भाषा करते हैं यह तो भाई! साधन करते-करते निश्चय प्राप्त होता है। यह साधन—वास्तविक व्यवहार मोक्षमार्ग पहला है और फिर निश्चय है। शुभ उपयोग पहला मोक्षमार्ग है और शुभ उपयोग के बाद शुद्ध उपयोग, वह उसका फल है। शुभ उपयोग चौथे, पाँचवें, छठवें आदि होता है; फिर शुद्ध सातवें-आठवें आदि (में) होता है। आहाहा...! कहो, समझ में आया?

कहते हैं, **महाव्रतादि....** आदि अर्थात् समिति, गुप्ति, आदि शुभभाव पाले। निर्दोष आहार ले। मुनिपद के योग्य जो आचरण शुद्ध है, वह सब आ जाता है। **महाव्रतादि क्रिया का साधन करके....** क्रिया, देखो! यह साधन करके (अर्थात्) तीनों का साधन करके, **अपने को चारित्रवान मानता है।** हम स्वयं चारित्रवन्त हैं — ऐसा मानता है। निर्मल के अर्थ को प्रमाण नहीं रखते... अपनी विपरीतदृष्टि के कारण। **इस प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर,....** लो! ये तीनों शुभराग हैं, शुभोपयोग है। कौन? अरिहन्त की श्रद्धा, निर्ग्रन्थ मुनि सन्त भावलिंगी मुनि की श्रद्धा, दया धर्म की श्रद्धा, यह शुभराग है। किंचित् जिनवाणी का जानपना, यह भी शुभोपयोग है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है और पंच महाव्रत के परिणाम भी शुभोपयोग है। समझ में आया?

www.vitragvani.com

ऐसे **शुभोपयोग**... अर्थात् शुभराग में **सन्तुष्ट होकर,....** सच्ची बात है यह। यह हमारा धर्म है, माँगीरामजी! ऐसा ही सुना था न अभी तक तो? कोई कहता है... ? नहीं अपने... इससे ही निर्जरा है, इससे ही संवर है। महाव्रत से निर्जरा और महाव्रत से संवर। कहते हैं कि शुभोपयोग से जो स्वयं संवर-निर्जरा माने, वह व्यवहार को निश्चय मानता है, बिल्ली को सिंह मानता है। गजब, कठिन बात। समझ में आया?

इस प्रकार.... इस प्रकार दया धर्म को-दया के भाव को धर्म माने, देव-गुरु की श्रद्धा को समकित माने, पंच महाव्रत को, अट्ठाईस मूलगुण को; श्रावक होवे तो उसे बारह व्रत होते हैं न? बारह व्रत-माने हुए; उन्हें व्रत माने-चारित्र (माने) और उन्हें साधन मानता है। साधन है न वह? एकदम एकान्त हो जाए, वरना एकान्त हो जाएगा। वह एकान्त तो सब सम्यक् एकान्त कहलाये कि यह नहीं और यह है, तब उसे वास्तव में मोक्षमार्ग का साधन कहलाये। वह साधन नहीं है; साधन तो स्वरूप की अन्तर में दृष्टि, ज्ञान और रमणता (होना), वह मोक्ष का साधन है। आहाहा! समझ में आया? तीन का साधन करके अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है, ऐसी भाषा। फिर यहाँ अन्त में रखा यह। ऐसा **क्रिया का....** यह सब क्रिया करके, उसका **साधन करके अपने को चारित्रवान मानता है।**

इस प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर,.... बस! शुभराग, कषाय मन्द। आहाहा! फिर क्या? **शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी है....** परन्तु इस शुभोपयोग से हटकर, शुद्ध का अवलम्बन लेकर जो शुद्ध आचरण की, शुद्धस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण — इनसे तो प्रमादी है, इनकी दरकार नहीं करता। परसन्मुख के भाव में ही मोक्षमार्ग मानकर स्वसन्मुख के लिये प्रयत्न नहीं करता। समझ में आया? यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पहली-पहली बार वाँचन किया जाता है, हों! छपा नहीं था न! गुजराती में प्रकाशित हुआ है। पुस्तक बहुत अच्छी है। वजुभाई ने किया है न यह ?...

इस प्रकार अनादि का अज्ञानी, शुभ और भेद से आत्मा की बात समझाई, कि देखो! यह आत्मा। इस आत्मा को पकड़ना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। उसके बदले जहाँ व्यवहार की बात की, वहाँ व्यवहार को पकड़कर, उसे साधन माना। देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, यह हमारे समकित का साधन है, मोक्षमार्ग है। शास्त्र का ज्ञान, वह

www.vitragvani.com

मोक्षमार्ग का साधन, मोक्षमार्ग (है), और पंच महाव्रत के, अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वह हमारे साधन। साधन पहले होता है न? फिर साध्य होता है न? लो! ऐसा कहते हैं। पहले यह साधन हो, फिर साध्य हो — यह बात खोटी है। ये वह साधन ही नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं। यह तो स्वरूप का अन्तर साधन किया हो, उसे ऐसे शुभोपयोग को व्यवहार साधनरूप से कहा गया है। पहिचान करायी है कि चीज ऐसी हो, उसे भूमिका के योग्य (ऐसा व्यवहार होता है) — ऐसी पहिचान करायी तो उसे व्यवहार साधन कहा; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि उस साधन से यहाँ अन्तर निश्चय प्राप्त होता है। अभी प्राप्त होता है, बाद में भी धीरे-धीरे प्राप्त होता है — ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्ष : .....

उत्तर : नहीं छोड़ो, अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं छोड़ो और व्यवहार नहीं है — ऐसा मत मानो। व्यवहार नहीं है — ऐसा यदि मानोगे तो व्यवहार के—रत्नत्रय के जो परिणाम-प्रवृत्ति परिणाम हैं, वे परिणाम ही सिद्ध नहीं होंगे — ऐसा कहते हैं। यह अभी आयेगा।

अनादि से अज्ञानी को भूतार्थ भगवान आत्मा चैतन्यभाव सम्पन्न प्रभु की सन्मुखता की दृष्टि-ज्ञान और चारित्र; इसके सन्मुख का अर्थात् इसके आश्रय का यह भाव नहीं, परन्तु जब व्यवहार से उसे समझाया और व्यवहार साधन हो — ऐसा जब कहा, वहाँ उस व्यवहार को निश्चय मानकर सन्तुष्ट हो गया। अपनने बहुत किया, बहुत (किया) इतना बस है अब। उसमें से धीरे-धीरे क्षपकश्रेणी हो जाएगी, उसमें से शुद्धोपयोग आ जाएगा। शुभोपयोग में से क्षपकश्रेणी। इस शुभोपयोग में से क्षायिक समकित होगा, और क्षायिक समकित के बिना क्षपकश्रेणी होती नहीं; इसलिए शुभोपयोग से क्षपकश्रेणी चढ़ेगा; क्षपकश्रेणी से केवलज्ञान होगा, जाओ! और वापस शुभराग भी कर्म के कारण होता है, कर्म के बिना शुभराग होता नहीं। जितना राग अंश है, उतना हों! उसमें से छूटते... आहाहा! कितना अन्तर!

इस प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर,.... शुभराग-कषाय की मन्दता हुई। कौन सी? देव-अरिहन्तदेव की श्रद्धा, गुरु निर्ग्रन्थ की श्रद्धा, दया धर्म की श्रद्धा,

www.vitragvani.com

शास्त्र का ज्ञान, पंच महाव्रत के परिणाम — यह शुभराग है, शुभोपयोग है, पुण्यभाव है, पुण्यबन्ध का कारण है। अबन्ध परिणामी नहीं; वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। बन्धभाव है, वह बन्ध का कारण है। अबन्ध परिणाम तो अबन्ध-स्वभावी आत्मा के आश्रय से परिणाम प्रगटें, वह अबन्ध परिणाम है। उस अबन्ध परिणाम को तो जानता नहीं और इस बन्ध परिणाम को साधन मानकर मोक्ष का मार्ग मानता है। समझ में आया?

इस प्रकार वह शुभोपयोग में सन्तुष्ट होकर, शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग में प्रमादी है.... तथा पंचम काल में अभी शुद्धोपयोग तो है नहीं, जाओ! तो कहे — अब अपने को यही करने का रहा। अन्दर में सन्मुख होने के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, क्योंकि शुद्धोपयोग तो अभी है नहीं — ऐसा कहता है। आहाहा! शुद्धोपयोग, शुभ से हटकर चैतन्य शुद्धस्वभाव चैतन्य आत्मा का यह व्यापार, उसका उपयोग, उसका आचरण, शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण — ऐसा जो शुद्ध आचरण, शुद्धभाव-उसमें प्रमादी है, क्योंकि इसमें (शुभ में) सन्तुष्ट हो गया। इतना किया है, अब यह तो होगा ही। अपने मोक्षमार्ग है, साधनरूप से है तो साध्य प्रगट होगा। पंचम काल है तो नहीं होगा। कहो, कान्तिभाई! समझ में आया? ऐसा चलता है या नहीं?... दोनों अलग-अलग है, दोनों अलग-अलग है, दोनों विरुद्ध फलवाले हैं, दोनों की दिशा में अन्तर है। आहाहा!

इसलिए केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है। इस कारण से। क्यों? कि उस व्यवहार को ही निश्चय मान बैठे। उसमें से होगा, उसमें से होगा, इसलिए वही कारण है, वही सच्चा साधन है। **इसलिए केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है।** केवल व्यवहार। उस समय निश्चय अवलम्बन लेना, स्वभावसन्मुख जाना, वह तो पड़ा रहा। अकेले **व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है। अतः उसे उपदेश देना निष्फल है।** कहते हैं कि लाख बात कर तो भी इस व्यवहार को नहीं छोड़े। हमारे साधन कहा है, भगवान ने साधन कहा है, भगवान ने उपाय कहा है, उसे भी कारण कहा है, उसे भी हेतु कहा है।

तुझे हम व्यवहार से समझाते हैं, वहाँ तू व्यवहार को पकड़कर बैठे और हमारे

www.vitragvani.com

कहना क्या तुझे अब ? — ऐसा कहते हैं, मूल तो ऐसा कहते हैं। हमें तुझे सुनाना क्या ? सुननेवाले को जब हम व्यवहार से बात करते हैं, वहाँ तू व्यवहार को पकड़कर बैठा। देखो! ऐसा साधन होता है, हों! निश्चय ऐसा हो, वहाँ व्यवहार ऐसा होता है और वह निमित्त उस नैमित्तिक की प्रसिद्धि करता है। व्यवहार ऐसा हो, वह उस निश्चय का आश्रय, द्रव्य के आश्रयवाला कैसा भाव वहाँ होता है, उसे बतलाता है। समझ में आया ?

वह यहाँ पकड़कर बैठा कि देखो! तुमने कहा था या नहीं ? तुमने मौन रहने को कहा या नहीं ? तो तुम क्यों बोलते हो ? मौन से लाभ होता है या नहीं ? ऐसा कहते हो या नहीं तुम ? तो तुम किसलिए बोलते हो ? पकड़ा। ऐसे जहाँ ऐसा व्यवहार होता है और उससे निश्चय की पहिचान कराने के लिये कहा है; वहाँ उसने पकड़ा कि व्यवहार है या नहीं ? देखो! आया या नहीं ? वह व्यवहार को ही मानता है। देखा ? **इसलिए केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है।** निश्चय के भानसहित का व्यवहार वहाँ निमित्तरूप से होवे, तब तो वह ठीक है। वर्तमान, हों! निश्चय के बाद व्यवहार - ऐसा नहीं। इन दो का भेद किया है। केवल व्यवहार-अवलम्बी। तब वह कहता है — नहीं, निश्चय-व्यवहार नहीं और निश्चय में अभी लक्ष्य आनेवाला है। हमारा शुद्धोपयोग लाने के लिये यह सब ग्रहण करते हैं। यह तो बाद का काल हुआ। उसकी बात कहाँ रही ? अभी वर्तमान व्यवहार के अवलम्बन में निश्चय का जरा भी अवलम्बन नहीं; इसलिए केवल व्यवहार अवलम्बन है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

बाद में होगा — ऐसा प्रश्न ही कहाँ है ? वर्तमान में अकेले व्यवहार के परिणाम... यद्यपि यह जो कहता है परन्तु पंच महाव्रतादि, उसका भी कहाँ ठिकाना है ? तो भी केवल व्यवहार का अवलम्बन लेकर, अवलम्बी हुआ है। ऐसा जहाँ उपदेश देने लगा, व्यवहार से समझाने लगे तो कहे — देखो! यह भी कुछ चीज़ है या नहीं ? लो! पाँचवीं गाथा में आया था न ? कोई कहता था, वकील सोलिसीटर। देखो! इस व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। देखो! व्यवहार के बिना परमार्थ प्राप्त नहीं होता। देखो, इसमें आया है। ठीक! (संवत्) १९८७ के साल में। अरे...! यह तो उपदेश की बात है। व्यवहार का उपदेश है, व्यवहार से पाता है कहाँ ? व्यवहार को न अनुसरण कर, श्रद्धना — वहाँ ऐसा

www.vitragvani.com

नहीं ? कहनेवाले ने व्यवहार कहा, उसे व्यवहार को अनुसरण करना नहीं। सुननेवाले को व्यवहार से कहते है, परन्तु उस सुननेवाले को भी व्यवहार को अनुसरण नहीं करना। अनुसरण करना निश्चय को। तब उसे व्यवहार से समझाकर कहा जाता है। क्या हो ? ओहोहो ! समझ में आया ?

केवल व्यवहारनय का अवलम्बी हुआ है। अत: उसे उपदेश देना निष्फल है। नया पकड़ेगा तुरन्त वह। पानी में मनुष्य डूबता हो, उसे निकालने, तो अचानक उसका गला पकड़े, उसका हाथ ही पकड़े, हाथ खुले रखकर पकड़े, हाथ से तो पकड़े, इसलिए दोनों जाएँ, दोनों मर गये बेचारे। एक भाई बहता था, दूसरे भाई को (लगा) लाओ न, जाऊँ; वहाँ बहते हुए उसे पकड़ा, दोनों गये, मर गये। बहुत करके (शायद) तम्बोली का साला है, धीरुभाई ! एक बार... नहाने गये थे तो वह चला... इसी प्रकार व्यवहार से जहाँ बात की तो पकड़ा उसे। देखो ! यह व्यवहार भी कारण है, साधन है। निश्चय... व्यवहार, निश्चय पकड़ा इसने। इसे उपदेश निष्फल है। उपदेश देने का फल (कुछ नहीं।)

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है.... लो ! क्या प्रश्न उत्पन्न होता है ? कि **ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है....** यह वहाँ गया। **यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा श्रोता भी उपदेश के योग्य नहीं है....** ऐसा।

तो फिर कैसे गुण-संयुक्त श्रोता चाहिए? समझ में आया ? ऐसे श्रोता जब उपदेश के योग्य नहीं। **'व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य'** — ऐसा कहा न ? जो, व्यवहार से निश्चय प्राप्त हो जाता है (-ऐसा मानता है), वह तो श्रोता के योग्य नहीं। **तो फिर कैसे गुण-संयुक्त श्रोता चाहिए?** सुननेवाले में कितनी योग्यता सुननेवाले की चाहिए, इसकी बात करते हैं, लो ! कहनेवाले (वक्ता) की योग्यता की बात चौथी गाथा में कही। समझ में आया ? यह सातवीं गाथा है। चौथी में कहा — मुख्य-उपचार का। यहाँ व्यवहार-निश्चय कहते हैं। वहाँ मुख्य-उपचार शब्द था। **तो फिर कैसे गुण-संयुक्त श्रोता चाहिए?** लो ! एकदम, श्रोता कैसे गुणवाला होना चाहिए ? ऐसे श्रोता यह समझ सके नहीं तब तो उल्टा मारेगा — ऐसा कहते हैं। **इसका उत्तर आगे देते हैं।** हो गया समय.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा - ८

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।८।।

निश्चय अरु व्यवहार नयों का जान-स्वरूप रहे मध्यस्थ।
जिनवाणी को सुनने का फल पूर्ण प्राप्त करता वह शिष्य।।८।।

अन्वयार्थ : (यः) जो जीव (व्यवहारनिश्चयौ) व्यवहारनय और निश्चयनय को (तत्त्वेन) वस्तुस्वरूप से (प्रबुध्य) यथार्थरूप से जानकर (मध्यस्थः) मध्यस्थ (भवति) होता है अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपातरहित होता है, (सः) वह (एव) ही (शिष्यः) शिष्य (देशनायाः) उपदेश का (अविकलं) सम्पूर्ण (फलं) फल (प्राप्नोति) प्राप्त करता है।

टीका : 'यः व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थः भवति' - जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर पक्षपातरहित होता है 'स एव शिष्यः देशनायाः अविकलं फलं प्राप्नोति' - वही शिष्य, उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

भावार्थ : श्रोता में अनेक गुण होने चाहिए परन्तु व्यवहार और निश्चय को जानकर एक पक्ष का हठाग्रहीरूप न होने का गुण मुख्यरूप से होना चाहिए। कहा भी है-

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छए मुअह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं।।

(- पण्डित प्रवर आशाधरजी कृत अनगार धर्मामृत प्र०अ०, पृष्ठ १८)

अर्थ : यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करता है तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ

www.vitragvani.com

का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अनुभव नहीं होगा। अतः पहले व्यवहार–निश्चय को भले प्रकार जानकर, पश्चात् यथायोग्य इनका अंगीकार करना, पक्षपात न करना, यही उत्तम श्रोता का लक्षण है।

प्रश्न : जो निश्चय–व्यवहार को जाननेरूप गुण वक्ता के बतलाये थे, वे ही श्रोता के भी बतला दिये तो इसमें विशेषता क्या हुई?

उत्तर : जो गुण आधिक्यतारूप से वक्ता में होवें, वही गुण हीनतारूप से–थोड़े अंशों में–श्रोता में भी होना चाहिए। इस प्रकार वक्ता और श्रोता का वर्णन किया।।८।।

भूमिका समाप्त

प्रवचन नं. १० गाथा–८–९ शुक्रवार, माघ कृष्ण ११, दिनांक ०६.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय' 'अमृतचन्द्राचार्य' कृत, आठवीं गाथा। ७ गाथा हो गयी है। **तो श्रोता कैसे गुणवाला होना चाहिए?** इसकी व्याख्या है। यह उपोद्घात / भूमिका है, इसकी अन्तिम गाथा है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।८।।

वक्ता का लक्षण कह गये कि वह मुख्य और उपचार, अर्थात् निश्चय और व्यवहार का यथावत् जाननेवाला (होना) चाहिए, तो वह शिष्य के अज्ञान को दूर कर सकता है; दूर करने में निमित्त होता है। यहाँ अब, सुननेवाले को भी निश्चय–व्यवहार का ज्ञान चाहिए। यदि एक पक्ष में खिंच जाए तो जब निश्चय का विषय आवे, तब उसे ही पकड़ ले और व्यवहार होता ही नहीं — ऐसा माने तो भी मिथ्या; और व्यवहार की बात आवे, वहाँ व्यवहार के काल में निश्चय होता ही नहीं – ऐसा माने – उस एक पक्ष में चला जाए तो उसे निश्चय–व्यवहार के बिना सच्चा श्रोतापना प्रगट नहीं होता। समझ में आया?

www.vitragvani.com

जो जीव, व्यवहारनय और निश्चयनय का.... व्यवहार अर्थात् भेदरूप, रागरूप परिणति-पर्याय, प्रवृत्तिरूप, वह व्यवहारनय; निश्चयनय-स्वरूप के सन्मुख निश्चय चैतन्यस्वरूप स्वभाव अभेद के सन्मुख दृष्टि, वह निश्चय — ऐसे **वस्तुस्वरूप से... 'तत्त्वेन'** दोनों वस्तु स्वरूप है। निश्चय स्वभावसन्मुख होना और रहना तथा व्यवहार भेदरूप प्रवृत्ति-परिणति अन्दर होती है, वह भी उस काल में होती है। इन दोनों को **वस्तुस्वरूप से... 'प्रबुध्य' यथार्थरूप से जानकर....** यथार्थ अर्थात् जैसे निश्चय है, वैसे निश्चय को जाने और व्यवहार है, वैसे व्यवहार को जाने। **'मध्यस्थ भवति'** मध्यस्थ अर्थात् दोनों है; एक ही है और दूसरा नहीं है — ऐसा नहीं है। दोनों को भलीभाँति जानता है, उसे यहाँ मध्यस्थ कहा जाता है। निश्चय के समय व्यवहार भी है और व्यवहार के समय निश्चय भी है। समझ में आया?

मुमुक्षु : दोनों समकक्ष हुए न?

उत्तर : समकक्ष वस्तु नहीं? वर्तमान है नहीं? सन्मुखता किसकी? ये दोनों बातें एकसाथ हैं या नहीं? निश्चयसन्मुख द्वारा दृष्टि हुई, परन्तु उस काल में व्यवहार है या नहीं? व्यवहार है, वहाँ निश्चय सन्मुख दृष्टि है या नहीं? दोनों है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? एक ही पक्ष कहे कि निश्चयसन्मुख से ही वस्तु है और भेदरूप वस्तु व्यवहार नहीं तो एक पक्ष हो गया। वह वस्तु यथार्थ नहीं समझ सकता; और व्यवहार की प्रवृत्ति की, परिणति की, राग की बात आवे, उसे ही जाने और उस समय में निश्चयसन्मुख दृष्टि नहीं होती — ऐसा जाने तो वह भी पक्ष में हो गया। इस तरह व्यवहार-निश्चय एकसाथ में होते हैं, इसका उसे मध्यस्थपना नहीं रहा। कहो, समझ में आया?

अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय के पक्षपातरहित होता है.... अर्थात् क्या? एक ही होता है और दूसरा नहीं — ऐसा नहीं होता, ऐसा। समझ में आया? निश्चय होवे और व्यवहार न हो; व्यवहार ही होवे और निश्चय न हो — ऐसा नहीं होता। **पक्षपातरहित होता है। वह ही शिष्य, उपदेश का 'अविकलं' सम्पूर्ण फल 'प्राप्नोति' प्राप्त करता है।** दो यथार्थरूप से तत्त्व से जाने, लक्ष्य में हो तो वह यथार्थ तत्त्व के फल को प्राप्त कर सकता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

मुमुक्षु : व्यवहार अर्थात् उपयोग।

उत्तर : व्यवहार है उपयोग। उपयोग अर्थात् है या नहीं? व्यवहार, उसके भेद के काल में व्यवहार, एक कोई निश्चित व्यवहार है या नहीं? परिणति भेदरूप, रागरूप, गुणस्थानरूप — ऐसा भेद है या नहीं? बस! इतना ही। समझ में आया? उसे न माने तो उसे निश्चय का–तत्त्व का पता नहीं है; और निश्चय को अकेले को माने तो यह व्यवहार ऐसा है, उसे न माने तो अकेला निश्चयाभासी होता है। है – ऐसा कहते हैं, दोनों है। आश्रय करने योग्य भी निश्चय है और यह जानना, इसके पश्चात् भी दोनों हैं, इतनी बात। समझ में आया? पहले आ गया न निश्चय का? प्रायः भूतार्थ बोध विमुख, वह व्यवहार और भूतार्थ बोध सन्मुख, वह निश्चय। भूतार्थ त्रिकाल ज्ञायकभाव चैतन्यस्वरूप सन्मुख, वह निश्चय और उसमें रहा हुआ परसन्मुख का भेदरूप भाव, रागरूप भाव परिणति, जो अपूर्ण आदि ऐसा भाव, उसे रत्नत्रय की परिणति वर्तमान भेदरूप कहो! वह भी है न? अकेला निश्चय है और व्यवहार नहीं — ऐसा है नहीं; तथा व्यवहार ही अकेला है और निश्चय नहीं — ऐसा नहीं; दोनों है। समझ में आया?

वह ही शिष्य, उपदेश का.... 'अविकलं' अर्थात् पूर्ण; विकल अर्थात् अपूर्ण, अविकल अर्थात् सम्पूर्ण। ऐसे फल को अर्थात् सच्चे **फल प्राप्त करता है।** निश्चय का फल मोक्ष है। व्यवहार... है – ऐसा जो जानता है, उसे वास्तविक तत्त्व का फल मिलता है। कहो, समझ में आया इसमें? व्यवहार अभूतार्थ है, यह तो कह दिया। निश्चय भूतार्थ है–यह तो कहा, दोनों हैं — ऐसा यहाँ कहेंगे। निश्चय वस्तु भूतार्थ चैतन्यस्वरूप आत्मा का आश्रय करना वह मूल चीज (है), परन्तु ऐसा आश्रय लेने पर भी, उसकी पर्याय में भेदरूप अपूर्णता रह गयी; राग है, वह है — ऐसा उसे भलीभाँति जानना तो चाहिए। नहीं (है) — ऐसा कहे तो अकेला निश्चय का पक्ष हो गया। अकेला व्यवहार कहे तो व्यवहार का अकेला पक्ष हो गया, निश्चय रहा नहीं। ऐसे श्रोता सुनने के योग्य नहीं है — ऐसा कहते हैं। श्रोता का पूरा वजन है। समझ में आया?

उसे दो नयों का थोड़ा–बहुत भी ज्ञान होना चाहिए। वक्ता को बहुत हो, इसे थोड़ा हो। क्योंकि दो वस्तु (नय) है — ऐसा इसे जानना चाहिए या नहीं? निश्चय भी जानना

www.vitragvani.com

है और व्यवहार हो, उसे भी मानना तो है। है ऐसा मानना नहीं? व्यवहार से निश्चय होता है — यह फिर अलग वस्तु हुई। यह कहीं व्यवहार माना नहीं कहलाता। समझ में आया? व्यवहार से निश्चय हो, तब तो दोनों एक हो गये, दो अलग रहे नहीं। दो हैं — ऐसा इसे भलीभाँति जानना चाहिए। सुननेवाले श्रोता को निश्चय और व्यवहार का यथार्थ वस्तु के स्वरूप में जैसा है, उस प्रकार उसे लक्ष्य में लेना चाहिए और मध्यस्थ होना चाहिए। मध्यस्थ अर्थात् अकेला निश्चय का ही पक्ष खींचना और व्यवहार है ही नहीं; और व्यवहार का ही अकेला पक्ष खींचना और निश्चय का आश्रय होता ही नहीं — वह दोनों नयों को नहीं समझता। समझ में आया? यह अटपटी बात है।

मुमुक्षु : थोड़ा ढीला पड़ा।

उत्तर : कहीं ढ़ीला पड़ा नहीं जरा भी। व्यवहार, व्यवहार के (स्थान पर है)। यहाँ तो दोनों साथ लेना है न? मिथ्यादृष्टि को एक भी नहीं है; केवली को एक भी नहीं है। मिथ्यादृष्टि को नहीं निश्चय, नहीं व्यवहार। केवली को नहीं निश्चय, व्यवहार, तो वस्तु पूर्ण अखण्ड हो गयी। यहाँ नय के ज्ञान की बात चलती है या नहीं? नय की। केवली नयातीत हो गये; मिथ्यादृष्टि को नय है नहीं, होते ही नहीं। अब जिसे नय का ज्ञान करना है और जिसे नय का क्या स्वरूप है — ऐसा जिसे जानना है, ऐसे श्रोता को, निश्चयनय का आश्रय, वह भी है और उस काल में भेदरूप भाव भी है — इसका ज्ञान बराबर रखना चाहिए। मूल तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

व्यवहार की जहाँ बात आवे, व्रत पालना और उनके अतिचार टालना और उसका ऐसा करना और... तो जानना कि यह व्यवहार है, परन्तु उस समय वह ही है और अन्य निश्चय नहीं (-ऐसा नहीं है।) स्वसन्मुख हुआ ज्ञाताभाव है, उसमें ऐसा व्यवहारभाव है — ऐसा न जाने तो अकेला व्यवहार का पक्ष करके निश्चय को भूल जाता है। निश्चय का जहाँ अकेला है ज्ञाता-दृष्टापना स्वसन्मुख का; वहाँ आगे व्यवहार से बात आवे कि व्रत पाले, व्रत का राग उसे होता है, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति होती है, देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान-परद्रव्य का बहुमान करता है। करता है — ऐसा व्यवहार होता है। वह व्यवहार ऐसा होता है — यह न माने, परन्तु अकेला निश्चय माने तो व्यवहार रहा कहाँ? निश्चय पूर्ण कहाँ हुआ? वीतराग तो हुआ नहीं। समझ में आया?

www.vitragvani.com

व्यवहार के स्थान में व्यवहार का यथावत् माने और निश्चय स्व–आश्रय करने योग्य है, वह वस्तु यथावत जाने। दोनों में से एक को न माने तो एक भी नय नहीं रहता। नय नहीं रहता तो साधकपना नहीं रहता। समझ में आया?

मुमुक्षु : दोनों को जाने बिना सीधा अन्दर न जाए।

उत्तर : जाए नहीं, किस प्रकार जाए? किसका जाए? स्व का आश्रय करना, वह निश्चय है और उस समय जो भेद रह जाता है... पूर्ण कहाँ होता है? इसलिए इसे उसको जानना चाहिए। एकदम कहाँ सीधा जाता था? किसमें ज्यादा भी जाए? जाए तो भी अभी भेद तो बाकी रहेगा। चौथा, पाँचवाँ, सातवाँ (गुणस्थान) भेद रहेगा या नहीं? भेद है, उसे भलीभाँति जानना चाहिए। ज्ञान में **'तत्त्वेन'–** ऐसा कहा है न? देखो न! **वस्तुस्वरूप से....** यह वस्तु का स्वरूप है। अभेद भी वस्तु का स्वरूप है और उस काल में भेद भी उस काल में पर्याय का वस्तु स्वभाव है। दोनों को भलीभाँति जानना। आदरना एक, जानना दोनों।

मुमुक्षु : निश्चयपूर्वक व्यवहार....

उत्तर : हाँ; निश्चयपूर्वक व्यवहार। व्यवहार अर्थात् पर्याय का भेद है, वह व्यवहार, ऐसा। आदरणीय है या — यह बात / प्रश्न नहीं है। इस निश्चय के स्व–आश्रय तत्त्व में तो भेद है ही नहीं। अब इसकी पर्याय में भेद है या नहीं? वह इसे नहीं जाने तो अकेला अभेद कहाँ रहा? निश्चय रहा नहीं; और अकेले निश्चय को–अभेद को जाने तथा भेद है तो अवश्य वर्तमान में; पूर्ण वीतराग हुआ नहीं। उसे भलीभाँति जानना चाहिए — ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'यः व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थः भवति' – जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय के.... 'तत्त्वेन' का अर्थ किया। **यथार्थरूप से जानकर....** ऐसा। मध्यस्थ अर्थात् **पक्षपातरहित होता है....** यह मध्यस्थ की व्याख्या है। **पक्षपातरहित होता है....** अर्थात् निश्चय है और व्यवहार नहीं; व्यवहार ही है और निश्चय नहीं — ऐसा जो पक्षपातरहित होता है अर्थात् दोनों हैं। निश्चय है, व्यवहार है; स्व के आश्रय में स्व की व्यवहार पर्याय की परिणति भेद वर्तमान भाव, वह सब है। इसमें भलीभाँति पक्षपातरहित

होता है, वह शिष्य.... बहुत सरस उपोद्घात किया है, ८ गाथा में तो; ८ गाथा तो अपने बहुत विस्तार से आ गयी। समझ में आया? यह उपोद्घात है ८ गाथा। फिर ग्रन्थ का प्रारम्भ नौवीं गाथा से शुरु होता है। समझ में आया?

वह ही शिष्य, उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है। अर्थात् उपदेश का फल जो वीतरागता है, वीतरागता है, वह स्व के आश्रय से, तत्त्व के आश्रय से सम्यक् यथार्थ वस्तु है और पर का आश्रय भेद आदि जितना बाकी रह जाता है, वह भी है — ऐसा जो जानकर, उसकी पूर्णता वीतरागता के फल को पाता है। कहो, समझ में आया?

भावार्थ : श्रोता में अनेक गुण होने चाहिए... सुननेवाले में अनेक दूसरे गुण भी होते हैं। **परन्तु व्यवहार और निश्चय को जानकर...** यह तो मूल चीज है–अभेद और भेद। समझ में आया? एकरूप और अनेक। व्यवहार में अनेकपने की पर्याय दिखे, निश्चय में एकरूप हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप है। तो कहते हैं कि उसे **व्यवहार और निश्चय को जानकर एक पक्ष का हठाग्रहीरूप न होने का....** निश्चय ही होता है और उस काल में व्यवहार होता ही नहीं; व्यवहार ही होता है और उस काल में निश्चय नहीं होता। व्यवहार की बातें हो व्रत पालो, ऐसा करो, दया करो, दान करो, पर की रक्षा करो — ऐसी भाषा आवे, लो! समझ में आया? परन्तु उसका अर्थ समझे अर्थात् पर के लिये दया का भाव आया है, ऐसे यहाँ राग रक्षा है — ऐसा कहते हैं। उस समय निश्चय को न भूले। निश्चय में तो स्व का अभेद ही है। पर की ओर का राग उस निश्चय में है नहीं। समझ में आया?

व्यवहार की बात आवे (कि) मुनि को, देखकर चलना, साढ़े तीन हाथ ऐसे नजर रखकर (चलना), चींटी दिखायी दे तो पैर को ऐसे ऊँचा करना, जीव के आगे पैर ऊँचा करना — ऐसा उपदेश आता है। वह किसलिए? उस प्रमाद का भाव टालने के लिये राग की शुभदशा होती है, उसे बताते हैं। उस समय निश्चय को नहीं भूले। वह जड़ की क्रिया कर सकता है — ऐसा न भूले कि नहीं; वह नहीं कर सकता। समझ में आया? निश्चय में कर नहीं सकता; इसलिए व्यवहार में ऐसा आया कि तू कर सके, परन्तु कर सकने का ऐसा अर्थ (है) कि उसे राग की मन्दता ऐसी होती है — ऐसा उसे व्यवहार जानना

www.vitragvani.com

चाहिए। शरीर का कर सकता है, काम कर सकता है — ऐसा उसके अर्थ में से नहीं लेना। समझ में आया? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में ८ गाथा में तो बहुत सरस! निश्चय-व्यवहार के वर्णन की टीका भी बहुत सरस की है। दृष्टान्त देते हैं। यह (समयसार की) १२ वीं गाथा में आता है न?

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुअह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं।।

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करता है.... प्रवर्तता है न अभी तो? परिणति में प्रवर्तता है। **तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़।** व्यवहार नहीं है - ऐसा मत मान; निश्चय नहीं है - ऐसा मत मान; दोनों हैं - ऐसा मान, दोनों हैं - ऐसा जान। कहो, समझ में आया? **यदि निश्चय का पक्षपाती होकर....** अकेला निश्चय का-अभेद का पक्षपाती होकर, हों! भलीभाँति जानकर हो, तब तो उसे व्यवहार का ज्ञान यथार्थ होवे। निश्चय का-अकेले अभेद का पक्षपाती होकर **व्यवहार को छोड़ेगा....** वर्तमान रत्नत्रयरूप धर्मतीर्थ की परिणतिरूप पर्याय जो है... समझ में आया? रत्नत्रयरूप परिणति जो पर्याय, जो पर्याय है, वही व्यवहार है। द्रव्य है, वह निश्चय है, द्रव्य है, वह भूतार्थ है; पर्याय है, वह वास्तव में त्रिकाल स्वरूप नहीं, इस अपेक्षा से अभूतार्थ है, परन्तु पर्याय है तो सही न? समझ में आया? चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान - यह सब व्यवहार है, पर्याय है। व्यवहार अर्थात् पर्याय है। यदि वह पर्याय न हो तो धर्मतीर्थ ही नहीं रहे, पर्याय का साधन नहीं रहे। केवलज्ञान को साधने की शुद्ध परिणति, वह भी एक व्यवहार है। समझ में आया? निश्चय तो निष्क्रिय तत्त्व है। एकरूप स्वभाव, जिसमें परिणति भी नहीं — ऐसा ध्रुवपना तत्त्व का, वह निश्चय है। समझ में आया?

व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा। तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूप तीन परिणति है, वह सब व्यवहार है; पर्याय स्वयं व्यवहार है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ऐसी जो पर्याय, अवस्था, परिणति, त्रिकाल अभेद का एक अंश भेद, वह व्यवहार है। उसे छोड़ेगा तो परिणति रहेगी कहाँ? समझ में आया? व्यवहार है, वह तिरने का उपाय है, वह पर्याय है — ऐसा कहते हैं। पर्याय है, वह

www.vitragvani.com

पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त करने का कारण है। वह पर्याय है, वह पर्याय स्वयं व्यवहार है। समझ में आया?

द्रव्य स्वयं निश्चय है और पर्याय स्वयं व्यवहार है। ऐसी दो वस्तु है या नहीं? ऊपर कहा न? **'तत्त्वेन'** — ऐसा कहा था। समझ में आया? गड़बड़ ही इसमें है न बड़ी? रत्नत्रयस्वरूप, व्यवहार से रत्नत्रयस्वरूप होता है। उससे होता है - यह यहाँ प्रश्न नहीं है। होता है तो त्रिकाल द्रव्य के आश्रय से होता है; परन्तु हुई पर्याय, वह व्यवहार है। यदि वह व्यवहार न हो तो परिणति निर्मल हो सकती नहीं। साथ में रागादि व्यवहार (है), वह भी व्यवहार है। समझ में आया? शुद्धपरिणति, सद्भूत परिणति है। उसकी अपनी व्यवहार परिणति है; रागादि है, वह असद्भूत परिणति है। है या नहीं? समझ में आया? देव-गुरु-धर्म का, देव-गुरु-शास्त्र का आदर करना... कहो, ऐसा विकल्प है या नहीं? उसके ज्ञान में यह है या नहीं? है ऐसा भाव, बस! उसे यथावत् मानना चाहिए।

व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव होगा... तिरने का उपाय जो है—पर्याय है, वही व्यवहार है - ऐसा कहते हैं। किसके आश्रय से प्रगटे, यह फिर अलग वस्तु (बात) है। यह कहते हैं, देखो! **और यदि व्यवहार का पक्षपाती होकर....** अकेली परिणति और पर्याय का ही पक्षपाती होकर **निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अनुभव नहीं होगा।** तो यह निर्मल पर्याय, तत्त्व के आश्रय से होती है; तत्त्व का आश्रय छोड़ेगा तो फिर रहेगा कहाँ? आहा...! भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप अभेद वस्तु का आश्रय छोड़ेगा, निश्चय तत्त्व को छोड़ेगा तो उसके आश्रय से तो अनुभव है, उसके आश्रय से तो अनुभव होता है, उसके आश्रय से धर्म होता है। भले ही वह पर्याय है व्यवहार, परन्तु होती है द्रव्य के आश्रय से न? समझ में आया? ऐसी बड़ी गड़बड़ करते हैं।

अभूतार्थ भी विषय है या नहीं? व्यवहारनय जाननहार है तो उसका कोई विषय है या नहीं? नय विषयी है, उसका विषय है या नहीं? विषय है — ऐसा भलीभाँति इसे जानना चाहिए - ऐसा कहते हैं। नहीं जानेगा तो वह परिणति सिद्ध नहीं होगी। अकेले

www.vitragvani.com

व्यवहार को जानेगाा तो निश्चय तत्त्व के आश्रय बिना अनुभव नहीं होगा। यह शुद्ध परिणति भी निश्चय के आश्रय से होती है। समझ में आया ?

यहाँ तो जिसे आत्मा के यथार्थ फल को प्राप्त करना है, यथार्थ सुनना है, उस जीव की बात करते हैं। पक्षपात / आग्रह करके पड़े कि देखो! आया या नहीं ? इससे होता है या नहीं ? व्यवहार-रत्नत्रयरूप धर्म ही व्यवहार से होता है। इसलिए होता है व्यवहार से नहीं; है वह व्यवहार है; होता है अन्तर द्रव्य के आश्रय से। समझ में आया ? परन्तु अन्दर अभी अपूर्ण पर्याय रही, राग रहा; अभी शुद्धता अपूर्ण है। यह शुद्ध परिणति की भी सक्रियदशा है, वह व्यवहार है, भेद है। उसे न माने तो वह वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। निश्चय नहीं माने तो जिसके आश्रय से अनुभव करना है, वह तत्त्व ही नहीं रहता। समझ में आया ?

मुश्किल से समय मिला, उसमें वापस झगड़े, झगड़ा, झगड़ा। श्रावक को शुद्ध उपयोग नहीं होता — ऐसे लेख (आवें)। शुद्धोपयोग होवे तो फिर केवलज्ञान हो जाएगा। यदि श्रावक को शुद्धोपयोग होवे तो... यह क्या कहते हैं ? मोक्ष का मार्ग-तीनों श्रावक को है। इसमें नहीं आया ? श्रावक को तीनों है - यह आयेगा। समझ में आया ? २०वीं गाथा में है, देखो! २०वीं, २० वीं '**एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्**' देखो! २०वीं गाथा है। श्रावकधर्म की शुरुआत करते हुए २०वीं गाथा है।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति॥२०॥

देखो! तीनों हैं, श्रावक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों हैं। समझ में आया ? इसके बाद समकित की बात करते हैं, समकित की बात करते हैं। २१ में '**तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।**' श्रावक को सम्यग्दर्शन पूरे प्रयत्न द्वारा पहले अनुभव करना चाहिए। '**तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥२१॥**' सम्यग्दर्शन होवे तो ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है और चारित्र को चारित्र कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र नहीं होते। समझ में आया ? सब श्रावक की बात चलती है।

जो **निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अनुभव नहीं होगा।** वह व्यवहार तो भेद है। अनुभव तो तत्त्व के आश्रय से होता है, अखण्ड-अभेद का आश्रय लेने

www.vitragvani.com

से आत्मा का अनुभव होता है। व्यवहार क्रियाकाण्ड का आश्रय लेकर अनुभव नहीं होता – ऐसा कहते हैं। व्यवहार परिणति का आश्रय लेकर अनुभव नहीं होता; अनुभव तो, अभेद तत्त्व का आश्रय लेकर अनुभव होता है। उसे छोड़ेगा तो अनुभव नहीं होगा; अनुभव नहीं होगा तो परिणति शुद्ध नहीं (होगी); परिणति शुद्ध नहीं तो व्यवहार भी नहीं। यहाँ निश्चय नहीं तो व्यवहार भी नहीं — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

पहले नहीं कह गये थे? स्वसन्मुख होना, वह भूतार्थ है और स्वसन्मुख के अतिरिक्त का 'प्रायः भूतार्थ बोध विमुख' भूतार्थ बोध विमुख, वह सर्व संसार है। अकेला भूतार्थ बोध विमुख अकेला संसार अभिप्राय है; भूतार्थ बोध सन्मुख, वह सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? तो कहते हैं **अतः पहले व्यवहार-निश्चय को भले प्रकार जानकर....** निश्चय का आश्रय करने योग्य है; व्यवहार हो, वह जाननेयोग्य है — ऐसे दोनों को भलीभाँति जानकर... जहाँ-जहाँ उपदेश में बात आवे, वहाँ इस निश्चय की आवे, वहाँ अभेद की आवे, वहाँ राग का कर्ता या परिणति शुद्ध, शुद्धपरिणति करूँ —ऐसा भी वहाँ अभेददृष्टि में विकल्प नहीं है — ऐसा जहाँ कथन आवे, तब उसे अभेद से भलीभाँति समझना और उस काल में भेद का कथन आवे, उसे जानना। मुनि को पंच महाव्रत पालना, अट्ठाईस मूलगुण पालना — ऐसा आवे, लो! कहो! पालने का अर्थ कि ऐसा भाव है न? और वह भाव उससे आगे अशुभ में नहीं जाए — ऐसा शुभ का प्रयत्न भी है न? ऐसे भाव की दशा है, उसे वैसी जानना — इसका नाम व्यवहार कहा जाता है। समझ में आया?

पश्चात् यथायोग्य... यथायोग्य अर्थात्? निश्चय को निश्चय आश्रय करनेयोग्य के लिये और व्यवहार को व्यवहाररूप से जानने के लिये। **यथायोग्य इनका अंगीकार करना,....** निश्चय का आश्रय करनेयोग्य अंगीकार करना; व्यवहार को, जाननेयोग्य है — ऐसे अंगीकार करना। समझ में आया?

मुमुक्षु : कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं?

उत्तर : कारण-कार्य-फार्य है नहीं। वह व्यवहार से कारण कहा जाता है, वास्तव में नहीं। है, इतनी बात सत्य है। पूर्ण न हो, वहाँ पर्याय अधूरी है, राग मन्द होता है — इतना इसे व्यवहार को जानना चाहिए। व्यवहार को न जाने तो, तीर्थ का स्वरूप ही भेदवाला है,

www.vitragvani.com

वह नहीं रहेगा; निश्चय को न जाने तो उसके व्यवहार आश्रय से धर्म है नहीं; धर्म तो निश्चय के आश्रय से प्रगट होताा है। यथार्थ प्रगटे, परन्तु तत्त्व के आश्रय से प्रगट होता है। प्रगट हुई दशा अपूर्ण है — ऐसा न जाने तो व्यवहार नहीं रहता और प्रगटना, द्रव्य के आश्रय से है — ऐसा न जाने तो दशा प्रगट नहीं होती। समझ में आया? इस गाथा के अर्थ में बहुत गड़बड़ उठी है।

द्रव्य जो है, वह तो अक्रिय है। अक्रिय अर्थात् परिणति बिना का। वस्तु–आत्मा जो है, वह तो परिणति बिना का द्रव्य है; पर्याय बिना का, उत्पाद–व्यय बिना का (है), उसे अक्रिय कहा जाता है, उसे निश्चय कहा जाता है। वह निश्चय है, उसका आश्रय लेने के लिये; और जितना पर्याय–भेद उत्पन्न होता है, वह सब व्यवहार है। यदि व्यवहार को व्यवहार न जाने तो उत्पाद–व्यय बिना का द्रव्य हो नहीं सकता; व्यवहार बिना का निश्चय नहीं होता। निश्चय को निश्चयरूप से आश्रय न जाने तो उसके आश्रय से प्रगट हुई पर्याय की अपूर्णता, वह भी नहीं हो; इसलिए व्यवहार को व्यवहाररूप से अंगीकार करना, जानना। अंगीकार करना अर्थात् जानना; और निश्चय को निश्चयरूप से अंगीकार करना अर्थात् आश्रय करने योग्य है — ऐसा उसे जानना। कहो, समझ में आया इसमें?

अत: पहले.... पहले, देखो! यह पहले कहा। पहले क्या करना? – ऐसा कितने ही लोग कहते हैं। पहले व्यवहार–निश्चय को भलीभाँति जानना — ऐसा कहते हैं। लो! प्रथम में प्रथम निश्चय क्या? व्यवहार क्या? उसे जानना चाहिए। यह प्रथम में प्रथम श्रोता तो इतनी योग्यता चाहिए। यदि यह जानने की योग्यता न हो तो कभी समझेगा नहीं। जहाँ निश्चय की बात आयेगी वहाँ परेशान हो जायेगा कि ओहो...! यह तो हो गया तब। व्यवहार की बात आयेगी, तब कहेगा कि यह करनेयोग्य है और इससे मुक्ति होती है; इसलिए यह वास्तविक साधन है — ऐसा मानेगा और स्वभाव–साधन को भूल जाएगा। समझ में आया?

पक्षपात न करना, यही उत्तम श्रोता का लक्षण है। देखा! **यही उत्तम श्रोता का लक्षण है।** उस व्यवहार–काल में, व्यवहार गुणस्थान भेद है, वह सब व्यवहार है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन, निश्चय मोक्षमार्ग है और वह तो राग की अपेक्षा से निश्चय

www.vitragvani.com

है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से तो पर्याय स्वयं व्यवहार है। वह का वह निश्चय और व्यवहार एक द्रव्य में समाहित करना है या नहीं? समझ में आया? पर्यायरूप व्यवहार न माने तो, निश्चय मोक्षमार्ग जो रत्नत्रय है, वही नहीं — ऐसा सिद्ध होगा और निश्चय को न माने तो रत्नत्रय की परिणति (है, वह प्रगट नहीं होगी) — ऐसा कहते हैं यहाँ। समझ में आया?

लो! इसमें तो कहा था कि जिसे निश्चय का बोध नहीं और अकेला व्यवहारनय है, वह तो संसार है — ऐसा कहा था। जिसे अकेला निश्चय नहीं है और अकेला व्यवहार है; जिसे निश्चय का–अभेद का ज्ञान नहीं और अकेला भेद, राग और पुण्य आदि का (ज्ञान है), उसे तो सम्यग्दर्शन कहाँ है? ऐसे राग का ही जिसे ज्ञान है, वह तो प्राय: अतिशयरूप से यथार्थबोध से विपरीत, वह अभिप्राय संसार है – ऐसा कहते हैं। वही व्यवहार आदरणीय है – ऐसा है? जाननेयोग्य है–ऐसा कहा, वापस। समझ में आया?

वस्तु एकरूप चैतन्य भगवान अभेद चीज है। उसका अन्तर में आश्रय करना, उससे प्रगट हुई दशा, उस दशा को यहाँ, वर्तमान पर्यायरूप है; इसलिए व्यवहार कहते हैं। उस व्यवहार को–पर्यायरूप को यथावत् पर्यायरूप से जानना और द्रव्य को द्रव्यरूप से निष्क्रिय; उसका आश्रय करने से प्रगट होती है — ऐसे निश्चय को जानना। दोनों में से एक को छोड़ेगा तो एक भी नहीं रहेगा। एक को छोड़ेगा तो एक भी नहीं रहेगा। पर्याय ही नहीं तो द्रव्य नहीं रहे। पर्याय रहित द्रव्य नहीं होता; और द्रव्य नहीं है – ऐसा माने तो द्रव्य रहित पर्याय अकेली नहीं होती। निश्चय नहीं है — ऐसा माने तो अकेली पर्याय रह गयी। व्यवहार नहीं है — ऐसा माने तो अकेला द्रव्य रह गया। समझ में आया?

श्रोता का लक्षण है, उत्तम श्रोता का लक्षण है। (बात) आयी कुछ? (बात) आयी सही या नहीं इसमें? क्योंकि शास्त्र में उपदेश के कथन दो प्रकार के आते हैं। अब दो प्रकार के आवें, उसमें यदि वास्तविकता क्या है और उपचारी कथन क्या है? ऐसे मुख्य और उपचार से बात ली है न? मुख्य और उपचार स्वयं आचार्य यथार्थरूप से जानते हैं, इसलिए शिष्य के अज्ञान को टालते हैं। ऐसे शिष्य भी यदि मुख्य और उपचार, उनके (आचार्य के) जितना भले ही नहीं, परन्तु उसके खास–खास पहले लक्षण से न जाने तो

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वह सुनने का फल नहीं पा सकेगा। जहाँ व्यवहार की बात आयेगी तो कहेगा देखो, व्यवहार आया, देखो, इससे लाभ होगा — ऐसा मानेगा। निश्चय की बात आयेगी, तब कहेगा, देखो! व्यवहार कहाँ है? फिर चाहे जैसे परिणाम हो न, आत्मा को निश्चय का आश्रय हुआ, फिर परिणाम माँस खाने के हो, अमुक खाने को हो, चाहे जैसे हों उसे क्या दिक्कत है? ऐसे व्यवहार को उड़ावे तो वह खोटा है — ऐसा कहते हैं। निश्चय का भान हो, वहाँ ऐसे परिणाम माँस खाने के, शराब पीने के ऐसे भाव उसे नहीं होते। होवें तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के, खोटे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के त्याग के परिणाम वहाँ होते हैं। ऐसा व्यवहार न माने तो उसे एकान्त निश्चयाभास हुआ है, अतः उसे व्यवहार भी नहीं रहता।

केवल अकेला व्यवहार ही माने, तब तो प्रायः कहा मिथ्यादृष्टि है। अकेले व्यवहार को माने और निश्चय न माने तो व्यवहार भी नहीं रहता। निश्चय नहीं। वह व्यवहार परिणति जहाँ खड़ी हुई है, वह द्रव्य के आश्रय से खड़ी हुई है। अखण्ड अभेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। समझ में आया? गजब बात! छोड़ना नहीं, व्यवहार करना — ऐसा कहकर व्यवहार से तुझे लाभ होगा — ऐसा अर्थ करते हैं। ऐ...ई...! उसका स्पष्टीकरण होना चाहिए न? व्यवहार को छोड़ना नहीं अर्थात् व्यवहार नहीं - ऐसे छोड़ना नहीं। है; नहीं होवे तो पर्याय कहाँ से (आयेगी)? अभी पूर्ण पर्याय हुई नहीं, अभी साधकपने है, व्यवहार बीच में है, उसे व्यवहाररूप से जानना कि ऐसा भाव होता ही है। यह व्यवहार का भाव किसे होता है? जिसे अभेद का आश्रय हुआ, उसे होता है। समझ में आया?

प्रश्न : जो निश्चय-व्यवहार को जाननेरूप गुण वक्ता के बतलाये थे.... आपने तो चौथी गाथा में मुख्य-उपचार कहकर वक्ता का गुण कहा था, चौथी में है न? **'मुख्योपचारविवरण, व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्'** ऐसा तो आपने वक्ता का कहा था। **वे ही श्रोता के भी बतला दिये तो इसमें विशेषता क्या हुई?** दोनों समान हो गये। श्रोता और वक्ता समान हो गये। वक्ता का पद ऊँचा है और श्रोता का नीचा — ऐसा भेद तो रहा नहीं, सब समान हो गये।

www.vitragvani.com

उत्तर : जो गुण आधिक्यतारूप से वक्ता में होवें.... जो गुण, निश्चय और व्यवहार की यथार्थता का विशेषरूप हो, **वही गुण हीनतारूप से-थोड़े अंशों में-श्रोता में भी होना चाहिए।** वही श्रोता में थोड़े अंश में होता है; न हो तो वह श्रोता योग्य नहीं है, क्योंकि उसे, कहनेवाले को समझना है। कहनेवाला जो निश्चय-व्यवहार से कहेगा, वैसा उसे थोड़ा भी यदि निश्चय-व्यवहार का लक्ष्य न हो तो श्रोता समझ सकेगा नहीं। **इस प्रकार वक्ता और श्रोता का वर्णन किया।** वक्ता भी मुख्य और उपचार के नय का यथार्थ ज्ञाता चाहिए और श्रोता भी उनका उसकी योग्यता प्रमाण ज्ञाता चाहिए तो भूतार्थ, वह सन्मुख होने योग्य है और अभूतार्थ, वह जाननेयोग्य है — ऐसा ज्ञान को यथार्थ श्रोता पा सके। कहो, समझ में आया?

'**भूमिका समाप्त**' हो गयी। लो! यह आठ गाथा द्वारा तो भूमिका कही। समयसार में बारह गाथा द्वारा कही, यहाँ आठ (गाथा द्वारा कही।)

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

ग्रन्थ प्रारम्भ

गाथा - ९

अब ग्रन्थ का वर्णन करते हैं। इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि का उपाय बतायेंगे। अत: प्रथम ही पुरुष का स्वरूप कहते हैं।

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जित: स्पर्शगन्धरसवर्णै:।
गुणपर्ययसमवेत: समाहित: समुदयव्ययध्रौव्यै:।।९।।

वर्ण-गन्ध-रस-पर्श रहित चेतन स्वरूप है पुरुष अहो।
गुण-पर्याय सहित है व्यय-उत्पाद-ध्रौवय से युक्त अहो।।९।।

अन्वयार्थ : (पुरुष:) पुरुष अर्थात् आत्मा (चिदात्मा) चेतनास्वरूप (अस्ति) है, (स्पर्शरसगन्धवर्णै:) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से (विवर्जित:) रहित है, (गुणपर्ययसमवेत:) गुण और पर्याय सहित है, तथा (समुदयव्ययध्रौव्यै:) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (समाहित:) युक्त है।

टीका : 'पुरुष: चिदात्मा अस्ति' - पुरुष है, वह चैतन्यस्वरूप है।

भावार्थ : (पुरु) उत्तम चेतना गुण में (सेते) स्वामी होकर प्रवर्तन करे उसको पुरुष कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं। यही चेतना अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असम्भव इन तीन दोषों से रहित इस आत्मा का असाधारण लक्षण है। अव्याप्ति दोष उसे कहते हैं कि जिसको जिसका लक्षण कहा गया हो वह उसके किसी लक्ष्य में हो और किसी लक्ष्य में न हो। परन्तु कोई आत्मा चेतना रहित नहीं है।

www.vitragvani.com

यदि आत्मा का लक्षण रागादि कहें तो अव्याप्ति दूषण लगता है क्योंकि रागादिक संसारी जीवों में हैं, (परन्तु) सिद्ध जीवों में नहीं हैं। जो लक्षण लक्ष्य में हो और अलक्ष्य में भी हो उसे अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं परन्तु चेतना जीव पदार्थ के अलावा किसी अन्य पदार्थ में नहीं पायी जाती। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्तत्व कहें तो अतिव्याप्ति दूषण लगता है। कारण कि जिस तरह आत्मा अमूर्तिक है, उसी तरह धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी अमूर्तिक हैं तथा जो प्रमाण में न आये उसे असम्भव कहते हैं। चेतना, जीव पदार्थ में, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से जानी जाती है। यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहें तो असम्भव दोष लगता है, कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। इस प्रकार तीनों दोष रहित आत्मा का चेतन लक्षण दो प्रकार है। एक ज्ञानचेतना और दूसरी दर्शनचेतना। जो पदार्थों को साकाररूप विशेषता से जाने उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

जो पदार्थों को निराकाररूप सामान्यता से देखे उसे दर्शनचेतना कहते हैं। यही चेतना परिणामों की अपेक्षा से तीन प्रकार की है। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से परिणमन करती है तब ज्ञानचेतना, जब रागादि कार्यरूप से परिणमन करती है तब कर्मचेतना, और जब हर्ष-शोकादि वेदनरूप कर्म के फलरूप परिणमन करती है तब कर्मफलचेतना कही जाती है। इस प्रकार चेतना अनेक स्वांग करती है फिर भी चेतना का अभाव कभी नहीं होता। इस भाँति चेतना लक्षण से विराजमान जीव नामक पदार्थ को पुरुष कहते हैं। पुनः कैसा है पुरुष? 'स्पर्श रस गन्ध वर्णैः विवर्जितः' – स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित है। आठ प्रकार के स्पर्श, दो प्रकार की गन्ध, पाँच प्रकार का रस और पाँच प्रकार का वर्ण, ऐसे जो पुद्गलों के लक्षण हैं, उनसे रहित अमूर्तिक है। इस विशेषण से पुद्गल द्रव्य से भिन्नता प्रगट की। कारण कि यह आत्मा अनादिकाल से सम्बन्धरूप जो पुद्गल द्रव्य है उसमें अहंकार-ममकाररूप प्रवर्तन करता है। जो अपने चैतन्य पुरुष को अमूर्तिक जाने तो द्रव्यकर्म, नोकर्म, धन-धान्यादि पुद्गल द्रव्य में अहंकार-ममकार न करे।

पुनः कैसा है पुरुष? 'गुणपर्ययसमवेतः' – गुण-पर्यायों से विराजमान है अर्थात् द्रव्य है, वह गुण-पर्यायमय है अतः आत्मा भी गुण-पर्यायों सहित विराजमान है। वहाँ गुण का लक्षण सहभूत है। सह अर्थात् द्रव्य के साथ, भू अर्थात् सत्ता। द्रव्य में जो सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते हैं। आत्मा में गुण दो प्रकार के हैं। ज्ञान-दर्शनादि

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

असाधारण गुण हैं, वह अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि साधारण गुण हैं, जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। जो द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो, कदाचित् – कोई वार हो उसे पर्याय कहते हैं। आत्मा में पर्याय दो प्रकार की हैं। जो नर–नारकादि आकाररूप अथवा सिद्ध के आकाररूप पर्याय है, उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। ज्ञानादि गुणों का भी स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन है, वह छह प्रकार से हानि–वृद्धिरूप है, उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन गुण–पर्यायों से आत्मा की तादात्मक एकता है। इस विशेषण से आत्मा का विशेष्य जाना जा सकता है।

पुनः कैसा है पुरुष? 'समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः' – उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से संयुक्त है। नवीन अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का उत्पन्न होना वह उत्पाद, पूर्व पर्याय का नाश होना वह व्यय और गुण–अपेक्षा अथवा द्रव्य–अपेक्षा से शाश्वत रहना वह ध्रौव्य है। जिस प्रकार सोना कुण्डल पर्याय से उत्पन्न होता है, कंकण पर्याय से नष्ट होता है तथा पीतादिक की अपेक्षा अथवा स्वर्णत्व की अपेक्षा सभी अवस्थाओं में शाश्वत है। इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व प्रगट किया।।९।।

गाथा ९ पर प्रवचन

अब, **ग्रन्थ प्रारम्भ...**

अब ग्रन्थ का वर्णन करते हैं। इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि का उपाय बतायेंगे। 'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय'। पुरुष की सिद्धि। पुरुषार्थ – ऐसा है न? पुरुष के अर्थ की / प्रयोजन की सिद्धि के उपाय का व्याख्यान करेंगे। पुरुष के प्रयोजन का व्याख्यान करेंगे न? स्त्री के प्रयोजन का व्याख्या नहीं करे? पुरुष (का) अर्थ यहाँ, पुरुष की अर्थात् ही आत्मा। यहाँ पुरुष अर्थात् (आत्मा) यह अर्थ लेना है। यह कहते हैं। देखो!

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।।९।।

पुरुष अर्थात् आत्मा। यहाँ तो पुरुष शब्द से आत्मा कहना है। स्त्री और पुरुष, यह तो कर्मजनित पर्याय है, यह कोई आत्मा नहीं। **पुरुष अर्थात् आत्मा 'चिदात्मा'**

www.vitragvani.com

चेतनास्वरूप 'अस्ति' है,.... देखो! महा सिद्धान्त उठाया है। भगवान आत्मा तो चेतनास्वरूप है। समझ में आया? पुरुष अर्थात् आत्मा, वह तो चेतनास्वरूप है। **'अस्ति' है,....** क्या नहीं? **स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित है,....** चेतनास्वरूप सहित है; स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है। अस्ति–नास्ति की है। पर से अकेला पृथक्, रूपी से पृथक् किया। समझ में आया? उसे उनका सम्बन्ध है नहीं।

'गुणपर्ययसमवेत:' कैसा है पुरुष आत्मा? **गुण और पर्याय सहित है,... 'गुणपर्ययसमवेत:'** सहित है, एक बात। इस–इसके ही तीन भेद किये। **'समुदयव्यय–ध्रौव्यै:'** संयुक्त है। **उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य....** उत्पाद–व्यय और ध्रुवसहित है। **युक्त है।** आत्मा की बात शुरु करने से पहले यह रखा — उत्पाद–व्यय और ध्रुव। उससे कितनेक वर्ष पहले पूछा कि उत्पाद–व्यय और ध्रुव सूत्र में कहाँ है? यह कोई प्रश्न आया नहीं हमारे। लो! स्थानकवासी... (संवत्) १९७९ में कहा — उत्पाद–व्यय और ध्रुव (यह) पाठ ३२ सूत्र में कहाँ है? इतना कहो। मूल इकहत्तर हजार श्लोक में कहाँ है? ऐसा प्रश्न आया नहीं। कहो, ठीक! हम समकिती तो बहुत अधिक हैं, अब चारित्र किसका निर्मल है – यह देखने आया हूँ, ठीक! समकित किसे कहना? कि तेरापन्थी को न माने और मूर्ति को न माने, वह समकित। जाओ! तेरापन्थी, इन स्थानकवासी के विरोधी है न! आहाहा!

यहाँ तो शुरुआत करते हुए पहली बात ली। समयसार में भी दूसरी गाथा ली **'जीवो'** उसमें... सात बोल लिये। टीका (में)। उत्पाद–व्ययसहित है, ध्रुव सहित है। सात बोल लिये हैं। शुरुआत से यह बात ली है। जीव कौन है? कैसा है?

टीका : 'पुरुष: चिदात्मा अस्ति' – पुरुष है, वह चैतन्यस्वरूप है। देखो! यह। ऐसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित है — ऐसा कहा, परन्तु ऐसे पुरुष चैतन्यस्वरूप है — ऐसा कहकर, विकार रहित है – ऐसा साथ में कहा। समझ में आया? भगवान आत्मा उसे कहते हैं कि जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं तथा जिसमें पुण्य और पाप का राग भी नहीं, उसे पुरुष अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा कहते हैं। समझ में आया? ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन कहा (है)। फिर यह व्याख्या लेंगे। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अब, जरा इसकी व्याख्या। **'पुरुषः'** पुरुष में से निकाला अब। **'पुरु'** अर्थात् **उत्तम चेतना गुण में.... 'पुरु' उत्तम चेतना गुण में 'सेते' स्वामी होकर प्रवर्तन करे....** भाषा देखो! सहजात्म स्वरूप....

मुमुक्षु : शब्दकोष में है यह?

उत्तर : हाँ, शब्दकोष में... उस शब्दकोष का ही यह स्वयं है कोष। यह आगम का रहस्य कोष है।

'पुरु सेते' पुरुष **'पुरु सेते''पुरु'** उत्तम चेतनागुण जिसका, ज्ञान-दर्शनगुण जिसका, उसमें **'सेते' स्वामी होकर प्रवर्तन करे....** सहजस्वरूप चैतन्य का स्वामी होकर प्रवर्ते, उसे पुरुष कहते हैं। राग और पुण्य तथा पर का स्वामी होकर प्रवर्ते, उसे पुरुष / आत्मा नहीं कहते। समझ में आया? पुरुष उसे कहते हैं कि भगवान आत्मा अपनी उत्तम चेतनाशक्तिरूप गुण, उसमें **'सेते'** — उसका स्वामी होकर - उसका मालिक होकर रहे, होकर प्रवर्ते। भगवान आत्मा शुद्ध चेतनास्वरूप उसका, उसमें एकाकार होकर, स्वामी होकर, मालिक होकर, अभेद होकर प्रवर्ते, उसका नाम पुरुष कहते हैं। लो! समझ में आया? पुरुष की व्याख्या ही ऐसी ली है एकदम।

आत्मा, उसे पुरुष कहते हैं कि वह आत्मा चेतनास्वरूपसहित है। उस चेतनास्वरूप में जो स्वामी होकर अन्तर प्रवर्ते, वह पुण्य और पाप का, राग, कर्म और देहादि पर का स्वामी होकर प्रवर्ते नहीं। वे नकार (नास्ति) में जाते हैं। अपने चैतन्यस्वरूप का स्वामी होकर प्रवर्ते, उसे पुरुष कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

राग-विकल्प-व्यवहार-पुण्य आदि, ये कहाँ चेतनास्वरूप है? ये चेतनास्वरूप नहीं, इसलिए ये कहाँ आत्मा है? व्यवहार के विकल्प उठते हैं, रागादि के-व्यवहाररत्नत्रय के — वे कहाँ आत्मा है? वे कहाँ चैतन्यस्वरूप है? वे तो चैतन्यस्वरूप से रहित है। चैतन्यस्वरूपसहित तो आत्मा है। वह आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप में अन्तर मालिकरूप से-स्वामीरूप से परिणमे / प्रवर्ते। समझ में आया? अर्थात् आत्मा चैतन्यस्वरूप जो उसका गुण है, उसके स्वामीपने, परिणतिरूप से परिणमे। समझ में आया?

प्रवर्तन करे, उसको पुरुष कहते हैं। आत्मा अपने चेतना — दर्शन-ज्ञानचेतना;

www.vitragvani.com

उसमें स्वामी होकर, एकाकार होकर परिणति शुद्धपने परिणमे, उसे आत्मा कहते हैं, उसे पुरुष कहते हैं। 'जेतें जीव्याते हूँ जीत्यो पुरुष जीत्यो मुझ नाम' आनन्दघनजी में अजित भगवान की स्तुति में आता है। हे भगवान! 'अजीत जिनेश्वर प्रीतम मारो... अजित जिनेश्वर का। जो तें जीत्या रे, तेने हूँ जीत्यो' — प्रभु! आपने तो विकार को जीता, इसलिए आप पुरुष हो। मैं विकार से जीता गया, प्रभु! मैं पुरुष कैसे होऊँ? आहाहा! यहाँ जीतना, यह नास्ति से है। ऐसा न लेकर अपने स्वभाव का चैतन्य ज्ञान-दर्शनपना जो स्वभाव, उसमें आत्मा उसका स्वामी होकर अर्थात् उसका अर्थ कि उसमें अभेद होकर प्रवर्ते, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की... दर्शन-ज्ञान का स्वामी होकर प्रवर्ते, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति होती है। उसे पुरुष और आत्मा कहते हैं। वाह...! उसे दर्शन-ज्ञानस्वरूप, ऐसा चेतना भगवान आत्मा की, उसके साथ परिणमे, उसके साथ एकाकार होकर, उसके साथ सोये-प्रवर्ते। समझ में आया?

स्वामी होकर प्रवर्तन करे उसको पुरुष कहते हैं। सोये ऐसा कहीं लिया... सोता है। जैसे पुरुष, स्त्री के समीप में सोता है, वह तो नपुंसक है। भगवान आत्मा अपने चैतन्यपुर में, नगर में, भाव में, स्वभाव में प्रवर्तकर रहे, उसे पुरुष कहते हैं। ओहोहो! व्याख्या! अथवा जिसके समीप में तो शुद्धचेतना ही वर्तती है। रागादि से वह दूर वर्तता है, पुण्य-पाप के विकल्पों से दूर वर्तता है — ऐसा नास्ति से न लेकर, अस्ति से बात ली है। इनकी शैली है न? 'नमः समयसाराय' — ऐसा लिया है न? अस्ति से लिया है न? 'नमः समयसारायः' — वहाँ अजीव, आस्रव और बन्ध न लेकर, अकेला आत्मा, उसका गुण और संवर, निर्जरा, मोक्ष — ये अस्ति-तत्त्व लिये हैं। अमृतचन्द्राचार्य की शैली, गजब की शैली है।

'पुरुषः चिदात्मा अस्ति' वह अपने में स्वामी होकर सोये। चैतन्य के स्वरूप का स्वामी होकर, उसके साथ पोढ़े अर्थात् शुद्धपरिणति प्रगट करे। द्रव्य आत्मा, उसका चेतना शक्तिरूप गुण, उसका स्वामी होकर (प्रवर्ते)। इस राग का स्वामी होकर, पर का स्वामी होकर परिणमे, उसे आत्मा ही नहीं कहते - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? भगवान की सोड तो चैतन्यस्वरूप की है, कहते हैं। भगवान आत्मा चैतन्य-ज्ञान और

www.vitragvani.com

दर्शन का जो चेतनास्वभाव, उसे सोड में लेकर उसमें सोये और उसका परिणते करे, उसे आत्मा कहा जाता है। आहाहा! गजब व्याख्या, भाई! समझ में आया?

दिगम्बर मुनियों के एक–एक शब्द ही कोई अलग प्रकार के हैं। समझ में आया? श्रावकाचार का वर्णन करना है। उसके पहले आत्मा ऐसा, यह वर्णन करके उसकी सिद्धि का उपाय कहेंगे। आहाहा! समझ में आया? अपने चेतन में... लो! भाई ने कहा पूर अर्थात् पूर, नगर ऐसा। अपना पूर–चैतन्य का पूर, चैतन्य का पूर चेतना। उसके नगर में सोये, अभेद होकर परिणति करे। आहाहा! उसे, कहते हैं कि हम पुरुष कहते हैं, उसे हम आत्मा कहते हैं। जो कोई पुण्य और पाप के विकल्पों को सोड में एकत्व होकर सोवे, उसे हम आत्मा नहीं कहते। आहाहा! कहो, शोभालालजी! यह तो समझ में आवे, ऐसी बात है, हों! गुजराती भाषा कोई ऐसी बहुत (कठिन) नहीं है। यह गुजराती कहीं ऐसी नहीं है; समझ में आये ऐसी है। सूक्ष्म पड़ता है इन्हें? पड़ता होगा। आहा...हा...!

ज्ञान, दर्शन, चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं। लो! ज्ञान। वह चेतना शब्द था न सामान्य? उसके दो भाग किये — ज्ञान और दर्शन। जानना और देखना — ऐसी जो चेतना, उसका नाथ जो आत्मा। है, उसका रक्षण करे और नहीं, उसे विशेष प्राप्त करे, उसे नाथ कहते हैं। जोगक्षेम का करनेवाला, उसे नाथ कहते हैं। प्राप्त चीज का रक्षण करे और अप्राप्त को मिला दे। ऐसे आत्मा अपना चेतनागुण जो दर्शन और ज्ञान, उनका वह नाथ है। उसकी शुद्धपरिणति, उसने अभेद में की है और अभी शुद्ध कम हो, उसे पूर्ण करेगा; इसलिए उस चेतना का नाथ, उसे आत्मा / पुरुष कहा जाता है। आहाहा! गजब व्याख्या भाई!

विकल्प आदि उत्पन्न हो, देहादि की क्रिया (हों), उनमें जो सोये अर्थात् एकाग्र हो, और 'ये मेरे' — ऐसा माने, उसे तो कहते हैं कि हम आत्मा ही नहीं कहते, उसे पुरुष ही कहते नहीं न! समझ में आया? ज्ञान, दर्शन जो उसका–चेतना का स्वभाव है, उसमें जो आत्मा उसका नाथ होकर वर्ते, उसे पुरुष कहते हैं। वह चेतना उसका लक्षण और गुण बराबर है। इसके अतिरिक्त उसका दूसरा लक्षण सच्चा नहीं है — ऐसा ये तीन दोषरहित बताकर सिद्ध करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११ गाथा–९ शनिवार, माघ कृष्ण १२, दिनांक ०७.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय', 'अमृतचन्द्राचार्य' कृत। गाथा ९ शुरु होती है। पुरुषार्थसिद्धि के पुरुष की व्याख्या करते हैं।

भावार्थ : 'पुरु' उत्तम चेतना गुण में 'सेते' स्वामी होकर प्रवर्तन करे उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष अर्थात्? इसकी व्याख्या करते हैं। फिर अर्थ, अर्थात् उसका प्रयोजन और सिद्धि अर्थात् क्या किया जा सकता है, उसका उपाय। ऐसे चार बोल इसमें हैं। पुरुष की व्याख्या, कि अपना जो उत्तम चेतनागुण — जानने–देखनेरूप गुण, उसमें स्वामी होकर, उसका मालिक होकर, नाथ होकर उसमें प्रवर्ते, उसका नाम पुरुष कहते हैं।

ज्ञान, दर्शन, चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं। चेतना की व्याख्या हुई दो — जानना और देखना। ऐसी जो चेतना, उसका जो नाथ, उसे पुरुष कहते हैं। कल यहाँ तक आया था। **यही चेतना अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असम्भव इन तीन दोषों से रहित इस आत्मा का असाधारण लक्षण है।** क्या कहते हैं? यह चेतना, यह आत्मा का सब दोषरहित लक्षण है – ऐसा कहते हैं। कौन–कौन से दोष हैं? कि अव्याप्ति एक दोष है, अतिव्याप्ति दोष है और असम्भव (दोष है)। इतन तीन दोषरहित यह आत्मा का असाधारण चेतना लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा जाना जा सकता है।

अव्याप्ति दोष उसे कहते हैं कि जिसको जिसका लक्षण कहा गया हो.... अव्याप्ति (अर्थात्) सब में वह लक्षण व्यापता नहीं। **उसे जिसका लक्षण कहा, वह उसके किसी लक्ष्य में हो और किसी लक्ष्य में न हो।** उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। **परन्तु कोई आत्मा, चेतनारहित नहीं है।** परन्तु कोई आत्मा, चेतनारहित नहीं है; इसलिए उसे अव्याप्तिदोष लागू नहीं पड़ता। समझ में आया? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' में आता है। अव्याप्ति — नहीं व्यापना। चेतनापना तो आत्मा की प्रत्येक अवस्था में उसका लक्षण व्यापता है। किसी में व्यापे और किसी में न हो — ऐसा यह लक्षण नहीं है। क्या कहते हैं इस अव्याप्ति का लक्षण?

यदि आत्मा का लक्षण रागादि कहें... राग, वह आत्मा का लक्षण कहें **तो**

www.vitragvani.com

अव्याप्ति दूषण लगता है क्योंकि रागादिक संसारी जीवों में हैं, (परन्तु) सिद्ध जीवों में नहीं हैं। तो सभी जीवों को लागू नहीं पड़ा। आगे चेतना के तीन लक्षण कहेंगे, हों! चेतना के तीन (लक्षण) — ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना — ऐसे कहेंगे। वह तो चेतना के प्रकार वर्णन कर करेंगे। चेतना जो है जानना-देखना, वह इसका असाधारण लक्षण है। जो कहीं अन्यत्र हो नहीं और इसकी (आत्मा की) सभी अवस्थाओं में हो और इसके अतिरिक्त दूसरों में न हो। कहो, समझ में आया इसमें? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' में शुरुआत में आता है, यह आता है। आत्मा का लक्षण रागादि कहें कि राग, वह आत्मा को बतलाता है – ऐसा कहें, उसका लक्षण कहें, तब तो सिद्ध में राग नहीं है; इसलिए यह लक्षण सच्चा नहीं है।

जो लक्षण लक्ष्य में हो और अलक्ष्य में भी हो.... जिसे सिद्ध करना है, उसमें भी वह लक्षण हो और नहीं सिद्ध करना, ऐसी दूसरी चीज में भी वह हो, **उसे अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं...** उसे अतिव्याप्ति नामक दोष कहा जाता है। **परन्तु चेतना, जीव पदार्थ के अलावा किसी अन्य पदार्थ में नहीं पायी जाती।** जानने-देखने का जो चेतना लक्षण, वह आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है; इसलिए यह अतिव्याप्ति दोष भी चेतना लक्षण में नहीं आता। यह न्याय देते हैं। **यदि आत्मा का लक्षण अमूर्तत्व कहें....** ऐसा। ऐसी शैली (की है)। उसमें बाद में कहा तो इसमें भी बाद में कहते हैं। यदि आत्मा का लक्षण अरूपी है — ऐसा कहें, अमूर्त है – ऐसा कहें **तो अतिव्याप्ति दूषण लगता है। कारण कि जिस तरह आत्मा अमूर्तिक है, उसी तरह धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी अमूर्तिक हैं....** चारों ही हैं न अमूर्तिक? आत्मा में ही अमूर्तपना है और दूसरों में नहीं – ऐसा नहीं है। जो आत्मा में ही हो, वह उसका वास्तविक लक्षण कहलाता है। दो बोल हुए। कौन से दो बोल?

अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष, चेतना लक्षण में नहीं आते, क्योंकि चेतना लक्षण आत्मा की प्रत्येक दशा में उसे होता है और उसका लक्षण उन दूसरों में नहीं होता। प्रत्येक में होता है; इसलिए अव्याप्ति नहीं और दूसरों में नहीं होता; इसलिए अतिव्याप्ति नहीं।

अब, असम्भव की व्याख्या करते हैं। **तथा जो प्रमाण में न आये, उसे**

www.vitragvani.com

असम्भव कहते हैं। क्या कहते हैं? जिसके ज्ञान में वह न आवे, प्रमाण में न आवे, उसे असम्भव कहते हैं। **चेतना, जीव पदार्थ में, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से जानी जाती है।** चेतना, जीव नामक पदार्थ में या तो प्रत्यक्ष ज्ञात होती है या परोक्ष ज्ञात होती है। प्रमाण से वह ज्ञात हो - ऐसी चीज है। समझ में आया? **चेतना, जीव पदार्थ में, प्रत्यक्ष....** ज्ञात होती है वेदन से-स्वसंवेदन से अथवा अनुमान परोक्ष प्रमाण से भी ज्ञात होती है कि यह ज्ञान, वह आत्मा; चेतना, वह आत्मा। इसलिए प्रमाण से भी वह चेतना लक्षण अबाधितरूप से सिद्ध होता है। उसे असम्भव दोष नहीं लगता। उसमें यदि मूर्तपना कहो तो असम्भव (दोष लगता है)। यह प्रमाण में-ज्ञान में है नहीं।

यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहें.... तो वह प्रमाण में नहीं आता - ऐसा कहते हैं। वह तो पर में गया। अपने ज्ञान में प्रत्यक्षरूप से-परोक्षरूप से वह नहीं आता; प्रत्यक्षरूप से, परोक्षरूप से तो चेतना से ही आत्मा ज्ञात होता है। समझ में आया? **यदि आत्मा का लक्षण जड़पना कहें तो असम्भव दोष लगता है, कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।** प्रत्यक्ष प्रमाण में जड़पना, आत्मा में नहीं है; प्रत्यक्ष प्रमाण से चेतनास्वरूप आत्मा है — ऐसा सिद्ध होता है। कहो, समझ में आया? प्रमाण डालकर 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' की अपेक्षा थोड़ा अधिक स्पष्ट किया है।

इस प्रकार तीनों दोष रहित आत्मा का चेतन लक्षण दो प्रकार है। भगवान आत्मा-चेतनास्वभाव, उसके चेतनास्वभाव द्वारा वह आत्मा ज्ञात हो ऐसा है। लक्ष्य हो सके, चेतना लक्षण द्वारा लक्ष्य हो सकता है। अमूर्त से नहीं, राग से नहीं और मूर्त से भी नहीं। मूर्त अर्थात् जड़। जड़ (लक्षण) से भी वह ज्ञात नहीं होता। समझ में आया? राग द्वारा ज्ञात नहीं होता - ऐसा कहते हैं। ऐ...ई...! राग द्वारा नहीं जाना। वह विकल्प है, उसके द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता। जानने-देखने का स्वभाव — चेतना, उसके द्वारा यह चेतन, उसके द्वारा यह आत्मा, लक्षण से लक्षित होता है। राग इसका लक्षण नहीं कि जिससे इसका लक्ष्य हो। समझ में आया?

सामान्य रीति से सिद्ध करें, तब राग को भी लक्षण (कहें)। प्रवचनसार में है। प्रवचनसार में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लिये हैं न? यह साधारण बात ली है। राग होवे, वहाँ

www.vitragvani.com

आत्मा होता है – ऐसा बताना है। वहाँ ऐसा लिया है। यहाँ तो अकेली चेतना। आगे बाद में भाग करेंगे। कर्मचेतना आदि। ये चेतना के प्रकार हैं, परन्तु चेतना से ऐसा ज्ञात होता है कि यह आत्मा है, वही उसका वास्तविक लक्षण है। लो! आत्मा को प्राप्त करने के लिये चेतना साधन है – ऐसा कहते हैं। यह तो सब बात उड़ गयी। व्यवहार और दया, दान के विकल्प से आत्मा प्राप्त होता है – यह बात इसमें नहीं आती। कहो, समझ में आया इसमें?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप शुद्ध आनन्दमूर्ति, चिद्स्वरूप इस चेतना द्वारा जाना जा सकता है। उसके अन्दर के ज्ञान का जागृतपना होकर वह आत्मा में ज्ञात हो – ऐसा है। राग से, मूर्त से, अमूर्त से ज्ञात हो — ऐसा वह नहीं। समझ में आया?

यह चेतना... देखो! यह धर्म की बात चलती है। आत्मा, ज्ञान-दर्शन के परिणाम चेतना द्वारा आत्मा है — ऐसा ज्ञात होता है – ऐसा कहते हैं। शरीर द्वारा – यह मूर्त है, यह जड़ है, वाणी-मन से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है; रागादि से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। दोनों प्रकार से निकाल दिया। अजीव और आस्रव दो तत्त्व निकाल दिये। लो! दूसरे प्रकार से कहा। समझ में आया? भगवान आत्मा, इसमें महा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसमें अतीन्द्रिय शान्ति पूर्ण पड़ी है, उसमें पूर्ण ज्ञान की शक्ति का सत्व पूरा पड़ा है। ऐसे भगवान आत्मा को श्रद्धा आदि से वर्णन न करते हुए, ज्ञान से वर्णन किया है, क्योंकि सब जगह वे होते नहीं। ज्ञान—जानने-देखने के स्वभाव से वह पकड़ा जा सकता है, लक्ष्य लिया जा सकता है। इस लक्षण द्वारा लक्ष्य लिया जा सकता है। जानने-देखने के भाव द्वारा वह ध्येय में आ सकता है – ऐसा कहते हैं।

यह चेतना दो प्रकार से है। **एक ज्ञानचेतना और दूसरी दर्शनचेतना।** इसकी व्याख्या। चेतना के दो प्रकार के नाम दिये। अब इनकी व्याख्या। **जो पदार्थों को साकाररूप विशेषता से जाने, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।** यह ज्ञान, पदार्थ को साकार अर्थात् विशेषरूप से, भेद से, अनेक प्रकार के उसके प्रकार हों, उन द्वारा विशेषरूप से जाने, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। ज्ञान ऐसे विशेष सबको जाने। यह आत्मा है, यह गुण है, यह है, वह है। ज्ञान में अनेक प्रकार की विशेषताओं सहित जो ज्ञान में आवे, उसे-साकाररूप विशेष को ज्ञानचेतना कहा जाता है।

www.vitragvani.com

आकार अर्थात् उसमें रूपी आकार आता होगा या नहीं? साकार है न आकार? क्या आकार आता होगा? ऐ...ई! जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में आया नहीं? उसमें आया नहीं साकार-बाकार का? ज्ञान में भिन्न-भिन्नता पदार्थ की जैसी गुण आदि की है — ऐसा विशेषरूप से यह द्रव्य, यह गुण — ऐसे भेदरूप ज्ञान में ज्ञात हो, उस ज्ञान को साकार कहने में आता है। है तो अरूपी; साकार-फाकार यहाँ रूपी नहीं। समझ में आया? एक स्थानकवासी साधु (संवत्) १९९९ में मिला था वहाँ, ज्ञान को साकार कहा है, हों! मूर्त कहा, रूपी कहा है। कहो, मारवाड़ी था, मारवाड़ी जवान। खास मिलने के लिये आया था। घोड़ा होता है न? क्या कहलाता है वह? रेसकोर्स। यह मूर्त है, मूर्त, हों! साकार, ज्ञान तो साकार, रूपी है। जवान साधु था। वे 'किशनलालजी' साधु थे न? किशनलालजी मारवाड़ी, सौभाग्यमलजी और उनके साथ थे वे। वह फिर उनकी ओर आ चढ़ा। यह साकार कहते हैं, इतना भी पता नहीं होता। साकार अर्थात् मूर्तपना हुआ, साकार अर्थात् उसमें आकार पड़ते हैं, आकार। ज्ञान को आकार होते हैं। अब उस आकार की यहाँ कहाँ बात है? यहाँ तो ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार से द्रव्य-गुण-पर्याय के जैसे भेद हैं, उस प्रकार से विशेष से जाने, उसे यहाँ साकार कहने में आता है।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह आता है, साकार विशेष स्व आकार। जोड़णी कोष में (आता है)। तब वह उलझा होगा और कितने वर्ष की दीक्षा हो। यह कुछ पता नहीं पड़ता (कि) क्या वस्तु है? सीधे हो गये साधु, लो! और दूसरे भी बेचारे जय नारायण! वस्तु क्या है — इसका अभी दृष्टि का पता नहीं पड़ता, ज्ञान का पता नहीं पड़ता, वर्तन तो कहाँ से आया?

कहते हैं कि साकार अर्थात् **विशेषता से जाने**... देखो! वस्तु को यह आत्मा चैतन्यस्वरूप से है, आनन्दरूप है, ज्ञान आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण के आकार अर्थात् विशेषरूप से जाने, उसे साकारचेतना / ज्ञानचेतना कहा जाता है।

जो पदार्थों को निराकाररूप सामान्यता से देखे.... इसकी व्याख्या साथ की साथ है। साकाररूप विशेषपना, निराकाररूप सामान्यपना - ऐसा। जो दर्शनचेतना सामान्य-भेद पाड़े बिना, 'है सामान्य सत्तारूप' — इतना। सत्ता है — ऐसा भी नहीं है। है — ऐसा

www.vitragvani.com

सामान्यरूप से जिसके दर्शन में, उपयोग में आवे, भेद न आवे — ऐसी दर्शनचेतना को अनाकारचेतना कहा जाता है। समझ में आया? **यही चेतना....** यही चेतना दो प्रकार से जो कही। पहली एक प्रकार से चेतना कही; उसके दो प्रकार किये — ज्ञान और दर्शन। वही चेतना अब तीन प्रकार से वर्णन करते हैं। समझ में आया?

भगवान आत्मा अनन्त गुण शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा। पुरुष कहा न? चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसमें अनन्त गुणरूप आत्मा। उसका चेतना लक्षण है। वह चेतना से जाना जा सकता है। चेतना दो प्रकार की — साकार और निराकार, ज्ञान और दर्शन। उसके ही अब तीन प्रकार किये जाते हैं। एक, दो और तीन — ऐसे प्रकार पाड़े। पहला चेतना लक्षण एक प्रकार पाड़ा; उसके दो भेद–ज्ञान और दर्शन कहे। उसके तीन भेद पाड़ते हैं।

यही चेतना परिणामों की अपेक्षा से.... देखो! समझ में आया? पर्याय की अपेक्षा से, अवस्था की अपेक्षा से तीन प्रकार की चेतना कहने में आती है। **जब यह चेतना शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से परिणमन करती है....** जब वह चेतना, शुद्ध चैतन्य का लक्ष्य करके शुद्ध चेतनारूप से निर्मलपने — सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रपने परिणमे, **तब ज्ञानचेतना कही जाती है,....** उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। पहली ज्ञानचेतना की व्याख्या साकाररूप से की थी और दर्शन की निराकाररूप से। अब इस चेतना के परिणाम के तीन प्रकार (कहते हैं)। समझ में आया?

जब यह चेतना.... भगवान आत्मा की चेतना, चेतन की चेतना। शुद्धज्ञान–स्वभावरूप — अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव - उसरूप से वह ज्ञान, ज्ञान के परिणमनरूप परिणमे, तब उसे शुद्ध ज्ञान चेतना, उसे मोक्षमार्ग की पर्याय को ज्ञानचेतना कहने में आता है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अनन्त शक्ति गुण सम्पन्न प्रभु को चेतना द्वारा पकड़ा जा सकता है। उस चेतना के दो प्रकार पाड़कर, अब उसके परिणाम के तीन प्रकार कहते हैं। उसमें चेतना शुद्धस्वभाव को पकड़कर जो ज्ञान निर्मलपने अपने परिणमन की शुद्धता द्वारा, शान्ति द्वारा जो ज्ञानचेतना परिणमे, उसे ज्ञानचेतना अर्थात् मोक्ष के मार्ग की चेतना कहा जाता है। समझ में आया? कहो, माँगीरामजी! ऐसे मोक्ष के मार्ग की चेतना।

www.vitragvani.com

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु का लक्ष्य करके जो ज्ञान पवित्ररूप से सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और शान्तिरूप से, स्व-संवेदन के ज्ञानरूप जो चेतना का परिणमन होता है, उसे यहाँ ज्ञानचेतना कहते हैं। ज्ञान में एकाग्र हुआ, जो चेतना वह परिणाम, ज्ञानचेतना हुई। ज्ञानचेतना, वह आत्मा को पूर्ण मुक्तिरूपी दशा का कारण है। समझ में आया?

जब रागादि कार्यरूप से परिणमन करती है.... दूसरे कार्यरूप से नहीं, दूसरे के कार्य कर नहीं सकता। शरीर का कार्य, वाणी का कार्य या यह पर की दया पालने का (कार्य), यह तो यहाँ बात है नहीं। मात्र वह जब शुभ और अशुभरागरूपी कार्य... लो! शुभ या अशुभरागरूपी कार्यरूप। वह ज्ञानचेतना अथवा दर्शनचेतना है, जो चेतना यह ऐसे रागरूप अर्थात् राग के कार्यरूप हो, तब उसे कर्मचेतना कहते हैं। उस राग में चेतना एकाग्र हो गयी। उस कर्म अर्थात् रागरूपी कार्य में चेतना एकाग्र हो गयी; इसलिए उसे कर्मचेतना कहा जाता है, कि जो कर्मचेतना बन्ध का कारण है। समझ में आया? राग-द्वेष, पुण्य-पाप के परिणामरूप, पुण्य के भावरूप भी चेतना परिणमे तो वह रागरूप से परिणमित हुई चेतना है - ऐसा कहते हैं। उसे कर्मचेतना कहते हैं। शुभरागरूप परिणमे तो उसे कर्मचेतना कहते हैं। यह चेतना, आत्मा के मोक्ष के मार्ग में विघ्न करनेवाली है। समझ में आया?

जब हर्ष-शोकादि वेदनरूप कर्म के फलरूप परिणमन करती है.... वजन यहाँ है। पहले कार्यरूप था, यहाँ फलरूप है। जब वह चेतना, हर्ष और शोक, रति और अरति, दिलगिरी और हर्ष — ऐसे विकार के वेदनरूप कर्म के अर्थात् राग-द्वेष के फलरूप परिणमे, विकारी परिणाम से परिणमे... ऐसा कहकर यह कहा कि वह कर्म के उदयरूप नहीं परिणमति; पर की अवस्थारूप वह चेतना नहीं होती। चेतना अपने में हर्ष और शोकरूप परिणमति है, उसे कर्मफलचेतना कहा जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मूल तो कर्म की चेतना।

उत्तर : यह कर्म अर्थात् यह कर्म राग-द्वेष, यह कर्म। राग-द्वेष, यह इसका कर्म, कार्य। उसका फल, वह हर्ष और शोक, उस समय। समझ में आया, इसमें? कर्मचेतना कही न? वह कर्मचेतना कोई जड़चेतना कही है? राग और द्वेष, शुभ और अशुभभावरूप, कार्यरूप परिणमे-कार्यचेतना। वस्तुतः तो उस समय में उसके हर्ष-शोकरूप परिणमे,

www.vitragvani.com

उसे कर्मफलचेतना कहते हैं। यह आ गया है, समयसार की १०२ गाथा। जिस समय में कर्मचेतना, उस समय में उसका फल है। उस समय ही वेदता है – ऐसा कहते हैं। दोनों के भिन्न लक्षण हैं। एक कार्यरूप और एक फलरूप है। बाकी है एक साथ। समझ में आया इसमें ?

इसमें तो बहुत सादी और सीधी भाषा की बात है। वह कहे —कठिन भाषा पड़ती है। भाषा (कठिन) नहीं, भाव कठिन पड़े—ऐसा कह। भाव समझना नहीं, मूल भाव को समझने की दरकार नहीं, फिर यह स्थूलरूप से कुछ ऐसा होवे और वैसा होवे और ऐसा हो। पर की भक्ति से कल्याण हो जाता हो या इससे हो जाता हो या दया, दान से होता हो या भगवान की ऐसे स्तुति करते–करते होता हो, ऐसे सरल तो समझ में आये। परन्तु वह स्तुति तेरी ही नहीं; वह तो जड़ की भाषा है। पूजा–भक्ति में शरीर की क्रिया (होवे), वह जड़ की है; तेरा भाव होवे, वह राग है, वह तो पुण्य है। वह पुण्य तो कर्मचेतना है। आहाहा! और उस समय हर्ष आ जाए ऐसे... आ...हा...! यह भगवान की भक्ति की, वह कर्मफल–चेतना है; वह कोई ज्ञानचेतना नहीं। समझ में आया ?

हर्ष–शोकादि.... दु:ख आदि, रति–अरति आदि वेदनरूप। **वेदनरूप कर्म के फलरूप परिणमन करती है, तब कर्मफलचेतना कही जाती है। इस प्रकार चेतना अनेक स्वांग करती है....** अनेक स्वांग दशा में करे। **फिर भी चेतना का अभाव कभी नहीं होता।** चाहे तो ज्ञानचेतनारूप हो, चाहे तो रागरूप से कर्मचेतना हो अथवा तो वेदनरूप–कर्म (फलरूप हो), परन्तु चेतना, चेतनापना छोड़कर जड़ हो जाए या पर हो जाए—ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया ? **इस भाँति चेतना लक्षण से विराजमान जीव नामक पदार्थ को पुरुष कहते हैं।** लो! ऐसे चेतना लक्षण से। मूल तो चेतना लक्षण, हों! वे तो उसकी दशा बताई। उससे विराजमान भगवान आत्मा जीव नाम का पदार्थ, उसे पुरुष कहने में आता है। यह 'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय' की व्याख्या करते हैं। पुरुष—ऐसा आत्मा। समझ में आया ? उसका अर्थ, प्रयोजन, उसकी सिद्धि, प्राप्ति, उसका उपाय, मोक्ष का मार्ग।

पुन: कैसा है पुरुष ? 'अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जित: स्पर्शगन्ध–रसवर्णै:।'

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यह तो आया। '**गुणपर्ययसमवेत:**' यह आया, तीसरा पद आया अब, ९वीं गाथा का तीसरा पद। '**गुणपर्ययसमवेत:**' चौथा बाद में आयेगा। '**गुणपर्ययसमवेत:**' सहित है। समझ में आया? '**समाहित: समुदयव्ययध्रौव्यै:**' यह चौथा पद है, इस चौथे की व्याख्या आयेगी। और कैसा है पुरुष अर्थात् यह आत्मा? **स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित है।** तीसरे पद की व्याख्या। **आठ प्रकार के स्पर्श,....** है, वे इसमें नहीं। **दो प्रकार की गन्ध,....** है, वह आत्मा में नहीं। **पाँच प्रकार का रस....** है, मीठा-कड़वा, वह आत्मा में नहीं। **पाँच प्रकार का वर्ण,...** है। सफेद काला, वह आत्मा में नहीं। **ऐसे जो पुद्गलों के लक्षण हैं,....** ये जो पुद्गल के लक्षण, **उनसे रहित (यह आत्मा) अमूर्तिक है।** अभी मूर्त से पृथक् पाड़ते हैं। समझ में आया? उसमें आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, दो गन्ध और पाँच रस—ऐसा जो पुद्गल का लक्षण है, वह इसके (आत्मा के) स्वरूप में नहीं, अभी नहीं, हों! कोई कहे कि अभी मूर्त है—ऐसा कहते हैं। सिद्ध हो, तब अमूर्त हो।

मुमुक्षु : ऐसा आता है।

उत्तर : आता है, किस अपेक्षा से? समझ में आया? आता है तो उसमें भी नहीं आता? सर्व कर्मरहित अमूर्तशक्ति। यह तो बताते हैं, उसका स्वरूप बताते हैं कि ऐसा अब अत्यन्त रहित हुआ, परन्तु अभी ही रहित है। सम्बन्धरहित हुआ, अभी सम्बन्धरहित है। वह सम्बन्ध—निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध टूट गया। समझ में आया?

इस विशेषण से पुद्गलद्रव्य से भिन्नता प्रगट की। भगवान आत्मा कर्म, शरीर, वाणी, आदि से भिन्न है-ऐसा कहते हैं। यह शरीर, वाणी और कर्म—ये सब वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाले पदार्थ हैं, इनसे रहित है। इसका अर्थ हुआ (कि) कर्म से रहित है, शरीर से रहित है, वाणी से रहित है। कहो, समझ में आया इसमें? दाल, भात, शाक, रोटी जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाले हैं, उनसे आत्मा रहित है।

कारण कि यह आत्मा अनादि से सम्बन्धरूप जो पुद्गल द्रव्य है.... अब कहेंगे। पहले वर्ण का लिया है न दूसरा पद? अनादि से सम्बन्धरूप पुद्गल है, कर्म, शरीर आदि सम्बन्ध है—तैजस, कार्मण आदि। **उसमें अहंकार-ममकाररूप प्रवर्तन करता है।** अपनी जाति को इस ओर में अरूपी और आनन्दकन्द है, उसे जाना नहीं; इसलिए उस

www.vitragvani.com

पुद्गल के सम्बन्ध में इसकी दृष्टि होने से, उसमें इसका अहंकार—'यह मैं और ये मेरे, यह मैं, यह मेरे।' यह शरीर, मैं; यह मेरे; कर्म, मैं और कर्म मेरे; वाणी, मैं और वाणी मेरी—ऐसा अहंकार-ममकाररूप प्रवर्तता है। समझ में आया? सम्बन्ध है ऐसे; वस्तु उससे रहित है, परन्तु सम्बन्ध में इसका लक्ष्य अनादि से होने से, उसमें जो पुद्गल, कर्म, शरीर, वाणी आदि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाले पदार्थ (हैं), 'उनमें मैं, वे मेरे'—ऐसे अहंकार-ममकाररूप प्रवर्तता है। यह मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव है।

जो अपने चैतन्य पुरुष को अमूर्तिक जाने.... इतनी बात अभी कहनी है, उस पुद्गल से पृथक् करना है, इस अपेक्षा से, हों! इसका (आत्मा का) लक्षण तो चेतना कहा था। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श से, धन-धान्य आदि से, कर्म-नोकर्म से रहित है। तब सहित क्या है? कि इसके गुण और पर्यायसहित है।

गुण-पर्यायों सहित विराजमान है। वहाँ गुण का लक्षण सहभूत है। व्याख्या करते हैं। गुण से विराजमान आत्मा है। आत्मा, गुण से सहित है, गुण से सहित है। वर्ण, गन्ध, रस से रहित है, गुण से सहित है। गुण किसे कहते हैं? **गुण का लक्षण सहभूत है। सह अर्थात् द्रव्य के साथ, भू अर्थात् सत्ता।** द्रव्य के साथ जिसका अस्तित्व है, उसे गुण कहते हैं। आत्मा द्रव्य है, उसके साथ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि साथ में रहते हैं; इसलिए उन्हें गुण कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? गुण सहित है। वर्ण / मूर्त रहित है। **सह अर्थात् द्रव्य के साथ, भू अर्थात् सत्ता।** ऐसा। द्रव्य के साथ जिनकी सत्ता है। जैसे द्रव्य स्वयं वस्तुरूप है, वैसे गुण भी उसके साथ सत्तारूप से भिन्न नहीं है।

द्रव्य में जो सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते हैं। पूरी व्याख्या की। **द्रव्य में जो सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते हैं।** भगवान आत्मा में सदाकाल रहते हैं, वैसे भाव को गुण कहा जाता है। बहुत सादी संक्षिप्त भाषा में बहुत (स्पष्ट किया है)। तेरा क्या?—ऐसा कहते हैं। तेरा क्या नहीं? तो कहते हैं, तेरा नहीं यह कर्म, शरीर, वाणी, मन, वर्ण, गन्ध, रस (स्पर्श) तेरे नहीं। तेरा क्या? तेरा तू द्रव्य वस्तु है, उसके साथ अस्तिरूप जो गुण हैं, उन सहित है, वे तेरे। समझ में आया?

www.vitragvani.com

आत्मा में गुण दो प्रकार के हैं। ज्ञान-दर्शनादि असाधारण गुण हैं,.... एक तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि आत्मा में ही है, दूसरे द्रव्य में नहीं; इससे उन्हें असाधारण अर्थात् कहीं अन्यत्र है और यहाँ है — ऐसा नहीं। असाधारण अर्थात् आत्मा में ही है। जानना-देखना, आनन्द-शान्ति इत्यादि। ज्ञान-दर्शन आदि भगवान आत्मा के साथ, द्रव्य के साथ अस्तिरूप रहनेवाले (हैं)। आत्मा, जो द्रव्य है, उसके साथ अस्तिरूप रहनेवाले जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वे असाधारण अस्तिरूप से रहनेवाले हैं। असाधारण अर्थात् दूसरे में नहीं, ऐसे अस्तिरूप से रहनेवाले हैं। समझ में आया? **वह अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते।** वे गुण दूसरे द्रव्यों में नहीं होते। भगवान आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल अस्तिरूप से आत्मा के साथ, दर्शनगुण त्रिकाल अस्तिरूप से, आनन्दगुण त्रिकाल अस्तिरूप से (है)। वे असाधारण अर्थात् उसमें (आत्मा में) ही हैं और दूसरों में नहीं। देखो! अस्ति-नास्ति (की है)। वे दूसरे द्रव्यों में नहीं होते; इसलिए असाधारण कहे जाते हैं।

अस्तित्व,... होनापना एक गुण आत्मा में है, परन्तु ऐसा होनापना (अस्तित्व) का गुण तो दूसरे पाँचों में है। छहों द्रव्यों में अस्तित्व-होनापना, सत् है, छह का होनेपने का गुण। है द्रव्य, उसका सत्व होनापना—ऐसा अस्तित्व नाम का गुण आत्मा में भी है और दूसरे द्रव्यों में भी है; इसलिए उस अस्तित्वगुण को असाधारण न कहकर, साधारण है— ऐसा कहते हैं। साधारण अर्थात् यही अस्तित्व-गुण दूसरों में है और यही गुण यहाँ है — ऐसा साधारण नहीं, परन्तु यह अस्तित्वगुण यहाँ है, ऐसा ही एक दूसरा अस्तित्व-गुण दूसरे द्रव्य में है, ऐसा। समझ में आया?

वस्तुत्व,.... वस्तुपना-अपना प्रयोजन सिद्ध करे। वह आत्मा में भी है और परमाणु में भी है। वस्तु है न? वस्तु का वस्तुपना; आत्मा का आत्मापना; परमाणु का परमाणुपना; धर्मास्तिकाय का धर्मास्तिकायपना—ऐसे छह द्रव्यों में वस्तुपना यह गुण है, जो प्रयोजन वस्तु को स्वयं को सिद्ध करे। ऐसा वस्तुत्वगुण, आत्मा में भी है, दूसरों में भी है; इसलिए इसे साधारण गुण कहा जाता है। यह का यही वस्तुत्वगुण दूसरा है, इसलिए साधारण - ऐसा नहीं, परन्तु जैसा यहाँ वस्तुत्वगुण है, वैसा ही दूसरे अन्य द्रव्यों में है, इसलिए उसे साधारण कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

www.vitragvani.com

यह तो पहले का एकड़ा सीखने लगे है। ऐ... मोहनभाई! कभी एकड़ा भी सीखा नहीं इसके आत्मा का। उस धूल का सीखा। सीख–सीखकर मर गये ऐसे के ऐसे सब। एल.एल.बी. के पूंछड़े लगाये, हैरान... हैरान... दु:खी... दु:खी... दु:खी... दस–दस हजार के वेतनदार, पच्चीस–पच्चीस हजार के वेतनदार, लाख–लाख के वेतनदार हैरान... हैरान। नौकरी क्या, यह पैसे का लालच है, वही स्वयं दु:ख है और सेठ अच्छा होवे और स्वयं सेठ जैसा काम करता होवे। इसे ममता है न? यही महादु:ख है। उसमें कहाँ इस पढ़ाई में सुख है? समझ में आया?

प्रमेयत्व.... किसी भी ज्ञान में पदार्थ ज्ञात हो—ऐसा पदार्थ में एक प्रमेयत्व नाम का गुण है। ज्ञान में जो कुछ ज्ञात हो, ज्ञात होने योग्य, ऐसा एक आत्मा में गुण है। ऐसा गुण दूसरे सब में भी है। **प्रमेयत्वादि...** संक्षिप्त कर दिया। अगुरुलघु, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व आदि **साधारण गुण हैं,....** इन्हें साधारण गुण कहते हैं, क्योंकि **जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं।** अपने में भी अस्तित्व है, वस्तुत्व है, प्रमेयत्व है, द्रव्यत्व है, अगुरुलघुत्व है, प्रदेशत्व है। ऐसे–ऐसे अनन्त साधारण गुण हैं, ऐसे दूसरों में भी है; इसलिए इन्हें साधारण कहते हैं। आत्मा में ही हो और दूसरों में न हो, उसे असाधारण कहते हैं। यह गुण की व्याख्या हुई।

पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। पहले में कहा था न? स्वभूत का अर्थ किया। स्व और सत्ता, साथ में रहनेवाले। **पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है।** पर्याय का लक्षण ही द्रव्य में क्रम–क्रम से वर्ते, उसे कहते हैं। इसमें पूरा विवाद। यह तो क्रम से वर्ते, परन्तु बाद में यही पर्याय होगी—ऐसा नहीं। इस क्रमवर्ती का अर्थ ही यह है कि जो पर्याय इस समय है, वह की वह दूसरे समय नहीं, उस दूसरे समय वह दूसरी; वह भी उस प्रकार की, उस काल की वही दूसरे समय हो, ऐसा। यह द्रव्य के स्वकाल का अस्तित्व है और परकाल से नास्तित्व है।

प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, भाव से अस्ति है; परद्रव्य को क्षेत्र, भाव से नास्ति है, परन्तु प्रत्येक द्रव्य वर्तमान एकसमय के स्वकाल की पर्याय से, उस समय की स्वकाल की पर्याय से अस्ति है; दूसरे के स्वकाल की पर्याय से नास्ति है। ऐसा–ऐसा समय का

www.vitragvani.com

अंश क्रमवर्ती अनादि-अनन्त है। आत्मा के साथ वह क्रमवर्ती है, सहभूत नहीं; सहभूत तो गुण के साथ है, त्रिकाल साधारण या असाधारण। भगवान आत्मा के साथ-साथ रहनेवाले-होनेवाले गुण साधारण या असाधारण, जैसे द्रव्य हैं, वैसे साथ ही गुण अनादि -अनन्त है। पर्याय ऐसी नहीं है। पर्याय का लक्षण क्रमवर्तना है, क्रमवर्तना है, क्रम से वर्तना है, क्रम से वर्तती है, क्रम से होती है, क्रम से होती है, क्रम से परिणमती है। क्रमवर्ती-क्रम से वर्तनेवाला। पर्याय का लक्षण क्रम से वर्तनेवाली, क्रम से होनेवाली, क्रम से होनेवाली—यह पर्याय का लक्षण है। स्व के साथ रहनेवाला, त्रिकाल रहनेवाला, साथ में सत्ता द्रव्य, वैसी ही सत्ता त्रिकाल साथ में रहनेवाली, उसे गुण कहते हैं। समझ में आया?

द्रव्य-गुण-पर्याय का पता नहीं होता और हम धर्मी हैं, सामायिक करते हैं, प्रौषध करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं... किसका तेरा प्रतिक्रमण, कहाँ आया? पर्याय में आया? जड़ में आया? तो कहे—यह पर्याय-बर्याय पता नहीं। एक साधु को पूछा—यह तुम्हारी सामायिक चारित्र क्या कहलाता है? त्रस या स्थावर? त्रस, स्थावर, हों! अपने वह पूछते नहीं पर्याय। यह सामायिक है, वह त्रस कहलाती है या स्थावर? कि हमारे गुरु ने सिखाया नहीं। आहाहा! 'सुन्दर बोरा' के उपाश्रय में थे। 'विरमगाँव' का था, मोहनलालजी के पास दीक्षा ली थी। नाम क्या था, वह भूल गये। 'नागरदास।' परन्तु वे बेचारे उलझ जाएँ। द्रव्य-गुण-पर्याय होवे तो न समझे, परन्तु इनने त्रस और स्थावर नाम तो सुने हों न? ऐसा। द्रव्य-गुण-पर्याय न सुना हो। साधु हुआ बेचारा। वस्त्र धोने को लिया था और फिर मिलान नहीं खाया और अकेला रह गया। कहा, तुम्हारी सामायिक, यह चारित्र कहलाती है, वह त्रस है या स्थावर? मेरे गुरु ने मुझे सिखाया नहीं। ठीक किया, गुरु ने नहीं सिखाया। अन्धा खाता... साथ उतरे थे। उपाश्रय साथ था न! आहाहा... साधारण मनुष्य... आहाहा!

मुमुक्षु : ....

उत्तर : नहीं, नहीं; उसे बेचारे को कहाँ समझना? उसे सीखने की कहाँ बात है?

कहते हैं, द्रव्य में अर्थात् आत्मा में गुण साथ में त्रिकाल रहनेवाले और पर्याय क्रमवर्ती रहनेवाली है तो सही, परन्तु पर्याय क्रमवर्ती है, क्रम से वर्तती है; एक साथ सभी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

पर्यायें वर्तती नहीं। आत्मा में गुण तो एक साथ अनन्त वर्तते हैं। जैसे पर्याय एक साथ नहीं, क्रम से... क्रम से... क्रम से... वर्तती है। इस क्रम में ही पूरी बात आ जाती है। क्रमबद्ध जहाँ आया, वहाँ भड़के... भड़के।

जो द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो,.... इसका स्पष्टीकरण करते हैं। यह गुण और पर्याय तो सबका स्वरूप है, परन्तु अपने यहाँ आत्मा में उतारते हैं। **जो द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो,....** गुण जो होते हैं, वे एकसाथ होते हैं। आत्मा वस्तु है, उसके गुण एकसाथ वर्तते हैं, एकसाथ वर्तते हैं, परन्तु जो द्रव्य में क्रमवर्ती ऐसी पर्याय (है वह) अनुक्रम से उपजती है, अनुक्रम से उपजती है। देखो! अनुक्रम शब्द प्रयोग किया है। अनुक्रम से एक के बाद एक... एक के बाद एक... एक के बाद एक उपजती है। **द्रव्य में अनुक्रम से उत्पन्न हो,....** अनुक्रम से उपजती है। समझ में आया? इसका अर्थ ही हुआ कि एक समय में जो पर्याय है, वह दूसरे समय नहीं होती; दूसरे समय में दूसरी, तीसरे समय में तीसरी—ऐसे अनुक्रम से ही उसका—पर्याय का उपजना होता है। गुण हैं, वे अक्रम हैं। आत्मा में–वस्तु में ज्ञान–दर्शन आदि सहभूत गुण, वे अक्रम हैं, पर्यायें क्रम से हैं। अक्रम–एक साथ, पर्यायें अनुक्रम से। समझ में आया? माँगीरामजी! आहाहा!

कदाचित्.... अनुक्रम से उपजती है–एक बात की। पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। क्यों? कि वह अनुक्रम से उपजती है; इसलिए क्रमवर्ती है, एकसाथ वर्तती नहीं, अनुक्रम से उपजती है। **कदाचित्–कोई वार हो....** क्योंकि एक पर्याय तो एक समय ही होती है। कदाचित् वह पर्याय कोई बार अर्थात् एक समय ही हो, **उसे पर्याय कहते हैं।** वह पर्याय कदाचित्, एक समय ही होती है, वह पर्याय दूसरे समय में नहीं होती; इसलिए कदाचित् अर्थात् कोई बार होती है, ऐसा। कदाचित् अर्थात् कोई बार होती है, इसलिए जो एक ही समय में हो, दूसरे समय न हो, **उसे पर्याय कहते हैं।** कहो, समझ में आया इसमें? यह तो समझ में आये ऐसा है, हों! इसमें नये एकडिया को समझ में आये ऐसा है। प्रगटपने की ही यह पर्याय की बात है। अनुक्रम से उपजती है, प्रगटरूप से क्रम से ही उपजती है।

आत्मा में पर्याय दो प्रकार की हैं। अब पहले जो गुण दो प्रकार के कहे थे न? असाधारण और साधारण; वैसे ही आत्मा में कोई बार होती–क्रम से वर्तती, अनुक्रम

www.vitragvani.com

से उपजती। क्रम से वर्तती, अनुक्रम से उपजती, कोई बार होती। कोई बार (अर्थात्) एक समय। एक ही समय में पर्याय होती है, एक ही समय में होती है, कोई बार अर्थात् एक ही समय में होती है, दूसरे समय नहीं होती। भले छह-बारह महीने, परन्तु कोई बार अर्थात् जिस समय में हुई, वह कोई बार। जिस समय में हो, वह कोई बार, सदा ही बार नहीं। गुण हैं, वे सदा बार, सदाकाल और यह कोई काल, ऐसा है। पहला (गुण) अक्रम तो यहाँ (पर्याय में) क्रम है। (वे) एक साथ में रहे हैं तो यह अनुक्रम से उपजती है। यहाँ (गुण में) उपजना नहीं और एकसाथ रहते हैं; यह (पर्याय) अनुक्रम से उपजती है; (गुण) सदाकाल होते हैं, तब यह कोई बार होती है, एक समय में होती है। गुण सदाकाल होते हैं, तब पर्याय एक काल होती है—ऐसा है। कोई बार अर्थात् एक काल। समझ में आया? राजमलजी! यह तो बहुत सादी भाषा में है। यह तो सब एकड़्या की भाषा है। इसका पता नहीं पड़ता।

आत्मा में पर्याय दो प्रकार की हैं। यह पर्याय जो क्रम से वर्ते, अनुक्रम से उपजे, कोई काल में अर्थात् एक समय ही हो, उस पर्याय के दो प्रकार हैं। **जो नर-नारकादि आकाररूप....** नर-नारकादि अन्दर आकार, हों! इस शरीर का आकार नहीं। अन्दर आत्मा के प्रदेश का मनुष्य की देह के आकाररूप स्वयं से हुआ आकार। यह नर-नारकादि आकाररूप और **सिद्ध के आकाररूप....** दो... लेनी है न यहाँ? सिद्ध को भी आकार अन्तिम (शरीर प्रमाण) असंख्य प्रदेश का आकार है। **उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं।** उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। द्रव्य की आकृति की पर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं। समझ में आया? यह एक पर्याय।

ज्ञानादि गुणों का भी स्वभाव अथवा विभावरूप परिणमन है,.... ज्ञानादि गुण में भी स्वाभाविक अगुरुलघु आदि और विभावरूप विकार आदि **परिणमन है, वह छह प्रकार से हानि-वृद्धिरूप है, उसे अर्थपर्याय कहते हैं।** पर्याय में षटगुण-हानिवृद्धि हो, पर्याय में—अवस्था में, उसे अर्थपर्याय कहते हैं। पहली आकार की थी, यह दूसरे सब अनन्त गुणों की स्वभाव या विकारी परिणमन। छह प्रकार हानि-वृद्धि—अनन्त, असंख्य और संख्य हानिवृद्धि। **इन गुण-पर्यायों से आत्मा की तादात्मक एकता है।**

यह गुण त्रिकाल रहनेवाले और पर्याय कोई बार अनुक्रम से उपजती, वर्तती, उसके साथ आत्मा का तादात्मक स्वरूप है, तादात्म्यरूप है, एकरूप है; उससे पृथक् नहीं। लो! कल आया था। पर्याय इस द्रव्य से अभिन्न है या भिन्न है—यह प्रश्न था? फूलचन्दजी का। सुना था? अभिन्न है। अभिन्न है तो पर्याय पर से हो तो द्रव्य भी पर से हो। द्रव्य से पर्याय अभिन्न है या भिन्न? कथंचित् अभिन्न। कथंचित् अभिन्न हो तो पर्याय पर से हो। कथंचित् अभिन्न है तो द्रव्य पर से हो। आहाहा!

देखो! इससे **तादात्मक एकता है।** वस्तु में अनन्त साधारण गुण हैं, जो दूसरे में भी हों; अनन्त असाधारण गुण हैं, जो दूसरे में नहीं और अपने में हों; और पर्यायें—अर्थ, व्यंजनपर्याय आदि, ये सब पर्यायें और गुण, आत्मा के साथ तद्रूप से हैं, एकरूप से हैं, एक प्रदेश से हैं; असंख्यप्रदेश में एकरूप से सब हैं। **इस विशेषण से आत्मा का विशेष्य जाना जा सकता है।** लो! ऐसे गुण और पर्याय के विशेषण से विशेष्य ऐसा जो आत्मद्रव्य, उसे जाना जा सकता है। कहो, समझ में आया? अब, चौथे पद की व्याख्या करेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२ गाथा- ९-१० रविवार, माघ कृष्ण १३, दिनांक ०८.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' 'अमृतचन्द्राचार्य' कृत है। ९ वीं गाथा चलती है। अन्तिम पेराग्राफ है, देखो! पृष्ठ १४, अन्तिम पेराग्राफ है। इसका नाम पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। पुरुषार्थ में पुरुष आया, वह पुरुष अर्थात् क्या? पुरुष अर्थात् आत्मा। फिर अर्थ (अर्थात्) सिद्धि का उपाय। तीन शब्द पृथक् (लेते हैं)। पुरुषार्थ, पुरुष का अर्थ, अर्थात् प्रयोजन, उसकी सिद्धि, उसका उपाय। पुरुष अर्थात् यह आत्मा। इसे पुरुष क्यों कहा-यह आ गया। पुर अपना चैतन्यपुर ज्ञानानन्द, ज्ञान-दर्शन—ऐसी चेतना। उसमें जो शयन करें-उसमें प्रवर्ते, उसे पुरुष कहते हैं। सूक्ष्म बात है।

यह आत्मा, इसे पुरुष कहा। पुरुष-पुर चेतना जानना-देखना इसकी चेतना, गुण है, चेतनास्वभाव है, उसमें जो प्रवर्ते, उसमें रहे, उसमें परिणमकर टिके, उसे यहाँ पुरुष

www.vitragvani.com

अर्थात् आत्मा कहा जाता है। पर का कुछ करे, यह आत्मा में नहीं है। आत्मा अपने अतिरिक्त परवस्तु का कुछ करे—ऐसा आत्मा में है नहीं। सुधार और यह सब कर सकता है या नहीं ? धीरुभाई ! गाँव सुधार, सभी लोगों को करे न !

मुमुक्षु : कोई कुछ कर नहीं सकता।

उत्तर : कोई कुछ कर सकता नहीं, यह कहते हैं। यही यहाँ कहते हैं।

आत्मा करे तो क्या ? यह कहेंगे। यह कहा, परन्तु अशुद्ध है न, तब अब उसे अर्थ सिद्धि करनी है, अर्थात् क्या ? अर्थ सिद्धि करनी है तो अर्थ सिद्धि नहीं; नहीं तब उसे क्या है ? कि चैतन्य भगवान आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन में रमें-प्रवर्ते तो उसका नाम पुरुष कहते हैं, तो उसे अर्थ अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि — यह अपने स्वरूप में रहे / प्रवर्ते तो जो अशुद्धता है, वह मिटे और शान्ति की सिद्धि हो। उसका उपाय अन्तर स्वरूप में स्थिरता, यह उसका उपाय है। जगत से अलग चीज है।

कहते हैं, यह आत्मा, गुण-पर्याय सहित है। यह बात आ गयी है। अब आज तो **कैसा है पुरुष ?** पुरुष अर्थात् आत्मा। **'समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः'** है नीचे की लाईन ? **उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से संयुक्त है।** क्या कहते हैं ? यह आत्मा जो है, इसमें अनन्त गुण हैं। गुण अर्थात् शक्ति स्वभाव, वह तो कायम रहता है। उसकी समय—छोटे में छोटे काल में एक समय, सैकेण्ड का असंख्यातवाँ भाग, ऐसे एक समय में उन अनन्त गुण की वर्तमान अवस्था—दशा से वह उपजता है। गुण की अवस्था एक-एक समय में नयी-नयी होती है, उसे उत्पाद कहते हैं। भाषा भी सुनी न हो ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा वस्तु अनन्त शक्तिसम्पन्न गुण सहभूत त्रिकाल है। गुण-पर्याय कहे थे, उन्हें यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहा। ये गुण त्रिकाल, जिसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द, ये सहभूत / साथ में रहनेवाले त्रिकाल है। उनकी वर्तमान दशा में उसके गुण की अवस्थारूप दशा का उत्पन्न होना, वह अपना स्वभाव है। अपने से उस गुण की पर्याय को उत्पन्न करता है; पर के कारण उत्पन्न नहीं होती — ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आत्मा अपनी पर्याय अर्थात् अवस्था में, गुण जो त्रिकाल, उसमें से पर्यायरूप स्वयं ही अवस्थारूप क्षण-क्षण में उत्पन्न होता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

नवीन अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का उत्पन्न होना वह उत्पाद,... इसकी व्याख्या की है। नयी-नयी अवस्था ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि की अवस्था नयी-नयी और व्यंजनपर्याय अर्थात् उसमें आकृति की अवस्था नयी-नयी होना। आकार-असंख्य प्रदेशी अरूपी, शरीर से भिन्न अपनी आकृति है। ऐसी आकृति की अवस्था का और दूसरे अनन्त ज्ञानादि गुणों की समय-समय उत्पन्न होनेवाली दशा उत्पन्न हो, उसे उत्पाद कहते हैं। इस बीड़ी, मकान का उत्पाद कर नहीं सकता—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : निश्चय से नहीं कर सकता।

उत्तर : व्यवहार से भी नहीं कर सकता। समझ में आया? इसकी पर्याय में उत्पन्न कर सकता है। इसकी वर्तमान दशा में, इसकी दशा-अवस्था विकारी या अविकारीरूप से उत्पन्न होने का कर सकता है; दूसरे का कुछ नहीं कर सकता और दूसरे के कारण यहाँ दशा उत्पन्न हो — ऐसा आत्मा में, वस्तु में ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें?

पूर्व पर्याय का नाश होना.... और इस आत्मा में जो वर्तमान अवस्था हुई, उसे बाद की अवस्था की अपेक्षा से पहले की अवस्था को पूर्व कहते हैं। उस पूर्व पर्याय का व्यय / नाश होना, उसे व्यय कहते हैं। सोने का दृष्टान्त देंगे। नयी अवस्था का, अनन्त गुणरूपी जो भाव, उसकी अवस्था का नया होना, गुण की अवस्था या आकृति की अवस्था; उसे गुण की अवस्था का अर्थपर्याय कहते हैं और आकृति की अवस्था को व्यंजनपर्याय कहते हैं। उससे उत्पन्न हुई अवस्था वह पूर्व पर्याय कही, बाद की अवस्था की अपेक्षा से उसका वहाँ नाश होता है। **पूर्व पर्याय का नाश होना वह व्यय और गुण-अपेक्षा....** और गुण जो है ज्ञान, दर्शन आदि, वे तो कायम शाश्वत् रहते हैं और द्रव्य अर्थात् वस्तु-गुण का पिण्ड, वह वस्तु भी ध्रुव रहती है। **अथवा द्रव्य-अपेक्षा से शाश्वत रहना वह ध्रौव्य है।** कहो, समझ में आया?

जिस प्रकार सोना कुण्डल पर्याय से उत्पन्न होता है,.... सोने की ...... होती है ऐसी, वह कुण्डल की अवस्था से उपजे। कुण्डल, **कंकण पर्याय से नष्ट होता है....** और कड़े की अवस्था से नष्ट होता है। पहले कड़े की अवस्था हो — कड़ा, उसकी अवस्था का नाश होकर कुण्डल की अवस्था हो तो कड़ा की अवस्था का व्यय-अभाव,

www.vitragvani.com

कुण्डल की अवस्था का उत्पाद और **पीतादिक की अपेक्षा**.... और उस सोने में पीलापन, चिकनापन, वजन, गुण की अपेक्षा से अथवा द्रव्य की अपेक्षा से **स्वर्णत्व की अपेक्षा सभी अवस्थाओं में शाश्वत है।** यह पीलापन, चिकनापन, वजन अथवा सोना; उस कुण्डल अवस्था का उत्पन्न होना, और कड़ा (रूप) अवस्था का अभाव (हो), उसमें पीलापन, वजन आदि शक्तियाँ तो कायम हैं और शक्तियों का धारक द्रव्य भी कायम है। कहो, समझ में आया इसमें?

इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व प्रगट किया। आत्मा सत्... सत् कहा न? सत्—उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् — ऐसा सिद्ध कर दिया। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्; सत् अर्थात् 'है।' अस्तित्व सिद्ध किया। यह आत्मा, एक-एक आत्मा, हों! भिन्न-भिन्न आत्मा। आत्मा का अस्तित्व सत्पना-होनापना सिद्ध किया। किस प्रकार होनापना है? कि अनन्त गुण का होनापना और उसका एकरूप द्रव्य का होनापना, वह ध्रुव, परन्तु उसकी नयी-नयी अवस्थायें होना, वह उत्पाद; पूर्व की अवस्था का व्यय; ये उत्पाद-व्यय और ध्रुव—ऐसे तीन मिलकर उसका सत्, उसका अस्तित्व-आत्मा का होनापना सिद्ध किया। इस प्रकार आत्मा है। कहो, समझ में आया इसमें? धीरुभाई! सूक्ष्म बातें हैं, हों! यह तुम्हारे सब साहित्य-फाहित्य सबसे मुंडाने की दूसरी बात है। ऐ...ई..!

यहाँ तो आत्मा की बात चलती है। हैं तो सभी पदार्थ ऐसे, हों! प्रत्येक वस्तु, जो अनन्त है, वे स्वयं अस्तिरूप हैं। उस अस्तिपने में प्रत्येक वस्तु में तीन प्रकार (है)। वस्तुरूप से अस्तित्व, उसकी शक्तियाँ जो कायम रहनेवाली हैं, उसपने अस्तित्व और उन शक्तियों की प्रत्येक समय नयी अवस्थारूप से उत्पन्न होना, वह अस्तित्व; और पुरानी अवस्था से व्यय होना, वह भी उसका अस्तित्व है। शशीभाई! यह पाठशाला दूसरे प्रकार की है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा एक-एक (प्रत्येक) भिन्न, ऐसे अनन्त आत्मायें और उनसे अनन्तगुने रजकण-पॉइन्ट-परमाणु, धूल-मिट्टी, जिसे अन्तिम टुकड़ा, जिसे परमाणु कहते हैं। परमाणु तो बहुत प्रकार से परमाणु कहा जाता है, परन्तु यहाँ पुद्गल के अन्तिम टुकड़े को परमाणु कहते हैं। ऐसे पुद्गल परमाणु ऐसे अनन्त रजकण हैं। उस प्रत्येक रजकण में और

www.vitragvani.com

प्रत्येक आत्मा में अस्तिरूप वह पदार्थ है तो अस्तिरूप है, उसका क्या स्वरूप? कि उसके द्रव्य अर्थात् पदार्थरूप होना; उसकी शक्तियाँ अर्थात् गुण स्वभावरूप होना और उसकी नयी-नयी अवस्थारूप उपजना और पूर्व की अवस्था का बदलना; इस प्रकार उनका-अनन्त द्रव्य का होनापना (अस्तित्व) स्वयं के द्वारा वे टिक रहे हैं। समझ में आया? **इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व....** अर्थात् सत् **प्रगट किया।** सत् यह है और होनापना, अस्तित्व-होनापना प्रगट किया। कहो, समझ में आया इसमें?

यह आत्मा... कहते हैं कि **ऐसे चैतन्य पुरुष के अशुद्धता किस प्रकार से हुई जिसके कारण इसे अपने अर्थ की सिद्धि करनी पड़े?** अपने प्रयोजन की सिद्धि करनी पड़े तो इसका अर्थ यह कि उसे वहाँ अशुद्धता वर्तती है तो वह अशुद्धता मिटाकर शुद्धता प्रगट करना, यह इसकी प्रयोजन की सिद्धि। क्या कहा? 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' तो पुरुष ऐसा जो आत्मा, उसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन, तो प्रयोजन तो उसे सुख का प्रयोजन है। सुख की सिद्धि होना, सुख की प्राप्ति होना। सुख की प्राप्ति होना — ऐसा जो पुरुष अर्थात् आत्मा, उसके अर्थ की सिद्धि, वह किसलिए करना पड़ती है? क्योंकि जब उसमें अशुद्धता होवे, दु:खरूप दशा होवे तो उसे प्रयोजन की सिद्धि करनी पड़े। तो दु:खरूप दशा है क्यों? समझ में आया? कहाँ गये? रसिकभाई! आये हैं या नहीं? कहो, समझ में आया इसमें?

कहते हैं, ऐसा जो यह पुरुष अर्थात् आत्मा अस्तिरूप इस प्रकार है कि जो वस्तुरूप पदार्थ है और वस्तु है तो उसकी शक्तियाँ भी होती हैं। शक्कर वस्तु है तो उसकी सफेदाई, मिठास आदि उसकी शक्तियाँ-गुण भी होते हैं और गुण हैं तो उसे आत्मा के—द्रव्य के गुण कितने? एक वस्तु है वस्तुरूप से, उसकी शक्तियाँ अर्थात् गुण; अर्थात् वस्तु जैसे कायम रहनेवाली है, वैसे उसके गुण भी कायम रहनेवाले हैं। वे अनन्त है, परन्तु उनकी वर्तमान दशा का उत्पन्न होना, एक-एक समय की अवस्था का नया होना, पुरानी अवस्था का जाना; उसकी स्थिति एक समय की है; इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य टिक रहा है, अस्तिरूप रहा है। ऐसे आत्मा भी इस प्रकार अस्तिरूप रहा है, परन्तु इस प्रकार अस्तिपना होने पर भी, उसे अशुद्धता किस प्रकार हुई? क्या कहते हैं? कि उसे कुछ सुख के उपाय के लिये

www.vitragvani.com

सिद्धि करने का उपाय करना पड़े, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसे वर्तमान में सुख के प्रयोजन की सिद्धि नहीं है।

जगत को तो सुख के लिये छटपटाहट है न? सुख प्राप्त करना... सुख प्राप्त करना... सुख प्राप्त करना... तब सुख प्राप्त करना और सुख का उपाय। अब सुख प्राप्त करना है, तब इसका अर्थ यह है कि इसके पास सुख नहीं है। यदि इसकी दशा में सुख हो तो सुख प्राप्त करना—ऐसा बने नहीं; अत: इसकी दशा में असुख है, अर्थात् दु:ख है, अर्थात् अशुद्धता है, अर्थात् मलिनता है। वह मलिनता किस प्रकार हुई? खोड़ीदासभाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा, जब ऐसा गुण–शक्ति और पर्याय सहित है और उपजना, बदलना और ध्रुव इसका अस्तित्व है तो ऐसे आत्मा को प्रयोजन के लिये प्रयत्न की सिद्धि करनी, प्रयत्न से प्रयोजन की—सुख की सिद्धि करनी—तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसे अशुद्धता है अर्थात् दु:ख है, अर्थात् आकुलता है; तो वह आकुलता उत्पन्न क्यों हुई कि जिससे उसे मिटाकर सुख की शान्ति का प्रयोजन सिद्ध करना पड़ता है? ठीक है? यह निर्धनता आयी कैसे कि जिससे निर्धनता मिटाकर सधनता करनी पड़े? समझ में आया?

मुमुक्षु : बराबर है।

उत्तर : बराबर है? पूरे दिन बेचारे तड़फड़ाहट मारते हैं या नहीं? ऐसा करूँ तो ऐसा करने से सुख होगा, ऐसा करें तो सुख होगा, ऐसा करें तो ठीक होगा, ठीक होगा। ठीक कहो, सुख कहो, हित कहो, प्रयोजन कहो। ऐसा करेंगे ऐसे (ठीक होगा) तो प्रयोजन करने मथता है, परन्तु वह प्रयोजन क्या करना है—उसका इसे पता नहीं है और प्रयोजन सिद्ध करना है तो वह किसलिए करना है? कि भाई! अन्दर मलिनता है, अशुद्धता है, दु:ख है, आकुलता है। इसकी दशा में आकुलता है। उसका उपजना और व्यय होना, उस आकुलतारूप उपजता है और आकुलतापने से व्यय पाता है। ऐसे आत्मा को अनादि से आकुलता उसकी दशा में है। वह किस प्रकार है? — ऐसा प्रश्न किया है। **जिसके कारण इसे अपने अर्थ की सिद्धि करनी पड़े?** कि वह दु:खरूप दशा क्यों है कि जिसके कारण इसे सुख के प्रयोजन की सिद्धि करनी पड़े? **इसका उत्तर आगे कहते हैं। इसका उत्तर आगे कहते हैं:–** १० वीं (गाथा)।

गाथा - १०

प्रश्न : ऐसे चैतन्य पुरुष के अशुद्धता किस प्रकार से हुई जिसके कारण इसे अपने अर्थ की सिद्धि करनी पड़े? इसका उत्तर आगे कहते हैं:-

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च।।१०।।

वह अनादि सन्तति से ज्ञान-विवर्तनमय परिणमन करे।
निज परिणामों में परिणमता कर्त्ता-भोक्ता हुआ करे।।१०।।

अन्वयार्थ : (स:) वह चैतन्य आत्मा (अनादिसन्तत्या) अनादि की परिपाटी से (नित्यं) निरन्तर (ज्ञानविवर्त्तै:) ज्ञानादि गुणों के विकाररूप रागादि परिणामों से (परिणममान:) परिणमन करता हुआ (स्वेषां) अपने (परिणामानां) रागादि परिणामों का (कर्त्ता च भोक्ता च) कर्ता और भोक्ता भी (भवति) होता है।

टीका : 'अनादि सन्तत्या नित्यं ज्ञानविवर्त्तै: परिणममान: स्वेषां परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता च भवति' - वह चैतन्य पुरुष अनादि की परिपाटी से सदा ज्ञान-चारित्र रहित जो रागादिक परिणाम उनसे परिणमन करता हुआ उन स्वयं के रागादि परिणामों का कर्त्ता तथा भोक्ता भी है।

भावार्थ : इस आत्मा के अशुद्धता नई उत्पन्न नहीं हुई है। अनादिकाल से सन्तानरूप से द्रव्यकर्म से रागादि होते हैं, फिर उन्हीं रागादि से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। स्वर्णकीटिकावत् अनादि से सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण इस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का बोध नहीं है, इसलिए उदयागत कर्मपर्याय में इष्ट-अनिष्ट भाव से राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन कर रहा है। यद्यपि इन परिणामों के होने में द्रव्यकर्म कारण हैं, तथापि यह परिणाम चेतनामय हैं इसलिए इन परिणामों का व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा ही कर्ता है। भाव्य-भावकभाव से आत्मा ही भोक्ता है। अब व्याप्य-व्यापकभाव

www.vitragvani.com

का स्वरूप कहते हैं। जो नियम से सहचारी हो, उसे व्याप्ति कहते हैं। जिस प्रकार धुआं और अग्नि में साहचर्य है अर्थात् जहाँ धुआं होता है, वहाँ अग्नि होती ही है अग्नि के बिना धुआं नहीं होता। उसी प्रकार रागादिभाव और आत्मा में सहचारीपना है। जहाँ रागादि होते हैं वहाँ आत्मा होता ही है आत्मा के बिना रागादि नहीं होते। इस व्याप्ति क्रिया में जो कर्म है, उसे व्याप्य कहते हैं और आत्मा कर्ता है, उसे व्यापक कहते हैं। इस प्रकार जहाँ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हों वहीं कर्ता-कर्म सम्बन्ध सम्भव है, अन्य स्थान में सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो जो भाव अनुभवन करने योग्य हों उन्हें भाव्य, तथा अनुभव करनेवाले पदार्थ को भावक कहते हैं। ऐसा भाव्य-भावक सम्बन्ध जहाँ हो वहीं भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध सम्भवित है, अन्य स्थान पर नहीं।।१०।।

गाथा १० पर प्रवचन

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च।।१०।।

इसका **अन्वयार्थ : वह चैतन्य आत्मा....** है न अन्वयार्थ? वह भगवान चैतन्य आत्मा। आत्मा, वह चेतन और चैतन्य उसका ज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव-गुण, वह चैतन्य। यह चैतन्य-आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... **वह चैतन्य आत्मा अनादि की परिपाटी से निरन्तर....** अनादि से कभी वह दशा में शुद्ध था और अशुद्ध नया हुआ—ऐसा है नहीं। अनादि से पहले दशा में आनन्द था, आनन्द था और फिर दुःखी हुआ—ऐसा है नहीं।

अनादि की परिपाटी से निरन्तर.... एक समय भी जिसे सुख की दशा अनादि से प्राप्त नहीं। है क्या? कि **निरन्तर ज्ञानादि गुणों के विकाररूप....** देखो! भाषा यहाँ है, मुझे दूसरा कहना है। **'ज्ञानविवर्त्तैः'** शब्द पड़ा है न? तो कोई ऐसा कहे—ज्ञान का, फिर विपरीतपना कैसे होय? ज्ञान विपरीतपने परिणमता नहीं; वह तो कम होता है और या उसका अभाव होता है। समझ में आया? खानिया(चर्चा में) यह तकरार ली है। ज्ञान से

www.vitragvani.com

विरुद्ध, वे रागादि हैं। ज्ञान से विरुद्ध रागादि कहाँ से हों? यहाँ यह शब्द पड़ा है, देखो! यह तो अभी भी पढ़ा है।

'**ज्ञानविवर्त्तैः**' ज्ञान शब्द से चैतन्यस्वरूप पूरे गुण सब। भगवान आत्मा वस्तुरूप से, शक्ति के पिण्डरूप से और उसकी अनन्त ज्ञानादि शक्तियाँ जो हैं, वे **विकाररूप....** उनकी दशा में **विकाररूप रागादि परिणामों से परिणमन करता हुआ....** अनादि से भगवान आत्मा में वे अनन्त जो गुण–शक्ति, सत्व त्रिकाल हैं, उनकी वर्तमान दशा में अनादि से राग–द्वेष विकार की वासनारूप परिणमना, परिणमना अनादि का है। है? परिणमना अर्थात् होना। **विकाररूप रागादि परिणामों से परिणमन करता हुआ....** कर्ता सिद्ध करते हैं, कर्ता सिद्ध करते हैं। राग–द्वेष, पुण्य–पाप के विकाररूप अनादि से परिणमता हुआ, कर्ता होकर कार्य करता हुआ—ऐसा कहते हैं। कर्ता और भोक्ता सिद्ध करते हैं न? समझ में आया? दूसरा करता नहीं; दूसरे का इसने किया नहीं, दूसरे का कर सकता ही नहीं। यह क्या कहा?

अनादि से अपने राग–द्वेष के परिणामरूप परिणमता हुआ; विकाररूप अनादि से कर्ता होकर कार्यरूप परिणमता हुआ – यह दोनों सिद्ध किये। इसने अनादि से किया है विकार का कर्ता होकर विकाररूप परिणमा; इसके अतिरिक्त इसने कुछ किया नहीं। परन्तु किसका करे? दूसरे सब पदार्थ अपना अस्तित्व रखकर नयी–नयी अवस्थारूप से उपजें और बदलें, यह तो उनका स्वयं का सत् है। उनके सत् में यह हाथ डाले कि मैं तुझे बदलाऊँ, वह कैसे बदल सके? धीरुभाई! बहुत सूक्ष्म बात है, हों! न्याय से कहा नहीं जाता यह?

कोई भी वस्तु है, वह है; उसके तीन अंश हैं। कोई भी पदार्थ हो, उसके तीन अंश होते हैं। क्यों? कि वह स्वयं कायम रहता है, इसलिए ध्रुव अंश होता है और क्षण–क्षण में उसमें बदलना होता है, इसलिए उसे उत्पाद और व्यय अंश होते हैं। एकरूप नहीं रहता। एकरूप होवे तो यह पलटना प्रत्यक्ष दिखता है, तो पलटने के अंशों से भी सत् है और टिकने के अंश से भी सत् है। दूसरे सभी पदार्थ भी पलटने के अंश से स्वयं सत् है। उन्हें यह दूसरा पलटावे–यह कैसे बने? तब तो उसका पलटने का सत् है, वह चला जाए। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

अनादि की सन्तति; सन्तति अर्थात् परिपाटी। नयी अशुद्धता नहीं हुई, दशा में नयी मलिनता नहीं हुई। वह मलिनता इसकी पर्याय में अनादि की है। पर्याय अर्थात् हालत-दशा में। उससे निरन्तर रागादि, राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प आदि विकार, उस (रूप से) परिणमता हुआ, उसरूप अवस्था को करता हुआ, राग-द्वेष के विकारी परिणाम को अनादि से निरन्तर-समय का अन्तर पड़े बिना निरन्तर परिणमता, करता हुआ। समझ में आया? दुकान का, मकान का कुछ किया नहीं—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :.....

उत्तर : यह समझ में आता है, परन्तु किसे? किसे? उसका उत्पाद किसमें हुआ? समझने की पर्याय का उत्पाद किसमें हुआ? यहाँ तो यही बात चलती है। किसी निमित्त में उत्पाद हुआ या निमित्त के कारण हुआ या स्वयं से हुआ? पूरी हो गयी बात, उड़ गयी सब।

एक क्षण में भी उस वस्तु में उन गुणों का उपजनेरूप पर्याय का अस्तिपना उस क्षण में है या नहीं? तो उस क्षण में उत्पाद जो नयी अवस्था हो, वह उसमें होती है, उससे होती है या दूसरे से होती है या दूसरे में होती है? इसमें लॉजिक से—न्याय से समझना पड़ेगा या नहीं?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : परन्तु जाए कहाँ? जाए कहाँ और आये कहाँ? प्रत्येक समय में... ए लड़को! अन्दर आओ। वहाँ बातें करेंगे, अन्दर आ जाओ सब। यह सुनने जैसा है, यह झपकी खाने जैसा नहीं है। क्या कहते हैं?

यह तो बहुत सादी भाषा से आता है, इसमें कहीं कोई ऐसी (कठिन भाषा नहीं है)। वस्तु जो है भगवान आत्मा, उसकी शक्तियों का पिण्ड, उसे पदार्थ कहते हैं और उसकी अनेक शक्तियों को गुण कहते हैं। उनकी प्रतिक्षण कुछ भी अवस्था न हो तो कार्य बदले नहीं। वह नयी-नयी अवस्था बदलती है, तो कहते हैं कि अनादि की अवस्था, राग-द्वेष और पुण्य-पाप के परिणामरूप परिणमता वह बदल रहा है। समझ में आया? कहो, ठीक है?

www.vitragvani.com

अपने रागादि परिणामों का.... देखो! यह अनादि से अपने में राग और द्वेष, शुभ और अशुभभाव—ऐसे विकाररूप पर्याय अर्थात् अवस्था में नयी–नयी अवस्थारूप उपजता हुआ, पुरानी अवस्था के बदलने से–व्यय से नयी–नयी रूप होता उसका—उस विकार का कर्ता आत्मा होता है। कहो, ठीक है? **और भोक्ता भी होता है।** वे विकारी परिणाम जो राग और द्वेष के उत्पन्न करता है, उनरूप परिणमता है, वह उसका कार्य हुआ और उसका कर्ता वह आत्मा है तथा उस विकार को भोगता है; भोग्य वह है और आत्मा भोक्ता है। यह उसका भोक्ता–भोग्य विकारीभाव है। इसने अनादि से किया हो तो विकारी परिणाम को सतत् कर्ता होकर विकार का कार्य करता है। भोग हो तो अनादि से विकारी परिणाम को भोक्ता हुआ भोग्य, विकार को भोग्य बनाया है। परवस्तु को भोग्य बनाया है और परवस्तु (को) भोक्ता है, यह इसकी चीज में तीन काल में कभी नहीं। कहो, समझ में आया इसमें?

कर्ता और भोक्ता भी होता है। 'परिणामानां' परिणमता हुआ। परिणमता हुआ तो अकेला कर्ता हुआ, इसलिए कहते हैं कि **'परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता'** कर्त्ता और भोक्ता भी होता है। इसके अन्तर में इसकी विकारीदशा परिणमति है–होती है, उसका यह कर्ता है। यह विकारीदशा, यह इसका कर्म अर्थात् कार्य है। यह विकारीदशा इसका भोग्य है; उसका यह आत्मा भोक्ता है। कहो, समझ में आया? इसने कभी दाल–भात को भोगा नहीं, इसने तीन काल–तीन लोक में कभी स्त्री को भोगा नहीं अथवा मकान को भोगा नहीं। क्या भोगा है? इसका भोग्य क्या है? भोगने के योग्य क्या है? यह विकारीभाव जो करता है, वह इसका भोग्य है। उसका भोक्ता आत्मा (है)। परवस्तु भोगनेयोग्य, आत्मा भोक्ता, यह वस्तु में है नहीं। कहो, समझ में आया इसमें? इसकी टीका! ये तो महासिद्धान्त हैं, हों! तुम्हारे वकालात के कोर्ट के कायदे सब समझने जैसे हैं। यह तो महासिद्धान्त है।

टीका : वह चैतन्य पुरुष.... यह वह चैतन्यपुरुष अनादि का **अनादि की परिपाटी....** परिपाटी—ऐसे एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक अनादि से। **सदा ज्ञान–चारित्र रहित....** सदा ही आत्मा के ज्ञान की निर्मल पर्याय और शान्ति की स्थिरता, इससे अनादि से वह रहित है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान और आत्मा की

www.vitragvani.com

शान्ति की स्थिरता से वह अनादि से रहित है। **जो रागादिक परिणाम**.... उससे रहित जो रागादि परिणाम—पुण्य और पाप के परिणाम, चाहे तो दया, दान, व्रत के शुभभाव हों; तथापि वे ज्ञानादि और चारित्ररहित परिणाम हैं। कहो, बराबर है ? है इसमें ? आत्मा में दया, दान, भक्ति, शुभराग होओ या हिंसा, झूठ, भोग का अशुभराग होओ; उस राग में ज्ञान और शान्ति का अभाव है। है ?

सदा ज्ञान-चारित्र रहित जो रागादिक परिणाम.... जिसमें सम्यग्ज्ञान की दशा नहीं, जिसमें सम्यक् शान्ति की स्थिरता नहीं—ऐसे स्थिरता और सम्यक् ज्ञान के भावरहित पुण्य और पाप के परिणाम; **उनसे परिणमन करता हुआ**.... शुभ और अशुभराग द्वारा होता हुआ, परिणमता हुआ, कर्ता होकर कर्म / कार्य करता हुआ। समझ में आया ? वे कैसे परिणाम हैं ? शुभ और अशुभ की दशा (कैसी है) ? कि ज्ञान और शान्ति से रहित है। ऐसा कहा ? चाहे तो शुभराग हो, चाहे तो अशुभरागरूप होओ, परन्तु उनमें ज्ञान का—ज्ञानस्वभाव का ज्ञानपना नहीं आया और उनमें चारित्र की शान्ति भी नहीं। आहा.. !

कहते हैं, **अनादि की परिपाटी से सदा**.... कोई एक समय इसका आत्मा के ज्ञान और शान्ति में आया नहीं। अनादि से... यह क्या कहना चाहते हैं ? यह अशुद्धता से परिणमा है क्यों ? समझ में आया ? कि जिससे इसे अर्थ की सिद्धि करनी पड़े; जिससे इसे सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना पड़े। अनादि से इसे वापस परिपाटी—एक के बाद एक, एक के बाद एक हुई। (जैसे) साँकल में एक के बाद एक कड़ी होती है, वैसे एक के बाद एक परिपाटी; और वह सदा अनादि से है। ज्ञान और चारित्र (अर्थात्) स्व स्वरूप का स्वसंवेदन ज्ञान और स्वस्वरूप में स्थिरतारूप शान्ति-चारित्र के भाव से रहित शुभ और अशुभराग से होता हुआ, परिणमता हुआ अनादि जीव है।

स्वयं के रागादि परिणामों.... अपने जो रागादि परिणाम, देखो! विकार के परिणाम—शुभ-अशुभ (परिणाम) हुए, वे अपने हैं, अपनी दशा में हैं; किसी के नहीं। अपनी जो रागादि पर्याय—शुभ और अशुभ पर्याय हुई, उसका वह कर्ता भी होता है। इससे क्या कहा ? परिणमता हुआ। परिणमता हुआ-यह तो कार्य हुआ; इसलिए उसका कर्ता भी है, ऐसा। परिणमता हुआ, यह तो कर्म हुआ और परिणमता हुआ, उसका कर्ता भी है।

www.vitragvani.com

उसका करनेवाला, रचनेवाला भी वह आत्मा है। समझ में आया? यह तो 'विदुषाम्' लिखा था नहीं? परमागम में से हम यह उद्धृत करेंगे। पण्डितों के लिये यह पुस्तक 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' है, ऐसा अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। समझ में आया?

उनका (रागादि परिणामों का) कर्त्ता तथा भोक्ता भी है। अर्थात् क्या कहा? कि भगवान आत्मा अनादि की उसकी दशा में पुण्य और पाप के रागादिरूप परिणमता हुआ उनका कर्ता भी होता है और उस विकारी परिणाम का वह आत्मा अनादि से भोक्ता भी होता है। बात बहुत सीधी और संक्षिप्त की है। समझ में आया? पर का बिल्कुल कर्ता भी नहीं; आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वाणी, स्त्री-पुत्र, परिवार, देश—ऐसे परपदार्थ का किंचित् कभी उसरूप परिणमा नहीं, इसलिए उनका कर्ता नहीं। उनरूप यह हुआ नहीं, इसलिए उनका यह भोक्ता नहीं।

कहो! दाल, भात, सब्जी के समय यह उनके पर परिणामरूप होता है या उनका कर्ता हो? यह तो अपने परिणामरूप परिणमता है; और (यदि) पर के परिणाम को भोगता है तो पर परिणाम में प्रवेश करे तो भोगे; तो इसका पर परिणाम में प्रवेश (है नहीं)। अपने परिणाम में स्वयं हर्ष-शोक करे, हर्ष-शोक करे और उन्हें भोगे; मानता है मूढ़ कि मैं इस शरीर को भोगता हूँ, माँस को भोगता हूँ, लड्डू को भोगता हूँ। समझ में आया? गजब बात! यह किस तरह की बात! पूरे दिन ये सब सुधरे हुए बड़े-बड़े होशियार बड़े कितने काम करे! पर्वत के पर्वत तोड़ डाले, फाड़ डाले, पानी के बड़े बाँध बनावे। करते हैं या नहीं? यहाँ अपने बन्ध नहीं? ऐकल्या! कोई करे नहीं बापू! तुझे पता नहीं भाई! तू कहाँ खड़ा है, वह कहाँ रहा है तू? यह खबर है उसे? वह परमाणु में रहा है? वह रहा है अपने गुण और पर्याय दशा में।

मुमुक्षु : बाहर निकलता नहीं।

उत्तर : बाहर निकल सकता नहीं तो रहा है कहाँ? यह तो बताते हैं कि तेरे मूढ़ की मूढ़ता तो देख। तुझे क्या होता है, इसका तुझे पता नहीं और दूसरे में होता है, इसका तुझे पता नहीं। पूरे गाँव का करे। समझे न? पहले शुरु करना घर से, फिर कुटुम्ब का, फिर जाति का, फिर गाँव का, फिर यह माने न स्तर बड़ा? फिर प्रान्त और फिर देश और फिर

www.vitragvani.com

विश्व का। ओहोहो! क्या करता है परन्तु तू? एक ओर कहे कि विश्व अर्थात् अनन्त पदार्थ हैं—ऐसा कहे और फिर तू कहे कि एक मैं दूसरे अनन्त दूसरों का करूँ, यह तेरा अनन्तपना भिन्न रहा कहाँ? समझ में आया? आहाहा! अनादि का भारी भ्रम है।

भावार्थ : इस आत्मा के अशुद्धता नई उत्पन्न नहीं हुई है। यह सिद्ध करते हैं। अनादि की कहा न? '**अनादि सन्तत्या**' इसकी दशा में, हालत में, पर्याय में, वर्तमान भाव में मलिनता, जो पुण्य-पाप और दु:ख की दशा है, वह नयी नहीं हुई; अनादि की है। आत्मा को नयी अशुद्धता नहीं हुई। अशुद्धता है या नहीं? यदि अशुद्धता न हो तो इसे सुख के लिये ललक न हो। तब तो सुखी ही हो। तो कुछ करना तो चाहता है। कुछ दु:ख टालना चाहता है और सुख प्राप्त करना चाहता है—ऐसा तो सिद्ध होता है। इसका अर्थ यह कि इसकी दशा में दु:ख है, सुख नहीं। अब उस दु:ख को मिटाने के लिये प्रयत्न करे तो इसका अर्थ कि यह दु:खी है वर्तमान दशा में। यह दु:खी पर के कारण नहीं। निर्धनता, वह दु:ख नहीं, आहार-पानी का संयोग न होना, वह दु:ख नहीं; इसकी दशा में राग और द्वेषरूप होना, वह दु:ख है। समझ में आया?

अब जहाँ दु:ख है, उसे पता नहीं और उसे टालना (चाहता है)। ये संयोग आये, वह दु:ख है, इन्हें धक्का दो। इन्हें धक्का देने से दु:ख मिटेगा? और यह धक्का से तुझसे दूर होगा? पहले ऐसा है, ऐसा है, है वैसा कहते हैं। ऐसा मानता है कि हमें यह प्रतिकूलता है—आहार नहीं मिलता, पानी नहीं मिलता, शरीर में रोग है, वह दु:ख है—यह बात ही झूठ है। वह तो जड़ की-पर की दशा है। पर का उत्पाद, पर में होता हुआ वह उत्पाद तुझे कहाँ दु:खरूप (दशा) उत्पन्न कराता है? तेरा उत्पाद दु:ख की दशा-यह ठीक नहीं—ऐसा उत्पाद तो तू खड़ा करता है। तेरी दशा में राग और विकार को उत्पन्न करके दु:ख की दशा तूने उत्पन्न की है। तुझमें की है, पर के कारण नहीं, पर के कारण नहीं, पर में नहीं। एक भी तत्त्व का पता नहीं होता और ऐसा का ऐसा चला जाता है पागल की तरह। समझ में आया? गांडा समझते हो? पागल। हमारे यहाँ काठियावाड़ी (भाषा में पागल को) गांडा कहते हैं।

भावार्थ : इस आत्मा के अशुद्धता नई उत्पन्न नहीं हुई है। क्यों? कि इसे

www.vitragvani.com

प्रयोजन सिद्ध करना है, सुखी नहीं, ऐसा। अनादि से दु:खी है। बेचारा दु:खी है। अशुद्धता कहो या दु:ख कहो। राग-द्वेष के भाव कहो या दु:ख कहो; और यदि दु:ख न हो तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है तो उसे अतीन्द्रिय आनन्द का वर्तमान दशा में आनन्द का-मजा का अनुभव होना चाहिए। यह अतीन्द्रिय सच्चिदानन्द प्रभु है। सत्, चित् और आनन्द, आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। यदि इसकी दशा में दु:ख न हो तो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रत्यक्ष होना चाहिए; वह है नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द का अभाव तो इन्द्रिय की ओर की दु:ख की दशा का सद्भाव। शोभालालजी! दु:ख है दु:ख, कहते हैं। ये पैसेवाले करोड़पति, पाँच-पाँच (करोड़) कोई चालीस करोड़.... ऐ...ई...! दु:खी है—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : .....

उत्तर : उसके कारण कहाँ है? यह तो इनकार किया है। आहाहा! सत्य की दृष्टि अलग और अज्ञानी की दृष्टि अलग। अरबों रुपये ऐसे पड़ हों तो उनके कारण यहाँ सुख की कल्पना है? मानता है कि मैं सुखी हूँ। वह कल्पना तो दु:ख है, दु:ख है। दु:ख स्वयं ने खड़ा किया है, शूल स्वयं ने खड़ा किया है। यह गजब, भाई! कहो, समझ में आया इसमें? इसमें समझ में आया? यह करें इसमें (समझ में आया?) ऐसा कहा जाता है। पहला तो... गजब इस दुनिया की, दुनिया की पाठशाला अलग, यह पाठशाला अलग है। समझ में आया?

भगवान आत्मा वस्तुरूप से सत् है। अस्तिरूप से है तो उसके अस्तिपने के कायम में तो दु:ख है नहीं; उसकी वर्तमान दशा में अनादि से अशुद्धता कहो, मलिनता कहो, दु:ख कहो, आकुलता कहो, राग-द्वेषभाव कहो। ऐसी अशुद्धता अनादि से इसकी दशा में हो रही है। समझ में आया?

अनादिकाल से सन्तानरूप से द्रव्यकर्म से रागादि होते हैं,.... अब निमित्त कहा। रागादि, रागादि होते हैं, उसमें निमित्त कौन है? पूर्व की जड़कर्म। इसका लक्ष्य पर के प्रति जाता है। आत्मा पर जाए तो वह तो आनन्द की मूर्ति है। अर्थात् अनादि से इसका लक्ष्य पर के प्रति जाता है। पर कौन? कि यह जड़ कर्म है वह। भले उसे पता न हो। समझ

www.vitragvani.com

में आया? द्रव्यकर्म, रागादि, जड़ कर्म मिट्टी के परमाणु पड़े हैं। वे भी उनके उत्पाद से हुए हैं, हों! वे रजकण, परन्तु उनके लक्ष्य में जाने से अज्ञानी को स्व का लक्ष्य अनादि से छूटा है, इस कारण उसे पर के लक्ष्य से, अर्थात् परवस्तु निमित्त है, उसमें स्वयं को राग-द्वेष स्वयं में होते हैं। कहो, समझ में आया?

रागादि से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। और जो राग तथा द्वेष दुःखरूप दशा करता है, वे नये कर्म बँधते हैं, उसमें ये राग-द्वेष निमित्त हैं, निमित्त हैं। नये जड़कर्म-मिट्टी बँधे, उसे ये राग-द्वेष निमित्त हैं और इन राग-द्वेष को पूर्व का कर्म निमित्त है। ऐसी अनादि से श्रृंखला / निमित्त-नैमित्तिक चला आ रहा है। समझ में आया? **रागादि से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है।**

स्वर्णकीटिकावत् अनादि से सम्बन्ध है। दृष्टान्त देते हैं। सोना और पत्थर खान में होता है न? पत्थर और सोने की... सोने का पत्थर निकलता है न? वह सोना और मिट्टी दोनों अनादि से शामिल ही है। **उस सम्बन्ध के कारण इस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का बोध नहीं है,....** सुवर्ण और कीटिका की तरह आत्मा को और कर्म को... कर्म अर्थात् जड़ सत्ता, आत्मा सोना। यह सोने को और पत्थर को, एक खान में होता है न पत्थर? फिर लाते हैं न? मुम्बई में बड़े कारखाने होते हैं न? सोना अलग करे और पत्थर अलग पड़ जाए। अनादि खान में जैसे सोना और पत्थर एक सम्बन्ध से दिखायी देता है-साथ में है; वैसे आत्मा अनादि से अपने विकारभाव को करे, उसमें जड़ कर्म का संयोग सम्बन्ध है।

उस सम्बन्ध के कारण इस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का बोध नहीं है,.... अनादि का पर के सम्बन्ध के लक्ष्य में गया है, इस कारण स्व स्वभाव में समवाय सम्बन्ध में आनन्द के साथ मेरे आत्मा को सम्बन्ध है—ऐसे ज्ञानस्वभाव का इसे बोध नहीं है। मैं एक जाननहार चैतन्यमूर्ति हूँ, ज्ञायक चैतन्यसूर्य हूँ, जानने के अस्तित्ववाला जो गुण है, वह चैतन्यसूर्य स्वभाव है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की, अनादि से पर के लक्ष्य से जुड़ा हुआ, सोना जैसे कीटि और पत्थर के साथ जुड़ा हुआ है, उसे पृथक् सोने का बोध नहीं है; इसी प्रकार इसे अपने स्वरूप का, पर के सम्बन्ध के लक्ष्य से अनादि से राग में

(परिणमता) हुआ, विकाररूप होता हुआ, इसे ज्ञानस्वरूप-चैतन्यस्वरूप का इसे अनादि से बोध नहीं है।

इसलिए उदयागत कर्मपर्याय में.... इसलिए जो कुछ कर्म की दशा उदय में आवे, उसमें **इष्ट-अनिष्ट भाव से....** यह ठीक-अठीक—ऐसे भाव द्वारा, **राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन कर रहा है।** बाह्य पदार्थ मिले, उसमें 'यह ठीक है, यह अठीक है' — ऐसे पर की सावधानी में राग-द्वेषरूप परिणमा, हुआ (है)। परिणमा अर्थात् हुआ। उदयागत कर्म दशा में, कर्म की अवस्था में इष्ट-अनिष्ट — यह ठीक और अठीक (करता है।) शरीर सुन्दर तो ठीक, रोग अठीक; बाहर की प्रतिकूलता अठीक, अनुकूलता ठीक—ऐसी कल्पना में अज्ञानी अनादि से **इष्ट-अनिष्ट भाव से राग, द्वेष, मोहरूप परिणमन कर रहा है।** पर की सावधानी में गया, अपने स्वरूप की सावधानी को अनादि से चूका हुआ, अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप की सावधानी से अनादि से चूका हुआ, पर के लक्ष्य की सावधानी में गया हुआ, अनादि से राग-द्वेष और मोहरूप हो रहा है। समझ में आये ऐसा है, हों! इसमें नहीं समझ में आये ऐसा नहीं है। यह कोई बहुत सूक्ष्म नहीं है। समझ में आया?

यद्यपि इन परिणामों के.... जो कुछ स्वयं राग और द्वेष, पुण्य और पाप मलिन अशुद्धतारूप भाव (होते हैं), उन्हें द्रव्यकर्म का निमित्त है। जड़ कर्म का **कारण है....** कारण अर्थात् निमित्तकारण, हों! पूर्व का कर्म निमित्त है। यहाँ स्वयं करता है तो उसे निमित्त कहा जाता है। **तथापि यह परिणाम चेतनामय हैं....** राग और द्वेष, पुण्य और पाप तथा विकल्प की वृत्तियाँ, वे चेतना की दशा में-अस्तित्व में हैं; इसलिए उन्हें चेतनामय कहा है। वे कहीं जड़ रजकणरूप नहीं है वह दशा। समझ में आया? चिदाभास। राग और द्वेष, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम, वे सब विकार हैं। वह विकार, चेतनामय है। चेतना उसमें चेत गयी है। राग-द्वेष में एकाग्र चेतना होती है। वह चेतना की दशा है, जड़ की नहीं, मिट्टी की नहीं, कर्म की नहीं।

इसलिए इन परिणामों का व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा ही कर्ता है। लो! इन **परिणामों का व्याप्य-व्यापकभाव....** जो विकारी परिणाम हुए, शुभ-अशुभ

www.vitragvani.com

रागादि हुए, अशुभ मलिन पर्याय हुई, उसके परिणामों में व्याप्य-व्यापक (अर्थात्) परिणाम, वह व्याप्य और आत्मा व्यापक—ऐसा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध विकार के परिणाम के साथ आत्मा को है; पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। देखे! कर्म को कारण कहा था, परन्तु उसके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। कर्म, वह व्यापक अर्थात् करनेवाला और विकारी परिणाम उसका व्याप्य अर्थात् कर्म—ऐसा नहीं है। आत्मा, विकारी परिणाम का व्यापक अर्थात् करनेवाला और व्याप्य अर्थात् उसका काम, वह आत्मा का है, जड़कर्म का नहीं। समझ में आया?

अशुद्धता इस प्रकार तूने खड़ी की है—ऐसा कहा है। तीन बोल लेंगे — व्याप्य, व्याप्ति और व्यापक — तीन बोल लेंगे। दो बोल लिये, परन्तु अब समझाना है क्रिया को। व्याप्ति-क्रिया। क्या कहते हैं? कि यह आत्मा वर्तमानदशा में, हालत में... पर्याय कहो हालत कहो, अवस्था कहो, (सब एकार्थ हैं)... अनादि से राग और द्वेष की विकारी पर्यायरूप परिणमता व्याप्य-व्यापक का उनके साथ सम्बन्ध है। वे परिणाम हैं, वे व्याप्य अर्थात् हुआ कार्य है (और) आत्मा उनका रचनेवाला, इसलिए उनका व्यापक, कर्ता है। समझ में आया? कर्म उनका व्यापक और विकारी परिणाम उसके व्याप्य (-ऐसा नहीं)। (यहाँ) कर्म अर्थात् कार्य—ऐसा नहीं। गजब बात भाई! भाषा नये प्रकार की; कभी इसकी पाठशाला में नहीं आयी हो, पढ़ा हो उसमें नहीं आया हो, एल.एल.बी. पढ़ा पूंछड़ा (डिग्री) तो उसमें यह न आया हो, लो! वकालात में ऐसा आया न हो?

अरे! आत्मा की स्थिति क्या हो रही है? — इसका इसे पता नहीं है और पर में भी उसके कारण क्या हो रहा है?—इसका इसे पता नहीं है। जिस क्षण में जहाँ-तहाँ खड़ा हो, वहाँ दूसरे पदार्थ में इससे अन्य में कुछ पलटकर क्रिया होती हो, वह किसके कारण होती है?—इसका इसे पता नहीं है; तथा उस समय मुझे रागादि होते हैं—वे किसके कारण होते हैं? उसके कारण होते हैं या मेरे व्याप्य-व्यापक के कारण होते हैं—इसका इसे पता नहीं है। समझ में आया?

इन परिणामों का व्याप्य.... अर्थात् अवस्था, **व्यापक....** अर्थात् पदार्थ, कायम रहनेवाला। कायम रहनेवाले को व्यापक कहते हैं और वर्तमान होनेवाली नयी

www.vitragvani.com

अवस्था को व्याप्य / काम कहते हैं। उस काम का कर्ता आत्मा है। आत्मा कर्ता और वह काम—ऐसा सम्बन्ध है, परन्तु परद्रव्य कर्ता और यह काम—ऐसा सम्बन्ध है नहीं।

इसी तरह परद्रव्य वस्तु है, उसका व्यापक वह परवस्तु है, उसकी वर्तमान दशा उसका व्याप्य है। यह व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध उसके द्रव्य का उसके साथ है। उस द्रव्य का व्याप्य-काम, आत्मा व्यापक-कर्ता होकर करे—ऐसा आत्मा और पर में सम्बन्ध तीन काल में है नहीं। गजब बात, भाई! बीड़ी जलानेवाला बीड़ी के ऊपर क्या करे? मुँह... मुँह टीमरु का वह क्या कहलाता है? आपटो! आपटो होता है न? आपटा नहीं कहते? बड़ी के पत्ते-पत्ते को क्या कहते हैं? आपटा का पत्ता और टीमरु का पत्ता, दो प्रकार के आते हैं न? नहीं आते? आपटा के छोटे-छोटे पत्ते (हो हैं), वहाँ हमारी दुकान में बहुत होता न? बड़ा व्यापार था। कुँवरजीभाई का बड़ा व्यापार। 'उमराला' से मँगाते थे। लाखों बीड़ी, लाखों बीड़ी। पहले (था), अब दूसरा धन्धा हो गया, बीड़ी निकाल दी। आपटा के इतने-इतने छोटे पत्ते होते हैं न? वे आपटा कहलाते हैं, पहले टीमरु (कहलाते हैं) टीमरु के तो एक ही पत्ते की बीड़ी होती है, आपटा में तो दो, तीन पत्ते चाहिए। छोटे-छोटे होते हैं न? उन्हें इकट्ठे करके... कहते हैं कि वह कार्य तेरा नहीं-ऐसा कहते हैं, क्योंकि वे परमाणु अस्ति है... है। है या नहीं? है वह दिखे या नहीं हो वह दिखे? है; तो है वह अस्ति है या नास्ति? अस्ति है। तो अस्ति में तीन अंश हैं। उसके परमाणु में रजकण का टिकना, नयी अवस्था का होना, पुरानी का जाना। ऐसी नयी अवस्था का होना—ऐसा जो व्याप्य, उसके साथ उसके रजकण व्यापक हैं; आत्मा उनकी अवस्था को व्याप्य करे—ऐसा आत्मा में कोई सम्बन्ध है नहीं। आज दृष्टान्त में सेठ की बीड़ी आयी। कहो, समझ में आया? हर समय दूसरे दृष्टान्त देते हैं। यह तो कर्ता सिद्ध किया। बाद में व्याप्य-व्यापक की व्याख्या करेंगे।

भाव्य-भावकभाव से आत्मा ही भोक्ता है। पाठ में कर्ता-भोक्ता शब्द है न? उसे सिद्ध करते हैं। भगवान आत्मा अपनी वर्तमान दशा में जो अनादि से राग और द्वेष—जो अशुद्धता करता है, वह अशुद्धता उसका व्याप्य अर्थात् काम और आत्मा उसका व्यापक अर्थात् कर्ता (है)। इसी तरह आत्मा ही अपने परिणाम का भोग्य, आत्मा उसका

भोक्ता। भाव्य अर्थात् विकारी परिणाम, वह भाव्य है, भोगने के योग्य है। भावक, वह आत्मा, वह भोगने को योग्य भोक्ता है। भाव्य-भावकभाव। आहाहा! समझ में आया?

भाव्य अर्थात् भोगनेयोग्य परिणाम; भावक (अर्थात्) भोगनेवाला—ऐसा जो भाव, भाव्य-भावकभाव से आत्मा स्वयं अपने विकारी परिणाम का भोक्ता है। दूसरे परिणाम की दूसरी दशा को आत्मा भोग नहीं सकता, तथा अपनी पर्याय को दूसरा भोगे—ऐसा होता नहीं; वैसे ही दूसरे की दशा को यह भोगे—ऐसा बनता नहीं, क्योंकि दोनों के सत् का अस्तित्व भिन्न-भिन्न रहा है। समझ में आया? कहो, धीरुभाई! यह कहते हैं, गाँव का कुछ कर सकता नहीं... ऐसा कहते हैं। यह पुस्तक-बुस्तक तो हराम बनाता हो आत्मा। यह रजकण की पर्याय लकवा हो ऐसी है। बहुत इसे प्रेरणा करे, किसकी चले? यह तो इसे चलना हो तो चले, तुझसे कुछ है नहीं। समझ में आया? व्याप्य-व्यापकभाव अर्थात् क्या—इसकी बात बाद में करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३ गाथा-१० सोमवार, माघ कृष्ण १४, दिनांक ०९.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय', गाथा १०। पुरुष अर्थात् चैतन्य आत्मा। उसे यह अशुद्धता किस प्रकार हुई? प्रश्न यह है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। पुरुष अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा। उसकी मुक्ति की-शुद्धि की सिद्धि का उपाय। प्रयोजन का उपाय करना हो तो अशुद्धता हुई किस प्रकार?-यह प्रश्न है। अशुद्धता होवे तो उसे अशुद्धता मिटाने का और शुद्धता प्रगट करने का प्रयत्न होवे, तो अशुद्धता हुई किस प्रकार?-यह प्रश्न है। समझ में आया? भगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि करनी है तो इसका अर्थ कि इसे प्रयोजन की सिद्धि नहीं है अर्थात् इसे अशुद्धता-मलिनता इसकी दशा में है तो वह मलिनता आयी किस प्रकार कि जिसे मिटाकर अपनी शान्ति का प्रयोजन सिद्ध करना पड़े? समझ में आया?

उसका यह उत्तर चलता है। **इन परिणामों का व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा ही कर्ता है।** क्या कहते हैं? जो शुभ-अशुभराग होता है न? आत्मा में शुभ और अशुभ,

www.vitragvani.com

पुण्य और पाप का भाव, उसके उस परिणाम का कर्ता आत्मा है। आत्मा ने किया हुआ वह विकार, वह उसका कार्य है; इस कारण उसे टालने के लिये स्वभाव का आश्रय लेकर आत्मा की सिद्धि करनी पड़ती है। समझ में आया?

भाव्य–भावकभाव से आत्मा ही भोक्ता है। आत्मा स्वयं ही अपने विकारभाव का... व्याप्य अर्थात् अवस्था, व्यापक अर्थात् स्वयं पदार्थ, उसका कर्ता और ऐसे ही राग-द्वेष अथवा हर्ष-शोक के भाव, उसका वह भाव्य अर्थात् भोगनेयोग्य (है और) आत्मा भोक्ता है। अपने ही विकारी हर्ष-शोक के परिणाम को आत्मा भोगता है; इसलिए उनका भोक्ता कहलाता है। दूसरे दो सिद्धान्त हुए—कर्ता और भोक्ता। विकार का (कर्ता) आत्मा और विकार का भोक्ता भी आत्मा। कर्म के कारण नहीं, कर्म का कर्ता नहीं, कर्म का भोक्ता नहीं। कर्म के कारण विकार का कर्ता नहीं, कर्म के कारण विकार का भोक्ता नहीं और कर्म का कर्ता और कर्म का भोक्ता भी आत्मा नहीं—ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ......तो कर्म को लेकर आया न?

उत्तर : कहाँ आया? इसका—स्वयं का परिणाम हुआ, ऐसा हुआ; निमित्त से परिणाम हुए? हुए तो अपने, उससे हुए हैं कहाँ? हुए है अपने। विकारी परिणाम जीव करता है, तब निमित्त से हुए—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। यह तो निमित्त का ज्ञान कराने को (कहा जाता है।) आत्मा पर को कर्ता नहीं और पर से आत्मा में कराता नहीं—यह जब तक इसे निर्णय न हो, तब तक पुरुषार्थ से उसे टालना—ऐसा इसे अवकाश नहीं रहता। कहो, समझ में आया? अब इसकी व्याख्या करते हैं।

व्याप्य–व्यापकभाव अर्थात् क्या?.... तुमने ऐसा कहा कि व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा ही कर्ता है-ऐसा है न? 'ही' है न? आत्मा ही अपने शुद्ध आनन्द के महान स्वभाव को... इस कारण यह शब्द आया था 'अबधु।' 'आप स्वभाव में रे अबधु सदा मगन में रहेना।' समझ में आया? 'आप स्वभाव में रे अबधु सदा मगन में रहेना।' धर्मी जीव को आप स्वभाव अर्थात् आत्मा का ज्ञान, आनन्द आदि त्रिकाल शुद्ध स्वभाव है, उसमें उसे मग्न रहना अर्थात् रुचि, स्थिरता करके जमना। यह मस्त धर्मी जीवों का यह कर्तव्य और कार्य है। समझ में आया? कहते हैं, यह मस्तपना प्रगट किस प्रकार हुआ?

www.vitragvani.com

पहले विकार में स्वयं कर्तापने था, तो उस विकार को टालनेवाला स्वभाव की मस्ती में आकर विकार को टालता है। समझ में आया?

व्याप्य-व्यापकभाव से जीव इन पुण्य-पाप, काम, क्रोध, दया, दान, व्रत आदि के शुभाशुभ विकारभाव का आत्मा व्याप्य-व्यापक से करनेवाला, रचनेवाला है। अर्थात् क्या कहते हैं? व्याप्य-व्यापक अर्थात् क्या? कि **जो नियम से सहचारी हो, उसे व्याप्ति कहते हैं।** व्याप्य और व्यापक समझाने के पहले व्याप्ति समझाते हैं। जो नियम से साथ में हो, सहचारी हो, उसे व्याप्ति कहते हैं। अर्थात् क्या? व्याप्ति अर्थात् कैसे समझना? **जिस प्रकार धुआँ और अग्नि में साहचर्य है....** जैसे धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती ही है; अग्नि न हो, वहाँ धुआँ होता ही नहीं। जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती ही है और जहाँ अग्नि न हो, वहाँ धुआँ होता ही नहीं। अग्नि हो, वहाँ धुआँ हो या न हो, यह प्रश्न अभी यहाँ नहीं है। यहाँ तो धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती ही है; अग्नि न हो, वहाँ धुआँ होता ही नहीं। जैसे रसोई में धुआँ है तो अग्नि है। तालाब में अग्नि नहीं तो धुआँ नहीं। समझ में आया?

जिस प्रकार धुआँ और अग्नि में साहचर्य है अर्थात् जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती ही है.... यह सहचारी सम्बन्ध है, अविनाभावसम्बन्ध है। अविनाभाव-सम्बन्ध। धुएँ को और अग्नि को अविनाभावसम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती ही है और अग्नि जहाँ न हो, वहाँ धुआँ नहीं होता, ऐसा। होता ही नहीं। **अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता।** अस्ति-नास्ति अन्वय—व्यतिरेक किया। जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती ही है; जहाँ अग्नि न हो, वहाँ धुआँ नहीं। जहाँ अग्नि हो, वहाँ धुआँ होता है—ऐसा प्रश्न नहीं है, यह प्रश्न अलग हो गया। यहाँ तो धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती है और अग्नि न हो, वहाँ धुआँ नहीं होता। समझ में आया? अन्वय—व्यतिरेक हो गया। जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि होती है; अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता। कैसे? यह दृष्टान्त (हुआ।)

पुण्य-पाप के रागादिभाव जो हैं, **रागादिभाव और आत्मा में सहचारीपना है।** अब उसके (दृष्टान्त के) साथ मिलान करते हैं। नियम से सहचारी हो, उसे व्याप्ति कहते हैं। तो वहाँ कहा—धुएँ और अग्नि को सहचारीपना है; वैसे रागादि भाव और आत्मा में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

सहचारीपना है। राग, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, पुण्य—ये सब भाव, राग हैं। शुभ-अशुभराग विकार है। जहाँ विकार हो, वहाँ आत्मा होता ही है, वहाँ आत्मा होता ही है। आत्मा हो, वहाँ विकार (होय)—ऐसा अभी प्रश्न नहीं है। जहाँ रागादिभाव-विकारभाव हो, वहाँ आत्मा साथ में होता ही है, सहचारी-साथ में होता है। और **जहाँ रागादि होते हैं, वहाँ आत्मा होता ही है....** है न? सहचारी कहा न? अब इसके दो सिद्धान्त (कहेंगे।) जहाँ पुण्य-पाप के भाव हो, वहाँ आत्मा होता ही है और आत्मा न हो, वहाँ पुण्य-पापभाव नहीं होता। समझ में आया? न्याय से मिलाते हैं।

आत्मा के बिना रागादि नहीं होते। रागादि, आत्मा के बिना अध्धर में होते हैं? आकाश में, परमाणु में होते हैं? समझ में आया? यह व्याप्ति। व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव-सम्बन्ध। अविनाभावसम्बन्ध अर्थात्—जहाँ-जहाँ पुण्य-पाप के विकार, वहाँ-वहाँ आत्मा और जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ-वहाँ विकार नहीं। ऐसे अविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह समझ में आया? यह तो सादी भाषा में है, यह कोई बहुत ऐसा सूक्ष्म नहीं है। भाषा भले... व्याप्ति और व्याप्य का व्यापक कभी सुना भी न होगा। क्यों मांगीरामजी? व्याप्ति, व्याप्य, व्यापक कभी दुकान में आया नहीं होगा, पहले में आया नहीं होगा। धर्म के नाम में भी सुनने में नहीं आया होगा, लो! वहाँ तो यह करो—दया पालो, भक्ति करो,व्रत पालो, यह करो, यह करो... परन्तु यह क्या है?—ऐसा सिद्ध करते हैं। ये भाव क्या हैं? दया का, व्रत का, पुण्य का, पाप का यह भाव सब विकार, राग-विकार है और विकार है, वहाँ आत्मा है। विकार है, वहाँ जड़ है—ऐसा नहीं होता। समझ में आया? और आत्मा न हो, वहाँ विकार नहीं होता। जड़ में आत्मा नहीं, वहाँ विकार नहीं। समझ में आया? यह तो सरल भाषा है, हों! है जरा न्याय का विषय परन्तु सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : व्याप्ति कर्म के साथ है?

उत्तर : नहीं... नहीं; बिल्कुल नहीं।

इस व्याप्ति क्रिया में जो कार्य है,.... जो विकार के परिणाम हों, वहाँ आत्मा होता है। आत्मा न हो, वहाँ विकार परिणाम नहीं होते। ऐसी जो क्रिया हुई, उस क्रिया का जो कार्य, यह रागादि परिणाम—वह व्याप्ति का व्याप्य / कर्म है। इस क्रिया का राग-द्वेष,

पुण्य–पाप, वह कार्य है। समझ में आया? **उसे व्याप्य कहते हैं....** विकारी परिणाम, जीव के बिना नहीं होते; जीव न हो, वहाँ विकार नहीं होता। ऐसे अविनाभावसम्बन्ध की व्याप्ति क्रिया के जो वर्तमान, रागादि पुण्य–पाप के भाव, उन्हें व्याप्य, अर्थात् कार्य, अर्थात् कर्म, अर्थात् उसे कर्तव्यदशा कहा जाता है। कहो, माँगीरामजी!

वह विकारी कर्तव्य किसका? कि आत्मा का। वह विकारी व्याप्य, वह कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। कर्म (अर्थात्) यहाँ अभी जड़ की बात नहीं है। शुभ और अशुभ जो राग, पुण्य–पाप के जो विकल्प, उस विकार का आत्मा के साथ में सम्बन्धपना और वह न हो, वहाँ न हो—ऐसा सम्बन्धपना सिद्ध करके, ऐसी जो व्याप्ति का जो ज्ञान, वह व्याप्ति, उसका जो उस काल में वह व्याप्य अर्थात् विकार परिणाम, उसे कर्म कहते हैं, कर्तव्य कहते हैं, कार्य कहते हैं, उसे व्याप्य कहते हैं। विकारी परिणाम को व्याप्य कहते हैं। व्याप्ति क्रिया का कार्य, वह विकार, उसे यहाँ व्याप्य और कर्म कहा जाता है।

मुमुक्षु : एक ही द्रव्य में या दो द्रव्यों में?

उत्तर : यह कहाँ बात आयी? उसके साथ सम्बन्ध नहीं। क्या आया? व्याप्य–व्यापक कहा न? जहाँ विकार है, वहाँ आत्मा है; आत्मा नहीं, वहाँ विकार नहीं—ऐसा आया न? आत्मा है, वहाँ विकार है—ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं लेना। यहाँ तो विकार है, वहाँ आत्मा है और आत्मा नहीं, वहाँ विकार नहीं। समझ में आया? जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है और जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धुआँ नहीं। इससे अग्नि है, वहाँ धुआँ है—यह प्रश्न यहाँ अभी नहीं है। उस सम्बन्ध का यहाँ काम नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

उसे व्याप्य कहते हैं। यहाँ सिद्ध क्या करना है? कि अशुद्धता किस प्रकार हुई? आत्मा में मलिनता किस प्रकार हुई, कि जिससे वह मलिनता टालने का उपाय जीव को करना पड़ता है? समझ में आया? तब सिद्ध करते हैं कि मलिनता, आत्मा के व्याप्य /कर्म / कार्य से हुई है। इसने किया तो हुआ है। वह मलिनता, कर्म के कारण हुई है —ऐसा नहीं है। समझ में आया?

आत्मा कर्ता है, उसे व्यापक कहते हैं। व्याप्ति, व्याप्य और व्यापक—तीनों को यहाँ समझाया है। अर्थात् कि व्याप्ति तो, जहाँ–जहाँ राग है, वहाँ–वहाँ आत्मा है और जहाँ

www.vitragvani.com

आत्मा नहीं, वहाँ राग (नहीं)—इतना व्याप्तिसम्बन्ध बतलाया। अब उस व्याप्ति का जो उस काल में जो परिणाम, पुण्य-पाप के परिणाम, विकारीभाव है, उसे यहाँ व्याप्य अर्थात् उसे कर्म कहते हैं। व्याप्य को कार्य कहते हैं और उस कार्य का करनेवाला आत्मा, उसे व्यापक कहते हैं। समझ में आया? कहो! यह तो भाषा याद रहे ऐसी है या नहीं? भाव, भाव की बात करते हैं।

अशुद्धता क्यों हुई? जीव की दशा में संसार की मलिनता खड़ी क्यों हुई? संसार इसकी पर्याय में है; संसार बाहर में नहीं है। जीव का संसार, जीव की पर्याय में है। पर्याय अर्थात् अवस्था। उस अवस्था में संसार-मलिन मिथ्यात्व, राग-द्वेष मलिनभाव, वह संसार है। वह संसार, जीव में अशुद्धरूप भाव हुआ कैसे? कि इसने व्याप्यरूपी विकार के परिणाम किये तो हुआ। व्याप्य विकार का परिणाम इसका कार्य और आत्मा व्यापक अर्थात् उसमें पसरनेवाला, यह आत्मा उसका कर्ता है। समझ में आया?

ऐसा कहकर यह भी सिद्ध किया कि कर्म है, उसका यह पुण्य-पाप कार्य नहीं है, उसका कर्तव्य नहीं है तथा कर्म के परिणाम और इस शरीर के परिणाम हों, वह आत्मा का कर्म नहीं है, आत्मा का कार्य नहीं है। समझ में आया? कहो, धीरुभाई! यह तो समझ में आये ऐसा है या नहीं? इसमें कोई बहुत व्यापारी की वह जरूरत नहीं है, यह तो एक साधारण (बात है।) वरना तो व्यापारी को ऐसा लगे कि हमें ऐसा समझ में नहीं आता। यह न समझ में आये? यह तो साधारण बात है।

परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं कि भाई! पुरुष अर्थात् तू आत्मा; चिद्स्वरूप, चैतन्यस्वरूप आत्मा। तुझे प्रयोजनरूपी मुक्ति सिद्ध करनी है तो उसका उपाय बतलाते हैं, परन्तु वह उपाय कब बतलाया जाए? कि इसमें मलिनता हो तो मलिनता को मिटाने का उपाय हो। तो मलिनता किस प्रकार उत्पन्न हुई? समझ में आया? मलिनता है या नहीं—ऐसा सिद्ध करते हैं। कर्म है या नहीं—ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं है। मलिनता है या नहीं? तुझमें भ्रमणाा, मिथ्यात्व की और राग-द्वेष की भ्रमणा—ऐसी मलिनता तेरी दशा में है या नहीं? यदि हो तो; मिथ्यात्व, सम्यग्दर्शन द्वारा टले और राग-द्वेष, स्थिरता द्वारा टले। समझ में आया? कहते हैं, परन्तु वह मलिनता खड़ी क्यों हुई?

www.vitragvani.com

वस्तु तो शुद्ध है न? आत्मा तो शुद्ध है, द्रव्य से—गुण से शुद्ध है। चिदात्मा—आत्मा चिद्घन है, आनन्दघन है। ओहो! जिसके स्वरूप में पूर्ण पवित्रता का धाम, वह आत्मा है। ऐसे पवित्र आत्मा में मलिनता क्यों खड़ी हुई? तो कहते हैं कि वह मलिनता स्वयं की है; की है, तब खड़ी हुई है। उसका कर्ता आत्मा और वह मलिनता उसका कार्य, अर्थात् कर्म, अर्थात् कर्तव्य, अर्थात् व्याप्य है। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा की दशा को एकदम स्वतन्त्र जैसी है, वैसी यहाँ तो सिद्ध करना है। आहा..! कहो, समझ में आया? कितना न्याय देकर सिद्ध करते हैं! भाई! यह विकार के-पुण्य-पाप के परिणाम अथवा मिथ्यात्व के परिणाम—पर में सुख है—ऐसी मान्यता; राग-द्वेष में हित है—ऐसी मान्यता; पर का कुछ कर सकता हूँ—ऐसा मिथ्या अभिप्राय और इष्ट-अनिष्ट को देखकर तुझमें जो राग और द्वेष, यह ठीक-अठीक होता है—ऐसी मिथ्यात्वसहित की इष्ट-अनिष्ट की वृत्तियों का मलिनभाव तुझमें है या नहीं? है तो क्यों उत्पन्न हुआ? तूने किया, (इसलिए) उत्पन्न हुआ। समझ में आया? तूने उस-उस समय वह-वह मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम को... वह परिणाम है, मिथ्यात्व और राग-द्वेष, आत्मा में मलिन परिणामरूपी अवस्था है। तो वह अवस्था किस प्रकार हुई? कि उस अवस्था के कर्तव्य का कर्ता आत्मा है और वह अवस्था उस कर्ता का कार्य है। कहो, समझ में आया? यह कुछ समझना नहीं और करना धर्म! कहाँ से धूल में धर्म होता होगा? अभी, धर्म कहाँ से आवे, अधर्म कैसे टले, अधर्म क्यों उत्पन्न होता है?—इसका पता नहीं होता। अधर्म कहाँ रहता होगा? कहो! अधर्म, अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेषभाव, वह अधर्म है। वह अधर्म कहाँ रहता है? शरीर में रहता है? कर्म में रहता है? स्त्री-पुत्र में रहता है अधर्म? जीव का अधर्म बाहर में रहता है? कहते हैं कि वह अधर्म तेरी दशा में रहता है, तेरी दशा में—अवस्था में रहता है। तब वह अवस्था हुई क्यों? तूने की तो हुई है। समझ में आया? कितने पहलू इसमें हैं, लो! **विदूषाम्** के लिये उद्धृत किया है, ऐसा कहा था न? पहले से कहा था। पण्डितों के लिये, समझनेवाले जीवों के लिये यह एक आध्यात्मिक पुरुषार्थसिद्धि-उपाय परम आगम में से मैं करता हूँ।

भाई! तुझमें कुछ तो प्रयोजन सिद्धि करने का प्रयत्न करता है या नहीं? सुखी होने

www.vitragvani.com

का प्रयत्न करता है या नहीं ? तो अब यह सुखी कैसे होना और दुःख है या नहीं ?—इसका जिसे पता नहीं, उसे दुःख कहाँ रहता है और कहाँ से उसे मिटाना और उसे दुःख के बदले शान्ति प्राप्त करना, वह कहाँ से आता है ?—ऐसा जिसे पता नहीं, उसे अधर्म कहाँ रहता है, (इसका) पता नहीं तो अधर्म किसके आश्रय से मिटेगा, इसका भी उसे पता नहीं। कहो, समझ में आया इसमें ?

इस प्रकार जहाँ व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध हों.... इस प्रकार अर्थात् ? जहाँ-जहाँ पुण्य और पाप... पाप शब्द से मिथ्यात्व भी है और पाप शब्द से हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि भी है तथा पुण्य शब्द से दया, दान, व्रत के परिणाम, वह पुण्य है। ये सब मिथ्यात्व और पुण्य–पाप के भाव, ये जीव की दशा में विकारी परिणाम है। यह दशा इसकी विकारी है। यह विकारी दशा इसका कार्य है; उसका कर्ता आत्मा है। आत्मा वहाँ अटकता है तो करता है। उसे कर्म कराता है या संयोगी चीज विकार कराती है या पर के काम जीव करता है; इसलिए पर का काम जीव का काम है—ऐसा है नहीं। उसका काम तो अज्ञानरूप से और मिथ्यात्वरूप से स्वरूप के भान बिना मिथ्यात्वभाव और राग–द्वेष के, इष्ट–अनिष्ट के भाव, यह उसका काम है, इसका वह कर्ता है, इससे विकारीभाव खड़े हुए हैं। कहो, समझ में आया ?

इसी प्रकार जहाँ व्याप्य–व्यापक... व्याप्य अर्थात् कार्य और व्यापक अर्थात् उस कार्य का रचनेवाला, करनेवाला; ऐसा जहाँ सम्बन्ध हो, **वहीं कर्ता–कर्म सम्बन्ध सम्भव है,....** ऐसा जहाँ व्याप्य अर्थात् कार्य और यह रचनेवाला आत्मा—ऐसा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो, वहाँ कर्ता–कर्म सम्बन्ध सम्भव है। वहाँ व्यापक, वह कर्ता और व्याप्य, कार्य हुआ है, वह उसका कर्म। समझ में आया ? शशीभाई ! देखो ! यह शरीर का हिलना–चलना है, वह आत्मा का काम नहीं—ऐसा सिद्ध करते हैं, क्योंकि यह अवस्था है, वह व्याप्य है और इसका व्यापक तो परमाणु हैं, उसके रजकण हैं। वे रजकण व्यापक / कर्ता होकर उसका (शरीर का) हिलना–चलना काम करते हैं; वह आत्मा का कर्म नहीं है, आत्मा का कार्य नहीं है। समझ में आया ?

यह दुकान का धन्धा... पेढी पर बैठा होता है न ? फिर होते हैं न सूत की पुड़िया,

www.vitragvani.com

गेंद या जो कुछ, शक्कर बेंचे... ये सब काम होते हैं, ऐसे आने–जाने की क्रिया (होती है), वह व्याप्य है; उस व्याप्य का व्यापक तो उसके रजकण हैं; आत्मा उस व्याप्य / कर्म को करता नहीं—ऐसी यहाँ वस्तु की स्थिति, परमेश्वर सिद्ध करते हैं। आहाहा! कैसे होगा? कान्तिभाई! यह सब नामा–फामा लिखते हैं, ध्यान रखते हैं—वह कौन करता होगा? आहाहा!

कहते हैं कि **इसी प्रकार जहाँ....** यह पद्धति कही वह। व्याप्य–कार्य और व्यापक–करनेवाला—ऐसा जहाँ सम्बन्ध हो, वहाँ कर्ता–कर्म सम्बन्ध सम्भव है। जहाँ व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध नहीं, वहाँ कर्ता–कर्म सम्बन्ध हो नहीं सकता। कहो, समझ में आया? वीतराग कथित एक भी न्याय समझे तो उसका निबटारा हो जाए, परन्तु एक भी न्याय समझता नहीं और ऐसी की ऐसी अन्धी दौड़ हाँक रखी है अनादि की। शशीभाई! आहाहा!

ऐसा कहकर तो (ऐसा कहा), अपना कार्य स्वयं करे और पर का कार्य पर करे, इसलिए अनन्त चीजें सिद्ध हो गयी। पृथक्–पृथक् अनन्त चीजें हैं तो वह प्रत्येक पदार्थ अपनी वर्तमान हालत की अवस्थारूपी व्याप्य उसका कार्य, उसका वह परमाणु आदि, जीवद्रव्य आदि कर्ता (है)। कर्ता और कर्म, व्याप्य–व्यापक में हो सकता है। ऐसा होने से अपना व्याप्य–व्यापक, अपना कर्ता–कर्म अपने में है; पर का कर्ता–कर्म (पर में है।) अर्थात् अनन्त वस्तुएँ भी सिद्ध कर दी। समझ में आया? कैसे होगा इसमें? मगनभाई! इस मकान–बकान का ध्यान रखकर वहाँ व्यवस्थित रखे या नहीं—ऐसा होता है? ऊपर ऊँचा किया और यह किया, कितना किया? अपने आप हो जाता होगा? अपने आप मकान होता होगा? कहो, रजनीभाई! क्या होगा यह? अपने आप होता है? पागल कहे न मूर्ख।

यहाँ तो कहते हैं कि वह प्रत्येक रजकण वहाँ है और मकान का एक–एक परमाणु—ऐसे अनन्त रजकणों का वह पिण्ड है। सह चूना, धूल, मिट्टी। उसकी उस–उस समय की उस अवस्था का कार्य / व्याप्य का व्यापक वह–वह द्रव्य रजकण है। उसे कर्ता–कर्म सम्बन्ध उसके साथ लागू पड़ता है। आत्मा कर्ता और वह कार्य है— ऐसे सम्बन्ध उसके साथ लागू है नहीं। आहाहा! गजब बात भाई! ठीक होगा यह? क्या ठीक?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यह पूरे दिन करे; जैसा बोलना चाहे, वह बोले, लो! कहते हैं कि बोलने के रजकण उठे न? यह आवाज उठती है, वह जड़ है। उस आवाज की वर्तमान अवस्था उसका व्याप्य है, उसका कर्म है और वे परमाणु उसके व्यापक अर्थात् कर्ता हैं। आत्मा उस वाणी की पर्याय का कर्ता नहीं है। मूढ़ मानता है, वह मिथ्यात्वभाव का कर्ता होता है। समझ में आया? क्योंकि मिथ्यात्वभाव उसका व्याप्य होता है, परन्तु वह वाणी की–भाषा की पर्याय, आत्मा का व्याप्य / कर्म होती है—ऐसा नहीं है। कहो, सत्य होगा यह? छोटालालभाई! यह सब अभी तक यह मानते हैं, वह हमारा मिथ्या? जन्में तब से माने और इसके गुरु इसे कहे कि यह करो, यह कराया, यह हो, यह किया जा सकता है। आत्मा न हो तो कहीं शरीर चले? कहीं मुर्दे चलते हैं? भाषा कोई आत्मा में से निकलती है या अध्धर से निकलती है? दीवार में से निकलती है? सुन न अब! तुझे पता नहीं है। कहनेवाले को पता नहीं, सुननेवाले को पता नहीं। मोहनभाई!

'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय' बापू! तेरे पुरुषार्थ का... पुरुष—ऐसा तू चैतन्यस्वरूप भगवान, उसका प्रयोजन; अर्थ अर्थात् प्रयोजन; उसकी सिद्धि की प्राप्ति का उपाय बतलाना है। उपाय करना है, तब वह कुछ उपाय, उसका उपाय, किसे टालने का उपाय करना? किसे प्राप्त करने और किसे टालने का? समझ में आया? उपाय कुछ करता है, वह कुछ टालना चाहता है और कुछ प्राप्त करना चाहता है—ऐसा सही न? तो टालना चाहता है, वह क्या? कि इसमें होनेवाले पुण्य और पाप के, मिथ्यात्व के, राग–द्वेष के भाव, उन अशुद्ध परिणामों को टालना चाहता है। वह अशुद्ध परिणाम का कार्य किसका है? कार्य तेरा है। समझ में आया? कहो, भगवानभाई! क्या बराबर? यह पिचहत्तर वर्ष में वहाँ कहीं सुना था? दया पालो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो... मर गया व्यर्थ, समझे बिना का।

वीतराग–सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ, जिन्हें एक समय में तीन काल–तीन लोक का ज्ञान। अनन्त का अनन्तरूप से ज्ञान (ने) जाना। ऐसे अनन्त पदार्थों का यहाँ व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। तेरे पुण्य–पाप के और मिथ्यात्व के भाव, वह तेरा अशुद्धपना, वह तेरा कार्य, वह तेरा व्याप्य और उसका करनेवाला, रचनेवाला कर्ता / व्यापक स्वयं, पसरनेवाला स्वयं, वह उनका कर्ता। ऐसा निर्णय करे तो फिर उसे अशुद्धता

www.vitragvani.com

टालने के लिये उपाय कहाँ करना और कैसे करना—इसकी सूझ उसे पड़े। समझ में आया? जहाँ अशुद्धता है, वहाँ भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्धस्वरूप है। उसका अन्तर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपाय करे, तब उसकी सिद्धि-कृतकृत्य आत्मा की सिद्धि की कृतकृत्यता होती है, तब मलिनता टलती है। यह उपाय भी उसमें करना है। जिसमें मलिनता है, उसे टालने का उपाय उसमें करना है। उसका उपाय कहीं शरीर में, वाणी में, पर में, मन्दिर में और स्वाध्यायमन्दिर में करना नहीं है। समझ में आया? विजयमूर्तिजी! ठीक है? ऐसा निकला यह तो। क्या मानते थे और क्या निकला!

भाई! पर की जो अवस्था दया की हुई—शरीर और जीव का टिकना; उसकी अवस्था का / व्याप्य का कर्ता वह द्रव्य है; तू नहीं। तुझमें दया का शुभभाव हुआ, वह तेरा कार्य और व्याप्य; उसका तू कर्ता; अन्य दशा का कर्ता नहीं। समझ में आया? यह मन्दिर की रचना हुई, मन्दिर की रचना की पर्याय हुई, वह व्याप्य; उसका व्यापक वे परमाणु द्रव्य हैं। तुझमें क्या हुआ? तेरा भाव शुभ हुआ। वह शुभभाव राग है, वह तेरा व्याप्य है, वह तेरा कार्य है (और) उसका कर्ता आत्मा (तू) है। उस राग का कर्ता, मन्दिर हुआ, इसलिए राग हुआ—ऐसा नहीं है; राग हुआ, इसलिए मन्दिर हुआ—ऐसा नहीं है। बराबर है? माँगीरामजी! आहाहा!

अरे..! इसकी दशा में क्या होता है और कैसे किया है?—इसका इसे पता नहीं पड़ता। या तो विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है, इसलिए अपने अब कर्म टालो। कर्म के कारण विकार होता है तो अब अपने अपवास-बपवास करके कर्म को टालो, लो! यह इसका उपाय! भान नहीं है कि वह कर्म तेरा है ही नहीं, कर्म का कार्य तेरा है ही नहीं; इसलिए कर्म को टालना, वह तुझमें है ही नहीं। तुझमें तो मलिनता के मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष के भाव तूने कर्ता होकर किये, (अब) तुझे टालना कर्ता होकर। उसी-उसी में उपाय है। जैसे मलिनता वहाँ है तो उसे टालने का उपाय भी पुरुष चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन करके, उसका ज्ञान करके स्थिरता करना, वह उसका उपाय है। उसी-उसी में उपाय है; बाहर में कहीं है नहीं। समझ में आया?

www.vitragvani.com

अन्य स्थान में सम्भव नहीं। क्या कहते हैं ? जहाँ व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध होता है, वहाँ कार्य और कारण कर्तापना सम्भव हो सकता है। जहाँ व्याप्य और व्यापक न हो, वहाँ कार्य और कर्ता सम्भव नहीं हो सकता। अन्य स्थान में सम्भव नहीं है—ऐसा शब्द पड़ा है न ? नीचे है, **अन्य स्थान में सम्भव नहीं।** नीचे लाईन है। अर्थात् कि तेरे मिथ्यात्व के परिणाम—मैं देह की क्रिया करता हूँ, मैं भाषा बोलता हूँ, मैंने मन्दिर बनाया, मैंने माल तोला, मैंने माल दिया, मैंने पैसा लिया, मैंने पैसा दिया—ऐसी जो जड़ की क्रिया, उसे माना कि मैंने किया—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह मिथ्यात्वभाव तेरा व्याप्य है और तू उसका कर्ता है। समझ में आया ?

अन्य स्थान में सम्भव नहीं। ऐसा करके क्या कर दिया ? जहाँ-जहाँ इसकी—जीव की दशा में विकार है, वह विकार उसका कार्य है और वह उसका कर्ता। इसके अतिरिक्त उसका कर्ता-कर्मपना, व्याप्य-व्यापकपना दूसरे में नहीं है; इसलिए दूसरे में कर्ताकर्मपना नहीं हो सकता। शरीर के काम आत्मा तीन काल में नहीं करता, वाणी नहीं बोलता तीन काल में, क्योंकि उसके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। खाने की क्रिया हुई, वह आत्मा नहीं करता—ऐसा कहते हैं, क्योंकि आत्मा और उसके कार्य-कर्तापने का सम्बन्ध उसमें नहीं है। उसका (आत्मा का) कार्य विकार और आत्मा कर्ता—इतना सम्बन्ध संसार में अनादि से अज्ञानी को है। समझ में आया ?

मुक्ति का उपाय कहना है न ? जैसे इस विकारी कर्तव्य में कर्ता होकर रुका हुआ है न ? तब अब इसे टालना होवे, अर्थात् अपने प्रयोजन की सिद्धि करनी होवे तो इसे शुद्धस्वरूप चैतन्यमूर्ति चैतन्यस्वरूप—ऐसा पुरुष आत्मा, कि जिसमें विकार नहीं—ऐसे अविकारी स्वभाव की अन्तर्मुख दृष्टि करना, यह इसका व्याप्य है, यह इसका कार्य है और इसका वह आत्मा कर्ता है। ऐसे अज्ञानभाव में जो विकारी (भाव) व्याप्य और आत्मा कर्ता था; वह स्वभाव के भान में निर्विकारी शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा-ज्ञायक आत्मा है—ऐसी अन्तर्मुख स्वभाव की रुचि, दृष्टि, ज्ञान और लीनता (करें), वह आत्मा का कार्य है, क्योंकि वह आत्मा का व्याप्य है। पहला जो अज्ञान कार्य और कर्ता था, वह मिट गया। स्वभाव का आश्रय लेकर, चैतन्यप्रभु पूर्ण आनन्द है, ज्ञायक है—ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि होने

www.vitragvani.com

पर, उसका व्याप्य-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मलपरिणाम व्याप्य हुए और आत्मा उनका कर्ता है। उसे दूसरा सम्बन्ध नहीं है। अब विकार, कर्म और आत्मा कर्ता—ऐसा सम्बन्ध वहाँ नहीं रहता।

बाहर का कर्ता-कर्म सम्बन्ध तो अज्ञानी को भी नहीं है। अज्ञान में विकार परिणाम का कार्य और व्याप्य तथा कर्ता आत्मा—ऐसा सम्बन्ध था। वह जहाँ चैतन्य शुद्धस्वरूप है, वह पर्यायबुद्धि में राग का कर्ता था। (अब) स्वभावबुद्धि, सम्यक्बुद्धि, चैतन्यबुद्धि हुई, चैतन्यबुद्धि सम्यग्दर्शनबुद्धि, शुद्ध चैतन्यस्वरूप महास्वभाव का सागर हूँ—ऐसा सम्यग्दर्शन; उस स्वभावसन्मुख का ज्ञान, स्वभाव में स्थिरता—ऐसे तीन अंश दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो धर्मरूप हैं, वे उसका व्याप्य हुए, आत्मा उनका कर्ता / व्यापक हुआ। अब विकारी परिणाम का कर्ता और विकारी (परिणाम) कर्म—यह ज्ञानी को रहा नहीं। समझ में आया? अज्ञानी को पर का कार्य और कर्तापना तो था नहीं; इनका था, विकारी मिथ्यात्व और राग-द्वेष का कार्य और उसका कर्ता।

अब जहाँ 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय'—पुरुष ऐसा भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु, आनन्दमूर्ति आत्मा में, बेहद शक्ति का पिण्ड-सत्त्व आत्मा—ऐसी अन्तर्मुख की... अन्तर्मुख की... बहिर्मुख का झुकाव था, वह छोड़कर अन्तर्मुख के झुकाव का कार्य जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूपी, शान्तिरूपी अर्थात् चारित्र / वीतरागी पर्याय जहाँ धर्म की / मोक्षमार्ग की हुई, उसका कर्ता कौन? कि पूर्व के मलिन परिणाम थे, वे उसके कर्ता? पूर्व में राग की मन्दता थी, उससे यह निर्मल पर्याय प्रगटी, वह राग की मन्दता कर्ता और निर्मल पर्याय कर्म / कार्य—ऐसा है? नहीं, नहीं; ऐसा नहीं है। विकारी परिणाम तो अज्ञान का अथवा अशुद्धता का कार्य था। वह कार्य वापस कारण होकर शुद्धता की पर्याय का कारण होवे—ऐसा नहीं होता।

आत्मा का धर्म अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु की अन्तर्मुख की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति (होना)। स्वभाव के अवलम्बन से, शान्तिसागर के आश्रय से (शान्ति) प्रगट करने पर वहाँ पूर्व की विकारी पर्याय का व्यय हुआ, निर्विकारी पर्याय की उत्पत्ति हुई, निर्विकारी पर्याय के कार्य का आत्मा कर्ता हुआ। इसकी कोई पूर्व की पर्याय कर्ता नहीं;

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कर्म हटा, इसलिए आत्मा में सम्यग्दर्शन का कार्य हुआ—ऐसा नहीं। ठीक से समझ में आता है या नहीं ?

दूसरे स्थान में, दूसरे क्षेत्र में या दूसरे भाव में भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को भूलकर अशुद्धता के, मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम का कर्ता होकर, कर्ता होकर स्वतन्त्र (करता है।) कर्ता की व्याख्या—स्वतन्त्ररूप से करे, जिसे दूसरे की अपेक्षा नहीं। उस विकार को स्वतन्त्ररूप से जीव करे, जिसमें कर्म की अपेक्षा नहीं। आहाहा! ऐसा विकार का स्वतन्त्ररूप से करनेवाला और मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष के परिणाम, वह उसका कार्य।

अब, गुलाँट खाता है। स्वतन्त्ररूप से भगवान आत्मा कर्ता। द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि पड़ने से सम्यग्दर्शन (होने पर), द्रव्यस्वभाव का ज्ञान होने पर (सम्यग्ज्ञान) द्रव्यस्वभाव में स्थिरता होने पर, यह चारित्र (हुआ), इनका कर्ता वह द्रव्य है और उसकी निर्मलदशा, वह उसका व्याप्यरूपी कर्म है। इसके अतिरिक्त दूसरे स्थान में उसका कर्ता-कर्मपना सम्भव नहीं है। भाई! इसलिए अब विकार कर्म और आत्मा कर्ता, यह वहाँ सम्भव नहीं है। समझ में आया ?

इसी प्रकार.... इसी प्रकार। अब भाव्य-भावक की (व्याख्या करेंगे।) व्याप्य-व्यापक की व्याख्या की। शशीभाई! आहाहा! सर्वज्ञ स्वभाव ने जाना; सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं होती नहीं। अनन्त पदार्थ, अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल, अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें—इनके स्वतन्त्रपने का, व्याप्य-व्यापकपने का, कर्ता-कर्मपने का, अनन्त का अनन्तपने ऐसा ज्ञान जिन्हें हों, वे सर्वज्ञ (हैं)।

जिसके मत में ऐसे द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल, अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें (नहीं), जिसके एक-एक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुणों का व्यापकपना, कर्म / कार्य और स्वयं कर्ता—ऐसी, जिसके मत में ऐसी चीज नहीं, उसके मत में सर्वज्ञ नहीं हो सकते। समझ में आया ? और जिसके मत में यह सब है, सब-सर्व देश, काल, द्रव्य, भाव, गुण, पर्याय, उसको जिसने जाना, ऐसे सर्वज्ञ, ऐसे भाववाले में सर्वज्ञ होते हैं। ऐ...ई...! शशीभाई! आहाहा! और उन सर्वज्ञ की वाणी में—आगम में यह आया।

www.vitragvani.com

भाई! तू अनन्त में का पृथक् पदार्थ है। तेरे मलिन परिणाम का कर्ता तू, मलिन परिणाम तेरा कार्य, वह तेरा स्वतन्त्र तुझमें है; पर के कारण नहीं, पर में नहीं। तेरा व्याप्य-व्यापक का पर में नहीं है, तेरा व्याप्य-व्यापकपना पर के कारण नहीं है। आहाहा! देखो न! स्व-पर अनेक सिद्ध करते हैं। अनेक की व्याख्या फिर अनन्त में जाती है। समझ में आया?

ऐसे जब व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो, वहाँ कर्ता-कर्म सम्बन्ध होता है। ऐसे भाव्य-भावक सम्बन्ध हो, वहाँ भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध होता है; अब यह सिद्ध करते हैं। समझ में आया? इसी प्रकार **जो जो भाव अनुभवन करने योग्य हों, उन्हें भाव्य कहते हैं।** क्या कहते हैं? कि जीव में जो हर्ष-शोक के परिणाम, हर्ष-शोक के भाव (होते हैं), वह भाव्य है—अनुभवने के योग्य है। आत्मा को शरीर, स्त्री का शरीर, हड्डी-माँस, लड्डू, दाल, भात, शाक—यह आत्मा को भोगने योग्य भाव्य नहीं है। यह भाव्य आत्मा को नहीं है, यह भोगनेयोग्य नहीं है। आहाहा! इसे (आत्मा को) भोगनेयोग्य भाव्य (होवे तो) हर्ष और शोक के परिणाम हैं। **जो जो भाव**.... दशा अनुभवने, वेदनेयोग्य है, भोगनेयोग्य है, **उन्हें भाव्य कहते हैं।** कहते हैं कि हर्ष-शोक के परिणाम, वह भाव्य है, उनका भोक्ता आत्मा है। आत्मा भोक्ता और स्त्री की देह, लड्डू, दाल, भात भाव्य अर्थात् भोगनेयोग्य—ऐसा वस्तु में नहीं है। समझ में आया? यह प्रत्यक्ष पारायण है। आहा..!

सिगरेट पीवे न? छोटी होवे तो ऐसे हाथ रखे, ऐसे हाथ रखे। कहते हैं, उस काल में तुझे भोगने योग्य क्या है? वह बीड़ी (सिगरेट) की पर्याय है? नहीं; बीड़ी की पर्याय भाव्य और भोगने को योग्य तो उसके परमाणु हैं। ऐ..ई..! वीतराग की बात ही जगत से उल्टी। यह बात-बात में अन्तर। 'आनन्दा कहे परमानन्दा माणसे-माणसे फेर, एक लाखे तो न मले ने एक तांबिया ना तेर।' इसी प्रकार भगवान कहते हैं कि हे अज्ञानी आत्मा! तुझे और मुझे न्याय में क्षण-क्षण में, शब्द-शब्द में अन्तर है। आहाहा! समझ में आया?

जो भाव, **जो जो भाव**.... अस्ति की न? भाव की अस्ति है। किसकी? राग-द्वेष, हर्ष-शोक की। जीव को वह अनुभवने योग्य भाव है। राग और द्वेष, हर्ष और शोक, बस! ये परिणाम ही आत्मा को भोगनेयोग्य है, इन्हें भाव्य कहते हैं। **अनुभव करनेवाले पदार्थ को भावक कहते हैं।** और उन विकारी परिणामों का अनुभव करनेवाला आत्मा,

www.vitragvani.com

उसे भावक—उस भाव का भोगनेवाला कहा जाता है। आहाहा! दुनिया कहती है न? ईश्वर ने दिया, वह भोगते हैं। क्या धूल! धूल भोगे? पैसा, स्त्री सुन्दर रूपवान हो और मक्खन जैसे शरीर को भोगे... तुझे भान नहीं, अक्कल नहीं। सुन न!

भाई! भगवान ऐसा कहते हैं और ऐसा है कि उस काल में तुझे जो राग का भाव होता है न? वह राग का भाव्य है, उसे भोगने के योग्य है। तू उसका-विकार का अज्ञानभाव में भोक्ता है। समझ में आया? पर को भाव्य अर्थात् भोगनेयोग्य बनाये—ऐसी परवस्तु कभी बनती नहीं और तू उसका भोगनेवाला बने—ऐसा तुझमें कभी होता नहीं। समझ में आया? ऐसा बढ़िया साटा खाता हो, साटा घी में आर-पार... ए...क्या कहते हैं? क्या कहते हैं? ऐ..य! डोसा! ऐसी भाषा अपनी काठियावाड़ी में है। वह फिर ऐसे दाँत न हो तो ऐसी मिठास तो लगे या नहीं? भगवान इनकार करते हैं, भाई! सुन न प्रभु! वह मिठास की पर्याय तो जड़ की है। मिठास जो है, मीठापन, मीठीदशा तो जड़ की है। वह तूने भोगी है? वह तेरे भोगनेयोग्य दशा हुई है? तुझे पता नहीं। उस काल में तुझे प्रेम आया है, राग-पाप राग आया है, उस पाप राग का भाव्य अर्थात् भोक्ता तू है और वह भोगनेयोग्य पाप राग है, वह चीज (परचीज) नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता। समय-समय का भोक्ता उसके भाव्य का, आहा! यह तो कोई बात! समय-समय का उसके विकारी परिणाम को योग्य जो भाव्य, वह भोगने के योग्य है; तू उसका भोक्ता है, भावक है; इसके अतिरिक्त भाव्य-भावक (सम्बन्ध अन्यत्र कहीं नहीं है।)

ऐसा भाव्य-भावक सम्बन्ध जहाँ हो वहीं भोक्ता.... (पहले कहा) व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो वहाँ कर्ता-कर्म सम्बन्ध होता है, ऐसा। **ऐसा भाव्य-भावक सम्बन्ध जहाँ हो वहीं भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध सम्भवित है,....** भाषा भी सब पारस्परिक रखी। समझ में आया? आत्मा में विकारी हर्ष और शोक, दिलगिरी या रति के जो परिणाम जीव में होते हैं, वे जीव को भोगने के योग्य हैं और भोक्ता आत्मा है। अब उन्हें मिटाना है, तब उसे शुद्धस्वभावसन्मुख की ओर दृष्टि और ज्ञान होने पर जो सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की पर्याय हुई, वह भाव्य है, आत्मा उसका अपुभव करनेवाला-भोगनेवाला है। समझ में आया? आहाहा!

अज्ञान में मिथ्यात्व और राग-द्वेष, उसके हर्ष-शोक के परिणाम का भोक्ता (होता है), बस! वह भाव्य। परचीज में नहीं, परचीज के कारण नहीं। ये साटा या स्त्री के कारण यहाँ राग-द्वेष भाव्य हुआ—ऐसा नहीं और भाव्य आत्मा का वह पर हो— ऐसा नहीं। क्या कहा, समझ में आया? यह स्त्री का शरीर या लड्डू, दाल, भात के कारण हर्ष-शोक का भाव्य हुआ—ऐसा नहीं और यह शरीर व परवस्तु आत्मा को भाव्य हो—ऐसा नहीं। आत्मा को वह भोगने के योग्य हो—ऐसा नहीं और उनके कारण यहाँ भाव्य भोगनेयोग्य हो—ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा!

वीतराग की एक-एक बात बटवारा करके भेदज्ञान करा डाले ऐसी है। भाई! तुझे पता नहीं। कहते हैं कि भोगने के योग्य अज्ञानी को विकारीभाव है और भोक्ता आत्मा है। ऐसा जहाँ भाव्य-भावक है, वहाँ भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध है। भोक्ता आत्मा और भोग्य वह विकारीभाव। धर्म की दशा, जहाँ आत्मा के अनुभव का भान हुआ (कि) भगवान आत्मा शुद्ध स्वभाव का सागर है—ऐसा जहाँ राग से भिन्न पड़कर स्वभाव का सम्यग्दर्शन हुआ। स्वभाव का सम्यग्दर्शन, ऐसे। सम्यक् भान, श्रद्धा अथवा देखना। सम्यग्ज्ञान हुआ और सम्यक् शान्ति हुई, वह भाव्य है और आत्मा उसका भोक्ता है; इसलिए वहाँ भाव्य-भावक सम्बन्ध ज्ञानी को लागू पड़ा; इसलिए ज्ञानी को भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध वहाँ लागू पड़ता है। विकारीभाव भाव्य और आत्मा भोक्ता—यह ज्ञानी को लागू नहीं पड़ता। अज्ञानी को निर्विकारी भोग्यभाव और आत्मा भोक्ता—ऐसा उसे लागू नहीं पड़ता। आहा! यह १० वीं गाथा।

अन्य स्थान पर नहीं। भोगने योग्य जीव का भाव, आत्मा के अतिरिक्त बाहर नहीं होता और भाव्य, आत्मा के अलावा बाहर नहीं होता और भावक—उस भाव्य का भावक भी दूसरा बाहर नहीं होता। स्वयं का स्वयं भावक और स्वयं विकारीभाव का भोगनेवाला। इस प्रकार भाव्य-भावक और व्याप्य-व्यापक का स्वरूप अनादि से सिद्ध सम्बन्ध है। उसे समझे तो इसे स्वरूप सन्मुख की दृष्टि करके वह विकारी भाव्य है, उसे मिटाकर निर्विकारी भोक्ता हो, उसे धर्म कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-११

इस प्रकार इस अशुद्ध आत्मा के अर्थ-सिद्धि कब होती है और अर्थ-सिद्धि किसे कहते हैं, वह आगे बतलाते हैं-

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न।।११।।

जब वह सर्व विकारों से हो पार अचल चेतन को प्राप्त।
होता है कृतकृत्य तभी सम्यक्पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त।।११।।

अन्वयार्थ : (यदा) जब (सः) उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा (सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण) विभावों से पार होकर (अचलं) अपने निष्कम्प (चैतन्यं) चैतन्यस्वरूप को (आप्नोति) प्राप्त होता है (तदा) तब यह आत्मा उस (सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्) सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को (आपन्नः) प्राप्त होता हुआ (कृतकृत्यः) कृतकृत्य (भवति) होता है।

टीका : 'स यदा सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं चैतन्यमचलमाप्नोति तदा कृतकृत्यः भवति' - रागादि भावों से लिप्त वही आत्मा जब सर्व विभावों से पार होकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को निःशंकतापूर्वक प्राप्त होता है, तब वही आत्मा कृतकृत्य होता है। कैसा है यह आत्मा? 'सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न' - सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ : जब यह आत्मा स्व-पर भेदविज्ञान से शरीरादिक परद्रव्य को भिन्न जाने तब ''यह भला-इष्ट, यह बुरा-अनिष्ट'' ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है। कारण कि जो कुछ भी भला-बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है; परद्रव्य के करने से भला-बुरा नहीं होता, इसलिए सर्व परद्रव्यों में राग-द्वेष भावों का त्याग कर देता है। जो अवशता से (पुरुषार्थ की निर्बलता से) रागादि उत्पन्न होता है, उसके नाश के लिये अनुभव-अभ्यास में उद्यमशील रहता है। ऐसा करते-करते जब सर्व विभावभावों

का नाश हो जाता है और अक्षुब्ध समुद्रवत् शुद्धात्मस्वरूप में लवणवत् परिणाम लीन हो जाता है, ध्याता-ध्येय का विकल्प भी नहीं रहता, ऐसा भी नहीं जानता कि मैं शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान कर रहा हूँ, स्वयं ही तादात्म्यवृत्ति से शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है, उस समय इस आत्मा ने जो कुछ करना था, वह कर लिया, अब कुछ करना शेष नहीं रहा; इसलिए इसको कृतकृत्य कहते हैं। इसी अवस्था को पुरुषार्थ की सिद्धि कहते हैं। पुरुष का जो अर्थ अर्थात् प्रयोजनरूप कार्य, उसकी सिद्धि जो होनी थी, वह हो गई। इस अवस्था को जो प्राप्त हुआ, उस आत्मा को कृतकृत्य कहते हैं।।११।।

प्रवचन नं. १४ गाथा-११ बुधवार, पोष कृष्ण १, दिनांक ११.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' 'अमृतचन्द्राचार्य' कृत है। १० गाथा पूरी हो गयी। १० वीं गाथा में ऐसा कहा, पूछा था कि इस आत्मा की **अशुद्धता किस प्रकार से हुई?....** समझ में आया? और **जिसके कारण इसे अपने अर्थ की सिद्धि करनी पड़े?** आत्मा में अशुद्धता किस प्रकार हुई कि जिसे मिटाने और अपने प्रयोजन का पुरुषार्थ करना पड़े?—वह किस प्रकार है?—ऐसा पूछा था। समझ में आया? उसके उत्तर में कहा कि आत्मा स्वयं परिणमता, बदलता हुआ राग-द्वेष और अज्ञानभाव को करता है और उसे ही स्वयं भोक्ता अर्थात् भोगता है, यह सिद्ध किया। आत्मा स्वयं ही (करता और भोगता है।) कर्म भले निमित्त हो, परन्तु स्वयं आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर राग-द्वेष और मिथ्यात्वरूपी अज्ञानभावरूप स्वयं परिणमित होता है और परिणमित होता है, इसलिए वह उनका कर्ता होता है और परिणमता है, वह उनका भोक्ता होता है। कहो, समझ में आया इसमें?

तब कहा कि **अशुद्ध आत्मा के अर्थ-सिद्धि कब होती है....** अब इस तरह जब इस प्रकार से आत्मा अनादि से अपने द्वारा मलिनभावरूप परिणमता है और इसलिए वह संसार में भटक रहा है; और इससे उसे अर्थ-सिद्धि करने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। कहो, ठीक है? तो इस **अशुद्ध आत्मा के अर्थ-सिद्धि कब**

www.vitragvani.com

होती है और अर्थ–सिद्धि किसे कहते हैं,.... दो बातें। कब हो और किसे कहलाये? आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि कब हो? और प्रयोजन–सिद्धि किसे कहते हैं? कहो, समझ में आया? इसका उत्तर देते हैं—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न।।११।।

इसका हरिगीत तो नहीं, यह तो मूल है, हरिगीत कहाँ है! हरिगीत तो करे तो हो। यह तो करे बिना होता है — ऐसा कहते हैं यहाँ तो। अपनी पर्याय अपने से करे और पर की पर्याय पर हो — ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। इसका अर्थ।

अन्वयार्थ : जब उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा.... उपर्युक्त अर्थात् आत्मा अपने आनन्द और ज्ञायक शुद्धस्वभाव को भूलकर मिथ्या–भ्रमणारूप और राग–द्वेषरूप, अशुद्धरूप हुआ है, ऐसा उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा—यह बात सिद्ध की। **सर्व विभावों से पार होकर...** अब उस अशुद्धता के विकारभाव का नाश करके, विभावों से पार होकर... मिथ्यात्व और राग–द्वेष के परिणाम से परिणमता हुआ कर्ता–भोक्ता था, यह उसकी–आत्मा की उल्टी–विकार की अर्थसिद्धि थी।

अब निर्विकार की–आत्मा की शुद्धि की शान्ति कृतकृत्य हो, तब किस प्रकार (हो?) कि अशुद्ध आत्मा को सर्व विभाव, 'सर्व विभाव' शब्द यहाँ पड़ा है। जितनी अशुद्धि दशा में है, उससे पार होकर, उसका अभाव करके **अपने निष्कम्प....** देखो! उसका अभाव / व्यय करके और **अपने निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है...** ध्रुवपना तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति त्रिकाल है। उसकी वर्तमान दशा में अशुद्धता का परिणमन–मलिनभाव है। उसे, अपने निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होकर उस विभाव के अज्ञान और राग–द्वेष को व्यय करे, शुद्धि की पर्याय में प्राप्ति हो, ध्रुवपना तो कायम है। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा अपनी दशा में मलिनता के परिणमन से अनादि का उसका कर्ता और भोक्ता है, वह दुःखी है। समझ में आया? वह अनादि का दुःखी है। एक क्षण भी उसे आनन्द का स्वाद नहीं। यदि आनन्द का एक क्षण भी स्वाद होवे, तब तो इसका मुक्तस्वरूप

www.vitragvani.com

प्रगट हुआ कहलाये। समझ में आया ? यह परमात्मस्वरूप अपना शुद्ध आनन्द होने पर भी, उसकी दशा में अनादि से पुण्य और पाप तथा वे मेरे—ऐसा मिथ्यात्वभाव, उसरूप परिणमता हुआ, वह कार्य करता हुआ, कर्ता होकर उस विकार के भाव को भाव्य करता हुआ, उसका भोक्ता होता हुआ अनादि से परिभ्रमण निगोद से लेकर कर रहा है। समझ में आया ? इसमें किसी को सुखी नहीं लिया। पैसेवाला, देववाला या उसे किसी को नहीं लिया। देव हुआ तो कहते (हैं), अनादि से दुःखी हुआ-ऐसा लिया। उसने तो विकार के परिणाम किये और भोगे। निगोद में होवे तो ऐसा और देव में होवे तो भी ऐसा, कहा वहाँ तो। इस सेठाई में होवे तो भी वह और गरीबी में होवे तो भी वह (अर्थात् दुःखी)। आकुलता के भाव से ही परिणमा है, उनका कर्ता हुआ है और उस आकुलता के भाव को ही भाव्य करके भोगा है। लो ! यह तो ऐसा कहा। चौरासी के किसी अवतार में इसने इसके अतिरिक्त कुछ नहीं किया। कहो, बराबर है ?

अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया तो भी वहाँ इसने विकार के भाव से ही परिणमन करके कर्ता होकर उसका कार्य किया है और विकारभाव को ही इसने भाव्य होकर भोगा है। कहो, समझ में आया ? अनन्त बार दिगम्बर साधु हुआ-नग्न दिगम्बर, तो भी इसने वहाँ क्या किया और क्या भोगा है ? यह तो उन शुभ-अशुभराग (रूप) परिणमा है, किये हैं और उन्हें इसने भोगा है। कहो, समझ में आया ? नौवें ग्रैवेयक गये हुए साधु का भाव जो मिथ्यादृष्टि, उसने भी यह किया था। समझ में आया ? शुक्ल लेश्या कितनी ऊँची ! और उसमें मिथ्यात्वभाव, उसका कर्ता होकर वह किया और उसे इसने भोगा; इसके अतिरिक्त इसने कुछ किया नहीं। लो ! भाई ! यह नौवें ग्रैवेयक गया, तब इसने ऐसा पालन किया। भाई ! इतना तो सुखी हुआ, ऐसा कहते हैं, कितने ही जवाब देते हैं। भले ही द्रव्य (द्रव्यलिंग) पालन किया तो कुछ सुखी तो हुआ न ? इतना तो है न ? ऐसा कहते हैं। उत्तर दिया है उसमें—खानिया(चर्चा) में और सबमे। द्रव्यचारित्र भले था, द्रव्यचारित्र सुख का तो कारण है न ? कहो, ठीक ! यहाँ तो कहते हैं कि उस द्रव्यचारित्र के राग को जो परिणाम मन्द थे, उस दुःखरूप का कर्ता और दुःख का वेदन इसे था। आहाहा ! समझ में आया ?

अब उन **सर्व विभावों से पार होकर**.... इस दुःख की जो अशुद्ध मलिन दशा

www.vitragvani.com

है। उससे रहित होकर। कैसे हुए जाए? उस अपने स्वरूप का आश्रय करके, कहेंगे। **अपने निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है...** स्वयं शुद्ध ध्रुव चैतन्य है, उसे अलम्बन कर पर्याय में अपने निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को दशा में प्राप्त करता है। कहो, समझ में आया इसमें? जिस अज्ञान और राग–द्वेष को जो पर्यायरूप से प्राप्त था, करता–भोगता था, वह जब पुरुषार्थ से स्वभाव शुद्ध चैतन्य को अवलम्बता है—शुद्ध ज्ञायकभाव–आनन्द को अवलम्बता है, तब उसकी दशा में पूर्व की दशा का नाश होकर निष्कम्प अवस्था की निर्मलता को वह आत्मा प्राप्त होता है। कहो, समझ में आया इसमें?

तब यह आत्मा उस सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता हुआ.... लो! तब वह आत्मा, जो उल्टे पुरुषार्थ से अज्ञान में, राग–द्वेष के कर्ता–भोक्ता में था, वह जब शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन में आया, तब **सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य होता है।** सुख की, शान्ति की, आनन्द की पूर्ण पर्याय जिसे प्रगट होती है। कृतकृत्य—सब कार्य किये - ऐसी पूर्णदशा को पाता है। लो! यह शब्दार्थ किया। समझ में आया?

टीका : 'स यदा सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं चैतन्यमचलमाप्नोति तदा कृतकृत्य: भवति' आत्मा की अर्थसिद्धि कब हो—उसका उत्तर है कि **रागादि भावों से लिप्त वही आत्मा....** राग, मिथ्यात्व–सम्बन्धी का राग, वह सब राग है–कषाय है। मिथ्यात्व, राग–द्वेष, **रागादि भावों से लिप्त वही आत्मा....** देखो! कर्म से लिप्त यहाँ नहीं लिया। समझ में आया? जिसे मिटाया जा सकता है, वह बात ली है। कर्म का मिटाना या बाँधना कुछ इसके अधिकार में नहीं है। यह पर्याय में राग–द्वेष और मिथ्यात्व के भाव से–मलिनदशा से **लिप्त वही आत्मा जब सर्व विभावों से पार होकर....** विभाव परिणाम का अभाव करके **अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को....** अपना चैतन्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा... व्याख्या की। आत्मा कैसा? कि चैतन्यस्वरूप आत्मा है। मलिन परिणाम, वह कहीं उसका मूलस्वरूप नहीं है। समझ में आया?

अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को, अपना चैतन्य, आनन्द आदि—चैतन्य में सभी गुण आ गये। ऐसे शुद्ध **चैतन्यस्वरूप आत्मा को नि:शंकतापूर्वक प्राप्त होता है,....**

www.vitragvani.com

पहले निःसंदेहरूप से प्राप्त होता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, निर्मलानन्द हूँ—ऐसे अन्तर निःशंकरूप से, दृष्टिरूप से, स्थिरतारूप से प्राप्त होता है। **तब वही आत्मा कृतकृत्य होता है।** तब वही आत्मा समस्त कार्य पूर्ण किये - ऐसा होता है। देखो! इसमें कर्म की बात याद नहीं की कि कर्म बाँधे थे, उन्हें छोड़े, यह बात नहीं ली। समझ में आया? क्योंकि कर्म का बाँधना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है, वैसे उन्हें छोड़ना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है; वे तो स्वयं अपनी शक्ति से बँधते हैं और शक्ति से टूटते हैं। वह उनकी सामर्थ्य का कार्य उनमें रहता है। समझ में आया?

कैसा है यह आत्मा? 'सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न'.... लो! यह अर्थसिद्धि। **सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त हुआ है।** अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, उसके अन्तर्मुख होकर जो पर्याय में प्राप्त हुआ। सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ—स्वभाव की सन्मुखता का जो पुरुषार्थ हुआ, उसकी सिद्धि को प्राप्त हुआ। पूर्ण सिद्धि को प्राप्त हुआ। पुरुषार्थ का कार्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति की प्राप्ति, वह कार्य प्रगट हुआ। लो! यहाँ तो अन्दर की अन्दर बातें वर्णन की। कर्म नहीं, शरीर नहीं, संयोग छोड़ने-बोड़ने की बात भी इसमें कहीं नहीं की। समझ में आया? इसकी वर्तमान पर्याय में मलिनता का परिणमन कर्ता-भोक्तारूप से कर रहा है। उसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से पर्याय में निःशंक, निःशंक, निष्कम्प—ऐसी अवस्था को प्राप्त होना, उसे मुक्तदशा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

भावार्थ : जब यह आत्मा स्व-पर भेदविज्ञान से.... देखो! विस्तार करते हैं। अनादि से स्व-पर की एकता थी। अशुद्ध पुण्य-पाप के भावरूप परिणमते, वह मेरा कार्य है, उसका कर्ता (मैं हूँ)—ऐसे एकपने की बुद्धि से होता (था)। उसे स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा (अर्थात्) विकारी परिणाम, शरीरादि पर और मेरा स्वद्रव्य चैतन्यस्वरूप आत्मा—ऐसे स्व-पर भेदविज्ञान द्वारा। स्व-चैतन्यस्वरूप आत्मा; पर-शरीरादि, मलिन परिणाम, उन्हें **भिन्न जाने तब ''यह भला-इष्ट, यह बुरा-अनिष्ट'' ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है।** यहाँ शरीर से (बात) उठायी है (बात), शरीरादि परवस्तु। **परद्रव्य को भिन्न जाने....** अपने आत्मा के पदार्थ से शरीर, कर्म, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पर—ये सब स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा (भिन्न जाने)। देखो! इस द्वारा-ऐसा कहा।

www.vitragvani.com

परद्रव्य को भिन्न जाने तब ''यह भला–इष्ट, यह बुरा–अनिष्ट'' ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है। वे भिन्न हैं। उनमें भला–बुरा है नहीं। कहो, समझ में आया? ऐसी बुद्धि का त्याग करे–ऐसा कहा। भेदज्ञान द्वारा परद्रव्य को भिन्न जाने, तब यह भला–बुरा— ऐसी बुद्धि का त्याग करे–ऐसा कहा। परवस्तु को छोड़े या रखे, यह बात नहीं रही। यह परपदार्थ मुझे अनुकूल हैं और प्रतिकूल हैं—ऐसी बुद्धि, स्व और पर को भिन्न जानने से ऐसी बुद्धि का त्याग होता है। समझ में आया?

कारण कि जो कुछ भी भला–बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है,.... ठीक! पर से नहीं। कल्पना में ऐसा माने कि इससे हुआ। ऐसा पर से होता नहीं। अपने परिणाम में, यह ठीक है माने, खोटे परिणाम में अठीक है – ऐसा माने, (किन्तु) पर से भला–बुरा कुछ होता नहीं। कर्म से भी भला–बुरा होता नहीं, शरीर से भला–बुरा होता नहीं। देव–गुरु–शास्त्र—पर से भी भला–बुरा होता नहीं। परद्रव्य में आता होगा या किसमें आता होगा यह? सम्मेदशिखर या शत्रुंजय मुझे भला है और दुश्मन, बुरा है, यह बात, स्व–और पर की भेदज्ञान बुद्धि द्वारा ऐसी बुद्धि का नाश होता है। कहो, समझ में आया इसमें?

बहुत ही संक्षिप्त सिद्धान्त 'विदूषाम्'.... पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बताऊँगा। परमागम में से यह उद्धार किया है। बहुत ही सार, सार (बात ली है)। इसमें पर का भला कर सकूँ... कहाँ गये? नहीं आये? वे सब पर का भला करनेवाले... कर दे, समझे नहीं कुछ। भला करते हैं और पर का बुरा करते हैं — यह बात ही मिथ्या है, कहते हैं। आत्मा, पर का भला–बुरा कर नहीं सकता और आत्मा में भी पर से भला–बुरा हो नहीं सकता। ठीक है? जो हित के अर्थी हों, कुटुम्ब, मित्र वे तो आत्मा का कुछ भला करे या नहीं? देव–गुरु–शास्त्र, आत्मा का भला करे या नहीं? ये दुश्मन, शत्रु, सर्प, बिच्छु आत्मा को नुकसान–बुरा करे या नहीं? तब कहते हैं कि यह भले–बुरे की जो बुद्धि थी, वह स्व–पर को भिन्न जानने से, पर मेरा भला–बुरा करता है — इस बुद्धि का वहाँ नाश होता है। पर मुझसे भिन्न; वह मुझे भला–बुरा कैसे करे?

शरीर अच्छा होवे तो धर्म हो, शरीर रोगी होवे तो धर्म न हो—यह बुद्धि, स्व और

पर को पृथक् जानने से इस बुद्धि का नाश होता है, यह बुद्धि नहीं रहती। कहो 'शरीराद्यं खलु धर्म साधनम्' नहीं आता? धर्म का साधन शरीर है तो शरीर निरोगी हो, ठीक से श्वास लिया जाता हो, कफ बाधक न हो... यह तो शरीर में शूल आता कहे, भगवान-भगवान करो। पहला कहे - भाई! अब अभी भगवान याद नहीं। पोरबन्दरवाला है, नाम भूल गये। गिरधरभाई! भगवान-भगवान करो। गिरधरभाई! अभी तक सामायिक और प्रौषध बहुत किये हैं। अभी भगवान याद... नहीं। गोला निकला है, वायु का गोला ऐसा चढ़ा है... अभी भगवान-भगवान छोड़ दो, अभी रहने दो। अभी इसमें क्या होता है, यह देखना है। पीड़ा... पीड़ा... अन्दर शूल उठे न? गोला (चढ़े)... कहीं नजर डाले पड़ती नहीं, कहीं दूसरा श्वास नहीं लिया जाता। भगवान... भगवान कुछ (नहीं)। अभी भगवान (चले गये)। इस शरीर को-मुझे रोग हुआ, यह मुझे बुरा है—यह मान्यता इसकी खोटी है। शरीर में यह हुआ, इसलिए यहाँ आत्मा की शरण नहीं ले सकता - ऐसा नहीं है। पर मुझे भला-बुरा करता है — ऐसी बुद्धि इसे आत्मा की ओर नहीं जाने देती। समझ में आया? यह व्यवस्थित साधन रखूँ, शरीर ठीक रहे, यह हो, ऐसा हो।...

जब यह आत्मा अपनी और पर की भिन्नता का विज्ञान करे, उसके द्वारा शरीर, कर्म, परवस्तु आदि... कर्म भी आवे, कर्म कठोर हो और महा बुरे, कुछ मन्द पड़े न, तो मुझे ठीक पड़े। यह कर्म के प्रति राग और द्वेष है। भले-बुरे कर्म हैं नहीं।

जब स्व और पर की भिन्नता का ज्ञान करे और भिन्न जाने, तब उसमें, तब उसमें यह भला है, मुझे इष्ट है, यह बुरा है — ऐसी बुद्धि का त्याग करे। यह बुद्धि उसे रहे नहीं। स्व और पर; यह पर मुझे भला-बुरा करे, स्व-पर का भेदज्ञान होने पर यह बुद्धि नहीं रहती। स्व-पर की एकताबुद्धि है, वहाँ मुझे दूसरा भला कर सकता है और बुरा कर सकता है— ऐसा मानता है। मानता है, हों!

कारण कि जो कुछ भी भला-बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है,... शुभराग करे, अशुभराग करे, धर्म के परिणाम करे तो भला और पाप के परिणाम करे तो बुरा; यह तो अपने परिणाम से होता है; पर के कारण कुछ नहीं। भाई! अब भगवान की प्रतिमा, देव-शास्त्र-गुरु, इनसे तो कुछ भला होता है या नहीं? इनसे नहीं

www.vitragvani.com

होता ? तो फिर करना किसलिए ? ज्ञान करते हैं। भगवान के पास जाकर पूजा नहीं करता ? भक्ति करता है या नहीं ? नामस्मरण करता है या नहीं ? भगवान... भगवान... भगवान... यह तो राग है, परन्तु परवस्तु से यह भाव हुआ है – ऐसा नहीं। यह राग हुआ है, वह स्वयं से हुआ है; पर के कारण नहीं। यह चीज है, इसलिए यहाँ शुभराग हुआ; यह स्त्री–पुत्र है, इसलिए मुझे यह पापराग हुआ – ऐसा नहीं। समझ में आया ? यह पापराग और पुण्यराग का परिणमन स्वयं ही स्वयं से करता है; पर के कारण नहीं होता – ऐसा कहते हैं। यह तो एकान्त हो जाएगा—वापस फिर ऐसा कहे—ऐसा यदि निश्चय मानूँगा तो एकान्त हो जाएगा। पर से भला–बुरा कुछ नहीं मानो तो फिर पर की सेवा, भक्ति, पूजा नहीं करे ? समझ में आया ? यहाँ तो देव–गुरु और शास्त्र, पंच परमेष्ठी भी आत्मा का भला नहीं कर सकते और सिर काटनेवाला शत्रु, वह आत्मा का बुरा नहीं कर सकता। कहो, समझ में आया ?

भला–बुरा नहीं होता... जो कुछ, ऐसा। **वह सब अपने परिणामों से ही होता है,...** कहो, शुभराग करे तो पुण्य हो, अशुभ करे तो पाप होता है। दोनों को बुरा जाने और आत्मा के स्वभाव को भला जाने, स्वभाव की शान्ति प्रगट करे तो भला होता है। कहो, समझ में आया इसमें ? **परद्रव्य के करने से भला–बुरा नहीं होता...** लो ! इस कर्म से भी आत्मा में भला–बुरा नहीं होता। ठीक होगा ? शरीर से भी आत्मा में भला या बुरा नहीं होता। शरीर में बहुत रोग हो गये, इसलिए भाई ! परिणाम नहीं सुधारे जा सकते; यह बात मिथ्या है—ऐसा कहते हैं। शरीर चाहे जैसी स्थिति में हो, परद्रव्य आत्मा को बुरा नहीं कर सकता। यह शक्ति ही ऐसी है। शरीर में ताकत नहीं कि आत्मा का बुरा करे। शरीर बहुत अनुकूल, ऐसी निरोगता होवे तो ऐसा मानो सब कर सके—उपवास और त्याग (सब कर सके), इसलिए उसके कारण आत्मा को भला हो–ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया ?

परद्रव्य के करने से भला–बुरा नहीं होता... दुश्मन से आत्मा में बुरा नहीं होता तथा देव–शास्त्र–गुरु और मित्रों से आत्मा में भला नहीं होता। **इसलिए सर्व परद्रव्यों में...** स्व–पर के भेदज्ञान के कारण से पर से भला–बुरा मानने की बुद्धि का त्याग होता

www.vitragvani.com

है। देखो! यह त्याग कहा। यह त्याग, त्याग किया। त्याग किया तो त्याग किसका? किसका त्याग हुआ? स्व-पर की पृथक्ता का ज्ञान होने पर मुझे पर से भला-बुरा होता है—ऐसी बुद्धि का त्याग (होता है), उसे यथार्थ त्याग कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? यह भला-बुरा मानने का जहाँ भाव है, वहाँ यथार्थतः खोटी बुद्धि का त्याग नहीं है; वह त्याग नहीं, वही भोग है इसका। यही इसे अत्यागभाव है। समझ में आया?

'शरीर से सुखी तो सुखी सर्व बातें' बहुत बोलते तुम्हारे, वे फँस गये हैं, दोनों फँस गये हैं... सौ जहाँ हो, वहाँ फँस गये हैं। 'शरीर से सुखी तो...' शोर मचाये, शोर मचाये। धूल भी सुखी नहीं है, कहते हैं। शरीर से क्या? यह तो मिट्टी / परद्रव्य है। इस परद्रव्य से भिन्न आत्मा को जानने पर, परद्रव्य से मेरा भला-बुरा होता है — इस बुद्धि का त्याग (हो), से यथार्थ (में) अज्ञान का त्याग कहा जाता है। इस अज्ञान का त्याग, वह वास्तविक त्याग है। अज्ञान का त्याग नहीं और बाहर का त्याग करके बैठे, और (माने कि) हमने त्याग किया है। परन्तु किसका त्याग? समझ में आया?

इसलिए सर्व परद्रव्यों में... देखो! अपने अतिरिक्त जितने परद्रव्य हैं, उनमें **राग-द्वेष भावों का त्याग कर देता है।** कितना त्याग हुआ, देखो! स्व चैतन्यस्वरूप आत्मा और पर शरीरादि समस्त अनन्त पदार्थ—दोनों को अन्तर में पृथक् जानने से, पर अनन्त द्रव्य हैं, उनसे मुझे नुकसान और लाभ होता है—ऐसी बुद्धि का परद्रव्य का त्याग होता है। यह पहला बड़ा त्याग है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

परद्रव्यों (को) छोड़ने-रखने की बात नहीं है। परद्रव्य तो कहाँ घुस गये हैं आत्मा को कि छोड़े और ग्रहे? पकड़ता कब है कि छोड़े? आत्मा के अतिरिक्त दूसरे अनन्त पदार्थ मुझे भला करते हैं, बुरा करते हैं —ऐसा जो भाव (होता है), वह परद्रव्य से अपने को भिन्न जानने से, अनन्त परद्रव्य की बुद्धि का जो भाव कि यह मुझे भला-बुरा (करते हैं)—ऐसा अनन्त परबुद्धि का त्याग / अज्ञान का त्याग हो जाता है। ठीक है? अब हिन्दीवालों को धीरे-धीरे गुजराती भाषा सीख लेनी पड़ेगी। यह शोभालालजी हिन्दी हैं, धीरे-धीरे हो गये। यह भाई हो गये।

सर्व परद्रव्यों.... भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप है। ऐसा परद्रव्यों से भिन्नपने का

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

ज्ञान होने पर, अनन्त परद्रव्यों में, यह ठीक-अठीक है—ऐसी भले-बुरे की बुद्धि का वहाँ त्याग हो जाता है, यही बड़ा त्याग है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे परद्रव्य के प्रति भले-बुरे की बुद्धि का त्याग नहीं, वहाँ बाह्य का त्याग इसने किया—यह व्यवहार से भी नहीं कहा जा सकता। आहा! समझ में आया?

जो अवशता से... अब कहते हैं कि राग-द्वेषभाव का त्याग करे, तथापि किंचित् रागादि होवें तो? दृष्टि में बुद्धि का त्याग हुआ-ऐसा कहा न? ऐसी बुद्धि का त्याग करे। परद्रव्य अनन्त हैं; उनमें कोई द्रव्य, कोई रजकण या आत्मा मेरा भला नहीं कर सकता, कोई बुरा नहीं कर सकता। ऐसा जो पर से भिन्न भाव हुआ, तब अनन्त परद्रव्यों के प्रति बुद्धि का - यह नुकसान-लाभ करता है — ऐसा त्याग हो गया। अब कहते हैं कि ऐसा त्याग हुआ, इससे जो अब थोड़े रागादि होते हैं न? इनके कारण (पर के कारण) मुझे लाभ-नुकसान होता है—ऐसी बुद्धि का तो त्याग हुआ, स्व-पर को भिन्न करने से। समझ में आया?

आत्मा—चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा जाना और इसके अतिरिक्त अनन्त परपदार्थ भिन्न है—ऐसा जाना तो परपदार्थ को भला-बुरा मानने की अनन्त जो बुरी बुद्धि थी, उसका त्याग हुआ। स्व-पर को भिन्न मानने से, स्व-पर को पृथक् जानने से। अब कहते हैं कि ऐसा होने पर भी किंचित् पुरुषार्थ की (कमजोरी के कारण) **अवशता से रागादि उत्पन्न होता है,...** पर के कारण नहीं रहे अब। पर अच्छे, इसलिए राग और पर बुरे, इसलिए द्वेष-ऐसा नहीं रहा; परन्तु अब अपनी पुरुषार्थ की कमजोरी होवे तो, पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण राग-द्वेष होवे तो। पहला मिथ्यात्वबुद्धि के राग-द्वेष का त्याग हुआ! समझ में आया?

मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, बस! मैं चैतन्यस्वरूप हूँ; परवस्तु पर है। यहाँ राग-द्वेष का फिर ऐसा किया, बीच में निकाला। पर में यहाँ राग नहीं कहा, पर में तो परद्रव्य ले लिये। परद्रव्य मुझसे भिन्न है और मैं उनसे भिन्न हूँ—ऐसा अन्तर में भेदज्ञान होने से पर-अनन्त पदार्थों से मुझे भले-बुरे का जो भाव था, वे भिन्न जानने से उस बुद्धि का त्याग हुआ अर्थात् मिथ्यादृष्टि का अज्ञानभाव था, वह त्याग हुआ। समझ में आया? तब कहते हैं, फिर

www.vitragvani.com

भी—ऐसी बुद्धि का त्याग होने के काल में भी—परद्रव्य मुझे लाभ-नुकसान नहीं करते, ऐसी बुद्धि (लाभ-नुकसान की बुद्धि) का त्याग हुआ। नुकसान नहीं करते, वे तो ज्ञेय हैं। जो कर्ता हो—ऐसी बुद्धि का—मिथ्यात्व का त्याग हुआ, परन्तु **अवशता से (पुरुषार्थ की निर्बलता से) रागादि उत्पन्न होता है...** तो भी परद्रव्य के कारण जो राग-द्वेष मानता (था), वह बुद्धि गयी, परन्तु अपनी कमजोरी के कारण अब जो राग-द्वेष रहे, **उसके नाश के लिये...** तो उनके नाश के लिये। देखो! कैसी शैली है! **अनुभव-अभ्यास में उद्यमशील रहता है।** समझ में आया?

दो न्याय रखे—स्व स्वरूप चैतन्य प्रभु और पर अनन्त शरीर, कर्म आदि सब, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार (आदि) अनन्त पदार्थों से मेरा स्वरूप भिन्न है। ऐसा जानने पर अनन्त पदार्थों से भला-बुरा मानने की बुद्धि का महान पहला अज्ञान का त्याग हुआ। पश्चात् कमजोरी के कारण हो, (उसका क्या करना)? भिन्न जाना, पर से भले-बुरे की बुद्धि गयी, तथापि अभी कमजोरी से (राग-द्वेष) होते हैं, उसका क्या करना? समझ में आया? गजब बात की है, हों! अपने अवशपने **रागादि उत्पन्न होता है, उसके नाश के लिये...** अपनी कमजोरी से उत्पन्न हो, वे अपने तीव्र अनुभव द्वारा नाश होते हैं। बस! वहाँ रही बात। कहो, समझ में आया इसमें?

उसके नाश के लिये अनुभव-अभ्यास में उद्यमशील रहता है। आत्मा का अनुभव करने का बारम्बार अभ्यास करे। आनन्दस्वरूप को अनुसरण कर होवे तो इस कमजोरी से होनेवाले राग-द्वेष का इस प्रकार से नाश होता है। इस प्रकार उनका नाश होता है। पर से पृथक् करने से, पर से भला-बुरा मानने की बुद्धि का त्याग होता है और कमजोरी से होनेवाले राग-द्वेष का स्वरूप के अनुभव से उनका नाश होता है। यह इसके उपाय। आहा! समझ में आया? है न पुस्तक सामने रखी है या नहीं? ऐसा करते हुए दोनों बातों हो गयीं। लों!

भगवान चैतन्यस्वरूप है—ऐसा जाना और उस स्वरूप में परद्रव्य नहीं, वे परद्रव्य पर में हैं। इससे उनसे भिन्न ज्ञान हुआ। इसके अनन्त परद्रव्यों की जो एकताबुद्धि लाभ-नुकसान की थी, ऐसी बुद्धि का वहाँ त्याग हुआ। अब अस्थिरता के राग-द्वेष रहे, उन्हें

www.vitragvani.com

किस प्रकार नाश करना? यह तो पृथक् करके नाश किया? यह और यह नहीं, इसमें वह नहीं; उसमें मैं नहीं—ऐसे पर से भेद करके उसकी बुद्धि का त्याग हुआ; परन्तु कमजोरी होती है, उसका क्या त्याग? कि कमजोरी से राग-द्वेष होते हैं, उन्हें स्वभाव के अनुभव द्वारा उनका नाश होता है। समझ में आया? बहुत सादी भाषा में है यह। शोभालालाजी!

अनुभव-अभ्यास में उद्यमशील रहता है। देखो! यह पुरुषार्थसिद्धि है न? पहले तो भेदज्ञान करना, वह पुरुषार्थ है; उस पुरुषार्थ में पर से भले-बुरु की बुद्धि का त्याग हो गया। पश्चात् कमजोरी से राग-द्वेष होते हैं, उनका अन्तर स्वभावसन्मुख के अभ्यास से नाश होता है। इसमें पर से कुछ होता है—ऐसा नहीं आया, ऐसे (ही) पुण्य-पाप के परिणाम से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा नहीं आया। समझ में आया? **सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण** सर्व वितर्क-विपरीत भाव उत्तीर्ण। आहा! भगवान आत्मा...! बहुत परन्तु संक्षिप्त भाषा में बहुत भाव का शास्त्र में से यह शास्त्र (बनाया है)।

भाई! तेरी दशा में, तेरे कारण से, मलिन परिणाम-मिथ्यात्व आदि अज्ञान के परिणमते हैं, वह उनका कर्ता-भोक्ता है—ऐसा निर्णय कराया। आहाहा! और उन्हें मिटाने के लिये पहले तो, भगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा है, अनन्त पर वस्तुएँ—कर्म से लेकर सब परद्रव्य है—ऐसा भेदज्ञान करने से, पर (को) भिन्न जानने से, स्व को अपना जानने से, पर से मुझे लाभ-नुकसान होता है—ऐसी मिथ्याबुद्धि का, अज्ञान का नाश होता है। पश्चात् कमजोरी से होनेवाले राग-द्वेष के भाव, पर के कारण से नहीं, स्वभाव के कारण से नहीं। समझ में आया? प्रतिकूल संयोग आया, इसलिए द्वेष होता है; अनुकूल संयोग आया इसलिए राग (होता है), यह तो बुद्धि पहले से गयी। अब अपने को अनुकूल-प्रतिकूल संयोग में स्वयं की कमजोरी के कारण से होनेवाला; पर के कारण से नहीं... समझ में आया? अपनी कमजोरी के कारण से (होनेवाला राग-द्वेष)। समकिती को पुत्र मर गया—ऐसा बाहर से देखे। वह पुत्र मर गया, इसलिए उसे राग-द्वेष होते हैं—ऐसा नहीं, क्योंकि वह तो परद्रव्य है। उससे मुझे कुछ लाभ-नुकसान था नहीं। अब उस समय जरा-सा ऐसा रुदन का द्वेष आया, वह कहते हैं कि पर के कारण से नहीं आया। संयोग ऐसा हुआ है, इसलिए नहीं आया; कमजोरी के कारण आया है। संयोग के कारण से नहीं,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कमजोरी के कारण हुआ। वह स्वभाव की सबलता द्वारा नाश हो सकता है। समझ में आया? क्या ठीक है या नहीं?

ऐसा करते-करते... ऐसा करते हुए जब... ऐसा करते हुए। समझ में आया? भगवान आत्मा को और पर को पृथक् करते हुए, परद्रव्य के प्रति की बुद्धि का—भले-बुरे का नाश हुआ। कमजोरी से होनेवाले राग-द्वेष का स्वभाव के आश्रय से अनुभव करने पर नाश होता है। **ऐसा करते-करते जब सर्व विभावभावों का...** देखो! पहली मिथ्याबुद्धि का-विभाव का नाश हुआ; फिर अस्थिरता का अनुभव द्वारा नाश हुआ। **करते-करते जब...** 'टोडरमलजी' ने अर्थ भी बहुत सरस किया है! देखो! है या नहीं? शब्द-शब्द। (अभी) इससे हम चतुर हैं (-ऐसा लोग मानते हैं)।

ऐसा करते-करते जब... ऐसा करते हुए जब, ऐसा। दूसरा करते हुए नहीं। सर्व विभाव का नाश होता है, यह व्यय हो गया। एकत्वबुद्धि से होनेवाले विभाव का नाश हुआ, पर से भिन्न करने पर; अस्थिरता का नाश हुआ, स्व का अनुभव करने पर। तब हुआ क्या अब? उत्पन्न क्या हुआ? वह तो व्यय हुआ। समझ में आया? **चैतन्यमचलमाप्नोति**—ऐसा है न? **जब सर्व विभावभावों का नाश हो जाता है और अक्षुब्ध...** भगवान आत्मा, **अक्षुब्ध समुद्रवत्...** जैसे समुद्र डोलायमान न हो और ऐसे स्थिर जम पड़ा हो जब, ऐसे समय में। समझ में आया? अमुक समय में, नहीं? समुद्र ऐसे स्थिर हो जाता है, हों! कौन सा महीना होगा? श्रावण में तो डालमडोल होता है, किसी समय तो ऐसा स्थिर... स्थिर होता है। **अक्षुब्ध समुद्रवत्...** क्षोभायमान समुद्र नहीं होता वैसे।

शुद्धात्मस्वरूप में... भगवान आत्मा शुद्ध स्वरूप में **लवणवत्...** लवणवत्। जैसे नमक समुद्र में स्थिर होकर ठीक से समा जाता है न? ऐसे **लवणवत् परिणाम लीन हो जाता है,...** अपने परिणाम अपने में लीन होते हैं। समझ में आया? कहाँ तक? कैसे लीन होते हैं? कि **ध्याताध्येय का विकल्प भी नहीं रहता,...** मैं एक ध्यान करनेवाला हूँ और मेरी पूर्ण चीज, वह मुझे ध्येय है, यह भी एक भेद का विकल्प / राग है, यह भी न रहे। ऐसे अन्तर परिणाम शुद्ध चैतन्य में लीन होकर निष्कम्परूप से परिणमे, अक्षुब्ध समुद्र की भाँति। जैसे समुद्र में लवण / नमक समा गया हो, वैसे शुद्धात्मस्वरूप में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

परिणाम लीन हो जाएँ—ऐसा कहते हैं। बड़ा समुद्र होता है न? (उसमें) लवण ऐसे एकमेक हो गया हो ठीक से। वैसे भगवान आत्मा, परद्रव्य से भिन्नता करते हुए, परद्रव्य के प्रति भले-बुरे की बुद्धि का नाश होने पर, कमजोरी से होनेवाले राग-द्वेष की शुद्धस्वरूप के अनुभव द्वारा नाश करने पर सर्वविभाव के उत्तीर्ण होने पर, वह वहाँ तक कि मैं ध्याता हूँ, ध्यान करनेवाला हूँ और यह ध्येय मेरी शुद्ध वस्तु पूर्ण, वह ध्येय है। पूर्ण वस्तु, वह ध्येय है, पूर्ण सामान्य, वह ध्येय है; ध्यान करनेवाला मैं हूँ—ऐसा भी अन्दर भेद उठता है, वह विकल्प / राग है। देखो! वहाँ ले गये अब। पहले पर की एकत्वबुद्धि का नाश किया, पश्चात् अस्थिरता का अनुभव के द्वारा नाश किया; पश्चात् ऐसा भी जो विकल्प जहाँ रहता है, उसका भी नाश (करते हैं।) **ऐसा भी नहीं जानता कि मैं शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान कर रहा हूँ,...** यह शुद्धस्वरूप चैतन्य है, इसका ध्यान करता हूँ। यह शुद्धस्वरूप है, इसका मैं ध्यान करता हूँ। वहाँ तो राग हो गया। समझ में आया? **सर्वविवत्तोत्तीर्ण** वाह! कैसी संक्षिप्त शैली से पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (बनाया है)।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह आत्मा की सम्पदा कैसे निकलती है यह! यह पैसे की बात है! धूल कहाँ थी इसकी? वे तो जगत के दूसरे तत्त्व हैं। उसमें कहाँ ऐसा निकले? यह मुझे ठीक है—यह तो बुद्धि ही मिथ्यात्व है—ऐसा कहते हैं। पैसा मुझे ठीक है—(यह) बुद्धि ही मिथ्यात्वभाव है और निर्धनता, वह दु:ख है—यह बुद्धि ही मिथ्यात्वभाव है। अनुकूल संयोग नहीं, इसलिए दु:खी—यही मिथ्यात्वभाव है और अनुकूल संयोग है; इसलिए ठीक है—यही मिथ्यात्वभाव है, मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ए... मथुरभाई! यह क्या पूछते हैं तुम्हारे भाई! यह पैसा-पैसा करे... यहाँ तो कहते हैं... इनके भाई हैं। चालीस करोड़ रुपये हैं न? शान्तिलाल खुशाल—उनके मामा के लड़के हैं, यह भी मामा के लड़के हैं। ये बैठे... समझ में आया? पैसे में कुछ है या नहीं? —ऐसा पूछते हैं। इनके भाई को नौकरी के वर्ष के लाख रुपये देते हैं। उसमें होगा या नहीं कुछ? धूल भी नहीं, सुन न! (-ऐसा) कहते हैं यहाँ।

भगवान स्वद्रव्य चैतन्यस्वरूप आत्मा; परद्रव्य—दूसरे आत्मा सहित के सभी

www.vitragvani.com

रजकण आदि सब। ये सब मुझे लाभ और नुकसान करने की मान्यता है, वह महामिथ्यात्व और भ्रम है। जिससे लाभ माने, उसमें से राग हटता नहीं और नुकसान माने, इसलिए उससे द्वेष हटता नहीं। समझ में आया?

भगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा और पर अनन्त जीव तथा परमाणु पर हैं—ऐसी जहाँ स्व और पर की भेदज्ञान शक्ति खिली तो अनन्त परद्रव्यों में, एक परद्रव्य में भी आत्मबुद्धि अर्थात् मुझे लाभबुद्धि-नुकसानबुद्धि थी, वह आत्मबुद्धि हुई, उन अनन्त के प्रति आत्मबुद्धि का त्याग हो गया। समझ में आया? इसका नाम वास्तविक मिथ्यात्व का, अज्ञान का त्याग, इसे वास्तविक त्याग कहते हैं। यह त्यागे बिना बाहर का चाहे जितना त्याग करे तो उसे अभिमान है कि मैंने त्याग किया, मैंने इतना छोड़ा। आज मैंने रस नहीं खाया। यह तो अभिमान है, मिथ्यात्व का अभिमान है। समझ में आया?

ये तो दोनों को भिन्न जानने से ही मिथ्यात्व का—पर के कारण लाभ-नुकसान की बुद्धि का त्याग होता है, इसके अतिरिक्त उसका त्याग नहीं होता और स्वरूप में पर के कारण से लाभ-नुकसान की बुद्धि का नाश हुआ, तथापि राग-द्वेष की कमजोरी तो रह गयी, उसके नाश की कैसे सिद्धि करना? कि स्वरूप के अनुभव से पुरुषार्थ की सिद्धि—ऐसा करने से उनका नाश होता है। फिर यह बुद्धि रह जाती है न? कि यह बुद्धि इसमें नहीं रहती। ध्याता और ध्येय—ऐसा भेद भी जहाँ लक्ष्य में नहीं रहता। आहा! और ऐसा न जाने कि मैं शुद्धात्मस्वरूप को ही ध्याता हूँ। आहाहा! भगवान ऐसा शुद्ध चैतन्य है, पूर्ण पवित्र है—ऐसा यह और मैं ध्याता हूँ—ऐसा दो पड़ गये न वापस इसमें? यह शुद्धस्वरूप है, यह शुद्ध स्वरूप है, इसका मैं ध्यान करता हूँ, इसमें मैं ध्यान करता हूँ, इसका ध्यान करता हूँ—ये दो (भेद) पड़ गये, ये दो (भेद) पड़ गये।

स्वयं ही तादात्म्यवृत्ति से शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है,... यह छोड़ दे अन्दर से कि मैं ध्याता हूँ और शुद्धात्मा ध्याता हूँ, यह छोड़ दे। स्वयं ही तादात्म्यवृत्ति होकर बीच में फाड़ पड़ गयी अन्दर। मैं शुद्धात्मा को ध्याता हूँ, मैं ध्याता हूँ, ध्यान करता हूँ—ऐसा भी एक राग, उसे तादात्म्यस्वरूप के अन्तर एकाकार होकर छोड़ दे। **तादात्म्यवृत्ति से शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है,...**

www.vitragvani.com

आहाहा! मेरु हिले नहीं, ऐसी स्थिरता हिले नहीं वहाँ। है न? **'अचलं आप्नोति'** निष्कम्परूप से परिणमे। उसे निष्कम्प कहा। अचल की व्याख्या दी। अर्थ में ही किया है न? अचल अर्थात् स्वयं का निष्कम्प। अन्वयार्थ में किया है। उसकी व्याख्या करते हैं। वाह रे... वाह...! समझ में आया?

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय क्या? कहते हैं। पुरुषार्थसिद्धि कब की कहलाये? और वह पुरुषार्थसिद्धि क्या कहलाये? कि पर से भिन्न करके, अनुभव से अस्थिरता का नाश होकर, मैं शुद्ध अनुभवता हूँ—ऐसा विकल्प छूटकर अकेला निष्कम्परूप से शुद्धात्म-स्वरूप में लीन हो, **उस समय इस आत्मा ने जो कुछ करना था, वह कर लिया,...** आहाहा! समझ में आया? भिन्नता करने का कार्य किया; फिर अस्थिरता का अनुभव के द्वारा नाश करके कार्य किया; फिर मैं शुद्धात्मा हूँ और ध्याता हूँ—यह भी छूट गया। समझ में आता है? स्वरूप में लीन हुआ, वह कृतकृत्य हो गया। उसका कार्य वहाँ करने का था, वह पूरा हो गया। गजब बात, भाई! समझ में आया? इसमें कैसा व्रत पालना और कैसा यह करना, यह सब कुछ नहीं आया। इस समय कहते हैं न, व्रतादि का विकल्प, जो कमजोरी से आता है, उसमें वह आ गया। समझ में आया?

स्व-पर को भिन्न पाड़ने से पर सम्बन्धी बुद्धि का भाव कि यह मुझे लाभ-नुकसान और अनुकूल होवे तो लाभ तथा प्रतिकूल होवे तो नुकसान—ऐसी महान अनन्त विपरीत बुद्धि का नाश हो गया। फिर कमजोरी के कारण अन्दर जो व्रत आदि के विकल्प आते थे... कहो! उन्हें स्वभाव के अनुभव द्वारा उनका नाश किया। कहो, समझ में आया? यह इसका उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं।

समय इस आत्मा ने जो कुछ करना था, वह कर लिया,... लो! **अब कुछ करना शेष नहीं रहा; इसलिए इसको कृतकृत्य कहते हैं।** लो! अन्तिम शब्द—**'भवति तदा कृतकृत्यः'** आहाहा! समझ में आया? गजब गाथा! एक-एक गाथा!! यह पहली बार वँचता है, हों! यह सब। नये-नये ग्रन्थ होते हैं न? योगसार और छहढाला और इष्टोपदेश—सब बहुत नया आया। आहाहा! शैली ही दिगम्बर सन्तों की, मूलमार्ग को पकड़कर चले हैं और उस मूलमार्ग की रीति ही कोई अलौकिक है। आहाहा!

www.vitragvani.com

इसको कृतकृत्य कहते हैं। इसी अवस्था को पुरुषार्थ की सिद्धि कहते हैं। है न? उसकी अवस्था में उसके पुरुषार्थ की सिद्धि हुई। **पुरुष का जो अर्थ अर्थात् प्रयोजनरूप कार्य उसकी सिद्धि जो होनी थी, वह हो गई।** लो! इस अनुसार पुरुषार्थ करने से जो कार्य हुआ; पुरुष का जो अर्थ अर्थात् प्रयोजन, उसका जो कार्य, उसकी जो सिद्धि होनी थी, वह इस प्रकार हो गयी। **इस अवस्था को जो प्राप्त हुआ, उस आत्मा को कृतकृत्य कहते हैं।** ऐसे आत्मा के सब कार्य पूरे हुए—ऐसा कहा जाता है। भेदज्ञान से कार्य शुरु किया है, दूसरा कार्य इसका नहीं। पर से भिन्न कार्य शुरु हुआ, फिर अस्थिरता का नाश करके ऐसा हुआ, फिर स्थिर हो गया, कार्य करने का पूरा हो गया; उसे कृतकृत्य कहा जाता है, उसे पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - १२

आगे पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहना चाहते हैं, वहाँ प्रथम ही परद्रव्य के सम्बन्ध का कारण कहते हैं। जिसके जानने पर क्या उपाय करना होता है, वह कहते हैं-

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला: कर्मभावेन।।१२।।

चेतन कृत परिणामों का निमित्तपना पाकर के मात्र।
कर्मरूप परिणमते हैं पुद्गल परमाणु अपने आप।।१२।।

अन्वयार्थ : (जीवकृतं) जीव के किये हुए (परिणामं) रागादि परिणामों का (निमित्त-मात्रं) निमित्तमात्र (प्रपद्य) पाकर (पुन:) फिर (अन्ये पुद्गला:) जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध (अत्र) आत्मा में (स्वयमेव) अपने आप ही (कर्मभावेन) ज्ञानावरणादि कर्मरूप (परिणमन्ते) परिणमन कर जाते हैं।

टीका : 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुन: अन्ये पुद्गल: स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ते' - जीव के किये हुए रागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर परिणमन करते हैं।

भावार्थ : जब जीव, राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमन करता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मरूप अवस्था को धारण करता है। विशेष इतना है कि यदि आत्मा देव-गुरु-धर्मादिक प्रशस्त रागरूप परिणमन करे तो शुभकर्म का बन्ध होता है। (और इसके विपरीत अप्रशस्त राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करे तो अशुभ कर्म का बन्ध होता है।)

प्रश्न :- जीव के भाव अति सूक्ष्मरूप हैं, उनका ज्ञान जड़ कर्म को कैसे होता है? और ज्ञान हुए बिना पुण्य-पापरूप होकर कैसे परिणमन कर जाते हैं?

उत्तर :- जिस प्रकार मन्त्रसाधक पुरुष बैठा-बैठा गुप्तरूप से मन्त्र जपता है और उसके किये बिना ही उस मन्त्र के निमित्त से किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है, किसी का

www.vitragvani.com

मरण होता है, किसी का भला होता है, कोई विडम्बनारूप परिणमन करता है – ऐसी उस मन्त्र में शक्ति है। उसका निमित्त पाकर चेतन–अचेतन पदार्थ स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंग में विभावभावरूप परिणमन करता है। उन भावों का निमित्त पाकर इसके बिना किये ही कोई पुद्‌गल पुण्य–प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं और कोई पाप–प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं, ऐसी इसके भावों में शक्ति है। इसके भावों का निमित्त पाकर पुद्‌गल स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करता है, ऐसा ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।।१२।।

प्रवचन नं. १५ गाथा–१२–१३ गुरुवार, पोष कृष्ण २, दिनांक १२.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय, अमृतचन्द्राचार्य कृत, १२ वीं गाथा। ११ गाथा पूरी हुई। **आगे पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहना चाहते हैं, वहाँ प्रथम ही परद्रव्य के सम्बन्ध का कारण कहते हैं।** जीव को परद्रव्य का सम्बन्ध क्यों है, वह कारण कहते हैं। **जिसके जानने पर क्या उपाय करना होता है, वह कहते हैं–** तीन बोल कहते हैं। एक तो पुरुषार्थसिद्धि–उपाय कहना चाहते हैं; परद्रव्य के सम्बन्ध का कारण कहते हैं; वह **जिसके जानने पर क्या उपाय करना होता है, वह कहते हैं–**

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन।।१२।।

अन्वयार्थ : जीव के किये हुए रागादि परिणामों का... देखो! यहाँ 'जीव के किये हुए' — (ऐसा कहकर) यहाँ से शुरु किया है। आगे कहेंगे, कर्म के किये हुए राग को अपना माने तो मिथ्यात्व है—ऐसा कहेंगे। समझ में आया? १४ वीं गाथा में ऐसा कहेंगे—कर्मकृत भाव। यहाँ कहते हैं जीवकृत। यहाँ तो जीव स्वयं ही विकार परिणाम को करता है, इससे यहाँ शुरु करते हैं; और फिर तो ऐसा कहेंगे, वह विकार परिणाम, निमित्त के आधीन हुई उपाधि है; इसलिए चौदह (गाथा) में कहेंगे—कर्म के किये हुए विकारी भाव को अपना माने तो वह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? क्या कहा? कर्मकृत। १२ वीं गाथा में जीवकृत और १४ वीं गाथा में कर्मकृत (कहा है)। दोनों मूल पाठ है।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : अनेकान्त है।

उत्तर : अनेकान्त अर्थात्? यहाँ तो दूसरा कहना है कि विकारीभाव तेरे किये, परिणमे तो तू परिणमे तो होते हैं—ऐसा कहते हैं, परन्तु १४ वीं (गाथा) में ऐसा कहेंगे कि भाई! विकारी परिणाम कोई इसका मूलस्वरूप नहीं है। वे विकारी परिणाम, निमित्त के आधीन (होकर हुए) उपाधि कृत्रिम क्षणिक है। ऐसे आत्मा त्रिकाल शुद्धस्वभाव में उन्हें अपना माने तो उसका नाम ही विपरीत-अभिनिवेश मिथ्यात्व कहा जाता है। समझ में आया?

यह पहली बात सिद्ध करने के पश्चात् वहाँ कहेंगे। उपाधिभाव है, वह वास्तविक चैतन्य का स्वभाव नहीं। ज्ञानानन्द चैतन्य वीतरागी समरसीस्वरूप; उसका यह विकारीभाव—पुण्य-पाप, मिथ्यात्व, राग-द्वेष—यह कहीं उसका स्वभाव नहीं है। इसका स्वभाव नहीं है, इसलिए इसे स्वभाव की दृष्टि करके, उन्हें, इससे रहित मनवाना है; इसलिए उन्हें वहाँ कर्मकृत विकार कहा जाएगा। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि **जीव के किये हुए रागादि परिणामों का...** जीव के **कृतं** है न? जीव के किये हुए पुण्य और पाप, काम और क्रोध, मिथ्यात्व आदि भाव। ऐसे **परिणामों का निमित्तमात्र...** ऐसे परिणाम को **निमित्तमात्र पाकर फिर जीव से...** अर्थात् पूर्व के बँधे हुए। यह तो नये बँधते हैं, उसके लिये। **फिर जीव से भिन्न अन्य पुद्गल स्कन्ध, आत्मा में अपने आप ही...** कर्म के स्कन्ध अपने आप ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं। अपने आप। ज्ञानावरणादिरूप से आत्मा में अर्थात् साथ में, सम्बन्धरूप से। आत्मा में अर्थात् साथ में, सम्बन्धरूप से। यहाँ तो सम्बन्ध बतलाना है न? **प्रथम ही परद्रव्य के सम्बन्ध का कारण...** (ऐसा कहकर) सम्बन्ध बताते हैं। ऊपर ऐसा कहा था न? आत्मा में आत्मा स्वयं अपने स्वभाव की शुद्धता को भूलकर, राग और द्वेष को करता है। उस राग-द्वेष का निमित्त... समय तो वही है और उस क्षण कर्म पुद्गल अपने आप कर्मरूप परिणमते हैं। समय का भेद नहीं है कि यह निमित्त है, इसलिए वहाँ हुआ। काल भेद नहीं है। समझ में आया?

जीव ने राग-द्वेष किये, वह समय ही कर्म होने का है। यहाँ, निमित्त पाकर

www.vitragvani.com

अर्थात् वहाँ निमित्त है और कर्म पुद्गल अर्थात् कर्म की वर्गणा है, वह कर्मरूप परिणमे, स्वयंमेव परिणमे। देखो! अपने आप ही परिणमती है। राग-द्वेष हैं, वे उसे परिणमते हैं, राग-द्वेष हैं, वे कर्म की पर्याय को परिणमाते हैं—ऐसा नहीं है। समझ में आया? आगे, परिणमाते हैं—ऐसा आयेगा, हों! अभी वापस आगे गाथा में अभी। शक्ति से आगे आयेगा। दूसरी बात करेंगे।

टीका : 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनः अन्ये पुद्गलः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ते' – जीव के किये हुए रागादि परिणाम.... जीव के किये हुए जो राग और द्वेष, पुण्य और पाप; शुभ और अशुभभाव। इसमें मिथ्यात्व भी साथ में आ जाता है। **निमित्तमात्र पाकर...** निमित्त अर्थात् उस काल में वहाँ राग-द्वेष हैं-इतना। उसी काल में, **नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर परिणमन करते हैं।** समझ में आया? उन्हें, यह आत्मा के राग-द्वेष के कर्मरूप से परिणमित नहीं कराते। समझ में आया?

भावार्थ : जब जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमन करता है... अब, मोह-मिथ्यात्व डाला है। जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर, पर में सुख-दुःख है, पर के कारण—ऐसा मिथ्यात्वभाव अथवा पुण्य-पाप का भाव मेरा—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव और इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष का भाव, इस भाव से जब आत्मा पर्यायरूप से (परिणमता है); भाव अर्थात् पर्याय। उस पर्यायरूप से जब जीव होता है, **परिणमन करता है, तब उन भावों का निमित्त पाकर...** 'निमित्त पाकर' का अर्थ कि उस काल में वहाँ एक राग-द्वेष है, इतना। **स्वयं ही पुद्गल...** नये परमाणु स्वयं ही **द्रव्यकर्म अवस्था को धारण करता है। पुद्गलद्रव्य कर्म अवस्था को धारण करता है।** जीव के मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम निमित्तमात्र हैं। वहाँ आगे कर्म-स्वयं द्रव्यकर्म—पुद्गलद्रव्य कर्म अवस्था को स्वयं ही धारण करता है। यहाँ राग-द्वेष किये, इसलिए वहाँ धारण होता है—ऐसा नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

उत्तर : समय एक है। प्रश्न क्या? यह हुए, इसलिए होवे तो दूसरा समय चाहिए।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यहाँ होते हैं (और) वहाँ होता है, बस! यहाँ राग–द्वेष, मोहरूप से जीव में भाव हुए, उस काल में कर्मद्रव्य (पुद्गलद्रव्य) कर्म–अवस्था को धारण करता है। उसी काल में धारण करता है। उसमें कहीं यह हुआ, इसलिए ऐसा हुआ–ऐसे नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : यहाँ पदार्थ में हुआ, इसलिए उसमें हुआ, ऐसा?

उत्तर : परन्तु ऐसा कहाँ था? उस काल में इसके कारण (हुआ होवे) तो उस काल में तो इसे पता भी नहीं। वह तो फिर जड़ को प्रश्न करेगा। समझ में आया? ऐसा ही कोई निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ विकारी परिणाम हों, और वहाँ आगे कितने ही रजकणों में उस प्रकार की अवस्था होने के योग्य हों, वे अपने स्वकाल में, अपने कारण से स्वयं उसरूप कर्म अवस्था धारण करते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

विशेष इतना है कि यदि आत्मा देव–गुरु–धर्मादिक प्रशस्तरागरूप परिणमन करे... पहली सामान्य व्याख्या की थी। यदि आत्मा, देव–गुरु–धर्मादि के शुभरागरूप हो, **तो शुभकर्म का बन्ध होता है।** यहाँ शुभराग होवे तो वहाँ शुभकर्म का बन्धन होता है। वह स्वयमेव (होता है)। कर्म स्वयमेव शुभकर्मरूप अपने आप वहाँ होते हैं—कर्म–अवस्था धारण करते हैं। कहो, समझ में आया? यह आत्मा, राग–द्वेष करता है; इसलिए कर्म की अवस्था को होना पड़ता है—ऐसा नहीं है, ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। समझ में आया? इसलिए निमित्तमात्र उस समय और उसी समय में पुद्गलद्रव्य कर्म की अवस्थारूप परिणमता है, अवस्था को धारण करता है, अवस्थारूप होता है। ऐसा निमित्त–निमित्त सम्बन्ध एक समय में, एकसाथ स्वयं से,–अपने से होता है। कहो, समझ में आया इसमें?

प्रश्न :– जीव के भाव अति सूक्ष्मरूप हैं.... महाराज! यह क्या हुआ? पुद्गल को पता कैसे पड़ा कि मुझे ऐसा परिणमित होना? समझ में आया? क्योंकि जीव के भाव तो महासूक्ष्म–एकदम अरूपी हैं। राग–द्वेष–मिथ्यात्वभाव, जीव ने अपने स्वरूप को भूलकर किया, वे तो महासूक्ष्म हैं। जो यहाँ महासूक्ष्म कहा। (उन्हें ही) समयसार में पुण्य–पाप के स्थूल परिणाम कहे। अपेक्षा समझनी चाहिए या नहीं? शुभभाव को भी, समयसार में, स्थूल शुभ परिणाम, स्थूल शुभ, संक्लेश–अशुभ संक्लेश–ऐसा कहा। दोनों को स्थूल कहा, पुण्य–पाप अधिकार। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

यहाँ तो उन परमाणुओं की अपेक्षा से महासूक्ष्मपना कहना है। वहाँ आगे सूक्ष्म शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से शुभ-अशुभ को स्थूल कहा गया था। क्या कहा? चैतन्य सूक्ष्म शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से शुभ-अशुभपरिणाम को स्थूल परिणाम, सूक्ष्म स्वभाव की अपेक्षा से कहा गया था। यहाँ कर्म की अपेक्षा से आत्मा के मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम महासूक्ष्म कहे गये हैं। कहो, समझ में आया? कितनी अपेक्षायें होती हैं! एक ओर महासूक्ष्म (कहे), एक ओर महास्थूल (कहे)। शुभ-अशुभपरिणाम महास्थूल, स्थूल (कहे)। यह के यही अमृतचन्द्राचार्य कहनेवाले। यह भी अमृतचन्द्राचार्य कृत। समझ में आया?

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ज्ञान और वीतराग समरसीस्वरूप, वह सूक्ष्म है, सूक्ष्म है और कर्म-रूपी मूर्त के निमित्त के लक्ष्य से शुभ-अशुभभाव हुए; वे ऐसे सूक्ष्म स्वभाव, वीतरागी स्वभाव की अपेक्षा से उन राग-द्वेष स्वभाव (भाव) को स्थूल कहा गया है। समझ में आया? उन्हें ही यहाँ कर्म की अपेक्षा से सूक्ष्म कहा गया है। स्वभाव की अपेक्षा से शुभ-अशुभ को स्थूल कहा, उन्हीं-उन्हीं को यहाँ कर्म की अपेक्षा से सूक्ष्म कहा। समझ में आया?

जीव के भाव अति सूक्ष्मरूप हैं.... यह कौन से भाव? अभी विकारीभाव की बात है। यहाँ अभी वीतरागी स्वभाव की बात नहीं है। यहाँ तो (कर्म को) निमित्त होवे, ऐसे भाव लेना है न? जीव स्वयं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति द्रव्यस्वभाव, अकेला ज्ञायकस्वभाव, समरसी वीतरागस्वभाव है, वह तो महासूक्ष्म है, परन्तु उसकी वर्तमान दशा में शुभ-अशुभ, मिथ्यात्वभाव या पुण्य के भाव या पाप के दूसरे अशुभराग, वे सब परिणाम, कर्म जड़ की रूपी मूर्त की अपेक्षा से इन्हें महासूक्ष्म कहा गया है। समझ में आया? इन भावों को मूर्त कहे, कहीं मूर्त कहे, राग-द्वेष को रूपी कहे, अजीव कहे, जड़ कहे, पुद्गलपरिणाम कहे। ऐई! समयसार में ऐसे बोल आते हैं; द्रव्यस्वभाव को बताना हो तब।

यहाँ तो इसकी पर्याय में स्वयं से होते हैं और कर्म के जड़ रजकण उस काल में कर्म-अवस्था धारण करे, उनसे ये परिणाम महासूक्ष्म भिन्न हैं। उस कर्म को कैसे पता पड़ा—ऐसा कहना है; कि मुझे ऐसा परिणमना? इसने एक दयाभाव किया; दया का भाव

www.vitragvani.com

शुभ है, वह तो सूक्ष्म है। उसे (कर्म को) कैसे पता पड़ा कि मुझे सातारूप परिणमना? जितने प्रमाण में इसका दया का भाव हो, उतने प्रमाण में वहाँ साता के रजकण, सातारूप होते हैं। मिथ्यात्व होवे तो दर्शनमोह की जड़ की पर्याय वहाँ उस प्रमाण होती है। पाप आदि के परिणाम में असंख्य भेद में जो भेद हो, उतने प्रमाण में वहाँ कर्म की पर्याय असाता आदिरूप होती है—तो उसे कैसे पता पड़ा कि इसे ऐसे परिणाम हैं, इसलिए मुझे ऐसा होना?—ऐसा शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया?

जीव के भाव अति सूक्ष्मरूप हैं, उनका ज्ञान जड़कर्म को कैसे होता है? और ज्ञान हुए बिना पुण्य-पापरूप होकर कैसे परिणमन कर जाते हैं? यह प्रश्न, 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में 'टोडरमलजी' ने लिया है। वे स्वयं यहाँ डालते हैं, स्वयं ने वहाँ लिया है। उसे कैसे पता पड़े? पता पड़ने का क्या काम है वहाँ? ज्ञान होवे तो पता पड़े—इसका कुछ काम है यहाँ? ऐसा ही कोई सम्बन्ध सहज होता है। समझ में आया? सूर्य का निमित्त पाकर कमल खिलते हैं, सूर्य का निमित्त पाकर चकवा बोलता है। सूर्य हस्त होवे तो अपने आप चकवा-चकवी बोलते बन्द हो जाते हैं। उन्हें कोई जानने के साथ सम्बन्ध नहीं है।

और ज्ञान हुए बिना किस प्रकार... जड़ को किस प्रकार पता पड़े? एक बोल। इस आत्मा ने भाव ऐसे किये—ऐसा कर्म को कैसे खबर पड़े? एक बात। और खबर बिना... क्योंकि वे जड़ हैं। **और ज्ञान हुए बिना पुण्य-पापरूप होकर कैसे परिणमन कर जाते हैं?**

उत्तर :- जिस प्रकार मन्त्रसाधक पुरुष बैठा-बैठा गुप्तरूप से मन्त्र जपता है... अकेला कहीं गुफा में बैठा होवे और मन्त्र जपता है। **और उसके किये बिना ही उस मन्त्र के....** वहाँ समयसार में न्याय यह है। अमृतचन्द्राचार्य में यह है। यह शब्द है **किये बिना....**

मुमुक्षु : निमित्त से कहना पड़ा।

उत्तर : निमित्त अर्थात्? चीज़ है। कहना पड़ा क्या?

मन्त्र के निमित्त के काल में। लो! निमित्त अर्थात् मन्त्र के निमित्त के काल में, इसके—मन्त्र के **किये बिना ही, उस मन्त्र के निमित्त से किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है,....** उसे वहाँ पीड़ा उत्पन्न होने का काल है, उसके कारण (होती है और) इस मन्त्र

www.vitragvani.com

का तो निमित्तमात्र है; मन्त्र ने वहाँ किया नहीं है, बस! उस मन्त्र से इसमें कुछ हुआ नहीं है। हुआ होवे तो, उसके कारण होवे तब तो वह उपादान हो जाए। उस मन्त्र का स्वयं साधक है, उसका ध्येय वह है; वह वहाँ अपने आप उस काल में अन्य को पीड़ा होती है, सिर फूटता है, डण्डा पड़े... समझ में आया? अभी एक, दूसरा बोल आयेगा, फिर चार बोल आयेंगे।

किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है,.... पहली तो बात ली। मन्त्र-साधक को किसी को दुःख देने का भाव होवे तो वहाँ दुःख देने की पर्याय स्वयं उसके कारण होती है। मन्त्र-साधक की पर्याय के किये बिना वहाँ होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मन्त्र-साधक न होता तो...

उत्तर : परन्तु न हो, यह प्रश्न कहाँ है यहाँ? है, और यह जीव न होता तो तर्क ही ऐसा कहाँ होता कि मैं हूँ या नहीं? मन्त्र (साधक) कहीं बैठा हो और यहाँ अपने आप पीड़ा होती है। ऐसे ही कोई निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जगत में अनन्त बन रहे हैं। कहो, समझ में आया?

यहाँ सिर ऐसे-ऐसे चले तो वहाँ दीवार में धूप हो, वहाँ भी ऐसे-ऐसे होता है। उसे खबर पड़ती है वहाँ? रात्रि में दीपक होता है न ऊपर? यह दीवार ऊपर है, यहाँ सिर ऐसे-ऐसे हिले तो वहाँ भी ऐसे-ऐसे होता है। वहाँ उसे खबर है? ऐसा ही कोई निमित्त इसका और उस काल में उस काली पर्याय का सफेद में से परिणमने का काल है, इसलिए उसके काल में होती है।

प्रश्न : यहाँ सिर बन्द रखे तो वहाँ बन्द होता है।

उत्तर : इसके लिये तो यह दृष्टान्त दिया। ये नीम के पत्ते लो न! नीचे भी छाया ऐसे-ऐसे होती है। उसे पता है कि यहाँ होता है, इसलिए होऊँ? परन्तु ऐसा ही कोई सम्बन्ध है। वहाँ उस प्रकार ऐसे-ऐसे चले, वहाँ काले परमाणु की पर्याय, यहाँ जो सफेद होवे, वह कालेरूप उसके कारण से परिणमते हैं। इसका निमित्त, उसके कारण से; इसके किये बिना। नीम के पत्ते ऐसे-ऐसे हों, (तब) नीचे काली झांई ऐसे-ऐसे पड़ती है न? वह इसके किये बिना वहाँ होती है। पत्तों की पर्याय के किये बिना वहाँ काली पर्याय होती है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

प्रश्न : इसके निमित्त से होती है।

उत्तर : परन्तु निमित्त से होती है–इसका अर्थ क्या हुआ? निमित्त है—ऐसा अर्थ हुआ। निमित्त से होती है—अर्थात्? समझ में आया? यह तो हजारों–लाखों दृष्टान्त बन रहे हैं। देखो न! तेजी से गाय चलती हो, तेजी से छाया ऐसे–ऐसे चलती जाती है। छाया नहीं, वह चली नहीं जाती। वे वहाँ–वहाँ के परमाणु नये... नये... नये... नये... काली–काली पर्यायरूप परिणमते हैं। यह तो निमित्तमात्र है। ऐसे गाय चलती हो, सूर्य ऐसे हो तो ऐसे छाया पड़ती है या नहीं? यह गाय का निमित्त है। यहाँ काले परमाणु की, सफेद की अवस्था कालेरूप परिणमने का उनका काल है, उसमें वह (गाय) निमित्त कहलाती है।

मुमुक्षु : इसमें काल नहीं लिखा।

उत्तर : काल नहीं, लो! ऐई! काल नहीं, कहते हैं। लो!

मुमुक्षु : लिखा नहीं।

उत्तर : परन्तु लिखा नहीं, आया या नहीं? यह निमित्त पाकर अर्थात् उस समय का काल, ऐसा। उस समय वहाँ परमाणु परिणमते हैं। हो गया, काल तो एक ही है। एक तो काल ही होता है न किन्तु सबके लिये। समझ में आया?

किये बिना ही उस मन्त्र के निमित्त से किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है, किसी का मरण होता है,.... उसकी आयुष्य स्थिति पूरी होने की होवे तो मन्त्र का निमित्त है। वहाँ तो उसकी आयुष्य पूर्ण होनी ही हो, हों! इसके (मन्त्र के) कारण मरण होता है—ऐसा नहीं। **किये बिना किसी का मरण होता है, किसी का भला होता है,...** लो! यहाँ मन्त्र साधे और किसी को पुण्य का उदय होवे तो वहाँ पैसा आदि आवे, शरीर में रोग मिट जाये, निरोगता हो। वहाँ उसे होना होवे तो, हों! तब उसको निमित्त कहा जाता है। **कोई विडम्बनारूप परिणमन करता है....** लो! मन्त्र साधने पर कोई घूमने लगता है, ऐसे–ऐसे करने लगता है, वह तो उसकी अपनी पर्याय है। इसे–घूमनेवाले को पता भी नहीं कि वहाँ कोई निमित्त है। खबर है? खबर बिना ही ऐसा ही कोई सम्बन्ध (होता है)। ऐसे अनन्त सम्बन्ध समय–समय में बन रहे हैं।

ऐसी उस मन्त्र में शक्ति है। यहाँ वजन आया अब तुम्हारा। ऐसी अर्थात्? सामने

www.vitragvani.com

वहाँ हो और यहाँ निमित्त है; उस निमित्त में उस प्रकार की शक्ति है, निमित्तपने की ऐसी शक्ति है। कहो, समझ में आया? वह ही वहाँ निमित्तरूप से हो—ऐसी वहाँ शक्ति है; निमित्त की शक्ति। वहाँ तो उसके कारण से होता है। समझ में आया? परन्तु इसमें ऐसा लेते हैं कि देखो! मन्त्र में ऐसी शक्ति है कि सामने होता है। यह तो कर्ता-कर्म हो गया। ऐसा कर्ता-कर्म होता नहीं। कर्ता हो गया और वहाँ कार्य हो गया—ऐसा है नहीं। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भिन्न है; कर्ता-कर्म भिन्न है। कर्ता-कर्म, व्याप्य-व्यापक में हो सकता है; निमित्त-निमित्त, व्यापक-व्यापक न हो, वहाँ भिन्न में हो सकता है। निमित्त-निमित्त पर में हो सकता है। समझ में आया?

उसका निमित्त पाकर चेतन-अचेतन पदार्थ स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करते हैं। लो! वह स्वयं ही। मन्त्र की शक्ति, शक्ति में उसके पास रही। **उसका निमित्त पाकर....** देखो! उसका निमित्त पाकर अर्थात् उसी काल में, ऐसा। **चेतन-अचेतन पदार्थ स्वयं ही अनेक अवस्थायें....** स्वयं से **धारण करते हैं।** कहो, समझ में आया? यह दृष्टान्त (दिया)। दृष्टान्त में भी अभी कठिन (पड़ता है)। लोगों को इसमें (विवाद)। यह दृष्टान्त अभी पत्र में लेख में दिया है। ऐई! यह देखो! टोडरमलजी ने मन्त्र लिखा है। मोहनधूल से, वहाँ.... ऐसा लिखा है। इस मन्त्र शक्ति से वहाँ विडम्बना को प्राप्त होता है—ऐसा लिखा है। यह तो कर्ता-कर्म हो गया, यह तो कर्ता-कर्म हुआ। इससे वहाँ होवे तो कर्ता-कर्म (हुआ), परन्तु यह है और वहाँ होता है, उस समय में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। समझ में आया? बड़ा घोटाला निमित्त-निमित्त का और कर्ता-कर्म का।

उसी प्रकार.... इस दृष्टान्त का अब सिद्धान्त आत्मा में उतारते हैं। **अज्ञानी जीव....** देखो! अज्ञानी जीव की यहाँ बात है। राग-द्वेष होना, यह कहीं ज्ञानी की बात यहाँ है नहीं। **अपने अन्तरंग में विभावभावरूप परिणमन करता है।** अज्ञानी जीव अपनी अन्तरंग पर्याय में विभाव अर्थात् विकाररूप से; विभावभाव अर्थात् विकार पर्यायरूप से होता है। **उन भावों का निमित्त पाकर....** वह विकार परिणाम वहाँ आगे निमित्त है। किसे? **इसके बिना किये ही....** जीव के राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव के किये बिना **कोई पुद्गल पुण्य-प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं,....** देखो! सब पुद्गल-ऐसा नहीं।

www.vitragvani.com

समझ में आया? कोई पुद्गल–पुण्य प्रकृतिरूप से–सातारूप से, उच्च गोत्ररूप से, शुभ अर्थात् गोत्ररूप से, शुभ आयुरूप से। समझे न?

मुमुक्षु : शुभभाव होवे तो न!

उत्तर : शुभभाव तो निमित्तमात्र है। होवे तो न—ऐसा फिर कहाँ आया? वहाँ आगे इसे खबर नहीं होती और इसके किये बिना वहाँ साता के रजकण सातारूप परिणमते हैं। यह उसकी स्वयं की पर्याय का स्वकाल है, इसलिए परिणमते हैं—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उसकी उत्पाद की स्वतन्त्र पर्याय है—ऐसा कहते हैं। उस समय वह ही पर्याय कर्म की अवस्था में होने में, उस द्रव्य में वह अवस्था होने का उसका काल है। यह तो निमित्तमात्र है।

कोई पाप–प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं,... दो भाग पाड़े न? इसने तो पुण्य–पाप के भाव किये। शुभभाव होवे तो वहाँ साता, उच्चगोत्र आदिरूप पुद्गलद्रव्य कर्म अवस्था धारण करे और इसके पाप के परिणाम होवे तो दर्शनमोह आदि, असातावेदनीय आदि, नीचगोत्र आदि कर्म की पर्याय–अवस्था होवे। बस! इसके किये बिना। जीव के राग–द्वेष के किये बिना वे पुद्गल उस समय, उस काल में अपनी पर्याय को धारण करते हैं, उसे यहाँ निमित्त कहने में आता है। तब पहले को—जीव के भाव को निमित्त कहा जाता है। समझ में आया?

ऐसी इसके भावों में शक्ति है। देखो! पहले में मन्त्र शक्ति आया था न? ऐसी इसके विकारभावों में निमित्तपने की शक्ति है। **ऐसी इसके भावों में....** इसके अर्थात् विकारीभाव में निमित्तपने की शक्ति है। जैसे मन्त्र की, मन्त्र में शक्ति है, वैसे इसके विभाव / विकार परिणाम में ऐसी शक्ति है। **उनका निमित्त पाकर....** निमित्त पाकर का अर्थ हुआ कि यह हुए, इसलिए अब दूसरा दूसरे समय परिणमे–ऐसा नहीं है, वह तो उस समय में होता है। **पुद्गल स्वयं ही....** पुद्गल स्वयं ही, स्वयं। इसका विवाद था... परिणमे स्वयं, परन्तु स्वयंमेव परिणमे नहीं, उसके कारण परिणमे, अन्य के कारण परिणमे। आहाहा! अरे...! भगवान! क्या करना है तुझे?

स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करता है,.... कर्म ही स्वयं अनेक अवस्था

www.vitragvani.com

(धारण करता है)। **ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।** ऐसा ही कोई निमित्त और यहाँ नैमित्तिक (सम्बन्ध है)। सामने पर्याय हो, उसे नैमित्तिक कहते हैं, यहाँ जो निमित्त है, उसे-संयोगी को निमित्त कहते हैं। ऐसा ही कोई सम्बन्ध अनादि-अनन्त ऐसा बहुत बन रहा है। कहो, समझ में आया इसमें? माँगीरामजी! देखो! जीव ने राग-द्वेष किये तो वहाँ कर्म को होना पड़ा या नहीं? नहीं तो कर्म, कर्मरूप होता? बोलो जवाब?

मुमुक्षु : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

उत्तर : परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या? यहाँ राग-द्वेष किये तो कर्म को कर्मरूप होना पड़ा न? राग-द्वेष न करता तो होता? इतनी तो कर्म की पर्याय, राग-द्वेष के आधीन / पराधीन हुई या नहीं? वह तो उसके कारण हुई है, इसके कारण नहीं। राग-द्वेष, उस समय कर्मद्रव्य में कर्म-अवस्था होनी थी, इसके कारण से हुई-ऐसा नहीं। यह तो निमित्त है। इसके कारण हुई हो, तब तो यह कर्ता हो गया और वह (कर्म होना) कार्य हो गया। भारी घोटाला बड़ा है। दबा दे ऐसा है एक बार तो, ऐई! माँगीरामजी! राग-द्वेष न करे तो कर्म होते थे? क्या है? राग-द्वेष किये तो कर्म हुए, इतना इसका कर्म पर असर हुआ या नहीं? शोभालालजी! निमित्तपना बतलाना है और कर्ता है नहीं—दो बातें सिद्ध करना है। कर्ता नहीं। कर्ता अर्थात् यह परिणमानेवाला नहीं। परिणमता है तो स्वयं परन्तु यहाँ निमित्त है एक, इतनी बात है; दूसरा कुछ है नहीं। राग-द्वेष हुए, इसलिए होना पड़ा-ऐसा नहीं है। राग-द्वेष हुए, इसलिए होना पड़ा-ऐसा नहीं है; उस समय परमाणु में कर्म-अवस्था होने की योग्यता से होती है। समझ में आया?

भारी सब प्रश्न किये हैं। (संवत्) २००६ के साल, मूलशंकर भाई ने किया (था), देखो! राग-द्वेष न करे तो वहाँ होता? राग-द्वेष करे तो होता है। भगवान! क्या करता है यह? उस समय के उत्पाद का उसका स्वकाल नहीं? स्वकाल की अपनी अस्ति से स्वकाल में परिणमा है। पर के काल की अस्ति से तो नास्ति है। राग-द्वेष के परिणाम, वे जीव के स्वकाल के परिणाम और पुद्गल में कर्म-अवस्था होना, वह पुद्गल की स्वकाल की अवस्था। इस स्वकाल की अवस्था से अस्ति है और परकाल की अवस्था से नास्ति है। समझ में आया? यह १२ गाथा (पूर्ण) हुई।

गाथा - १३

प्रश्न : इस जीव के जो विभावभाव होते हैं, वे स्वयं से ही होते हैं या उनका भी कोई निमित्तकारण है? इसका उत्तर आगे कहते हैं।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।१३।।

स्वयं किये चिन्मय भावों में परिणमते इस चेतन को।
निमित्त मात्र होते हैं पुद्गल परमाणुमय कर्म अहो।।१३।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (स्वकैः) अपने (चिदात्मकैः) चेतनास्वरूप (भावैः) रागादि परिणामों से (स्वयमपि) स्वयं ही (परिणममानस्य) परिणमन करते हुए (तस्य चित अपि) पूर्वोक्त आत्मा के भी (पौद्गलिकं) पुद्गल सम्बन्धी (कर्म) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म (निमित्तमात्रं) निमित्तमात्रं (भवति) होता है।

टीका : 'हि चिदात्मकैः स्वकैर्भावैः परिणममानस्य तस्य चितः अपि पौद्गलिकं कर्म निमित्तमात्रं भवति' – निश्चय से चैतन्यस्वरूप अपने रागादि परिणामरूप से परिणमन किये हुए उस पूर्वोक्त आत्मा के भी पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म निमित्तमात्र होते हैं।

भावार्थ : इस जीव के रागादि विभावभाव अपने आप ही (स्वद्रव्य के आलम्बन से) नहीं होता। यदि आप ही से हो तो वह भी ज्ञान-दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जाय और स्वभावभाव होने पर उसका भी कभी नाश नहीं हो सकता। इसलिए ये भाव औपाधिक हैं, अन्य निमित्त से होते हैं और वे निमित्त ज्ञानावरणादि कर्मों को जानना। जिस-जिस प्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्था को प्राप्त होता है उसी-उसी प्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है।

प्रश्न : पुद्गल में ऐसी कौनसी शक्ति है कि जो चैतन्य को विभावभावरूप परिणमन करवा देती है?

www.vitragvani.com

उत्तर : जिस प्रकार किसी मनुष्य के सिर पर मन्त्र पढ़ी हुई धूल डाली हो तो उस धूल के निमित्त से वह पुरुष स्वयं को भूलकर नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है। मन्त्र के निमित्त से उस धूल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह बुद्धिमान पुरुष को विपरीत *परिणमन करवा देती है। उसी प्रकार इस आत्मा के प्रदेशों में रागादि के निमित्त से बँधे हुए पुद्गलों के निमित्त से यह आत्मा स्वयं को भूलकर नाना प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इसके विभावभावों के निमित्त से पुद्गल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह चैतन्य पुरुष को विपरीत परिणमन करवा देता है। इस भाँति भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता है, इसे ही संसार कहते हैं।।१३।।

गाथा १३ पर प्रवचन

इस जीव के जो विभावभाव होते हैं, वे स्वयं से ही होते हैं या उनका भी कोई निमित्तकारण है? इसका उत्तर आगे कहते हैं। अपने से अवश्य होता है, परन्तु निमित्त है या नहीं? —यह बात सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु : दोनों मिलकर करते हैं।

उत्तर : नहीं, नहीं; देखो! कहेंगे, विशिष्टता देखो तो सही! '**परिणममानस्य**' शब्द यहाँ से शुरु किया है। '**परिणममानस्य**' देखो! गजब श्लोको!

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।१३।।

अन्वयार्थ : 'हि' निश्चय से अपने चेतनास्वरूप.... अन्वयार्थ। देखो विशिष्टता! **निश्चय से अपने....** अर्थात् आत्मा के। कैसे? **चेतनास्वरूप रागादि परिणामों....** देखो! दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, मिथ्यात्वभाव—ये सब चेतनस्वरूप विकारीभाव

* प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से है, परद्रव्यादि का उसमें सदा अभाव ही है, इसलिए कोई किसी को परिणमन नहीं करवा सकता, तो भी जीव के उस प्रकार के परिणमन करने की योग्यता के काल में बाह्य में किस सामग्री को निमित्त बनाने में आया था, उसका ज्ञान करवाने के लिए असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त को कर्ता कहा जाता है। व्यवहार कथन की रीति ऐसी ही है, इस प्रकार जानना चाहिए।

www.vitragvani.com

हैं। समझ में आया? ये अचेतनस्वरूप जड़ के भाव नहीं हैं। एक ओर इन्हें जड़ कहें, चेतनस्वरूप नहीं। चेतनस्वरूप से भिन्न, वह निश्चयस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से पुण्य-पाप के भाव, वे अचेतन और पुद्गलपरिणाम हैं। यहाँ तो कर्म से भिन्न, अपनी अवस्था में होते हैं; इसलिए ये चेतनास्वरूप राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मिथ्यात्व के भाव, वे **स्वयं ही परिणमन करते हुए....** देखो! **परिणममानस्य** पर वजन है। वास्तव में **अपने चेतनास्वरूप रागादि परिणामों....** जीव स्वयं ही (रागादिरूप परिणमित होता है)। यहाँ चेतनास्वरूप कहेंगे। (गाथा) १४ वीं में निकाल डालेंगे, कर्मकृत कहकर निकाल डालना चाहेंगे। परन्तु होते हैं वे चेतनास्वरूप में, चेतना करे तो होते हैं। समझ में आया? अपने चेतनास्वरूप राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, **स्वयं ही परिणमन करते हुए.... परिणामों से स्वयं ही परिणमन करते हुए पूर्वोक्त आत्मा के भी....** स्वयं ही परिणमता हुआ, कौन? आत्मा। पूर्वोक्त आत्मा को भी **परिणामों से स्वयं ही परिणमन करते हुए पूर्वोक्त आत्मा के भी....** यहाँ वजन है। विकाररूप से स्वयं ही परिणमते ऐसे आत्मा को भी। अब परिणमता तो यहाँ सिद्ध कर दिया। समझ में आया?

पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म निमित्तमात्रं होता है। लो! यहाँ कहा। जीव अपने चैतन्यस्वरूप पुण्य-पाप के, मिथ्यात्व आदि के भाव से स्वयं ही परिणमते, परिणमित हुआ है; परिणमता है, परिणमना है। इस प्रकार परिणमते ऐसे **पूर्वोक्त आत्मा के भी....** परिणमित-विकाररूप से परिणमित आत्मा को भी, **पुद्गल सम्बन्धी....** देखो! अब जड़कर्म (लेते हैं)। **ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म निमित्तमात्रं होता है।** लो! भाषा देखो! जीव अपनी ज्ञान की हीनता, दर्शन की हीनता, चारित्र की विपरीतता, श्रद्धा की विपरीतता या राग-द्वेष के भाव—ऐसे परिणमते आत्मा को, परिणमते आत्मा को, होते आत्मा को, उसरूप हुए आत्मा को, होते हुए आत्मा को पूर्व का द्रव्यकर्म उसे निमित्त कहलाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : .....निमित्त सही।

उत्तर : नहीं, ऐसा कहाँ कहा? आत्मा को भी—ऐसा कहते हैं। परिणमते ऐसे आत्मा को यह कर्म एक निमित्त होता है-इतना। परिणमते ऐसे आत्मा को यह निमित्त पूर्व

www.vitragvani.com

का होता है। परन्तु आया सही न! '**तस्य चितः अपि**' ऐसा। उस आत्मा को भी। निमित्त है कौन? पूर्व के कर्म का उदय। परिणमते आत्मा को भी चेतनास्वरूप राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकार होते हुए, होते हुए, होते हुए आत्मा को पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि आठ कर्म का उदय, वह निमित्तमात्र होता है। लो! समझ में आया?

पुद्गलकर्म है, इसलिए यहाँ परिणमता है—ऐसा नहीं और यहाँ परिणमता है; इसलिए पुद्गलकर्म को होना पड़ता है- ऐसा नहीं। यहाँ जीव स्वयं परिणमता है, तब पुद्गलकर्म निमित्त कहलाता है और जीव स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमा, तब नये कर्म स्वयं के स्वकाल में कर्म-अवस्था धारण करते हैं, वह स्वयं से **परिणममानस्य** स्वयं से **परिणममानस्य** उसे राग-द्वेष के भाव निमित्त हैं। पुद्गलकर्मरूप से **परिणममानस्य** उसे जीव के राग-द्वेष के परिणाम निमित्त हैं और जीव राग-द्वेषरूप परिणमते आत्मा को पुद्गलकर्म की पर्याय निमित्त है। यह बात सिद्ध करनी है।

मुमुक्षु : परिणमे, तब तो निमित्त कहलाये।

उत्तर : बस! बात यह है। है, परन्तु निमित्त है। यह भी परिणमता है और यह निमित्त है। यहाँ से जीव में क्यों लिया है? क्योंकि परिणमता है तो वहाँ से भी, परन्तु परिणमता है, वह यहाँ से लेकर राग-द्वेष परिणमता है, (तब) पुद्गल उसके कारण उस समय परिणमता है। राग-द्वेष स्वयं परिणमता है। दोनों बातें यहाँ से ली हैं। राग-द्वेषरूप परिणमता है, तब कर्म अपने आप परिणमते हैं। राग-द्वेषरूप परिणमित होनेवाले जीव को पूर्व के कर्म निमित्त होते हैं। समझ में आया? आहाहा!

यह कर्ता के बिना, कर्म के कर्ता के बिना जीव अपने विकारीरूप परिणमता है, और जीव के विकारी परिणाम के कार्य को करता हुआ, यह राग-द्वेष पर के किये बिना पुद्गल के परिणाम कर्मरूप होते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? सब-सबकी स्वतन्त्रता बताते हैं। कर्ता है, वह स्वतन्त्र है—ऐसा कहते हैं। पुद्गल कर्मरूपी अवस्था धारण करता है, वह कर्ता होकर स्वतन्त्र है; जीव, राग-द्वेषरूप परिणमें, वह कर्ता होने को स्वतन्त्र है। कर्ता हो, वह स्वतन्त्र होता है। समझ में आया?

टीका : 'हि चिदात्मकैः स्वकैर्भावैः परिणममानस्य तस्य चितः अपि

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

पौद्‌गलिकं कर्म निमित्तमात्रं भवति' – निश्चय से.... वास्तव में **चैतन्यस्वरूप अपने रागादि परिणामरूप से परिणमन किये हुए....** यहाँ वजन है। वास्तव में चैतन्यस्वरूप ऐसा आत्मा अथवा उसके स्वयं के रागादि परिणाम, चैतन्यस्वरूप रागादि परिणाम। पुण्य-पाप, काम-क्रोध, दया, दान, व्रत आदि **परिणमन किये हुए उस पूर्वोक्त आत्मा के, परिणमन किये हुए उस पूर्वोक्त आत्मा के भी...** निमित्त सिद्ध करना है। **पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादि कर्म निमित्तमात्र होते हैं।** उसे पुराना कर्म निमित्तमात्र होता है और नये (कर्म) परिणमित होने को राग-द्वेष परिणाम निमित्तमात्र होते हैं। यह बात सिद्ध करते हैं। कहो, समझ में आया इसमें ?

भावार्थ : इस जीव के रागादि विभावभाव अपने आप ही (स्वद्रव्य के आलम्बन से) नहीं होता। अब जरा ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया ? स्वभाव के आश्रय से कोई विकार नहीं होता। राग-द्वेष का भाव, पुण्य-पाप का भाव, वह कहीं स्वभाव के आश्रय से नहीं होता, क्योंकि स्वभाव में कहाँ है ? वह पर के अवलम्बन के लक्ष्य से होता है। राग-द्वेष हों, वे आत्मा के आश्रय से-स्वभाव के आश्रय से नहीं होते। किये हुए इसके, हुए इसमें, परिणमित इसमें; परन्तु वे राग-द्वेष, स्वभाव के आश्रय से नहीं होते—ऐसा अब सिद्ध करते हैं। समझ में आया ?

अपने आप ही नहीं होता। आप से ही होते नहीं, इसकी व्याख्या क्या ? पहले में तो अपने से होते हैं—ऐसा कहा था, अपना चैतन्य स्वभाव-अपने से होते हैं, परन्तु यहाँ, अपने से नहीं होते—अर्थात् क्या ? वहाँ कहा—अपने से होते हैं, वह स्वपर्याय में होते हैं। यहाँ अपने से नहीं होते अर्थात् स्व-स्वभाव के आश्रय से नहीं होते। इस प्रकार अपने से नहीं होते—इसके दो भाग / अर्थ। पहले में कहा कि राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव स्वयं से होते हैं अर्थात् पर्याय में स्व से होते हैं—यह सिद्ध किया।

अब ये पुण्य-पाप के भाव स्वयं से अर्थात् द्रव्यस्वभाव शुद्ध चैतन्य है, उसके आश्रय से नहीं होते। होते हैं अपने से, अपने में, परन्तु अपने स्वभाव के आश्रय से नहीं होते; निमित्त के अवलम्बन से होते हैं। पर का लक्ष्य करता है, अवलम्बन करता है; तब विकार होता है। स्व के लक्ष्य से कहीं विकार नहीं होता। (यदि) स्व के लक्ष्य से विकार

www.vitragvani.com

होवे तो कभी विकार का नाश न हो। स्व के लक्ष्य से तो स्वभाव होता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वह तो आनन्दमूर्ति है। उसके लक्ष्य से, उसके आश्रय से विकार कैसे हो? उसके आश्रय से तो स्वभाव होता है। समझ में आया? कठिन कितना अटपटा। अपने आप से होता है, फिर कहते हैं कि अपने से नहीं होता। अपने से होता है अर्थात् अपनी पर्याय अपने से हुई है। परन्तु वह पर्याय अपने से नहीं होती अर्थात् द्रव्यस्वभाव के लक्ष्य से नहीं होती—ऐसा इसका अर्थ है। समझ में आया?

मुमुक्षु : यह तो अपने बैठाये तब हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठाये नहीं; ऐसा है। बैठा दिया क्या हो?

दो प्रकार हुए। आत्मा अपनी पर्याय में राग–द्वेष चेतनास्वरूप विकार आप स्वयमेव करे तो होता है। यह स्वतन्त्र क्रिया से बात की। अब, दूसरी बात—उस विकार का होना अपने द्रव्यस्वभाव, शुद्धस्वभाव के आश्रय से नहीं, परन्तु पर के आश्रय से है। होता है अपने में, स्वयं करनेवाला, परन्तु उसे पर–अवलम्बन से होते हैं; स्व–अवलम्बन से नहीं होते। ऐसी बात सिद्ध की है। लो! समझ में आया?

यदि आप ही से हो तो वह भी ज्ञान–दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जाय... राग–द्वेष, पुण्य–पाप के भाव यदि अन्तरस्वभाव के आश्रय से हों, तब तो स्वभाव हो गया। जैसे ज्ञान, दर्शन, शान्ति, आनन्द यह स्वभाव है; वैसे पुण्य–पाप के भाव, स्वभाव हो जाएँ। अपने स्वभाव में से हों और स्वभाव के आश्रय से हों, तब तो स्वभाव हो गया। **ज्ञान–दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जाय और स्वभावभाव होने पर उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता।** यह बात करनी है। विकारी भाव अपने स्वभाव के आश्रय से होवे तो स्वभावपने का नाश कभी नहीं होता और इनका तो नाश करना है। राग–द्वेष तो नाश करनेयोग्य है। उत्पन्न होनेयोग्य पर्याय में स्वयं के कारण है, परन्तु नाश करनेयोग्य है। वे स्वभाव के आश्रय से हों तो स्वभाव का नाश कभी होता नहीं। समझ में आया? न्याय से बात की है, देखो! **स्वभावभाव होने पर उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता।**

तीन बातें की—एक तो आत्मा अपने से, अपनी पर्याय में मिथ्यात्वरूप या राग–

www.vitragvani.com

द्वेषरूप आप अपने से परिणमता है। एक बात। तब पुराने कर्म को निमित्त कहा जाता है, इतनी बात। बस! अब वह विकारी परिणाम जो है, वह यदि वस्तु द्रव्यस्वभाव के आश्रय से होवे तब तो वह स्वभाव हो गया और स्वभाव का नाश कभी होता नहीं; और इस विकार का तो नाश होता है। पुण्य-पाप अपने से हुए-यह ठीक, परन्तु उनका नाश होता है; इसलिए स्वभाव से हुए नहीं हैं। निमित्त के आश्रय से उपाधि हुई; स्वभाव के आश्रय से उसका नाश हो सकता है। बनियों को-व्यापारी को यह सब न्याय पकड़ना। ऐ... मोहनभाई! पकड़ना चाहिए? यह तो साधारण न्याय है।

ऐसा कहा—भाई! जो आत्मा है न? वस्तु स्वयं वस्तु, वह तो—द्रव्य तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द है। अब उसकी पर्याय में विकार होता है। यदि विकार न हो तो दुःख न हो, (तब) तो संसार न हो। तब यह संसार हुआ कहाँ से? कि स्वयं ने खड़ा किया पर्याय में; पर्याय में अपने से विकार—राग-द्वेषरूप परिणमित हुआ, इसलिए हुआ। अब तीसरी बात करते हैं कि तब विकार परिणाम हुए, वे किसके अवलम्बन से हुए? आत्मा के अवलम्बन से होते हैं? आत्मा तो शुद्ध चैतन्य द्रव्य है। वस्तु / द्रव्य है, उसके अवलम्बन से हो, तब तो स्वभाव हो और स्वभाव का तो कभी नाश होता नहीं; तो इन राग-द्वेष का होना अपने में होने पर भी, पर के अवलम्बन से होते हैं कि जिससे वह उपाधिभाव; स्व के अवलम्बन से नाश किया जा सकता है। समझ में आया? कहो, समझ में आता है या नहीं? रतिभाई!

इसलिए ये भाव औपाधिक हैं,.... लो! ऐसा सिद्ध करना है। ये पुण्य-पाप के भाव, वह उपाधिभाव हैं; स्वभावभाव बिल्कुल नहीं। स्वभावभाव नहीं, इसलिए नाश हो सकता है। स्वभावभाव होवे तो नाश नहीं हो सकता। समझ में आया? यह लेकर वह चौदहवीं गाथा में लेना है अब। **अन्य निमित्त से होते हैं....** अन्य निमित्त अर्थात् अन्य के संग से होते हैं। स्वस्वभाव के संग से विकारभाव नहीं होता, इसलिए अन्य के संग से होता है। निमित्त अर्थात् अन्य के संग से होता है।

वे निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को जानना। लो! यह निमित्त अर्थात् संग। किसका? कि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म जड़। जड़ के संग से होते हैं। उसके संग से होते हैं;

इसलिए उससे होते है—ऐसा कहा गया है। पाठ तो (ऐसा है), अन्य निमित्त से होते हैं। ऐसा तो कहा, यह तो पहले सिद्ध किया। अपने चैतन्यस्वरूप में आप ही परिणमता है। समझ में आया? तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। '**परिणममानस्य निमित्तमात्रं**' परन्तु यह परिणमन अपने स्वभाव के संग से नहीं होता; निमित्त के संग से होता है, वह निमित्त से होता है—ऐसा कहा गया है। कहो, समझ में आया? वह निमित्त तो ज्ञानावरणादि कर्म जानना। अब जरा पढ़ो, अब आया।

जिस–जिस प्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्था को प्राप्त होता है, उसी–उसी प्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है। अर्थात? कि जिस–जिस प्रकार का ज्ञानावरणी का उदय होवे तो उस प्रकार से यहाँ आत्मा अपनी ज्ञान की हीनता को अपने कारण परिणमता है। दर्शनावरणी का उदय होवे तो दर्शनावरणी (दर्शन) स्वयं हीनरूप परिणमता है। दर्शनमोह का उदय होवे तो अपने कारण से मिथ्यात्वरूप परिणमता है। चारित्र (मोहनीय) का उदय होवे तो रागरूप परिणमता है, ऐसा। **जिस–जिस प्रकार द्रव्यकर्म....** द्रव्यकर्म के आठ प्रकारों में जो–जो कर्म, जिस प्रकार से **उदयावस्था....** होता है, **उसी–उसी प्रकार....** उस–उस प्रकार के निमित्त में जीव अपने विभावरूप से परिणमता है। कहो, समझ में आया इसमें?

द्रव्यकर्म की जैसी उदय–अवस्था है, उतने ही प्रमाण में परिणमता है—ऐसा नहीं, परन्तु यहाँ ज्ञान की हीन अवस्था होवे तो ज्ञानावरणीय का उदय होवे, उस उदय के निमित्त के आधीन होकर यहाँ परिणमता है। दर्शनावरणीय का उदय होवे तो उसके आधीन होकर परिणमता है, उसके वश होकर (परिणमता) है। **जिस–जिस प्रकार....** विवाद ही यह कर्म का पहले से उठा है। निमित्तप्रधानता घुस गयी, फिर सर्वत्र निमित्त घुस गया।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वयमेव '**परिणममानस्य**' द्रव्यकर्म निमित्त है, उसका यह स्पष्टीकरण चलता है। स्वयमेव जीव, विकाररूप होते को ज्ञानावरणी आदि कर्म निमित्तरूप कहे जाते हैं। अर्थात् कि जिस–जिस प्रकार से आत्मा, विकाररूप परिणमता है, उस–उस प्रकार से सामने उस प्रकार के उदय का निमित्तपना होता है। ऐसा। समझ में आया? **जिस–जिस प्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्था रूप से परिणमित होता है....** वह–वह

www.vitragvani.com

कर्म जिस प्रकार का, **उसी–उसी प्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है।** सामने ज्ञानावरणीय का उदय होवे तो यहाँ अपने उपादान में ज्ञान के हीनरूप परिणमने का उपादान स्वयं '**परिणममानस्य**'—स्वयं परिणमता है, तब ज्ञानावरणी का उदय निमित्त कहलाता है। ऐसे दर्शन अवस्था में, दर्शन अवस्था की हीनतारूप '**परिणममानस्य**' हीनरूप '**परिणममानस्य**' उसे दर्शनमोह का उदय निमित्त है। इसलिए जिस–जिस प्रकार का कर्म है, उस–उस प्रकार की हीनता की अवस्थारूप अपने कारण यहाँ परिणमे तब, उसको (कर्म को) निमित्त कहा जाता है। समझ में आया? यह उपादान–निमित्त का झगड़ा पहले नहीं था, कहते हैं। पुण्य का विवाद नहीं था–ऐसा लिखा है।

मुमुक्षु : .....

उत्तर : अवस्था को परिणमे। कहा नहीं? यही स्पष्टीकरण किया। परिणमे। ज्ञानावरणीय का उदय जिस प्रकार है, उस प्रकार से आत्मा अपनी अवस्थारूप परिणमे। उसके उदय से कहीं दर्शन हीनरूप परिणमे? ज्ञानावरणी के उदय प्रकार में कहीं दर्शनरूप हीनपने परिणमे? ज्ञानावरणीय के उदय में ज्ञान हीनपने परिणमे है। जिस प्रकार का सामने आठ में उदय है, उस प्रकार से यहाँ अपने हीनरूप अपने कारण परिणमता है।

मुमुक्षु : जिस प्रकार का निमित्त वहाँ आया, उस प्रकार से परिणमे।

उत्तर : निमित्त वहाँ आया न! जहाँ दर्शनमोह का उदय होवे तो यहाँ कोई ज्ञान के हीनरूप परिणमे—ऐसा होता है? दर्शनमोह का उदय होवे तो यहाँ मिथ्यात्वरूप परिणमे, वह अपने स्वभाव के कारण ऐसा विपरीत करके परिणमे। आठों कर्म में आठ भेद हैं न?

उत्पाद का अपना जो स्वकाल का रागादि है, तब उसके सामने उदय का उत्पाद का वह काल; उस प्रकार के कर्म का निमित्त है, बस! उस प्रकार का। आयुष्य का उदय न होवे तो आत्मा अपनी स्थिति वहाँ रहने की योग्यतारूप परिणमता है। आयुष्य की स्थिति से उसके राग–द्वेष का उत्पन्न (होना) होवे—ऐसा है नहीं। निमित्त में ऐसा नहीं है। निमित्त तो निमित्त है, परन्तु यहाँ आयुष्य का उदय हो, और राग–द्वेष हो–ऐसा है? चारित्रमोह का उदय हो और यहाँ राग–द्वेष अपने कारण होते हैं। ऐसा इतना इन्हें सम्बन्ध है। इसके साथ सम्बन्ध है।

www.vitragvani.com

प्रश्न : पुद्गल में ऐसी कौनसी शक्ति है कि जो चैतन्य को विभावभावरूप परिणमन करवा देती है? देखो! भाषा ऐसी ली है। गोम्मटसार में है। स्वयं परिणमता है, तब दूसरे परिणमाते हैं—ऐसा कहा जाता है। यह सब विवाद है। कर्म का और जीव का जगत को विवाद है। कर्म परिणमावे... कर्म परिणमावे... (ऐसा लोग कहते हैं), परन्तु तू निर्बल है (कि) वह तुझे परिणमावे? तेरे माल वाला है; विकाररूप परिणमना भी तेरा माल है, विपरीत है, विपरीतरूप होवे तो उसे (कर्म को) निमित्त कहा जाता है। तू विपरीत न होवे तो कर्म तुझे परिणमायेगा?

यह तो समयसार में आ गया है कि भाई! जीव, विकाररूप परिणमता है, उस परिणमते हुए को दूसरा परिणमाता है या नहीं परिणमते हुए को दूसरा परिणमाता है? समझे? आत्मा, विकाररूप परिणमता है; उस परिणमते हुए को दूसरा परिणमाता है या नहीं होते (परिणमते) को परिणमाता है? या नहीं होते को परिणमाता है? नहीं होते (परिणमते) को परिणमावे, ऐसी एक द्रव्य की पर्याय दूसरे की शक्ति दे नहीं सकती। या होते को परिणमावे? तो स्वयं अपने से परिणमे तो उसे पर की अपेक्षा नहीं है। समझ में आया?

पर परिणमाता है—ऐसा यदि कहें तो इसके दो प्रश्न उठे कि भाई! आत्मा उस समय विकाररूप परिणमता है उसे दूसरा परिणमाता है या नहीं परिणमते को दूसरा परिणमाता है? तब कहे कि परिणमते को दूसरा परिणमाता है। (तो) परिणमते को दूसरे परिणमानेवाले की आवश्यकता रहती नहीं; और नहीं परिणमते को दूसरा उसे परिणमने की शक्ति दे—ऐसा बन नहीं सकता। कहो, ठीक है?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : परन्तु यह सर्वत्र लागू करना या नहीं? गाथा चलती हो, तब ठीक लगे—ऐसा कहते हैं। दूसरी गाथा चलती हो तब नहीं! इसे सर्वत्र लागू करना या नहीं?

पुद्गल में ऐसी कौनसी शक्ति है कि जो चैतन्य को विभावभावरूप परिणमन करवा देती है? स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा का डालते हैं न? देखो! ज्ञानावरणीय भी आत्मा के केवलज्ञान को नहीं परिणमने दे। अरे...! भाई! कर्म की शक्ति ऐसी है कि आत्मा, केवलज्ञानरूप नहीं परिणमता, उसे वह नहीं परिणमाता? या नहीं परिणमता, उसे वह

www.vitragvani.com

परिणमाता है ? या केवलज्ञान के हीनरूप पर्याय परिणमति है, उसे वह परिणमाता है ? हीनरूप परिणमित है, उसे पर की आवश्यकता नहीं और हीनपने नहीं परिणमता, उसे भी पर की आवश्यकता नहीं। अपना परिणमन स्वतन्त्र है। इसी तरह इस बात में भी, परिणमाता है—इसका विशेष स्पष्टीकरण अब करेंगे। समझ में आया ? इसे वास्तव में परिणमाता नहीं, परन्तु निमित्तरूप से कहा जाता है। यह स्पष्टीकरण करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६ गाथा-१३-१४ शुक्रवार, पोष कृष्ण ३, दिनांक १३.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, अमृतचन्द्राचार्य कृत, १३ वीं गाथा चलती है। क्या चलता है ? आत्मा, विकाररूप '**परिणममानस्य**' यहाँ से पूरा मूल सिद्धान्त है। आत्मा, विकाररूप परिणमता हुआ अपने चैतन्यस्वरूप विकार रागादि, उन्हें निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म का उदय कहा जाता है। आत्मा स्वयं है वह अपने में, अपने कारण से, स्वयं विकाररूप—राग-द्वेषरूप होता है। वह तो स्वयं ही परिणमता है, परन्तु निमित्त चीज़ कौन है ? — इसकी अब व्याख्या चलती है। निमित्त, पूर्व का पुद्गलकर्म का उदय है। कारण कि विकार अपने स्वभाव के लक्ष्य से नहीं होता। आत्मा में दोष होता है, वह कहीं निर्दोष गुण के लक्ष्य से नहीं होता। इसलिए दोष का निमित्त कौन है—यह बात सिद्ध करते हैं।

अब आप देखो! **जिस-जिस प्रकार द्रव्यकर्म उदयावस्था को प्राप्त होता है....** वहाँ आया है। **उसी-उसी प्रकार आत्मा विभावभावरूप परिणमन करता है।** पहला तो निमित्तपना सिद्ध करना है, हों! '**परिणममानस्य**' तो पहले से सिद्ध किया। परिणमता हुआ, विकाररूप परिणमता हुआ; उसे निमित्त कौन है ?-यह बात है। तब कहते हैं, निमित्त ऐसा है कि उसके प्रमाण में अर्थात् निमित्त के लक्ष्य से जीव, विकाररूप होवे तो उस पुद्गल ऐसी कौन सी शक्ति है ? अर्थात् निमित्त में, हों! यहाँ तो निमित्त सिद्ध करना है न ? परिणमित होनेवाला जीव, विकाररूप, दोषरूप होनेवाला आत्मा है, परन्तु उसमें निमित्त कैसा ? जिसमें वह शक्ति है कि निमित्तरूप हो—ऐसी शक्ति कैसी है ? समझ में

www.vitragvani.com

आया? उपादानरूप से तो अपना दोष अपने से होता है, यह तो उसकी शक्ति परन्तु कर्म का उदय, उसमें निमित्तपने की कैसी शक्ति है कि इसे परिणमित होने में वही निमित्त हो?

उत्तर : जिस प्रकार किसी मनुष्य के सिर पर मन्त्र पढ़ी हुई धूल डाली हो.... मन्त्रित धूल **तो उस धूल के निमित्त से....** उस धूल के निमित्त द्वारा, हों! **वह पुरुष स्वयं को भूलकर नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है।** वह निमित्त है; उपादान इसका (स्वयं का) है। समझ में आया? वह पुरुष मन्त्रित धूल के निमित्त द्वारा अपने को भूलकर अनेक प्रकार की चेष्टा करता है, उसमें वह मन्त्रित धूल उसकी निमित्त कहलाती है। **मन्त्र के निमित्त से उस धूल में ऐसी शक्ति हो जाती है....** अब धूल का निमित्तपना सिद्ध करते हैं। **मन्त्र के निमित्त से उस धूल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह बुद्धिमान पुरुष को विपरीत परिणमन करवा देती है।** ऐसे निमित्त होने की शक्ति है। बुद्धिमान मनुष्य को भी, परिणमने में स्वयं परिणमता है विकाररूप, गहलरूप; उसमें वह निमित्त की शक्ति उसे परिणमाती है-ऐसा कहा जाता है।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : हाँ, यह परिणमन तो पहले सिद्ध रखा है न! '**परिणममानस्य**' यहाँ से तो शुरु किया है। उसे सिद्ध करते हैं या इसके पाठ से उल्टा सिद्ध करते हैं? परिणमन में विकाररूप परिणमते उसे निमित्त यह है; निमित्त की तो उसमें शक्ति है। ऐसी गलरूप परिणमते या विपरीत चेष्टारूप होते, उसे धूल निमित्त है, जो मन्त्रित धूल है, वह निमित्त है, इतना यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया?

परिणमन करवा देती है। इसकी व्याख्या बाद में की, नीचे स्पष्टीकरण करना पड़ा। ***प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और भाव से है,....*** यह सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ अपना द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् चौड़ाई; काल अर्थात् वर्तमान दशा; भाव अर्थात् त्रिकाल शक्ति। प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान काल की परिणति पर्याय से है; पर की परिणति / वर्तमान के पर के काल से नहीं। कहो, समझ में आया? तथापि जीव की (शक्ति) उस प्रकार से कोई किसी को परिणमन नहीं करा सकती।

परद्रव्यादि का उसमें सदा अभाव ही है, इसलिए कोई किसी को परिणमन

www.vitragvani.com

नहीं करवा सकता,.... परद्रव्यादि का उसमें सदा ही अभाव ही है, ***उस प्रकार के परिणमन करने की योग्यता के काल में बाह्य में किस सामग्री को निमित्त बनाने में आया था, उसका ज्ञान करवाने के लिए असद्भूत व्यवहारनय से....*** कर्ता–व्यवहारकर्ता सब असत् कर्ता है वास्तव में। यह अपने प्रवचनसार में आ गया। ***कर्ता कहा जाता है।*** असद्भूतनय से परचीज दूसरे को करे—ऐसा कहने में झूठे ज्ञान से, असद्भूतनय से कहने में आता है। ***व्यवहार कथन की रीति ऐसी ही है, इस प्रकार जानना चाहिए।*** व्यवहारकथन का प्रकार ही ऐसा है।

उसी प्रकार इस आत्मा के प्रदेशों में.... आत्मा अपना शुद्धस्वरूप है, उसके असंख्य प्रदेश हैं। **रागादि के निमित्त से....** किस निमित्त से होता है, यह अब सिद्ध करते हैं। कि **रागादि के निमित्त से बँधे हुए पुद्गलों के निमित्त से....** ऐसी दो बात गुलाँट खाती है। पूर्व में जो कर्म बँधा हुआ था, उसमें राग–द्वेष का निमित्त था। जीव के राग–द्वेष का निमित्त था। इससे निमित्त से बँधा हुआ वह। वह ही फिर नये राग–द्वेष का निमित्त होता है। समझ में आया? कलश–टीका में आया था न? कलश–टीका में आया था।

यह आत्मा असंख्य प्रदेशी चौड़ा और अनन्त गुणभाव सम्पन्न (पदार्थ है)। इसे वर्तमान दशा में पुण्य–पाप के—राग–द्वेष के भाव हों, उन्हें निमित्त कौन है? कि जिस निमित्त में पूर्व में राग–द्वेष का निमित्त था, उससे बँधा हुआ कर्म; वह कर्म, राग–द्वेष के निमित्तवाला जो यहाँ कर्म था, वह कर्म इसे राग–द्वेष में निमित्त होता है। समझ में आया? **रागादि के निमित्त से बँधे हुए पुद्गलों के निमित्त से यह आत्मा स्वयं को भूलकर नाना प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है।** जीव अपने स्वरूप को भूलकर, अपने ही उपादान अर्थात् वर्तमान दशा में विकार को करता है।

इसके विभावभावों के निमित्त से, इसके विभावभावों के निमित्त से पुद्गल में ऐसी शक्ति हो जाती है... देखो! पूर्व में राग–द्वेष का विभावभाव था न? उसमें कर्म में ऐसी शक्ति हुई। **पुद्गल में ऐसी शक्ति हो जाती है कि वह चैतन्य पुरुष को विपरीत परिणमन करवा देता है।** विपरीत परिणमन करनेवाले को परिणमाता है—

www.vitragvani.com

ऐसा कहने में आता है। इन्होंने बहुत बढ़ाया (डाला) है न? हिम्मतभाई ने पंचास्तिकाय में अन्दर लेखन दूसरा किया, नीचे वापस बचाव किया। भाई! सिद्धान्त तो पहले निश्चित रखकर सर्वत्र सिद्धान्त हो सकता है या नहीं?

एक वर्तमान द्रव्य की वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में पर-अवस्था का निमित्तपना होने पर भी, उस पर की अवस्था का इसमें अभाव है। कहो, समझे इसमें? देखो! परिणमाता है (-ऐसा लिखा है)। इसका अर्थ करना होवे तो करे फिर सब इसमें से। परन्तु यहाँ पाठ क्या है? गाथा का भाव है, उसे सिद्ध करना है या उससे उलटा सिद्ध करना है? पाठ तो यह है — '**परिणममानसय चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः**' देखो न! कितने शब्द पड़े हैं! विकाररूप जीव होने पर होनेवाले को उन चैतन्यस्वरूप रागादिभाव को '**स्वयमपि स्वकैर्भावैः**' स्वयं अपने भाव से परिणमते को **भवति** निमित्तमात्र पुद्गल -कर्म, बस! उसे पूर्व का कर्म निमित्तमात्र होता है। कहो, समझ में आया इसमें? पाठ में बात होवे, उसे खोलना है या उससे कुछ विपरीत बात करना है? तब तो पाठ का वह अर्थ नहीं हुआ। पाठ तो यह है। विकाररूप जीव जब होता है, तब स्व से अपने चैतन्यरूप विकार के भाव। '**स्वकैर्भावैः**' अपने भावरूप परिणमते हुए उसे **भवति** निमित्त, उसे उस काल में निमित्त होता है। उसमें काल भेद कहाँ था? समझ में आया? '**पौद्गलिकं कर्म तस्यापि**' लो! उसे पुद्गलकर्म निमित्त होता है। कहो, समझ में आया इसमें? दूसरा दोष कराता नहीं—ऐसा कहते हैं। कराता नहीं—ऐसा कहते हैं। यदि दोष कराता होवे तो अब उपदेश कहेंगे कि कर्म के निमित्त से हुआ विकार तूने किया हुआ है; उसे तू तेरे स्वभाव में मान तो विपरीत मान्यता है, मिथ्यात्व है। यह तो अब यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया?

आत्मा में कर्म के निमित्त से होते, अशुद्ध उपादान अपना स्वतः परिणमन से; परन्तु वह मलिनभाव है। उसे सहित तू माने तो सहित मानता है तू; वहाँ कर्म का उदय मनवाता है—ऐसा नहीं आया वहाँ। समझ में आया? १४ वीं गाथा है न? देखो न! विकाररूप जीव परिणमता है, तब पूर्व का कर्म निमित्त है, इतना। अब उस निमित्त से होते उपाधिभाव को आत्मा अपने स्वभाव के साथ एकरूप मानता है, उसका नाम मिथ्यात्व और संसार है।

www.vitragvani.com

अब जब एकरूप मानना, वह भी यदि निमित्त के आधीन होवे, तब तो फिर तू एकरूप मानता है, वह तेरी भूल है, यह कहने को रहता नहीं। समझ में आया? समझ में आता है?

देखो! **इस भाँति भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता है,....** ऐसे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को जाहिर / प्रसिद्ध किया। **इसे ही संसार कहते हैं।** कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप आत्मा है। वह अपने को भूलकर, अपने में विकारभाव को करता है, उसमें पूर्व का कर्म निमित्तमात्र उपस्थित संयोगमात्र चीज़ गिनने में आती है। उस विकार का जो परिणमन होता है, वह स्वयं ने ही किया हुआ है, परन्तु तदुपरान्त अब वह विकार का परिणाम स्वयं अपने त्रिकाल स्वभाव के साथ मानता है, वही मिथ्यात्वभाव और संसार का मूलकारण है, यह अब यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? '**परिणममानस्य**' तो वहाँ सिद्ध कर दिया।

www.vitragvani.com

गाथा – १४

आगे इस संसार का मूलकारण बताते हैं जिसका नाश होने पर पुरुषार्थसिद्धि का उपाय बनता है–

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

कर्मजन्य भावों से चेतन इस प्रकार संयुक्त न हो।
अज्ञानी को एक भासते निश्चय यह भवबीज अहो।।१४।।

अन्वयार्थ : (एवं) इस प्रकार (अयं) यह आत्मा (कर्मकृतैः) कर्मकृत (भावैः) रागादि अथवा शरीरादि भावों से (असमाहितोऽपि) संयुक्त न होने पर भी (बालिशानां) अज्ञानी जीवों को (युक्तः इव) संयुक्त जैसा (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है और (सः प्रतिभासः) वह प्रतिभास ही (खलु) निश्चय से (भवबीजं) संसार का बीजरूप है।

टीका : 'स एवं अयं कर्मकृतैर्भावैः असमाहितः अपि बालिशानां युक्तः इव प्रतिभाति' – इस प्रकार यह आत्मा कर्म द्वारा किये हुए नाना प्रकार के भावों से संयुक्त नहीं है तो भी अज्ञानी जीवों को अपने अज्ञान से आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : पहले ऐसा कहा गया है कि पुद्गल कर्म का कारणभूत रागादिभाव है और रागादिभाव का कारण पुद्गलकर्म है, इसलिए यह आत्मा निजस्वभावभाव की अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकार के भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।

जिस प्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निजभाव नहीं है। स्फटिक तो स्वच्छतारूप अपने श्वेतवर्ण से ही विराजमान है। लाल रंग है वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर–ऊपर ही झलक मात्र दिखाई पड़ता है। वहाँ रत्न का पारखी जौहरी तो ऐसे ही जानता

www.vitragvani.com

है परन्तु अपारखी (अपरीक्षक) पुरुष को सत्यरूप (वास्तव में) वह स्फटिकमणि ही रक्तमणिवत् लाल रंग के स्वरूप प्रतिभासित होती है। उसी प्रकार कर्म निमित्त से आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है, वह रागादि आत्मा का निजभाव नहीं है, आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुण में विराजमान है। रागादि है वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है। वहाँ ज्ञानी स्वरूप का परीक्षक तो ऐसे ही जानता है। किन्तु अपरीक्षक (अपारखी) पुरुषों को सत्यरूप अर्थात् वास्तव में वह आत्मा पुद्गल कर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।

प्रश्न : आपने ही तो रागादिभावों को जीवकृत कहा था अब यहाँ उन्हें कर्मकृत कैसे कहते हो?

उत्तर : रागादिभाव चेतनारूप हैं अत: उनका कर्ता जीव ही है परन्तु यहाँ श्रद्धान करवाने के निमित्त मूलभूत जीव के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से रागादिभाव कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिए कर्मकृत कहा है।

जैसे किसी मनुष्य को भूत (–व्यंतर) लगा हो तो वह मनुष्य उस भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है। उन चेष्टाओं का कर्ता तो वह मनुष्य ही है परन्तु वह चेष्टायें मनुष्य का निजभाव नहीं है इसलिए उन्हें भूतकृत कहते हैं। उसी प्रकार यह जीव कर्म के निमत्त से नाना प्रकार विपरीत भावोंरूप परिणमन करता है, उन भावों का कर्ता तो जीव ही है परन्तु वह जीव के निजभाव नहीं हैं अत: उन भावों को कर्मकृत कहते हैं। अथवा कर्मकृत जो नाना प्रकार की पर्याय, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव–नारक–मनुष्य–तिर्यंचशरीर, संहनन, संस्थानादि भेद अथवा पुत्र, मित्र, मकान, धन, धान्यादि भेद – इन समस्त से शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरु के कहने से एकान्त झोपड़ी में बैठकर भैंस का ध्यान करने लगा, अपने को भैंसे के समान विशाल शरीरवाला चिन्तवन करने लगा और आकाश जितना ऊँचा सींगवाला अपने को मानकर सोचने लगा कि मैं इस झोंपड़ी से बाहर कैसे निकलूँगा। यदि वह अपने को भैंसा न माने तो मनुष्य स्वरूप तो स्वयं है ही। उसी प्रकार यह जीव मोह के निमित्त से अपने को वर्णादिक स्वरूप मानकर देवादि पर्यायों में अपनत्व मानता है। यदि न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है।

www.vitragvani.com

इस प्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिकभाव अथवा वर्णादिकभाव से सदाकाल भिन्न है। तदुक्तम् – 'वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा। भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः*।।' तो भी अज्ञानी जीवों को आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त प्रतिभासित होता है। 'खलु सः प्रतिभासः भवबीजम्।' – निश्चय से यह प्रतिभास ही संसार का बीजभूत है।

भावार्थ – जैसे समस्म वृक्षों का मूलभूत बीज है, वैसे ही अनन्त संसार का मूलकारण कर्मजनित भावों को अपना मानना है। इस प्रकार अशुद्धता का कारण बताया।।१४।।

गाथा १४ पर प्रवचन

आगे इस संसार का मूलकारण बताते हैं– १४ वीं गाथा।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

सहित तुझे भासित होता है। निमित्त इसे ऐसा भासित कराता है? भास कराता है? '**प्रतिभाति**' तुझे भासित होता है–ऐसा कहते हैं। तुझे भासित होता है कि कार्य के निमित्त के संग से हुआ मलिनभाव तुझे तेरे स्वभाव के साथ एक भासित होता है, यह तेरी भूल है, यह मिथ्यात्वभाव है, यह संसारभाव है, भटकने का भाव है। कहो, समझ में आया इसमें? '**प्रतिभाति बालिशानां**' किसे? '**बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्**' अज्ञानियों को इस अज्ञानपने के कारण; कर्म के कारण—ऐसा नहीं कहा यहाँ। ऐसे विकारी भाव, कर्म के ही कारण से होते हों तो विकारीभाव अपना मानना, वह भी कर्म के ही कारण मानता है—ऐसा होगा। समझ में आया? क्या समझ में आता है या नहीं?

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। उसमें विकारीभाव होते हैं, वे कर्म के कारण ही होते होवे, तब तो विकारीभाव को तू स्वयं स्वभाव के साथ मानता है, यह कहने का रहता नहीं। वह भी कर्म के कारण ही मानता है—ऐसा होगा। कहो, छोटा भाई! निमित्त उड़ जाता है,

* यह पुरुष (आत्मा) शुद्धनय से तो वर्णादि, रागादि, अथवा मोहादि सभी भावों से भिन्न है।

www.vitragvani.com

इसमें वास्तव में तो। इसमें निमित्त स्थापते हैं। निमित्त को स्थापकर, उसका उपाधिभाव स्थापित करना है—ऐसा स्थापित करना है। उपाधिभाव में निमित्त होता है; स्वभावभाव में निमित्त नहीं होता—यह सिद्ध करते हैं। क्या कहा?

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु है। तथापि कहते हैं कि उसमें उपाधिभाव है, वह निमित्त द्वारा हुआ; स्वभाव द्वारा नहीं—ऐसा कहकर, उस विकार को उपाधिभाव स्थापित करते हैं; और उस उपाधिभाव को, स्वभाव के साथ एक (रूप) है—ऐसा अज्ञानियों को भासित होता है–ऐसा कहा है। कर्म के कारण एक (रूप) भासित होता है—ऐसा कहा है? समझ में आया इसमें? अर्थ देखो!

'एवं' इस प्रकार 'अयं' यह आत्मा कर्मकृत.... देखो! निमित्त से हुए उपाधिभाव। पहले तो जीवकृत कहा था। कहा था या नहीं? **'जीवकृतं'** १२ वीं गाथा का पहला शब्द, **'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य'** आहा...! शास्त्र का अर्थ करने में भी विपरीतता। विपरीत पड़ा है तो उसे वापस विपरीत निकलना है। कर्मों के किये हुए का अर्थ क्या करना है? कि निमित्त के द्वारा हुए तेरे उपाधिभाव, वह वास्तविक आत्मा का स्वरूप नहीं है। समझ में आया? **रागादि अथवा शरीरादि भावों से....** देखो! दोनों लिये। **'वर्णाद्यारागाद्या'** ऐसा सिद्ध करेंगे। है न श्लोक? **'वर्णाद्यारागाद्या'** (समयसार कलश, ३७) यह श्लोक डालेंगे, दोनों डाले हैं।

यह आत्मा, कर्मों के निमित्त से हुआ आत्मा में पुण्य-पाप, काम-क्रोध आदि के उपाधिभाव (हों) और निमित्त से हुआ यह शरीरादि बाह्य वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श का प्राप्त होना। दो (बातें की हैं)। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसके त्रिकाली शुद्धस्वभाव में वह विकार नहीं है। वह विकार ऊपर-ऊपर एक क्षण में हुई उपाधि, निमित्त के आधीन हुई, आश्रय से हुई तुझमें उपाधि है। की है इसने परन्तु निमित्त के आधीन की है, स्वभाव के आधीन हुई नहीं। समझ में आया? वह निमित्त के आधीन हुई उपाधि (को) अकेले स्वभाव के साथ समाहित माने... देखो! **संयुक्त न होने पर भी....** भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्द की मूर्ति आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ऐसे आत्मा को उस उपाधिभाववाला-सहित स्वीकार करना, वह संसार और मिथ्यात्व है, बीज है—भटकने का बीज है। समझ में आया?

www.vitragvani.com

यह भी क्या कहा ? **संयुक्त न होने पर भी....** (संयुक्त) कौन मानता है ? **अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है....** वहाँ ऐसा नहीं कहा कि भाई ! कर्म के निमित्त से इसे संयुक्त / सहित प्रतिभासित होता है। दर्शनमोह के निमित्त से-निमित्त द्वारा इसे आत्मा के स्वभाव के साथ में उपाधिभाव सहित है—ऐसा मिथ्यात्व के / दर्शनमोह के कारण भासित होता है-ऐसा नहीं कहा।

मुमुक्षु : यह इसे समझ लेना चाहिए।

उत्तर : यही कहते हैं, समझ लेना चाहिए कि तुझसे हुआ उपाधिभाव, उसमें निमित्त था। उस उपाधिभाव को स्वभाव के साथ मानता है, वह भी तू मानता है; कर्म कहीं मनवाता नहीं। कर्म से वह (उपाधिभाव) हुआ नहीं और उसे सहित माने, वह कर्म मनवाता नहीं। समझ में आया ? अटपटा-अटपटा (लगे परन्तु) बहुत सरस बात ली है।

अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है.... भगवान शुद्ध स्फटिक चैतन्य जैसा; उसमें कहते हैं कि यह उपाधिभाव, स्वभाव के आधार से नहीं हुए, निमित्त के लक्ष्य से हुई उपाधि; हुई तुझमें '**परिणममानस्य**'। वे विकार के भाव, निमित्त के आधीन हुए, स्वभाव के आधीन नहीं (हुए); इससे वहाँ निमित्त-आधीन है—ऐसा कहने में आया है; और उस निमित्त के आधीन हुए मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि भाव, उपाधिभाव, क्षणिकभाव, ऊपर तैरता भाव, क्षणिक समयमात्र हुआ भाव, उसे त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा के साथ / सहित मानता है, वहीं मिथ्यात्वभाव-संसारभाव है। समझ में आया ? है या नहीं इसमें भी ? देखो न ! यह पुस्तक तो सामने रही है।

वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीजरूप है। गज़ब सिद्धान्त कहा ! समझ में आता है ? चैतन्य भगवान ज्ञानानन्द चैतन्य ज्योति, वह तो शुद्ध आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसमें, परिणमता वह आत्मा, विकार की उपाधिरूप जो राग-द्वेष, पुण्य-पापरूप होवे, उसमें निमित्त के आधीन से हुआ भाव, वह उपाधि है। किया है स्वयं ने; निमित्त पर है। यहाँ स्वभाव-आधीन नहीं, इसलिए निमित्त पर—ऐसा सिद्ध करना है; और निमित्त के आधीन क्षणिक, कृत्रिम (विकार), त्रिकाल स्वभाव में नहीं। ऐसे उत्पन्न हुए ऐसे विकारीभाव को स्वभाव के साथ में सहित है—संयुक्त है, जुड़ा हुआ है, एक है—ऐसी

मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। वह मिथ्यात्व, संसार का बीज है। कहो, शोभालालजी ! समझ में आता है या नहीं ? कितनी बात सिद्ध करते हैं !

भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्य की मूर्ति, परमानन्दस्वरूप आत्मा, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा परमानन्द शुद्ध ज्ञायकस्वरूप चैतन्य, उसकी वर्तमान दशा में उपाधि के भाव मलिन राग-द्वेष, पुण्य-पाप (होते हैं); वे स्वभाव में नहीं है, स्वभाव के आश्रय से हुए नहीं हैं, स्वभाव का लक्ष्य करके बने नहीं हैं; निमित्त का लक्ष्य करके बने हुए उपाधिभाव हैं; इसलिए निमित्त द्वारा हुए—ऐसा कहने में आया। ऐसे जो विकारीभाव पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकारी शुभाशुभभाव, वे उपाधि हैं, क्षणिक हैं, निमित्त-आधीन हुए हैं, स्वभाव में नहीं हैं। उन्हें जो कोई अपने शुद्धस्वरूप में, विकारी कृत्रिम को शुद्धस्वभाव के साथ में सहित माने, उसका नाम ही संसार का बीज और मिथ्यात्व है। आहाहा... ! कहो, मांगीरामजी !

आगंतुक भाव। घर में किसी का दागीना ले आवे पाँच हजार का... दागीना को क्या कहते हैं ? जेवर। घर की पूँजी में गिने तो ? आभूषण, घर की पूँजी, पूँजी, पूँजी... पूँजी के साथ माने कि यह भी मेरा, दस हजार मेरे हैं। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, आत्मा की पूँजी तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्द की खान है। उसमें कर्म के निमित्त के आधीन हुई उपाधि क्षणिक आगंतुक विकारीभाव है। जैसे मेहमान आया हो, वह वापस चले जानेवाला है, वह कोई वहाँ रहनेवाला नहीं है।

इसी प्रकार यह विकारीभाव, पुण्य-पाप के मलिन भाव, ये निमित्त के आधीन हुए आगंतुक (भाव), स्वभाव में नहीं है; पर्याय में उत्पन्न हुए-ऐसे भाव हैं। ऐसे विकारीभाव, कृत्रिम पुण्य-पाप के कृत्रिम आगंतुक (भाव) स्वभाव की खान में नहीं; पर्याय में निमित्त के आधीन हुई उपाधि है। उस उपाधिभाव को त्रिकाल निरुपाधि स्वभाव के साथ खतावे (माने) कि ये भी मेरे हैं; इसका अर्थ-आस्रवतत्त्व मेरे स्वभाव का है (—ऐसा मानता है।) पहले अजीवतत्त्व कहा था, अजीव के आधीन हुआ; ऐसी उपाधि का मिथ्यात्व, राग-द्वेषभाव, उसे शुद्ध चैतन्यतत्त्व-ज्ञायकतत्त्व है, उसके साथ में आस्रवतत्त्व सहित है—ऐसा स्वीकार करे, वही मिथ्यात्व और संसार है—ऐसा कहते हैं। तीनों तत्त्वों की भिन्नता कर डाली। यह ज्ञायक, आस्रव और अजीव। समझ में आया ? आहाहा !

जीवतत्त्व अर्थात् ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्य। अजीव—पुद्गलतत्त्व, यह लेना है न यहाँ? कर्म का उदय है, वह अजीवतत्त्व है। जीव अपने अन्दर ज्ञान और आनन्द से भरपूर आत्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ ही है; परन्तु उस स्वभाव के लक्ष्य को अनादि से छोड़ा है। ऐसी स्वभाव स्थिति होने पर भी, उस स्वभाव का लक्ष्य छोड़ा है; इसलिए इसका लक्ष्य अजीव की पर्याय—अजीव—पर गया है। जिस पर गया, उसे यहाँ निमित्त कहने में आया है; परन्तु गया है स्वयं के कारण। समझ में आया?

पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकारी भाव में पर के लक्ष्य में लक्ष्य गया है, इससे उत्पन्न हुआ है। अब कहते हैं—अजीव तो भिन्न है—ऐसा सिद्ध किया; उससे उत्पन्न अपनी उपाधि, उसे आधीन सिद्ध किया। अब यह आस्रव, यह अजीव जो चीज़ है, वह तो आत्मा में नहीं, वह (अजीव) निमित्त, परन्तु निमित्त के आधीन हुआ उपाधिभाव भी त्रिकाल स्वभाव में नहीं। ऐसे त्रिकाल स्वभाव में आस्रवसहितवाला आत्मा है—ऐसा मानना, वही मिथ्यात्व और संसार का बीज है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'भवबीजं' अर्थात् राग-द्वेषभाव, पुण्य-पाप के भाव, स्वभाव नहीं है; स्वभाव तो मोक्ष का बीज है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव, शुद्धस्वभाव, वह तो पूर्णानन्द की दशा हो, उसका यह आत्मा बीज है। ऐसा आत्मा ज्ञायकस्वभाव शुद्ध कन्द, जिसमें से केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगटे, उसका वह बीज है। ऐसे आत्मस्वभाव में निमित्त से उत्पन्न हुए उपाधिभाव को मिलाना (कि) 'इन सहित हूँ'—इसका अर्थ कि उनमें एकत्वबुद्धि करना, विकार के साथ एकत्वबुद्धि करना, वह ही मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? आहा... ! कहो, समझ में आता है या नहीं? मांगीरामजी ! आहा !

अभी ऐसे ती तत्त्व (लेते हैं)। एक जीवतत्त्व, जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप। एक पुद्गल तत्त्व। अभी सम्बन्ध में लेना है न? उसे लेना है न? अजीवतत्त्व। कारण कि जीव के स्वभाव के लक्ष्य से राग-द्वेष उपाधि नहीं होती। राग-द्वेष के भाव तो निमित्त के लक्ष्य से होते हैं; इसलिए अजीवतत्त्व सिद्ध किया। अब उपाधि सिद्ध करके, उसके आधीन हुई इसमें, अपने में। अब यह आस्रवतत्त्व जो उपाधिभाव है, उसे निरुपाधि स्वभाव के साथ एक मानना तो जीवतत्त्व को आस्रवतत्त्व के साथ एक मानना (हुआ), ये दो, एक हो

www.vitragvani.com

सकते नहीं। इन्हें एक मानना, इसका नाम मिथ्यात्व है। समझ में आया? अद्‌भुत कथन पद्धति गजब की है! कैसी बात की है, देखो न! १३ और १४ (गाथा)।

'**परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः**' इतने तो शब्द रखे हैं। '**भवति हि निमित्तमात्रं**' वहाँ '**भवति**' एक निमित्त, वह आस्रव। निमित्तमात्र एक पुद्‌गल है। अजीव को सिद्ध किया। इसके विकार को निमित्त भी एक चीज़ है—यह सिद्ध किया। अब तो कहते हैं भाई! उस निमित्त के आधीन हुआ मैल, उसे निर्मलानन्द भगवान के साथ संयुक्त / सहित स्वीकार कर लेने का नाम ही संसार में भटकने का मिथ्यात्व बीज है। समझ में आया? इसका अर्थ कि एक तत्त्व के साथ दूसरे तत्त्व का एकत्व मानने का नाम मिथ्यात्व है—ऐसा कहा, लो! समझ में आया या नहीं? देखो! यह १४ वीं गाथा बहुत ऊँची है, हों!

टीका : 'स एवं अयं कर्मकृतैर्भावैः असमाहितः अपि बालिशानां युक्तः इति प्रतिभाति'– समझ में आया? फिर एक टुकड़ा रहा, वह बाद में अन्त में कहेंगे। एक टुकड़ा रहा न? एक टुकड़ा बाकी रहा थोड़ा-सा। कौन? **'स खलु स प्रतिभास भवबीजम्'** यह टुकड़ा बाकी रहा, बाद में कहेंगे। यह अन्त में कहेंगे। इतने टुकड़े का पहले अर्थ करते हैं। फिर अन्त में कहेंगे। **'स खलु स प्रतिभास भवबीजम्'** यह बाद में कहेंगे, अन्तिम कहेंगे। **'स खलु स प्रतिभास भवबीजम्'** आहा! गज़ब बात! क्या कहते हैं? भाई! समझ में आता है इसमें?

इस प्रकार यह आत्मा कर्म द्वारा किये हुए.... अर्थात् निमित्त द्वारा उपाधिभाव हुआ, स्वभाव द्वारा नहीं हुआ, ऐसा। कर्म द्वारा—अजीव के आश्रय से, लक्ष्य से, आधीन होकर—उसके द्वारा किया—ऐसा कहने में आया, क्योंकि स्वभाव द्वारा नहीं हुआ। पुण्य-पाप का भाव, मलिनभाव, राग-द्वेष का भाव; स्वभाव द्वारा नहीं हुआ, इससे कर्म द्वारा किया हुआ—ऐसा कहने में आया है। **नाना प्रकार के भावों से....** अनेक प्रकार के भाव से। पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध विकल्पों का असंख्य प्रकार का जाल। मिथ्यात्व आदि सब, हों! ऐसे **भावों से संयुक्त नहीं है....** भगवान चैतन्य शुद्ध आनन्दकन्द; ऐसे उपाधिभाव से सहित नहीं है। स्वभाव में उन रहित है। आहाहा! समझ में आया?

www.vitragvani.com

शुभ-अशुभभाव या पर में सुख है—ऐसी मिथ्याभ्रान्ति... समझ में आया? या पाप का भाव, यह सब उपाधिभाव है। यह उपाधिभाव, त्रिकाल चैतन्यस्वभाव में सहित नहीं। त्रिकाल शुद्धस्वभाव, विकारसहित नहीं। ऐसे त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मद्रव्य को, विकारभावसहित नहीं उसे; सहित मानना, यह संसार में भटकने का मिथ्यात्व बीज है। कहो, रतिभाई! आहाहा! सम्प्रदाय को बेचारे को सुनने को मिलता नहीं। वह तो करो, यह करो... यह करो... मिच्छामि दुक्कडम... यह जीवया वोरविया है। देखो! क्या जीवया वोरविया। कि जिसने चैतन्य ज्ञायक अनन्त गुण सम्पन्न भाव प्राण स्वरूप प्रभु, उसे इन पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के मिथ्यात्वभावसहित मानने का नाम जीविया वोरविया है। उसने आत्मा के जीवन का नाश किया और मिथ्यात्वभाव उत्पन्न किया। नाश किया अर्थात्? पूर्ण ज्ञायक चैतन्य शुद्धस्वरूप का आदर नहीं किया, इसलिए वह है ही नहीं और यह विकारीभाववाला, वह ही मैं हूँ—(इसका नाम नाश किया) समझ में आया?

चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति, प्रकाश का पुंज और स्वच्छता का सागर—ऐसा जो स्वरूप (है), उसे ऐसे निमित्त के आधीन हुए, निमित्त द्वारा हुए, पर द्वारा हुए, दुश्मन द्वारा (हुए उपाधिभाव है।) नहीं कहते कि भाई! तुझे संग हुआ इसका। उसके द्वारा तुझे दोष लगा। किया है तो इसने। इसी प्रकार कर्म के संग द्वारा हुए 'परसंग एव' उपाधिभाव, मलिनभाव ऐसे संयुक्त मलिनभाव से निर्मलानन्द प्रभु सहित नहीं है, रहित है। आहाहा! समझ में आया?

पूरा चैतन्य शुद्ध आनन्द का गोला, ध्रुव सागर समुद्र, स्वभाव का सागर ऐसा भगवान, एक क्षण की कृत्रिम उपाधि के मैलसहित नहीं है। आहाहा! एकत्व-विभक्त। पहले एकत्व-विभक्त कहा था न? वहाँ दूसरे प्रकार से है। यहाँ इस प्रकार से कहा है। भगवान आत्मा, मलिन परिणाम से विभक्त है, एकत्व नहीं। आहाहा! ऐसा चैतन्यस्वभाव भगवान, उसे विकारसहित (मानना); विभक्त है, उसे एकत्व मानना, इसका नाम ही मिथ्यादर्शन और मिथ्यात्व है। इस संसार में भटकने का यह कारण है। कहो, जगदीशभाई! कहो, यह समझ में आता है या नहीं? कहो, समझ में आया? वाह! गज़ब बात भाई! कितनी शैली रखी है! गज़ब शक्ति! उसका पीछे काम कितना करता है! क्षयोपशमज्ञान कितना काम करता है!

www.vitragvani.com

कहते हैं, भाई! देखो! कर्म, संसार का बीज है—ऐसा नहीं कहा। कर्म, संसार का बीज है—ऐसा नहीं कहा। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न? भाई! कर्म का निदान बतायेंगे... परन्तु वह तो हेतु–निमित्त कौन है—ऐसा कहा है। संसार का बीज कर्म नहीं, तथा संसार का बीज स्वभाव नहीं। आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति, वह संसार का बीज नहीं; वह तो मोक्ष का बीज है। कर्म, संसार का बीज नहीं, वह तो जड़ है। संसार पर्याय तो विकारी है, उसका बीज जड़ नहीं होता। संसार / चौरासी में अवतार का–भटकने का बीज, निर्मलानन्दनाथ को मलिनतासहित मानना, वह संसार में भटकने का बीज है। आहाहा! यह भी... क्या कहते हैं? देखो!

तो भी अज्ञानी को.... भाषा ऐसी है, देखो! **'बालिशानां'** है न? **'बालिशानां'** अज्ञानी को **अपने अज्ञान से....** भाषा ऐसी है। **'बालिशानां प्रतिभासः'** है न? अज्ञानी को अज्ञान के कारण भासित होता है—ऐसा फिर सिद्ध करना है। **अज्ञानी को अपने अज्ञान से....** वहाँ यदि ऐसा कहना हो, तब तो फिर वहाँ ऐसा ही कहे कि यह भी वहाँ दर्शनमोह के कारण वहाँ ऐसा भास होता है। निमित्त से दोष होता हो तो यहाँ भी ऐसा कहना चाहिए कि अज्ञानी को निमित्त के कारण से—दर्शनमोह के कारण से ऐसा अशुद्धता के मलिनभाव को शुद्धता में खताता (मानता) है, सहित मानता है, उसकी मान्यता में कारण दर्शनमोह है। समझ में आया?

उपाय बतलाना है न? उल्टे पुरुषार्थ से करे, उसे सुल्टे पुरुषार्थ से टाल सके, तब पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहलाये न? इसके अधिकार में टालना न हो, करना अधिकार में न हो तो टालने का अधिकार में नहीं रहा। विकार का करना इसके अधिकार में न हो तो पर का अधिकार (हुआ तो) टालने का पर के अधिकार से हुआ। समझ में आया? भारी कठिन बात! कितनी सरलता में बात रखी है, लो!

'युक्तः इव प्रतिभाति बालिशानां' यह **'प्रतिभासः स खलु भवबीजम्'** यह आगे रखेंगे, अन्त में। अज्ञान से **अपने अज्ञान से....** अर्थात्? शुद्धस्वरूप ज्ञानानन्द की ओर लक्ष्य नहीं करता, पूर्णानन्द स्वभाव पर नहीं देखता; उसका अभाव करके विकार के परिणाम को अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण अपने में भास करता है। ये मेरे

स्वरूप में है—ऐसा भास करता है। मेरे स्वरूप में है—ऐसा भासित होता है। बस! यही भास मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? **यह आत्मा, कर्म द्वारा किये हुए नाना प्रकार के भावों से संयुक्त...** सहित, युक्त नहीं, **तो भी अज्ञानी जीवों को अपने....** शुद्धस्वरूप के अभान के कारण, मिथ्याभाव से **भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।** समझ में आया?

भावार्थ : पहले ऐसा कहा गया है कि पुद्गल कर्म का कारणभूत रागादिभाव है.... ऐसा कहा था न पहली गाथाओं में? नवीन कर्म बँधते हैं, उन्हें आत्मा के राग-द्वेष मलिनभाव, वह निमित्त है। **रागादिभाव का कारण पुद्गलकर्म है,....** पारस्परिक। जीव विकार करे, उसमें पुद्गलकर्म का निमित्त है और जो कर्म बँधते हैं, उनमें जीव के राग-द्वेष आदि भाव, वे निमित्त हैं। पारस्परिक। **इसलिए यह आत्मा निजस्वभावभाव की अपेक्षा....** देखो! इसलिए यह आत्मा निजस्वभावभाव, त्रिकाल स्वभाव शुद्धभाव की अपेक्षा से **कर्मजनित नाना प्रकार के भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।** समझ में आया?

पुद्गलकर्म को कारण, जड़ को बँधने में कारण / निमित्त राग-द्वेष (है) और राग-द्वेष (है) और राग-द्वेष को निमित्त, पुद्गलकर्म (है) दो बातें (हुई)। निमित्त के आधीन हुए कर्मजनित प्रकार के भावों से पृथक् ही चैतन्यमात्र वस्तु है। समझ में आया? क्योंकि राग-द्वेष के भाव, निमित्त के आधीन हुए और राग-द्वेष के भाव से रहित चैतन्य का स्वभाव है। निमित्त-आधीन हुए भाव, स्वभाव में नहीं है। इसलिए यह आत्मा निजस्वभावभाव की, निजस्वभाव शुद्ध आनन्द और ज्ञान (स्वरूप है), जिसमें विकल्प का अवकाश नहीं है, (उसे) ऐसे विकल्परहित स्वीकार करना... आहाहा! देखो न! कैसी शैली! अपेक्षा से कर्मजनित प्रकार या भाव जो विकल्प हैं... उसके जनित कहे थे, ऐसा कहते हैं। स्वभावभाव की अपेक्षा से कहा। निमित्त के आधीन हुए, स्वभावभाव की अपेक्षा से पर से किये हुए—ऐसा कहने में आया है। ऐसे **भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।** अकेला ज्ञानपिण्ड प्रभु चैतन्य का पुंज, वह विकार निमित्त के आधीन हुए विकार, कृत्रिम क्षणिक (होता है), उतने में वह आया नहीं; उससे अत्यन्त भिन्न ज्ञायकस्वभाव पड़ा है। समझ में आया?

www.vitragvani.com

दिगम्बर आचार्यों की कथन की पद्धति, मूल वस्तु को प्रसिद्ध करने की विधि... उसका अब अर्थकार दृष्टान्त देते हैं।

जिस प्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है.... वह अपनी स्फटिक की परिणमने की योग्यता से परिणमती है। फूल से परिणमे तो लकड़ी भी लाल रंगपने होनी चाहिए। यह लकड़ियाँ होती हैं न? यह लकड़ी रही, लो! होता है इसमें? स्फटिक होगा तो ऐसा होगा, क्योंकि उसकी अपनी योग्यता से परिणमता है। इसे ऐसे स्फटिक के नीचे रखो तो वहाँ लाल दिखेगा। इसमें नहीं (दिखेगा), क्योंकि वह स्फटिक की अपनी उसरूप परिणमित होने की योग्यता से परिणमित होता है, इसके कारण नहीं। इसके कारण होवे तो इसमें (लकड़ी में) भी दिखना चाहिए। समझ में आया? '**परिणममानस्य**' को यहाँ सिद्ध करके कहते हैं कि अपनी परिणमन करने की योग्यतावाला, वह परिणमता है। स्फटिक में भी ऐसा है।

परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निजभाव नहीं है। जो लाल रंग से परिणमति है, उस क्षण में भी उस स्फटिक के शुद्धस्वभाव का वह रूप नहीं है। **स्फटिक तो स्वच्छतारूप....** स्फटिक तो स्वच्छतारूप। जामनगर में बड़ा स्फटिक देखा था। डॉक्टर ने बताया था। वह 'प्राणजीवन' डॉक्टर है न? (संवत्) १९९१ में बताया था। यह समयसार की १०० वीं गाथा चलती थी न? वहाँ सम्प्रदाय में। बताया था इतना बड़ा स्फटिक। बड़ा डॉक्टर है। छह लाख की एक सोलिरियम है। जामनगर में एक छह लाख की मशीन है। वह उस समय के छह लाख की मशीन है। वह उस समय के छह लाख की, हों! अभी तो बहुत बढ़ गये। सूरज की मशीन। रोगी को सूर्य की किरणें देते हैं। पूरी मशीन फिराये, बड़ी छह लाख की एक मशीन। मुझे डॉक्टर ने बताया था। वह स्फटिक देखो तो श्वेत, सफेद... सफेद। समझ में आया? यह सूरज का दृष्टान्त दिया। क्या कहते हैं?

जिस प्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक.... निमित्त, हों! उपादान स्वयं का। **स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निजभाव नहीं है।** निज स्वभाव नहीं। **स्फटिक तो स्वच्छतारूप अपने श्वेतवर्ण से ही विराजमान है।** भाषा देखो! स्फटिक तो अपने स्वच्छतारूप अपने श्वेत वर्ण से टिक

www.vitragvani.com

रहा है। बिराजमान अर्थात् शोभ रहा है। **लाल रंग है, वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना....** यह जो लाल रंग है, वह स्वरूप में प्रवेश (किये बिना) स्फटिक में अन्दर पड़े बिना **ऊपर-ऊपर ही झलक मात्र दिखाई पड़ता है।** ऊपर-ऊपर झलक... झलक... झलक... लाल-लाल ऊपर झलक दिखती है। झलक समझते हो? क्या कहते हैं? झलक कहते हैं? कपड़ा होवे न? हरा कपड़ा, हरे रंग का हो। फिर सहज ऐसे प्रकाश में रखे तो झलक लगे। कपड़ा होता है न? लाल हो, हरे रंग का हो। बढ़िया साबुन से धोकर साफ किया हो। ऐसे तो सफेद लगे। दरवाजे में प्रकाश में रखे तो झलक लगे। यह कपड़ा पहले हरा था। झलक फेर।

इसी प्रकार सफेद-स्वच्छ भगवान। यहाँ तो आत्मा के साथ मिलायेंगे, हों! वह तो रंग की स्वच्छता है, अपने स्वभाव के रंग की, उसमें लाल रंग की तो झलकमात्र है। **वहाँ रत्न का पारखी जौहरी....** उस रत्न का पारखी, पारखी-परीक्षक जवेरी तो **ऐसे ही जानता है....** एक बात, बस इतनी। वहाँ **रत्न का पारखी जौहरी तो ऐसे ही जानता है....** क्या ऐसा ही जानता है? कि स्फटिक तो स्फटिक स्वच्छ ही है, यह तो ऊपर की झलक है, वह इसमें प्रविष्ट नहीं हुई है। समझ में आया?

और अपारखी (अपरीक्षक) पुरुष को सत्यरूप वह स्फटिकमणि ही रक्तमणिवत्.... वास्तव में ही लालमणि है, वास्तव में ही लालमणि है-ऐसे **लाल रंग के स्वरूप प्रतिभासित होती है।** सत्‌रूप जो लालमणि की तरह लालरंगरूप ही प्रतिभासित होती है। समझ में आया? अपरीक्षक पुरुष को सत्यरूप जो लालमणि की तरह लालरंगरूप लाल (भासित होती है)। लालमणि की तरह पूरा लालरूप ही लगता है। है तो वह (स्फटिक) स्वच्छ, परन्तु पूरी लालमणि हो, ऐसा इसे भासित होता है। अपरीक्षक है। यह दृष्टान्त (हुआ)।

उसी प्रकार कर्म निमित्त से आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है,.... कर्म के संग से, स्वच्छ ऐसा भगवान आत्मा है, तथापि कर्म के लक्ष्य से, आश्रय से पुण्य-पाप के विकारीभावरूप होता है। वे रागादि, आत्मा के निजभाव नहीं हैं। आहाहा! शुभ-अशुभराग, शुभ-अशुभ-विकल्प, वह आत्मा का भाव नहीं है, त्रिकाली-भाव नहीं है,

www.vitragvani.com

स्वभावभाव नहीं है। **आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुण में बिराजमान है। आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप....** देखो! स्वच्छतारूप चैतन्यगुण, स्वच्छतारूप चैतन्यगुण, ज्ञायक गुण—इसमें आत्मा बिराजमान है। आत्मा तो चैतन्यगुण में बिराजमान है।

रागादि है, वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना.... पहले का लाल रंग प्रविष्ट हुए बिना। इसी प्रकार पुण्य और पाप के भाव अन्तर शुद्धस्वरूप में प्रविष्ट हुए बिना **ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है।** आहाहा! शुभ-अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध आदि शुभाशुभराग, वे चैतन्य के शुद्धस्वरूप में प्रविष्ट नहीं। वे तो ऊपर-ऊपर झलकमात्र विकार दिखता है। इसके दृष्टान्त से तो बात की है, अब इसमें न समझ में आये, ऐसी कोई बात नहीं है। आहाहा!

ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है। वहाँ.... अब ऊपर-ऊपर झलक मात्र दिखती है। चैतन्यस्वभाव बिराजमान शुद्ध है। अब **वहाँ ज्ञानी स्वरूप का परीक्षक तो....** धर्मी-स्वरूप के परीक्षक तो **ऐसे ही जानता है।** ऐसा ही जानते हैं अर्थात् शुद्ध स्वरूप स्वच्छता से बिराजमान भगवान है। विकारभाव तो ऊपर झलकमात्र है। इसके शुद्धस्वरूप में उसकी एकता हुई नहीं है। समझ में आया? रागादि निजभाव नहीं, चैतन्यगुण बिराजमान है। वह रागादि, स्वरूप में प्रविष्ट हुए बिना ऊपर झलकमात्र है—ऐसा ज्ञानी-स्वरूप के परीक्षक ऐसा जानते हैं। ऊपर जो कहा—ऐसा ही जानते हैं। आहाहा! यहाँ तो अभी शुभराग से आत्मा का कल्याण होता है, शुभराग से समकित होता है, क्षायिक समकित... नहीं तो क्षायिक समकित आगे कहाँ जायेगा? क्षपकश्रेणी चढ़ेगा... क्योंकि नीचे शुद्ध-उपयोग नहीं (-ऐसा अज्ञानी कहते हैं।) आहा...! यहाँ तो शुभराग झलकमात्र पर की है, ज्ञानी शुद्ध चैतन्यस्वभाव से बिराजमान, उसे चैतन्य जानते हैं। इस राग को तो पर जानते हैं, उसमें (स्वभाव में) एकमेक नहीं जानते। आहाहा! समझ में आया?

किन्तु अपरीक्षक (अपारखी) जीवों को.... अज्ञानी जीवों को **सत्यरूप आत्मा....** देखो! **सत्यरूप आत्मा पुद्गलकर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।** पुद्गलकर्म की तरह रागादि-स्वरूप ही प्रतिभासता है। अज्ञानी को तो रागस्वरूप

www.vitragvani.com

ही आत्मा भासता है। **सत्य स्वरूप आत्मा पुद्गलकर्मवत् रागादि....** वे तो पुद्गलकर्म जैसे हैं, वैसा आत्मा इसे भासता है। **पुद्गलकर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।** पुद्गलकर्म है न? ऐसा ही मानो आत्मा है। राग-द्वेषवाला आत्मा—ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। कहो, समझ में आया?

लालमणि कहा था न? दृष्टान्त में तो लालमणि ली थी न? दूसरी लालमणि ली थी न? वह तो स्वच्छ ही थी परन्तु दूसरी लालमणि ली थी न? लालमणि की भाँति—ऐसा कहा था न इसमें? ऐसे लालमणि की तरह, यह पुद्गलकर्म की तरह। समझ में आया? पुद्गलकर्म का ही यह कार्य—ऐसा न मानकर, उस पुद्गलकर्मस्वरूप ही आत्मा है, ऐसा ही वह मानता है। पुद्गलकर्म से हुआ विकार, उसीस्वरूप मैं हूँ, उसीस्वरूप मैं हूँ। समझ में आया? इसलिए अब प्रश्न हुआ।

स्फटिक में लाल रंग, वह पर के निमित्त की उपाधि क्षणिक ऊपर झलकती है; स्फटिक तो स्वच्छतामात्र बिराजमान शोभित भिन्न है। अपरीक्षक को तो उस लाल-रंग स्वरूप-लालमणि रंगस्वरूप पूरा स्फटिक भासित होता है। परीक्षक को स्वच्छता से भिन्न लाल रंग है—ऐसा भिन्न भासित होता है।

इसी प्रकार अज्ञानी को आत्मा का स्वच्छभाव भासित न होकर, कर्म के निमित्त से होनेवाला उपाधिभाव, उस कर्मरूप ही आत्मा को भासित होता है। उस कर्मरूप अर्थात् विकाररूप ही आत्मा भासित होता है। परीक्षक को, उसकी ऊपर झलक रहती है; स्वरूप में प्रविष्ठ नहीं, शुद्ध स्वच्छमान चैतन्य में वह राग स्पर्शित ही नहीं—ऐसा परीक्षक अर्थात् ज्ञानी को भिन्न भासित होता है।

तब यह प्रश्न हुआ कि महाराज! **आपने ही तो रागादिभावों को जीवकृत कहा था; अब यहाँ उन्हें कर्मकृत कैसे कहते हो?** पहले तुमने १२ वीं (गाथा में) जीवकृत कहा; और यहाँ कर्मकृत कहा। समझ में आया? आया था न? १२ वीं में जीवकृत कहा और १४ गाथा में कर्मकृत कहा। अभी एक गाथा गयी (है), वहाँ क्या हुआ तुम्हारा यह? इसकी व्याख्या करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रवचन नं. १७ गाथा–१४–१५ शनिवार, पौष शुक्ल ४, दिनांक १४.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय', गाथा–१४, अन्तिम लाईन। १९ वें पृष्ठ पर (है)। इस गाथा में ऐसा कहा गया है कि जीव में कर्म से किये हुए राग–द्वेष, पुण्य–पाप के भाव, उनसे आत्मा का स्वरूप सहित नहीं है; तथापि उनसे सहित मानना, यही मिथ्यात्वभाव अनन्त संसार का बीज है। कहो, समझ में आया? तब शिष्य को प्रश्न हुआ। **आपने ही तो रागादिभावों को जीवकृत कहा था....** १२ वीं गाथा में तो। अन्तिम लाईन, १९ वाँ पृष्ठ। तुमने ही राग–द्वेष, पुण्य–पाप के भाव, दया, दान के भाव, जो शुभ–अशुभभाव—उन्हें जीवकृत कहा था; फिर उन्हें कर्मकृत किस प्रकार कहते हो? कहो, समझ में आया इसमें?

१२ वीं गाथा में ऐसा कहा था कि आत्मा चैतन्यस्वरूप ऐसे रागादि विकार—पुण्य–पाप के भाव को करता है। उसमें पूर्व का कर्म तो निमित्तमात्र है, निमित्तमात्र है। जो स्वयं ही पुण्य–पाप के भाव, वह सब विकारी (भाव) चैतन्यस्वरूप है—ऐसा कहा था, उस विकार के भाव को जीव करता है—ऐसा कहा। यहाँ कहा कि कर्म से किये गये विकारी भाव (–ऐसा) कहा। दोनों का मेल किस प्रकार है यह? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

उसका **उत्तर : रागादिभाव चेतनारूप हैं....** वहाँ यही कहा था। 'चित्तचिदात्मक' चेतनास्वरूप रागादि परिणाम, १२ वीं गाथा में कहा था। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा आदि का जो शुभराग और अशुभराग है, वह है तो स्वयं चेतनास्वरूप। चेतना की वर्तमान पर्याय में है; वह कहीं जड़ में नहीं है। शुभ–अशुभराग, पुण्य–पाप के भाव, वे चेतनारूप हैं; इसलिए उनका कर्ता जीव ही है। परिणमनेवाला, होनेवाला, विकाररूप कर्ता तो जीव ही है। कहीं कर्म कर्ता नहीं है। विकारी परिणाम का कर्म कर्ता नहीं है; कर्ता तो जीव है।

परन्तु यहाँ श्रद्धान करवाने के... अर्थात् अजीव से चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव तो भिन्न है, परन्तु कर्म के लक्ष्य से पुण्य–पाप का भाव / उपाधिभाव हुआ, उससे भी चैतन्यस्वरूप उस आस्रवतत्त्व से भिन्न तत्त्व है। समझ में आया? ये पुण्य और पाप के भाव जो आस्रवभाव हैं, उनसे आत्मस्वरूप भिन्न है। ऐसी **श्रद्धान करवाने के लिये मूलभूत जीव के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से...** देखो! थे तो रागादि इसके किये हुए परिणाम,

www.vitragvani.com

परन्तु वह मूलभूत स्वभाव नहीं। समझ में आया ? मूलभूत जीव के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से—भगवान आत्मा का शाश्वत्-असली-टिकाऊ नित्य शुद्ध चैतन्यभाव—ऐसे शुद्ध चैतन्यभाव स्वभाव की अपेक्षा से, ये पुण्य-पाप के भावकर्म के निमित्त से होते हैं; ये कोई स्वभाव के आश्रय से नहीं होते, स्वभाव नहीं है। समझ में आया ?

चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव, उसमें ये पुण्य-पाप के भाव / विकल्प नहीं है तथा उसके लक्ष्य से नहीं होते; इसलिए जीव में पुण्य-पाप के भाव उसके रूप अवस्था में कर्ता होकर परिणमता है, तथापि वे उपाधिभाव हैं, इस जीव स्वरूप की शुद्धता में वे नहीं है। ऐसे शुद्धस्वभाव की श्रद्धा कराने को, उससे रहित है—ऐसा कहा गया है। कहो, समझ में आया ? ये रागादिभाव कर्म के निमित्त से होते हैं, पर के लक्ष्य से (हुई) उपाधि, कृत्रिम उपाधि है। चैतन्य का मूलस्वभाव अनादि ज्ञान और आनन्द और समरसी भाव है; उसमें ये पुण्य-पाप के भाव निमित्त के आधीन हुए कृत्रिम क्षणिक मलिनभाव है; ये शुद्धस्वभाव में नहीं है। उस शुद्धस्वभाव की श्रद्धा कराने को, उनसे सहित माने तो वह मिथ्यात्व है; उनसे रहित माने, वह सम्यग्दर्शन है। समझ में आया ? कहो, यह तो समझ में आये ऐसा है। इन लड़कों को, हों! ध्यान रखने के लिये कहते हैं। न समझ में आये तो ये ध्यान न रखे। कहो, समझ में आया इसमें ?

यह आत्मा है न ? यह आत्मा जो है, वह तो शुद्धचैतन्य ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है। आत्मा वस्तु-पदार्थ—त्रिकाल पदार्थ है, वह तो ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, शान्तस्वरूप, वीतरागस्वरूप, स्वच्छतास्वरूप ऐसे शुद्धस्वभाव का सत्व, स्वभाव का सत्व—उसका यह तत्त्व, आत्मा यह आत्मतत्त्व है। उसमें जो पुण्य-पाप के भाव, राग और द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव होते हैं, वे सब विकारीभाव हैं। वे विकारीभाव, त्रिकाली शुद्ध स्वभावरूप आत्मा में नहीं हैं और उसके आश्रय से हुए नहीं हैं। कर्ता जीव है, परन्तु उसके आत्मा के आश्रय से हुए नहीं हैं; इसलिए वे कर्म के लक्ष्य से हुई कृत्रिम मलिन की उपाधि है। इसलिए शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से ये दया, दान, व्रत, पुण्य-पाप के भाव, ये परभाव हैं। समझ में आया ? उस स्वभावभाव की श्रद्धा कराने को, शुभाशुभभाव परभाव है, उनसे आत्मा सहित नहीं है (-ऐसा कहते हैं।) समझ में आया ?

यह मुद्दे की रकम की बात चलती है। समझ में आया इसमें ? मूल रकम आत्मा

की ज्ञान, आनन्द और शान्ति आत्मा की मूल रकम है। कहो, यह तो समझ में आता है या नहीं? और आत्मा में जो कुछ शुभ और अशुभभाव होते हैं, वे उसकी मूल रकम नहीं है। उसके मूलस्वभाव में नहीं है और उसके अन्तर स्वभाव में शुद्धता है; इसलिए उसके लक्ष्य से यह विकार नहीं होता। इसलिए मूल चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु जो आत्मा (है), उसमें कर्म के निमित्त से होनेवाला पुण्य-पाप का भाव, वह विभाव-वह परभाव; वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। ऐसे परभाव को त्रिकाली स्वभाव के साथ मानना कि ये भाव मेरे हैं, इसका नाम ही अनन्त संसार का मिथ्यात्वरूपी बीज है। आहाहा! समझ में आया?

कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिए कर्मकृत कहा है। अब इसका दृष्टान्त देते हैं। बहुत सादी बात है और बहुत सत्य बात है। समझ में आया? तेरी भूल इतनी... 'श्रीमद्' का एक वाक्य है कि परभाव को अपना मानना और अपने को भूल जाना-इतना एक वाक्य है। वह यह है। पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम, वह शुभ है। हिंसा, झूठ, चोरी का अशुभ है। ये दोनों परभाव हैं। इस परभाव को त्रिकाली स्वभाव में मानना और अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव को भूल जाना—यही महामिथ्यात्व—संसार का बीज है। कहो, समझ में आया इसमें? इसका दृष्टान्त देते हैं।

जैसे किसी मनुष्य को भूत (-व्यंतर) लगा हो.... एक बात। एक मनुष्य को भूत लगा हो। **तो वह मनुष्य उस भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करता है।** उसमें अनेक प्रकार की चेष्टा करे, भूत के निमित्त से। भूत निमित्त है, चेष्टा होती है इसमें। **विपरीत चेष्टायें करता है। उन चेष्टाओं का कर्ता तो वह मनुष्य ही है....** भूत का निमित्त है, परन्तु चेष्टा का कर्ता तो मनुष्य ही है। समझ में आया?

मुमुक्षु : एकमेक न?

उत्तर : एकमेक कब था? भिन्न-भिन्न है। यह तो बताते हैं। परन्तु उसकी चेष्टा तो स्वयं करता है। भूत का निमित्त है, चेष्टा स्वयं करता है। निमित्त है वह लगा। निमित्त है—ऐसा कहा। चेष्टा द्वारा ऐसे सिर धुने और ऐसा करे और ऐसा करे। वह चेष्टा तो यह स्वयं करता है।

मनुष्य ही है परन्तु वह चेष्टायें मनुष्य का निजभाव नहीं है.... मनुष्य का

www.vitragvani.com

निजभाव नहीं है। निजभाव होवे तो सदा रहना चाहिए, वह तो होता नहीं। यदि चेष्टा निजभाव होवे—भूत के निमित्त की चेष्टा स्थायी इस मनुष्य में होवे तो भूत न हो, तब भी वह होनी चाहिए। समझ में आया? परन्तु भूत के प्रसंग में वह आया, तब उसमें वह चेष्टा और पागलपन आदि की, धुनने की चेष्टा होती है। उस चेष्टा का करनेवाला तो वह यह मनुष्य ही है। उस चेष्टा का करनेवाला वास्तव में भूत नहीं है। समझ में आया? वह चेष्टा मनुष्य का निजभाव नहीं है। निजभाव होवे तब तो सदा रहना चाहिए। वह तो कृत्रिम-भूत के समय ही होती है। होती है इसमें, करता है यह; परन्तु भूत के समय होती है। इसके अलावा नहीं होती। देखो! यह दृष्टान्त है।

इसलिए उन्हें भूतकृत कहते हैं। इसलिए चेष्टाओं को भूतकृत कहते हैं। परिणमन तो इसका है, परन्तु उसे इस अपेक्षा से भूतकृत कहा जाता है। कायम का भाव नहीं है, कायमी इसका स्वरूप नहीं है और भूत के समय होता है; इसलिए उसे भूत चेष्टा का करनेवाला भूत कहा जाता है। देखो! न्याय देखो! समझ में आया?

उसी प्रकार यह जीव.... यह तो दृष्टान्त हुआ। उसी प्रकार यह जीव, अर्थात् मनुष्य की उपमा इसे हुई, मनुष्य की। **कर्म के निमित्त से....** पहले को भूत का निमित्त था। यह कर्म एक भूतड़ा, इसके **निमित्त से नाना प्रकार विपरीत भावोंरूप....** उसमें नाना प्रकार की विपरीत चेष्टा थी। यहाँ अनेक प्रकार के विपरीत भाव—पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध—ये सब विपरीतभाव। भूत के काल में की हुई मनुष्य की चेष्टायें, तथापि उन्हें भूतकृत कहते हैं, क्योंकि उतने काल में—उस प्रसंग में होती है इसलिए। वैसे ही जीव, कर्म के निमित्त से उस प्रसंग में उसे रागादि विपरीतभाव परिणमते हैं। जीव स्वयं ही राग-द्वेष और पुण्य-पापरूप अनेक विपरीतभाव (रूप परिणमता है)। विपरीत अर्थात्? शुद्ध स्वभाव चैतन्य का वीतरागी समरसी स्वरूप, उससे विपरीतभाव। शुभ और अशुभ, ये पुण्य और पाप—इन सब अनेक प्रकार के विपरीत भावोंरूप से (परिणमता है)। उसमें विपरीत चेष्टा थी, इसमें विपरीतभाव है।

किससे विपरीत है? स्थायी रहा हुआ भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्द समरसी स्वरूप शाश्वत् है उसका। उसमें कर्म के निमित्त से उस काल में विपरीतभावरूप से

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

परिणमता है; उस विपरीतभाव का कर्ता तो जीव ही है। देखो! **उन भावों का कर्ता तो जीव ही है....** जैसे उस चेष्टा का कर्ता जीव (–मनुष्य) है, वैसे आत्मा में शुभ और अशुभभाव, पुण्य–पाप के भाव (होते हैं)। जो त्रिकाल शुद्धस्वभाव, पवित्रभाव, उससे विपरीतभाव है। पुण्य–पाप के भाव (विपरीत भाव हैं)। ओहो! कितनी स्पष्टता है! ये दया, दान, व्रत परिणाम ये शुभ हैं। अब उन्हें आत्मा मानना और उनसे समकित होता है—ऐसा मानना! गज़ब बात की है या नहीं? अरे! भगवान! क्या करता है? सुलटा होकर उतरे तो तीर्थंकर होवे; उल्टा होकर उतरे तो तेतर गोत्र बाँधे या निगोद में जाए। ऐसा है यह। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं—भगवान का—आत्मा का स्वभाव... मनुष्य का स्वभाव तो भूतकृत के समय ही वह चेष्टा दिखती है, वह स्थायी स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार जीव का स्थायी स्वभाव, ये पुण्य–पाप और विपरीत भाव, वह स्थायी स्वभाव नहीं है। समझ में आया? ज्ञान, दर्शन, आनन्द शुद्धस्वभाव, वह स्थायी स्वभाव है। उसमें कर्म के निमित्त के प्रसंग के काल में ही उसमें शुद्धस्वभाव, उन विपरीतभाव, पुण्य–पाप के भाव, उनरूप जीव स्वयं होता है, स्वयं परिणमता है। इसलिए उसे शुभाशुभभाव का आत्मा ही कर्ता कहते हैं। अथवा... कहो, समझ में आया?

परन्तु वह जीव के निजभाव नहीं हैं.... देखो! है न? वह जीव का निजभाव नहीं है। निजभाव होवे तो सदा रहे। चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का निजभाव तो ज्ञान, शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, शुद्धता, पवित्रता—ऐसा जिसका स्थायी भाव है, वैसा यह कृत्रिम क्षण में कर्म के प्रसंग में हुआ शुभ और अशुभभाव, यह स्थायी भाव नहीं है; इसलिए यह निजभाव नहीं है। कहो, समझ में आया? **अतः उन भावों को....** स्थायी नहीं, इसलिए इन भावों को... जीव के किये हुए होने पर भी, उस–उस प्रसंग में होते हैं, इसलिए उन्हें **कर्मकृत कहते हैं।** आहाहा! कहो, समझ में आया?

यह घर में लड़का ऐसा हुआ हो और स्त्री ऐसी आवे और फिर वश हो जाए न, तो उसकी माँ को भी गिने नहीं। फिर उसकी माँ कहती है—भाई! तू तो सब बहुत था परन्तु यह आयी तब से तेरे भाव सब बिगड़ गये, दरकार करता नहीं। कहते हैं या नहीं? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पर का हो गया, पर का जनकर आयी, वहाँ पर का हो गया तू,

यह क्या हुआ तुझे ? समझ में आया ? ऐसा कहते हैं, हों ! घर में। सुनते हैं यह। ऐ... रतिभाई ! समझे न ?

एक व्यक्ति ने कहा था, हों ! उसकी बहू थी। वह बहू सेवा नहीं करे। थी जरा ऐसी प्रकृति की। उसको कहो—यह मेरी माँ है, मेरी जनेता है। तू तो पर की जनी आयी है, परन्तु यह मेरी माँ है। चाहे जिस प्रकार हो तो मेरे तो इसकी सेवा करनी चाहिए। मेरे सेवा किये बिना चले नहीं। उसकी बहू को कहे, हों ! तुझे कदाचित् पसन्द न हो, क्योंकि प्रकृति वैसी लगे, परन्तु मेरी तो जननी है, हों ! मैं नव महीने इसके गर्भ में रहा हूँ। तू इसकी जनेता नहीं, तू पर की कहीं से पैदा होकर आकर खड़ी है यहाँ अभी। इसलिए तुझे इसके प्रति प्रेम नहीं आवे, परन्तु मुझे तो (आता है)। मेरी तो माँ है। बावली होगी-पागल होगी तो भी मैं तो इसकी सेवा करूँगा। कभी लड़का ऐसा हो जाए (तो) किसी समय मारे भी, तुझे क्या हो गया ? अभी तक तू मेरी अनुकूलता था, यह पर की जनी आयाी वहाँ बदल गया, पर का हो गया ? रतिभाई ! ऐसा है यह।

इसी तरह (यहाँ) कहते हैं, भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है न प्रभु ! आनन्द और ज्ञान की मूर्ति अनादि-अनन्त है। उसमें कर्म का लक्ष्य होकर तुझमें विकार हुए, वे परभाव हुए; वे तेरे हो गये ? तुझे क्या हुआ यह ? समझ में आया ? हैं किये हुए तेरे, परन्तु वे उसके प्रसंग से हुए उपाधिभाव तेरे स्वभाव में है नहीं। वे उस काल के कृत्रिम हैं, इसलिए उन्हें कर्मकृत कहने में आता है। हैं तो तेरे, तुझसे हुए हैं, परन्तु उन्हें 'पर की जनी आयी तब से तू बिगड़ा'—ऐसा कहते हैं न ? परन्तु बिगड़ा है तो यह न ? पर की जनी के कारण—उसके कारण बिगड़ा नहीं, परन्तु ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? एक बात। यह विकारी परिणाम की बात की। यह विकारी परिणाम का दृष्टान्त कहा।

भगवान आत्मा चैतन्य—ऐसा चैतन्यबिम्ब ज्ञायकस्वरूप है। उसमें यह वर्तमान कृत्रिम कर्मकृत के भाव, जीव के किये हुए, तथापि कर्म निमित्त के किये हुए क्षणिक की अपेक्षा से कहकर, वह निजभाव नहीं; इसलिए उन्हें परभाव कहा और ऐसे परभाव को अपने आत्मा में माने, उसे मिथ्यादृष्टि संसार का बीज कहते हैं। आहाहा ! कहो, माँगीरामजी ! यह दया का भाव, इसे आत्मा के स्वभाव में अपना माने तो कहते हैं कि मिथ्यात्वभाव है।

www.vitragvani.com

अरे! अरे! चिल्ला उठे न! दया (का) भाव मिथ्यात्व नहीं, हों! रागभाव है, उसे अपने स्वभाव में मानना, मेरा मानना—इसका नाम मिथ्यात्व / संसार का भाव है। आहाहा! समझ में आया? चिल्लाते हैं अभी के कितने ही पण्डित।

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा फरमाते हैं, वीतराग परमेश्वर हैं। भाई! मनुष्य की चेष्टायें, भूत के लगने से हुई, (वह) चेष्टा तो इसकी है, परन्तु उस क्षण का भाव त्रिकाल का, उसका नहीं, इसलिए उसे मनुष्यकृत चेष्टा होने पर भी, भूतकृत कहने में आता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव स्थायी ज्ञान और आनन्द है। उसे कर्ता में विकाररूप परिणमता है, कर्म के संग में; उस परिणमन का कर्ता तो वह जीव है परन्तु उस क्षण के प्रसंग से उसमें परिणमा, इसलिए उसे कर्मकृत कहकर, परभाव कहकर, (उसे) आत्मा में जुड़ान न कराने को यह बात की जाती है। समझ में आया? ओहोहो! शुभभावसहित आत्मा मानना, कहते हैं कि वह मिथ्यात्व है—ऐसा कहते हैं यहाँ। शुभभाव या अशुभभाव, वह जीवस्वभाव में असमाहित (अर्थात्) नहीं है। नहीं है, तो भी उसे मानना, यही भवबीज है, यही प्रतिभास—ऐसा जो भास, वह भव का बीज है। समझ में आया?

दूसरी, अब स्थूल की बात करते हैं। **कर्मकृत जो नाना प्रकार की पर्याय,....** देवादि पर्यायें—गति आदि की; कर्म से हुई देवगति आदि। देवगति, मनुष्यगति आदि। **वर्ण,....** यह शरीरादि के वर्ण, **गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म,....** लो! ये कर्म सब पर। ये **देव–नारक....** कर्म ने किया हुआ। कर्म सब वापस कर्म हुआ न? देव अथवा कार्य सब बाहर के। **देव–नारक–मनुष्य–तिर्यंचशरीर,....** पर्याय में साधारण गति आदि लेना। **देव–नारक–मनुष्य–तिर्यंचशरीर,....** ये सब कर्मकृत हैं; आत्मा का स्वरूप नहीं, आत्मा ने किये हुए नहीं। वे विकारी परिणाम तो आत्मा ने किये थे। समझ में आया? विकारी परिणाम तो आत्मा ने किये थे, परन्तु कर्मकृत कहकर, स्वभाव के साथ उनका जुड़ान छुड़ाने को (कहा) कि भाई! तेरे चैतन्यस्वरूप के साथ उन भावों को जोड़ना नहीं। वे विकारीभाव / मलिनभाव (उन्हें) निर्मलभाव के साथ जोड़ना, सहित मानना, वह मिथ्यात्व है। इसलिए उनके भाव रहित आत्मा के स्वरूप को मानना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और मोक्ष का बीज है। आहाहा! यह श्रद्धा का मूल्य देखो! समझ में आया?

www.vitragvani.com

शुभ-अशुभभाव की हुई पर्याय (इसकी), तथापि त्रिकाली निजभाव नहीं, इसलिए उसे वर्तमान पर्याय के अंश को त्रिकाल के साथ मिलाने का नाम मिथ्यात्व-संसार का बीज है और उस विकार के परिणाम को—शुभ-अशुभ को त्रिकाल स्वभाव में न जोड़ना, अकेले ज्ञायकस्वभाव को अन्तर में लक्ष्य में लेना; राग के अवलम्बन बिना, राग के आश्रय बिना, राग की मदद बिना अकेले चैतन्य शुद्धस्वभाव का अन्तर आश्रय लेना, इसका नाम मोक्ष का बीज—इसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। समझ में आया? ये तो बाहर की पर्याय है, हों! यह आत्मा ने की हुई नहीं है। आहा! **अथवा कर्मकृत....** ऐसा। उस कर्म से निमित्त होकर आयी हुई ये चीजें—गति, रंग, गन्ध, रस, स्पर्श। कहो, कर्म, बाहर के कार्य, देव, नारकी, यह शरीर का संहनन। यह संहनन मेरी मजबूताई है, शरीर की मजबूताई मेरी है, यह शरीर मेरा है; वर्ण, गन्ध मेरे हैं, यह संस्थान-आकार देह का आकार मेरा है; आकार सुन्दर, सुन्दर-असुन्दर—ऐसा देह का आकार। ऐसे भेद-एक बात। उन्हें अपना मानना भी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? अन्तर में चेष्टा, कर्तापने का भाव कर्मकृत कहा और उस कर्मकृत यह शरीरादि की बाह्य पर्याय। इन्हें अपने चैतन्यस्वरूप में मानना—ये मेरे हैं (-ऐसा मानना), वह मिथ्यात्व—संसार का बीज है। कहो, समझ में आया इसमें?

अथवा पुत्र, मित्र,.... यह पुत्र मेरा। यह तो कर्म के निमित्त से हुई उपाधि है। आहा! यह लड़का भी मेरा नहीं? कहाँ गये हैं मगनभाई? 'राजकोट'! कहो, समझ में आया? ये लड़के-लड़कियाँ, पुत्र-पुत्री, मित्र। यह मेरा मित्र है, भाई! सही समय पर मदद में खड़ा रहे। कहते हैं कि मूढ़ हो। मित्र की अनुकूलता आयी है तो कर्म से उत्पन्न संयोग हुआ है। वह कहीं तेरा स्वरूप नहीं है। उसे-मित्र को मेरा मानना, इसका नाम ही संसार का बीज-मिथ्यात्व है। आहाहा! मित्र अर्थात् क्या परन्तु? परवस्तु, कर्म से बनी परवस्तु; उसे जानना कि यह है। मुझमें मानना, वह मूढ़ है—ऐसा कहते हैं। ऐई! न्यालभाई! परन्तु भाई! अच्छे लड़के पकें (होवें) वह तो अच्छेरूप से तो उन्हें मानना चाहिए या नहीं? क्या करना? कहो! बापूजी! बापूजी! करे वह 'महासुख', लो! ऐसा करे, यह भी सिर पर हाथ फेरे। लो! 'महासुख' और एक बार ऐसे निकलते थे, तब ऐसे हाथ फेरते देखा था। यह सब देखी हुई बात है, हों! पहले पाँच-सात वर्ष पहले 'महासुख' वापस जाता था, और वह भी करे—बापूजी! बापूजी! बापूजी! आपकी आज्ञा बिना... आपको ठीक पड़े ऐसे...

www.vitragvani.com

अब लो! अच्छे लड़के तो मानना या नहीं अपने? न्यालभाई! किसके लड़के? बापू! परवस्तु जगत की चीज़ है। उस पर को अपनी मानना, यही महामिथ्यात्व (है) और स्वयं अपने शुद्धस्वरूप को भूलना,... ज्ञान शुद्ध चैतन्य ज्ञाता वस्तु आत्मा है, उसे भूलना और ये मेरे हैं, ये मुझे सहायक हैं, ये मुझे सेवा करनेवाले हैं, मित्र हैं और सही समय पर खड़े रहते हैं। समझे न?

अर्धांगना स्त्री, लो! सही समय बापू! नंगे-भूखे पड़े हों, तब वह वस्त्र ढाँके, नहलावे, यह विष्ठा चली जाती तो घर की महिला हो, वह काम करे, दूसरा कौन करे? ऐ.. फूलचन्दभाई! दो महिलायें की है, दो। एक के बाद एक दोनों गयी। कहो, समझ में आया? चार-चार हो, पाँच-पाँच हो, सात हो। नहीं तुम्हारे? वह नहीं सातवीं (से विवाह किया)? सातवीं पत्नी थी घर में, देखी थी, आहार लेने गये थे। छह मर गयी। समझे न? किसकी स्त्री और किसका कोई? गज़ब की बातें! और भाई आते होंगे या नहीं इसमें? भाई मेरे या नहीं? भगवानदास जैसे भाई होवे और शोभालाल जैसे इसे भाई होवें, दोनों की कैसी स्थिति ऐसे देखो! वासुदेव और बलदेव की कैसी प्रीति होती है! ये पुत्र, मित्र इनमें सब आ गये। समझे न? भाई और सब इसमें आ गये।

मकान,.... लो! मकान। ठीक! **धन,....** ये पैसे मेरे, ये मकान मेरे। कर्म से आयी हुई सामग्री को तू तेरी माने, मूढ़ है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'पुण्ये वैभवो वैभवे मद और मद से दुर्गति।' परमात्मप्रकाश में आता है। पुण्य से मिले वैभव, वैभव से मद चढ़े। पाँच-पचास करोड़ हो जाए तो... आहाहा! और मद से जाए दुर्गति में। हमारे यह पुण्य न हो।—आचार्य स्वयं कहते हैं, ऐसा पुण्य हमारे नहीं चाहिए। आहाहा! पुण्य से वैभव मिले। ऐसे ढेर-ढेर ऐसे पचास-पचास करोड़, करोड़, अरब, अरब... ऐसे आहाहा! नज़र पहुँचे नहीं इतने घर में हाथी, घोड़े, बैल... ये सब क्या कहलाते हैं? रथ। आहाहा! तीन सौ जोड़े तो एक राजा के थे। तीन सौ जोड़े पैर में पहिनने के। जोड़ा समझते हो? जूते। तीन सौ जोड़ा, मर गये फिर तीन सौ जोड़ा निकले। एक के बाद एक ऐसी जोड़ चाहिए और अमुक जोड़ चाहिए और यह जोड़ चाहिए और और सबेरे में यह चाहिए और दोपहर में यह चाहिए और रात्रि को यह चाहिए, सोते समय यह चाहिए, अमुक समय यह चाहिए,

www.vitragvani.com

दिशा जाना हो तब यह चाहिए, अमुक स्त्रियाँ हों तब ऐसी चाहिए, आदमी-मित्र ऐसे बैठे हों, तब ऐसा चाहिए। अनेक प्रकार के तीन सौ जोड़े जूते। खाये जूते।

कहते हैं, यह मकान मेरा। इस मकान की वह क्या कहलाती है अन्दर की? घर प्रयोग की चीजें-फर्नीचर, फर्नीचर ऐसा लगाया हो। ऐसे हिरण के सींग और अमुक और अमुक और सिंह और... आहाहा! ऐसे बैठा हो और देखे तो यह मेरे... मूढ़ है। कर्म से बनी हुई वस्तु है। कर्म निमित्त होकर आयी हुई चीज़ है। यह कोई तेरी चीज़ है? गज़ब बात, भाई!

मुमुक्षु : चक्रवर्ती को होते हैं न।

उत्तर : चक्रवर्ती को होवे तो उसकी कब है? उसके है ही नहीं। मानता नहीं। बैठा है, वहाँ यह शरीर मैं नहीं, वहाँ यह फिर कहाँ से आया? राग (मेरा) नहीं, वहाँ यह कहाँ आया आत्मा में? आहाहा! इस शुभ और अशुभरागवाला मैं नहीं; मैं तो ज्ञानानन्दस्वभाववाला हूँ। आहाहा! धन-लक्ष्मी, हीरा, माणेक, पन्ना, पैसा, नोट, धान्य सब कोठार भरे होते हैं, चावल के और... अच्छे बड़े गृहस्थ के घर में होते हैं।

धान्यादि भेद.... ये सब आदि। आदि में सब लेना, बाहर की चीज़। **इन समस्त से शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है।** इन सबसे शुद्ध भगवान प्रत्यक्ष भिन्न ही है। ये बाहर की चीज़ें कर्म से उत्पन्न हुई और यहाँ कर्म की यहाँ हुई। दो प्रकार लिये भाई! घातिकर्म के निमित्त से यहाँ हुआ विकार और अघातिकर्म से यहाँ हुआ संयोग, दोनों पर हैं—यहाँ तो ऐसा सिद्ध किया है। समझ में आया? दो प्रकार के कर्म है न? घाति-अघाति। घातिकर्म के निमित्त से अन्तर में कृत्रिम उपाधि होना, वह पर है। अघातिकर्म के निमित्त से मिली हुई सामग्री, वह बाहर में है, वह पर है। कहो, समझ में आया?

जिस प्रकार कोई मनुष्य.... इसके लिये दृष्टान्त देते हैं। राग-द्वेष के लिये भूत का दृष्टान्त था। **जिस प्रकार कोई मनुष्य, अज्ञानी गुरु के कहने से एकान्त झोपड़ी में बैठकर भैंसे का ध्यान करने लगा,...** यह आता है न अपने 'समयसार' कर्ताकर्म (अधिकार) ये दोनों दृष्टान्त हैं—भूत और दोनों का। **जिस प्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरु के कहने से...** अज्ञानी गुरु कहे न इसे पाड़ा (भैंसे) का ध्यान करने का! **एकान्त**

झोपड़ी में बैठकर भैंसे का ध्यान करने लगा,... उससे पूछा कि भाई! तुझे क्या प्रीति है? तो कहे–मुझे तो भैंस से बहुत प्रीति है। तो कहा—उसका विचार कर, जिसमें प्रीति (होगी), उसमें तेरा चित्त लग जाएगा। जिसमें तुझे प्रीति, उसमें तेरा चित्त लग जाएगा। मेरे घर में भैंस है और आधे मण दूध सबेरे और आधे मण शाम को (देती है)। एक मण दूध वह कैसा? ऐसे सली खड़ी रहे वैसा। सली समझे न? सली होती है न? घास की। तृण–तृण। तिनका। नीचे से खड़ा रहे। ऐसा दूध पके। अब तो सब समझने जैसा। पहले ऐसा पक्का दूध होता था। सली ऐसे खड़ी रहे। ऐसे डाले अन्दर तो खड़ी रहे। चिकनाहट जमी हो और ऊपर पकड़ हो जाए न ऐसे। फिर खड़ी रहे दूध में। ऐसी भैंस होवे तो प्रिय लगे या नहीं? तब कहे—तुझे वह प्रीति है न, तो उसका कर ध्यान।

अपने को भैंसे के समान विशाल शरीरवाला चिन्तवन करने लगा.... अपने को पाड़ा समान चिन्तवन करने लगा। **आकाश जितना ऊँचा सींगवाला अपने को मानकर....** आकाश जितने बड़े सींग लम्बे। **मैं इस झोंपड़ी से बाहर कैसे निकलूँगा।** लो! कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

उत्तर : फल, यह इसमें तेरी प्रीति है, इसमें एकाग्र हो, बस इतना।

ऐसा सोचने लगा.... कमरे में से किस प्रकार निकलूँगा? देखा? **यदि वह अपने को भैंसा न माने तो मनुष्य स्वरूप तो स्वयं है ही।** देखा? पाड़ा न माने तो मनुष्यस्वरूप है ही।

उसी प्रकार यह जीव, मोह के निमित्त से अपने को वर्णादिक स्वरूप मानकर... देखा? शरीर के लक्ष्य में से छूटता ही नहीं, कहते हैं। शरीर मेरा, ये अवयव मेरे, चेष्टा मेरी, संहनन मेरा, आकार मेरे, मकान मेरा, पैसे मेरे—ऐसा उनमें एकाकार हो गया है कि उसमें से लक्ष्य हटाता नहीं, लक्ष्य हटाता ही नहीं। **मोह के निमित्त से अपने को वर्णादिक स्वरूप मानकर देवादि पर्यायों में अपनत्व मानता है।** लो! मैं देव आया, अब मैं मनुष्य हुआ, मैं भैंसा हुआ, लो! ठीक! मैं लड़की हो गयी, लो! लड़की हो गयी, मैं लड़की हो गयी। छोरी अर्थात् लड़की, लड़की हो गयी, लड़का हुआ। क्या

लड़का-लड़की ? वे तो जड़ हैं। क्या हुआ ? परन्तु इसका ध्यान / लक्ष्य वहाँ है न ! उस रूप मानो मैं—ऐसा अज्ञानी मानता है। उनसे भिन्न हो सकता नहीं। यह भी अज्ञानी ने अनादि से माना हुआ है।

मोह के निमित्त से अपने को रंग, गंध, रस **स्वरूप मानकर....** देखो ! श्लोक का आधार देना है न ? **देवादि पर्यायों में....** देखो ! यहाँ पर्याय ली। वहाँ पर्याय ली थी न ? नाना प्रकार की पर्याय। यहाँ देवादि पर्याय ली, पहले में देव, नारकी आदि शरीर लिया था। **अपनत्व...** इनमें आया मानता है। मैं इस मित्र में आया। समझ में आया ? मैं इस रंग में आया, मेरा रंग ऐसा, मैं सफेद, मेरी काठी पतली, मेरी काठी मोटी, शरीर मोटा, मेरा नाक लम्बा, मेरे कान कुण्डल जैसे, मेरी आँख हिरण की आँख जैसी। मेरा-मेरा करके पर के आकार में से भिन्न नहीं पड़ता। समझ में आया ? आत्मा तो चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द की मूर्ति है। उसमें यह परवस्तु कर्म से आयी हुई, उसके लक्ष्य में खिंचा कि मैं इसमें आया। मैं देव हुआ, मनुष्य हुआ, पशु हुआ, एकेन्द्रिय, हुआ, कन्या हुआ, पुरुष हुआ, हीजड़ा हुआ—ऐसा इसे मान बैठा। देखा ? क्या कहा ?

यह जो **मोह के निमित्त से....** मिथ्यात्व के कारण स्वयं को। देखो ! मोह निमित्त, मिथ्यात्व। **वर्णादिक स्वरूप मानकर देवादि पर्यायों में आया मानता है।** मैं देव के स्वरूप हुआ हूँ, देव हुआ। स्वर्ग के देव में, वैमानिक में मैं यह देवरूप से उत्पन्न हुआ हूँ—ऐसा मानता है। ठीक! किसी पुण्य के कारण वहाँ उत्पन्न होता है न ? स्वर्ग में मैं यह देवरूप से आया हूँ। अन्य भी कहते हैं—साहेब ! महा पुण्यवन्त (हो)। आपने पुण्य किया, हमारे स्वामीरूप से यहाँ आये। यह मानता है कि मैं देवरूप से आया हूँ। परन्तु देव, आत्मा कहाँ है ? वह तो जड़ की पर्याय है। समझ में आया ? मैं सेठरूप से आया, अब मेरी नियुक्ति वहाँ मुख्य मुनीमरूप से मुख्य हुई। सेठाईरूप से मेरी तैनाती हुई। वह तो पर है, सेठाई-फेठाई तेरी कहाँ थी उसमें ? समझ में आया ?

यदि न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है। जैसे उसमें (दृष्टान्त में) था न ? समझ में आया ? मनुष्यपना, मनुष्यस्वरूप स्वयं है ही। भैंसा न माने तो मनुष्यस्वरूप बन ही रहा है। इसी प्रकार यह परस्वरूप न माने तो जीवस्वरूप शुद्धात्मा

www.vitragvani.com

अमूर्तिक बना ही बैठा है। अमूर्तिक कहा, उस मूर्ति के सामने, मूर्त के सामने कहा। यह भी उसका ध्यान खोटा है। इस शरीररूप आया, सुन्दर आकाररूप आया, पुरुष के अवयवोंरूप आया, स्त्री के अवयवोंरूप हुआ। यह सब मूढ़ उसे आकार मानता है, भैंसा हुआ—ऐसा मानता है यह। कहो, समझ में आया इसमें? कैसी शैली से बात की है।

अजीव से भिन्न और आस्रव से भिन्न करने की बात की, लो! ये सब जीव के अतिरिक्त बाहर की चीज़ें सब अजीव, तेरे हिसाब से। ये जीव नहीं और पुण्य-पाप के भाव भी जीव नहीं, वे तो आस्रव है। दोनों से रहित है, तथापि सहित मानता है, उसका नाम मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो अभी वे शुभभाव होते है न? दया, दान, मन्दकषाय, व्रत, अणुव्रत, महाव्रत.... मिथ्यात्व में अणुव्रत-महाव्रत होते नहीं, परन्तु यह मानता है। ऐसे शुभभाव से तो निश्चय चारित्र होता है, ऐसे शुभभाव से तो संवर-निर्जरा होती है। कहो, ऐसे शुभभाव से संवर-निर्जरा होती है। अरे...! भगवान! परन्तु शुभभाव मेरा है—ऐसा तू माने, वहाँ मिथ्यात्व का आस्रव होता है। आहा! कहो, यह समझने जैसी बात है, हों! यह तो बहुत सादी और अच्छी... कहो, शोभालालजी! स्पष्ट बात है।

यह **यदि न माने....** वह भैंसा न माने तो मनुष्य ही है। वह तो ध्यान में चढ़ गया था ऐसे आकार से, इसलिए ही माना है। ऐसे इसका लक्ष्य वहाँ चढ़ गया है, इसलिए मानता है; वरना ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। **यदि न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है।** भगवान आत्मा अरूपी। अरूपी अर्थात् अमूर्त शुद्धात्मा, अरूपी शुद्धात्मा बना ही बैठा है। वह परवस्तु-रूपीरूप कभी हुआ नहीं। उसके लक्ष्य में करके ऐसा कहता है कि मैं तो अब इसमें से कैसे निकलूँ? कैसे निकलूँ? आता है न? 'गढडावाले' नहीं आते? लुवारिया। फिर 'चुडा' में वह आया किसी दिन। 'चुडा' में बना था। एक छोटा लड़का होगा, लुहारिया ले गये होंगे। फिर वहाँ ले जाकर स्त्री से विवाह किया और सब हुआ, फिर घूमते-घूमते यहाँ 'चुड़ा' आये। वहाँ बड़े घर में लड़का, स्त्री और सब। फिर यहाँ देखकर कहे—मैं तो इस 'चुड़ा' का हूँ, इस 'चुड़ा' का था, मेरा परिवार यहाँ है। फिर उससे मिलने आये, तब कहा—यह तो हमारा है। चल भाई! (तो यह कहता है) मैं नहीं आ सकता, मेरे तो यहाँ स्त्री-पुत्र हैं। लुहारिया नहीं आते?

www.vitragvani.com

गाड़ा भर-भरकर, लोहे का काम करते हैं। ऐसे लोग पहले 'चित्तोड़' में घूमते आते थे। फिर किसी गाँव का लड़का होगा—'चुड़ा' का बनिये का, बारह वर्ष का, ले गये-उठा ले गये। बनिये को ले गये। वहाँ जाकर फिर विवाह किया, पुत्र हुआ, स्त्री हुई, सब कराया। तत्पश्चात् कितने ही वर्ष बाद यहाँ 'चुड़ा' आये। वहाँ आये तो उसे याद आया कि मैं तो इस 'चुड़ा' का हूँ, मैं तो इस बनिये का पुत्र था। मुझे यहाँ से ले गये थे। वहाँ उसके वे सब कुटुम्बी मिलने आये। (उन्होंने कहा) वापस आओ। परन्तु मेरी स्त्री, पुत्र है। समझ में आया?

इसी प्रकार जहाँ आया वहाँ यह मनुष्य शरीर मिला, पैसा मिला, मकान मिला, स्त्री-पुत्र हुए, पुत्रवधु हुई, मकान हुए, इज्जत हुई। चल बाहर। परन्तु अब किस प्रकार निकला जाए? नेमिदासभाई! कंचन और कामिनी दो में से किस प्रकार निकला जाए? पता पड़ा तो वे विचारे मिलने आये, हों! यह नहीं गया तो मिलने आये। पता पड़ा कि यह लड़का अपना है, बहुत वर्ष हो गये—पच्चीस-तीस वर्ष। हाँ, भाई! मैं हूँ तो यहाँ का, मुझे ये लोग ले गये थे। यहाँ तो इन्होंने मेरा विवाह किया है। मेरे स्त्री-पुत्र है, सब है। मुझे कुछ छोड़कर आना नहीं। ऐसे कहीं से आकर यहाँ लगा, जहाँ कुछ पैसे हुए, स्त्री हुई और पुत्र हुए (तो कहता है) यह छोड़बर मुझे कहीं बाहर नहीं जाया जाता, बापू!

यदि न माने तो अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना ही बैठा है। देखो! दो दृष्टान्त दिये। **इस प्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिकभाव....** ये पुण्य के-पाप के जीव में भाव हो, विकारी भाव, कर्म के संग से हुए हैं। आत्मा के संग का वह स्वभाव नहीं है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द की मूर्ति है। सत्-शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सूर्य है। ऐसे आत्मा में पुण्य और पाप के भाव, वे रागादिभाव, कर्मजनित हैं।

दूसरी बात—**कर्मजनित वर्णादिकभाव....** दोनों कर्मजनित। एक बाहर और एक अन्दर। **उनसे सदाकाल भिन्न है।** उनसे सदाकाल भगवान चैतन्यमूर्ति भिन्न है, पृथक् है। सदाकाल, तीनों काल लिया है न? मनुष्य तो मनुष्य ही है। समझ में आया? सदाकाल भिन्न है। लो! अब श्लोक का आधार देते हैं।

'वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा। भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।' नीचे **यह**

www.vitragvani.com

आत्मा, वर्णादि.... अर्थात् रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, इस शरीर का। ***और रागादि....*** अन्दर का राग और रंग वह। ***मोहादि सभी भावों से भिन्न है।*** भगवान चैतन्यस्वरूप शुद्ध आनन्द की कतली है। उससे सब विकारी परिणाम सब अत्यन्त भिन्न हैं। तथापि अनादि से अज्ञानी, ये मेरे हैं (–ऐसा मानता है) और मैं कौन हूँ—यह तो भूल गया है। इसका नाम मिथ्यादृष्टि और संसार का बीज कहते हैं। चौरासी के फल फलते हों तो इस मिथ्यात्व में से फलते हैं। कहो, समझ में आया?

तो भी... भिन्न है तो भी, **अज्ञानी जीवों को आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त प्रतिभासित होता है।** स्वरूप के—चैतन्य के आनन्द और ज्ञान के स्वभाववाले भान बिना, मेरा ऐसा स्वभाव है—इसका जिसे भान नहीं, उस अज्ञानी को ये पुण्य और पाप के भाव तथा शरीरादि बाह्य—वे संयुक्त प्रतिभासित होते हैं, उस सहित भासित होता है; उनसे रहित है, तथापि सहित भासित होता है। कहो, समझ में आया? पण्डितजी की अर्थ करने की शैली भी कितनी सरस है! देखो न! गाथा साथ में मिलाकर।

'खलु सः प्रतिभासः भवबीजम्।' लो! अन्तिम टुकड़ा बाकी रहा था यह। निश्चय से वह प्रतिभास, यह भास होना। शुद्ध चैतन्यस्वभाव ज्ञानानन्द की मूर्ति में विकार / पुण्य–पाप के भाव और शरीरादि मेरे—ऐसा भास होना, इसका नाम मिथ्यात्व और संसार का बीज है। **निश्चय से यह प्रतिभास ही संसार का बीजभूत है।** वाह! समझ में आया? ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा—चैतन्य शुद्धस्वरूपी आत्मा में अज्ञानी को, ये राग–द्वेष के भाव और कर्म, शरीरादि भिन्न होने पर भी, अपने भासित होते हैं—वे भाव संयुक्त भासित होते हैं, वह प्रतिभास ही मिथ्यात्व है। समझ में आया? इसका नाम विपरीत मान्यता है। समझ में आया? यह संसार का बीज है।

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति शुद्धस्वरूप त्रिकाली स्वभावभाव में यह पुण्य–पाप के शुभ–अशुभभाव और शरीर, रंग आदि मेरे हैं—ऐसा प्रतिभास होना; इसके नहीं है और 'मेरे है'—ऐसा भिन्न है, उसे अभिन्न भास होना, इसका नाम ही मिथ्यात्वरूपी बीज (है)। यह चौरासी के अवतार का बीज है। आहा! संक्षिप्त और टच सत्य का स्वरूप! कहो, माँगीरामजी! अब वे तो कहे—अभी अणुव्रत और महाव्रत से–आत्मा का कल्याण होता

है। अणुव्रत–महाव्रत अभी मिथ्यादृष्टि के, हों! समकिती को अणुव्रत–महाव्रत का विकल्प होवे तो वह माने, इसका बड़ा विवाद। पुण्य हेय या उपादेय? भाई! समझ तो सही! क्या अपेक्षा है? श्रद्धा–अपेक्षा से सर्वथा पर ही है। वस्तु ही पर है वहाँ प्रश्न क्या?

भगवान आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान और शान्ति, आनन्द की मूर्ति (है)। उसमें यह प्रतिभास होना कि यह राग मेरा है, यह वस्तु (–आत्मा) रागसहित है, शरीर सहित है, यह वस्तु कर्मसहित है। देखो! समझ में आया? यह वस्तु कर्मसहित है—ऐसा भास, वह संसार का बीज है। और यह वस्तु, राग और शरीर और कर्म से भिन्न स्वरूप का, स्वभाव से अभिन्न—ऐसा भास होना, स्वभाव से अभिन्न—ऐसा अन्दर भास होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? इसका जरा दृष्टान्त देते हैं।

भावार्थ–जैसे समस्त वृक्षों का मूलभूत बीज है,.... समस्त वृक्षों का मूलभूत तो बीज है। जम्बू के वृक्ष का जम्बू बीज है, नीम के वृक्ष का निम्बौली बीज है। प्रत्येक का—समस्त वृक्षों का (मूल) बीज है। **वैसे ही अनन्त संसार का मूलकारण....** अनन्त संसार के परिभ्रमण का **मूलकारण कर्मजनित भावों को अपना मानना है।** आहाहा! शुभभावों का अहंकार—हमने शुभभाव किये, हमारा शुभभाव, हम पुण्यवन्त हैं, हम पापी हैं, हम मूर्ख हैं। समझ में आया? हम पण्डित हैं—इन सब कर्मजनित भावों को अपना मानना, वह संसार का बीज है, अनन्त संसार का मूलभूत बीज है। आहाहा! समझ में आया?

जैसे समस्त वृक्षों का मूलभूत तो बीज है। बीज होवे तो वृक्ष उगे; इसी प्रकार अनन्त संसार का मूलकारण तो कर्म के निमित्त से हुए दो प्रकार के भाव—पुण्य–पाप के भाव और शरीरादि, ये भाव आठ कर्म में घाति–अघाति, उन्हें अपना मानना.... आहाहा! वह संसार का बीज है। **इस प्रकार अशुद्धता का कारण बताया।** लो! इस प्रकार 'कर्मकृत' शब्द कहकर अशुद्धता का कारण बतलाया और वह अशुद्धता स्वयं में मानना, यह संसार का बीज है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अब, तीन—दर्शन–ज्ञान और चारित्र की व्याख्या।

गाथा – १५

आगे पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय बताते हैं –

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।१५।।

विपरीताभिनिवेश नष्ट कर निजस्वरूप का सम्यक्ज्ञान।
निज में ही अविचल थिरता पुरुषार्थ–सिद्धि का यही उपाय।।१५।।

अन्वयार्थ : (विपरीताभिनिवेशं) विपरीत श्रद्धान का (निरस्य) नाश करके (निज–तत्त्वम्) निजस्वरूप को (सम्यक्) यथार्थरूप से (व्यवस्य) जानकर (यत्) जो (तस्मात्) अपने उस स्वरूप में से (अविचलनं) भ्रष्ट न होना (स एव) वही (अयं) इस (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय:) पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

टीका : 'यत् विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यक् निजतत्त्वं व्यवस्य तत् तस्मात् अविचलनं स एव अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय:।' जो विपरीत श्रद्धान का नाश करके यथार्थरूप से निजस्वरूप को जानकर, फिर अपने उस स्वरूप से भ्रष्ट न होना, वही पुरुषार्थ की सिद्धि होने का उपाय है।

भावार्थ : पहले जो कहा था कि संसार की बीजभूत कर्मजनित पर्याय को आत्मरूप से–अपनेरूप जानने का नाम ही विपरीत श्रद्धान है और उसका मूल से विनाश करना ही सम्यग्दर्शन है। कर्मजनित पर्याय से भिन्न शुद्धचैतन्यस्वरूप को यथार्थतया जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मजनित पर्यायों से उदासीन होकर स्वरूप में अकम्प–स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है। इन तीन भावों का समुदाय ही उस जीव के कार्य सिद्ध होने का उपाय है। दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।।१५।।

www.vitragvani.com

गाथा १५ पर प्रवचन

पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय....

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।१५।।

तीनों लिये—दर्शन–ज्ञान और चारित्र। विपरीत श्रद्धान, जो विपरीत श्रद्धा कही न? कि पुण्य–पाप के विकल्प, आत्मा को हैं—ऐसा मानना और बाहर की चीजें अघाति से मिली, उन्हें आत्मा की मानना, इसका नाम विपरीत अभिनिवेश / मिथ्यात्व है। उसका नाश करने का नाम सम्यग्दर्शन है। विपरीत अभिप्राय का नाश अर्थात् पुण्य–पाप के विकल्प और ये परवस्तुएँ मेरी—इसका नाश (होना) अर्थात् स्वभाव —शुद्धस्वभावस्वरूप मैं हूँ—ऐसी अन्तर में प्रतीति / भान होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन—विपरीत अभिप्राय के नाश का कारण है। विपरीत अभिनिवेश के नाश का कारण तो यह है। कोई राग–बाग मन्द करे और यह करे और बाहर घटावे, वह कोई विपरीत अभिनिवेश के नाश का कारण नहीं है। समझ में आया? ऐसा सिद्ध करते हैं। भाई! यह मिथ्यात्व के नाश का उपाय! बाहर को घटावे–त्याग–व्रत करे, बाहर त्यागी हो, जंगल में जंगल जाये, कि नहीं; विपरीत श्रद्धा का नाश करना। ये पुण्य–पाप के भाव मेरे और परवस्तु मेरी—इसका नाश करके अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह मैं—ऐसी अन्तर अभिप्राय में स्वभाव की दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और विपरीत अभिप्राय के नाश का उपाय है। दूसरे दो कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८ गाथा–१५–१६ रविवार, पौष शुक्ल ५, दिनांक १५.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय' अमृतचन्द्राचार्यकृत है। १५ वीं गाथा।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।१५।।

पुरुष अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा; उसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन की सिद्धि, उसका उपाय क्या है—वह इस गाथा में है। यह इस पुस्तक का नाम है।

टीका - जो विपरीत श्रद्धान का नाश करके.... विपरीत श्रद्धान का नाश करने के दो बोल पहले आ गये। पाँचवीं गाथा में ऐसा आया कि अतिशयरूप से निश्चयनय से विरुद्ध ऐसा व्यवहारनय का जो अभिप्राय, वह सर्व संसार है। समझ में आया? पाँचवीं गाथा में आया - '**प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः**' यह पहले आया था। कि निश्चयनय के बोध से विपरीत ऐसा व्यवहारनय का जो अभिप्राय। दूसरा इसका अर्थ क्या? कि भूतार्थ बोध विमुख। जब भूतार्थबोध सन्मुख। यथार्थ चैतन्यस्वरूप की सन्मुखता का बोध, वह निश्चय है। उससे विपरीत का बोध जितना हो, परलक्ष्य करावे, पर विषय में जो लक्ष्य जावे—ऐसे भाव को अपना मानना अथवा उन्हें इष्ट की सिद्धि (का) उपाय मानना, इसका नाम मिथ्यात्व है, उसे सर्व संसार कहने में आता है। यह पाँचवीं गाथा में कहा गया है।

१४ वीं गाथा में उसे ही ऐसा कहा था कि जो कुछ कर्मकृत से उत्पन्न हुए जीव की पर्याय में पुण्य और पाप के भाव, (उनसे) रहित चैतन्यस्वरूप है; उसे सहित मानना, वह भव का बीज है। समझ में आया? चैतन्यस्वरूप आत्मा यह, दूसरी भाषा में कहें तो अजीव और आस्रव से भिन्न है; उसे आास्रव और अजीवसहितवाला मानना, वही संसार का मिथ्यात्वरूपी बीज है। समझ में आया? ये दो—पाँचवीं और चौदहवीं—दोनों के भाव का नाश करना—ऐसा यहाँ कहते हैं।

आत्मा का शुद्धस्वभाव, उससे सन्मुखता से विरुद्ध जितने परसन्मुखता के विकल्प आदि उठते हैं, वे संसार का मूल कारण है। समझ में आया? वे सर्व संसार ही हैं। यहाँ ऐसा कहा कि कर्मकृत उपाधि के परिणाम, जो स्वभाव में नहीं और जो स्वभाव के आश्रय से हुए नहीं, वे कर्म के निमित्त के आश्रय से हुए शुभ-अशुभभाव, वह उपाधिभाव है। इन दोनों प्रकार के—घातिकर्म के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए राग-द्वेष आदि; अघातिकर्म के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए संयोग शरीरादि अर्थात् दो कर्म—घाति-अघाति के दो प्रकार। समझ में आया? घाति ज्ञानावरणी आदि चार कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुई आत्मा की विकारी /

विपरीत आदि पर्याय और अघातिकर्म से प्राप्त हुए बाह्य संयोग अर्थात् आठों कर्मों का फल-दो। इसे चैतन्यस्वरूप के साथ मानना। उस चैतन्यस्वरूप के साथ अशुद्धभाव और संयोगीभाव नहीं है। समझ में आया? अथवा वह अशुद्धभाव और संयोगी चीज़ में से आत्मा के हित के लिये वह चीज़ है—ऐसा मानना, वही संसार का बीज है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : संयोग-बंयोग, उसके लक्ष्य से हुआ विकल्प; वाणी है वह तो अघाति का फल-संयोग है। वस्तु जो चैतन्य आनन्द और ज्ञायकमूर्ति पदार्थ है, उसमें—स्वभाव में नहीं है, उसकी त्रिकाली शक्तियाँ—स्वभाव / गुण में नहीं है और वर्तमान दशा में चार घातिकर्म के निमित्त से हुई हीन—विपरीत अवस्था आदि को अपने चैतन्य के अभेदस्वरूप के साथ उसे मानना और अघातिकर्म के निमित्त से प्राप्त संयोग—शरीर, वाणी आदि सब बाहर का। उससे आत्मा सहित है अथवा उससे आत्मा को लाभ होता है—यह मानना, वह संसार का बीज है, अर्थात् मिथ्या अभिप्राय है। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति वस्तु (है)। उसे कर्म के दो प्रकार के सम्बन्ध से हुई उपाधि और संयोग से यहाँ लाभ मानना अथवा उनसे सहित मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन—संसार का बीज कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? घाति के निमित्त से उत्पन्न हुआ शुभभाव—उससहित जीव को मानना और उससे लाभ मानना, यह मिथ्यात्व अभिप्राय है और जो बाह्य संयोगी चीज़ मिली—शरीर, वाणी, बाह्य पदार्थ—उनसे सहित मानना अथवा उनसे लाभ मानना... समझ में आया? इसका नाम संसार का महा मिथ्यात्व बीज है। कहो, शशीभाई! यह तो सीधी-बहुत सादी भाषा में है, इसमें कोई बहुत गहरा नहीं है। खोडीदासभाई!

कहते हैं कि इस प्रकार यह आत्मा, कर्म द्वारा किये गये अनेक प्रकार के भाव से संयुक्त नहीं है। है? अर्थात् व्यवहार का विषय रागादि है और बाह्य पदार्थ है, असद्भूत व्यवहार का विषय। ऐसे देखो तो अन्दर उसे व्यवहार को पाँचवीं गाथा में '**सर्वोऽपि संसार**' कहा था। यह ऐसा कहा कि इन घाति-अघाति कर्मों के निमित्त से उत्पन्न हुआ उपाधिभाव यह। इस भाव से आत्मा संयुक्त नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : किसी नय से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारनय से है, यह तो कहा परन्तु वह हेय है-छोड़ने के लिये है। यह तो यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! '**सर्वोऽपि संसार**' इसीलिए तो पाँचवीं में कहा कि '**भूतार्थबोधविमुख सर्वोऽपि संसारः**' '**प्रायः**' अर्थात् अतिशयरूप से, विशेषरूप से, खासरूप से।

भगवान आत्मा के स्वरूप के सन्मुख बोध से विपरीत बोध, अकेले व्यवहारनय का ज्ञान। बाहर का, उसे व्यवहार यथार्थरूप से होता नहीं परन्तु व्यवहार कहने में आता है। 'बन्ध अधिकार' (समयसार) में लिया है न? अभव्य भी व्यवहारनय से व्यवहार का कुछ ऐसा करता है। समझ में आया? अर्थात् भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का पवित्रधाम है, उसके सन्मुख की बुद्धि अर्थात् यह तो हो गया भूतार्थ-आश्रय से सम्यग्दर्शन जो कहा ग्यारहवीं (गाथा) में, वह तो सन्मुख हुआ, वह तो वस्तु के सन्मुख हुआ, यह दृष्टि यथार्थ है। उससे विमुखता का जितना भाव—पुण्य-पाप और संयोग—इनसे लाभ मानना और इनसे सहित मानना, वही मिथ्यादर्शन, शल्य और संसार का बीज है। कहो, समझ में आता है या नहीं इसमें?

तथापि.... कहते हैं, यहाँ आया न? विपरीत श्रद्धान का नाश करके। जो (गाथा) १४ में कहा था न? **भावों से संयुक्त नहीं है तो भी अज्ञानी जीवों को अपने अज्ञान से, अपने अज्ञान से आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।** यह १४ में (कहा था)। उसे यहाँ नाश का उपाय कहा है।

१५ (गाथा की टीका) **जो विपरीत श्रद्धान का नाश करके....** यह विपरीत श्रद्धा अर्थात् पाँचवीं और चौदहवीं में कहा वह। उसकी श्रद्धा का नाश करके—एक बात, यह सम्यग्दर्शन। **यथार्थरूप से निजस्वरूप को जानकर....** यह दूसरा बोल—सम्यग्ज्ञान। यथार्थरूप से निज स्वरूप को जाने, ऐसा; पर को जानने की बात नहीं रही, दो बात। **फिर अपने उस स्वरूप से भ्रष्ट न होना,....** और अपना शुद्धस्वरूप वीतरागी समरसी स्वरूप है, उसमें से च्युत न हो; **वही पुरुषार्थ की सिद्धि होने का उपाय है।** अर्थात् चारित्र हुआ। रागादिक में न आवे और स्वरूप की श्रद्धा होकर, स्वरूप का ज्ञान होकर,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त हो; स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान से-स्वरूप से भ्रष्ट न हो। राग में जाए तो स्वरूप से भ्रष्ट है। चाहे तो शुभराग में जाए तो भी स्वरूप से अस्थिरपने में भ्रष्ट है, श्रद्धारूप से भ्रष्ट भले न हो। समझ में आया?

आचार्य ने तो कहा है न कि **विदूषाम्**- विद्वानों के लिये मैं यह आगम में से पुरुषार्थसिद्धि उपाय का उद्धार करता हूँ, ऐसा कहा है, चौथी गाथा। समझ में आया? तत्त्व के मर्म को समझाने के लिये पूरा 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' 'परमागम' में से उद्धार किया है। देखो! ये तीनों व्याख्या आ गयी—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। आत्मा पुरुष अर्थात् चैतन्यस्वरूप, उसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन, उसकी सिद्धि अर्थात् सुख की प्राप्ति, उसका यह उपाय है। समझ में आया?

भावार्थ : पहले जो कहा था कि संसार की बीजभूत कर्मजनित पर्याय को आत्मरूप से-अपनेरूप जानने का नाम ही विपरीत श्रद्धान है.... स्पष्टीकरण किया। विपरीत श्रद्धा का नाश करना। वह विपरीत श्रद्धान अर्थात् क्या? यह १४ वीं गाथा का न्याय दिया। संसार में भटकने का बीज, (यह विपरीत श्रद्धान है।) स्वभाव शुद्ध है, वह मोक्ष का बीज है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, निर्विकल्प वीतराग समरसीस्वरूप, वह तो मोक्ष का बीज है और संसार का बीज—कर्मजनित पर्याय को, कर्म के संग से हुआ शुभाशुभ उपाधिभाव या बाह्य (संयोग), उन्हें अपनेरूप जानना। उस शुभराग आदि को और शरीरादि को—कर्म मेरे, परवस्तु मेरी—ऐसे स्व में नहीं, उन्हें मेरेरूप (निजरूप) मानना, इसका नाम ही विपरीत श्रद्धान कहलाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

जिसमें जो नहीं है, उसे उससे (सहित) मानना, इसका नाम विपरीत मान्यता है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसमें ये पुण्य-पाप के विकार भी नहीं और शरीरादि की क्रिया या शरीरादि की पर्याय उसमें नहीं। समझ में आया? कहाँ के कहाँ ले गये, देखो न! सजीव और अजीव क्रिया की क्रिया—जीवित शरीर की क्रिया धर्म का कारण है या नहीं? आहाहा! ओहोहो! उल्टा पड़ता है परन्तु ऐसा पड़ता है न!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान शुद्ध चैतन्य ज्ञायकमूर्ति, वह आत्मा (है)। पुण्य-पाप के भाव, कर्म निमित्त से उत्पन्न हुए आस्रवतत्त्व और बाह्यतत्त्व उत्पन्न हुआ शरीर आदि,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वह अजीवतत्त्व, इसलिए वे जीव नहीं—ऐसा वह तत्त्व। ये सब आस्रवतत्त्व या अजीव अर्थात् यह जीव नहीं, ऐसे सब तत्त्व; उनकी किसी भी पर्याय से आत्मा को लाभ होता है, उस पर्यायसहित आत्मा है—ऐसा मानने का नाम विपरीत अभिप्राय है। कहो, चन्दुभाई! यह तो बहुत सादी, अच्छी संक्षिप्त भाषा में है। प्रवीणभाई! शरीर मेरे में है—ऐसा मानना, यह विपरीत मान्यता / मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : मेरे में न हो तो मेरे उसे....

पूज्य गुरुदेवश्री : तो मेरे में है तो मेरे में होवे तब मेरा होवे और इस बिना कहाँ से हो? मेरा है, इसका अर्थ कि मेरे में है। मेरा है, इसका अर्थ कि मेरे में है। कहो, समझ में आया यह?

संसार का बीजभूत, संसार की उत्पत्ति की खान कर्मजनित पर्याय को अपनेरूप जाने। बहुत संक्षिप्त बात। स्वद्रव्य के स्वभाव की पर्याय नहीं, स्वस्वभाव की निर्मलपर्याय नहीं। निर्मलपर्याय तो स्वभाव में से प्रगट होती है, (सवभाव के) आश्रय से प्रगट होती है। यह विकारी पर्याय, स्वभाव के आश्रय से नहीं, स्वभाव में नहीं; निमित्त के आश्रय से उत्पन्न हुई क्षणिक उपाधि है। शुभ या अशुभराग और बाह्य पदार्थ, जिन्हें जगत अनुकूल-प्रतिकूल कहता है; यहाँ शुभ-अशुभ, वहाँ अनुकूल-प्रतिकूल दोनों पर हैं, दोनों आत्मा में नहीं है। समझ में आया? व्यवहाररत्नत्रय भी शुभराग है। समझ में आया? वह भी कर्म के निमित्त से हुआ उपाधिभाव है। वह भाव, आत्मा में है या उससे आत्मा को लाभ होता है, यह अभिप्राय, संसार का बीज है। समझ में आया?

उसका मूल से विनाश करना ही सम्यग्दर्शन है। विपरीत अभिप्राय—मलिन परिणाम और संयोगी चीज़, वह मुझमें है—ऐसा जो विपरीत अभिप्राय। यह मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य शुद्ध हूँ—ऐसे एकाग्र अभिप्राय से उसका (विपरीत अभिप्राय का) नाश करना और स्वभाव शुद्ध चैतन्य है, उसकी प्रतीति, स्वरूप की एकाग्रता करके करना, इसका नाम विपरीत अभिनिवेश का नाश (है), इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया?

विपरीत अभिनिवेश का व्यय, अविपरीत अभिप्राय की उत्पत्ति। अविपरीत अर्थात् जैसा शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वरूप है, उसके अभिप्राय की उत्पत्ति। वस्तु तो वस्तुरूप से है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कहो, समझ में आया इसमें? यह भारी कठिन पड़ता है व्यवहारवालों को। आचार्य कहते हैं, हम अबुध को—अज्ञानी को व्यवहार से उपदेश देते हैं। यदि उस व्यवहार को ही पकड़कर बैठेगा तो वह सुनने के योग्य नहीं है। हमें सुनाना क्या उसे? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ६ वीं गाथा में कहा '**अबुधस्य बोधनार्थं**' अज्ञानियों को समझाने के लिये व्यवहार से भेद पाड़कर बात की है। वहाँ भेद पाड़कर बात करने पर, वह भेद ही वस्तुस्वरूप, साधन है—ऐसा मान ले, उसे किस प्रकार समझाना किस प्रकार? कहते हैं। समझ में आया?

भेदसहित, भेद से समझाया, परन्तु वस्तु भेदसहित नहीं। समझ में आया? दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा—ऐसा भेद से कहा, परन्तु उस भेदस्वरूप आत्मा नहीं है। इसीलिए तो वहाँ (समयसार) ८ वीं गाथा में कहा कि हम भेद से कहते हैं, परन्तु हमें और तुझे दोनों को भेद अनुसरण योग्य नहीं है। व्यवहारनय नहीं अनुसरण करनेयोग्य। यह तो विकल्प उठा है तो समझाने को भेद पाड़कर कहते हैं; और (तूने) भी अभेद सीधा जाना नहीं, इसलिए हमने (कहा कि) यह आत्मा अन्दर दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा, परन्तु तुझे अनुसरण योग्य नहीं। हमने कहा और तूने लक्ष्य में लिया (परन्तु) वह व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं। आहाहा! चन्दुभाई!

मुमुक्षु : सुनना कुछ और समझना कुछ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनना कुछ ऐसा नहीं है; सुनना ही यह है। सुनने में व्यवहार से इसे कहा, सुननेवाले का लक्ष्य तो अभेद पर कराना है, दूसरा कोई उपाय नहीं। अभेद को सीधा जानता नहीं और अनादि से, अभेद क्या है—यह इसे अनुभव में नहीं; इसलिए इसे बताना है अभेद चिदानन्द भगवान वस्तु। यह ज्ञान का प्राप्त हो, श्रद्धा–माने, स्थिरता जिसमें हो, वह आत्मा। ऐसे तीन भाग पाड़कर कहा, परन्तु यह भाग पाड़कर कहा–वह वस्तु नहीं। समझ में आया?

ऐसे विपरीत अभिप्राय जो हैं, (अर्थात्) यह भेद है, वह आत्मा को लाभदायक है.... समझ में आया? व्यवहारनय का विषय आत्मा को लाभदायक है—ऐसा जो अभिप्राय, उसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप के सन्मुख की दृष्टि से उसका नाश करना। समझ में

www.vitragvani.com

आया? उसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। देखो! अब यह सम्यग्दर्शन व्यवहार और निश्चय दो में से कौन सा सम्यग्दर्शन होगा? व्यवहार सम्यग्दर्शन है ही कहाँ? यही सम्यग्दर्शन है, यही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है। यहाँ पुरुषार्थसिद्धि के उपाय की व्याख्या चलती है। समझ में आया?

पुरुष शब्द से चैतन्यस्वरूप, पहले आ गया है वह। आत्मा चैतन्यस्वरूप है; रागस्वरूप या संयोगस्वरूप नहीं। ऐसे आत्मा की पर्याय में मुक्ति की—सुख की सिद्धि होना, उसका उपाय, उसे यहाँ पुरुषार्थसिद्धि-उपाय कहते हैं। उसका उपाय तो यह एक ही है। फिर कहेंगे अन्दर, **दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।** अन्तिम लाईन, भावार्थ की अन्तिम लाईन। और बड़े अक्षर में छपाया है। समझ में आया?

टोडरमलजी ने तो वस्तु की स्थिति का वर्णन बहुत सरस किया है परन्तु लोगों को—अभी के लोगों को उनकी स्वयं की पण्डिताई के समक्ष इनका अप्रमाण लगता है। स्वयं की दृष्टि आर्षप्रमाण नहीं, आर्षप्रमाण नहीं। आर्षप्रमाण इसलिए परन्तु आर्तपना नहीं? '**ववहारोऽभूदत्थो**' यह आर्षवाक्य है। व्यवहार, वह अभूतार्थ है। अभूतार्थ अर्थात् आश्रय करनेयोग्य नहीं। उसके सन्मुख रहनेयोग्य नहीं; उससे विमुख होने योग्य है। फिर तो इसका स्पष्टीकरण किया है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन अर्थात् कर्म के निमित्त से हुए शुभाशुभभाव और संयोग से मिली चीज़, वह सब कर्म से मिली है और कर्म भी कर्म से मिला है, अन्दर आठ कर्म पड़े हैं। इन सबसे सहित माना है, इसका नाम पर्यायबुद्धि है, इसका नाम मिथ्याबुद्धि, इसका नाम मिथ्यादृष्टि। इससे रहित ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, इनसे (विकार एवं संयोग से) रहित आत्मा है—ऐसा अभिप्राय करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन—पुरुष के सिद्धि की उपाय का पहला भाग है। कहो, समझ में आया?

उसका मूल से विनाश करना.... भाषा है, देखो है न! **निरस्य** नाश करके। **निरस्य**—क्या शब्द है? .....समझ में आया? दूसरी बात। वह सम्यग्दर्शन... अब (कहते हैं) **कर्मजनित पर्याय से भिन्न शुद्धचैतन्यस्वरूप को यथार्थतया जानना सम्यग्ज्ञान है....** देखो! यह ज्ञान। राग को जानना, संयोग को जानना, शास्त्र को जानना, उसे

www.vitragvani.com

सम्यग्ज्ञान नहीं कहा। ये कर्मजनित विकल्प हैं या संयोगी चीज़ है, उनसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमूर्ति अभेदस्वरूप, उसके स्वरूप का यथार्थरूप से जानना, वह ज्ञान अपने शुद्ध ज्ञेय को भलीभाँति पकड़कर वेदे-जाने, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें ?

कर्मजनित पर्याय से भिन्न.... वास्तव में तो शास्त्र का जानपना, वह भी कर्मजनित पर्याय है, परालम्बी। उस व्यवहार की श्रद्धा, वह परजनित है। समझ में आया ? इन सब परजनित भावों से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप को, शुद्ध ज्ञानस्वरूप को यथार्थरूप से अन्तर में ज्ञायकपने का ज्ञान करना, इसका नाम सम्यग्ज्ञान—पुरुष की सिद्धि का दूसरा उपाय है। दूसरा अर्थात् द्वितीय अवयव-अंग। उपाय तो एक ही है, तीन होकर एक ही है। समझ में आया ? कहो, रतिभाई !

वह पढ़ाई समझे बिना यह किस प्रकार समझे ? पहले वह पढ़ा हो तो समझे या नहीं ? एक व्यक्ति ने ऐसा प्रश्न किया, लो ! कि वह पाँच, दश पढ़ा न हो तो यह समझे किस प्रकार ? इसलिए वह पढ़ना, लाभदायक होगा। वह संसार का, हों ! एक व्यक्ति ऐसा पूछता था। संसार की (पढ़ाई) वह पढ़े बिना इसे किस प्रकार ख्याल आयेगा ? ऐसा। ऐई ! वह तो-पढ़ाई तो ठीक, परन्तु यहाँ तो शास्त्र की ओर का परसन्मुख का बोध, वह भी मन्दराग से हुआ कोई सन्मुख, वह बोध भी सम्यग्ज्ञान नहीं।

सम्यग्ज्ञान तो, उस निमित्त के लक्ष्य से कुछ उघाड़ आदि हुआ, पर में हुआ—पर के लक्ष्य से (हुआ उघाड़), उन सब भावों से भिन्न शुद्ध चैतन्य अकेला अभेद चैतन्यस्वभाव, उसका अन्दर ज्ञान करना, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। समझ में आया ?

अब आयी चारित्र की व्याख्या। देखो ! ये निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञान दो हुई। 'दास !' अब चारित्र किसे कहना ? यह विवाद अभी उठे, उसका सब स्पष्टीकरण इसमें। **कर्मजनित पर्यायों से....** देखो ! वह शुभराग आदि कर्मजनित पर्याय है। महाव्रत के परिणाम, अणुव्रत के परिणाम ये सब कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए उपाधिभाव हैं। इनसे **उदासीन होकर....** लो ! मुनिपना ! माँगीरामजी ! आहाहा ! भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव से भरा भण्डार, उसके सन्मुख की दृष्टि और पर से विमुखता की दृष्टि, वह सम्यग्दर्शन (है)। शुद्ध चैतन्यस्वरूप के सन्मुख का अन्तर्मुख का ज्ञान, उसे ज्ञान (कहते हैं) और रागादि

www.vitragvani.com

विकल्प तथा शरीर आदि की पर्यायें, ऐसे जो दया में निमित्त शरीर की पर्याय हो, भक्ति में भी यह शरीर की पर्याय पूजा में निमित्त हो—ये सब पर्यायें और राग से उदासीन होकर—हटकर, उदासीन अर्थात् वहाँ से हटकर **स्वरूप में अकम्प–स्थिर रहना**.... जैसा शुद्धस्वरूप दर्शन में, प्रतीति में लिया है, जैसा शुद्धस्वरूप का ज्ञान, ज्ञान में किया है; ऐसे ही स्वरूप में—शुद्धस्वरूप में—राग से हटकर... राग से हटकर श्रद्धा–ज्ञान तो किया था, परन्तु अस्थिरता थी; अब उस राग के विकल्प से हटकर स्वरूप में—शुद्धता में स्थिर होना, इसका नाम चारित्र और इसका नाम मुनिपना है। कहो, समझ में आया इसमें? व्यवहार व्रत आदि, वे चारित्र नहीं–ऐसा कहते हैं।

पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य के विकल्प जो हैं, वे चारित्र नहीं; वे अचारित्र हैं। उनसे उदासीन होकर... उदासीन (अर्थात्) हटकर, इसमें आसन लगा देना—शुद्धस्वरूप में स्थिरता, सूरत लगा देना, इसका नाम भगवान परमेश्वर, पुरुष के उपाय का, पुरुष की सिद्धि के उपाय का चारित्रमार्ग कहते हैं। यह चारित्र! कहो! देह की क्रिया, वह चारित्र नहीं, महाव्रत आदि के शुभपरिणाम उत्पन्न हों, वह भी चारित्र नहीं। कहो, बल्लभदासभाई! परन्तु यह तो सब अभी बिना ठिकाने का, दर्शन बिना वे अकेले व्रत के परिणाम, वह हमारा चारित्र है (–ऐसा कहते हैं)। लो! कठिन अर्थात् कष्टदायक है, इसलिए कठिन है; इसलिए वे लोग इन्हें चारित्र नहीं मानते—ऐसा कहते हैं, भारी भाई! यह व्रत पालना, वह कष्टदायक है, कठिन है; इसलिए इन्हें चारित्र नहीं कहते। अरे... भगवान! जिसे दुःखदायक लगे, वे परिणाम ही मिथ्यात्व के हैं। चारित्र को दुःखदायक मानना, वह चारित्र को विपरीत माना है।

चारित्र तो आनन्ददायक है। चारित्र, आनन्ददायक है। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप में रमे, रमे, चरे, जमे, स्थिर हो, वह तो आनन्द का अनुभव है, अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति का वेदन है। चारित्र, कष्टदायक नहीं होता। चारित्र को कष्टदायक माने, वह चारित्रगुण की विपरीत मान्यता–मिथ्यात्व है। आहाहा! क्या करना इसमें? ऐ... दास! मोटा पूरा बिल फिर गया है।

कहते हैं, भगवान आत्मा परमानन्द का समरसी चारित्रस्वरूप ही है। चारित्र अर्थात्

www.vitragvani.com

कि जैसे ज्ञायकस्वरूप है ज्ञान, वैसे चारित्र अर्थात् समरसस्वरूप आत्मा है, समरसस्वरूप वीतरागीघन है। ज्ञानघन है, वैसे वीतरागीघन है। उसमें स्थिर होना और हटना नहीं, इसका नाम भगवान, चारित्र कहते हैं। कहो, समझ में आया ? अभी चारित्र किसे कहना—सुनने को न मिले और हो गया चारित्र। शोभालालजी ! भगवान आत्मा शुद्ध परमानन्द का कन्द, रसकन्द, विज्ञानघन है। उसके सन्मुख की प्रतीति, उसके सन्मुख का ज्ञान और उसके सन्मुख में स्थिरता; राग से विमुख होना। कहो, समझ में आया ?

कर्मजनित पर्यायों से उदासीन होकर.... उनसे उपेक्षा करके **स्वरूप में अकम्प–स्थिर रहना....** भगवान आत्मा समरसीबिम्ब, समरसीबिम्ब में स्थिर होना **सम्यक्‌चारित्र है।** वह सम्यक्‌चारित्र है। तीनों की व्याख्या बहुत स्पष्ट हो गयी। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः–तत्त्वार्थसूत्र।' इन तीनों की यह व्याख्या। समझ में आया ? अभेद से भले बात की है, वस्तु तो ये तीन हैं।

इन तीन भावों का समुदाय.... ऐसा कहते हैं, तीनों होकर एक मोक्षमार्ग है; तीन मोक्षमार्ग नहीं, ऐसा। **इन तीन भावों का समुदाय ही उस जीव के कार्य सिद्ध होने का उपाय है।** पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है न नाम ? चौथा पद है न इसमें ? **'पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्'** चौथा पद, १५ वीं गाथा चलती है वह, **'पुरुषार्थसिद्ध–युपायोऽयम्'** इन तीनों भावों का, पर्याय एक है, उसका एकरूप **उस जीव के कार्य सिद्ध होने का....** देखो ! **कार्य सिद्ध होने का उपाय है।** आत्मा का कार्य—मोक्ष, उसे सिद्ध होने का यह कारण है। मोक्ष ऐसा जो कार्य, उसका उपाय अर्थात् कारण। ये तीन कारण, वह एक ही उपाय है। समझ में आया ?

श्रावक–आचार का वर्णन करना है, उसके पहले इस वस्तु का वर्णन किया। इस वस्तु के भान बिना इसे श्रावक के, व्रत के व्यवहार विकल्प जो उठते हैं, उन्हें व्यवहार भी नहीं कहा जाता यह भान बिना। ऐसा सम्यक् अनुभव और दृष्टि है, पश्चात् उसमें स्थिरता का अंश जरा आया है, उसे श्रावक के बारह व्रत का विकल्प उठता है, वह पुण्यभावरूपी व्यवहार है—ऐसा यहाँ सिद्ध करना चाहते हैं। समझ में आया ? फिर व्रत में दोष लगे तो, अतिचार लगे तो टालना, यह सब व्याख्या विकल्प की है। आहा ! समझ में आया ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

इन तीनों भावों का समूह, वही इस जीव को कार्य अर्थात् मोक्षरूपी प्रयोजन सिद्ध होने का यह एक ही उपाय है। **दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।** लो! इसमें एक ही उपाय है, दो नहीं—ऐसा नहीं आया इसमें? परन्तु यह तो आर्ष वाक्य कहाँ है—ऐसा कहते हैं। ऐसे के ऐसे। परन्तु यहाँ क्या कहते हैं? **'यत्तस्मादविचलनं विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् यत्तस्मादविचलनं स एव, स एव निश्चय पुरुषार्थ–सिद्धयुपायोऽयम्'** यहाँ तो अस्ति से बात करते हैं न! शैली अस्ति से की (है)। 'नमः समयसाराय' में भी संक्षिप्त बात की है न? समझ में आया? **दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।** कहो, भाई! 'सर्वथा' जैनशासन में होता नहीं, ऐसा और आता है। बड़ा विवाद इसका। तो मोक्ष में पूर्ण आनन्द कदाचित् होवे नहीं, सर्वथा पूर्णानन्द होवे नहीं। इसका अर्थ क्या? (सर्वथा न होवे तो फिर), मिथ्यात्व का सर्वनाश न होवे, अचारित्र का सर्वथा नाश न होवे, मिथ्याज्ञान का सर्वथा नाश न होवे। सर्वथा का क्या अर्थ? सर्वथा आत्मा द्रव्य से शुद्ध है—ऐसा भी नहीं कहा जाए। कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध–द्रव्य? पर्याय अशुद्ध है, परन्तु वस्तुरूप से कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध—ऐसा होगा?

यहाँ तो (कहते हैं), **दूसरा कोई उपाय सर्वथा नहीं है।** एक ही आत्मा शुद्धस्वरूप से बिराजमान प्रभु, इस विकारी पर्याय के अभिप्राय से हटकर, स्वरूप की दृष्टि करना, विकारी पर्याय से हटकर स्वरूप का ज्ञान (करना), विकारी पर्याय से हटकर स्वरूप में स्थिर होना—यह एक ही आत्मा को मोक्ष के उपाय का कारण–उपाय है। कहो, बहुत अच्छा श्लोक आया है, बल्लभदासभाई! इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मार्ग, वीतरागमार्ग में है नहीं। अन्य में तो है ही नहीं, अन्य में तो है ही नहीं।

दूसरा कोई उपाय.... अर्थात्? उपाय अर्थात् दूसरा मार्ग हुआ न? कारण। उपाय शब्द से (आशय) दूसरा कारण, मार्ग; इसलिए कोई दो कहे—निश्चयमार्ग और व्यवहारमार्ग। मार्ग अर्थात् कारण, मार्ग अर्थात् उपाय। तो यहाँ दूसरा कोई उपाय नहीं है अर्थात् दूसरा कोई मार्ग नहीं है। दूसरा कोई उपाय नहीं है कहो या दूसरा कोई मार्ग नहीं है कहो या दूसरा कोई कारण नहीं है–ऐसा कहो—दोनों एक ही हैं। 'उपाय' शब्द पड़ा है न अन्दर? **'पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्'** पुरुषार्थसिद्धि का कारण यह। पुरुषार्थसिद्धि का

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हेतु यह। पुरुषार्थसिद्धि का मार्ग यह। इसे दूसरा मार्ग है नहीं। कहो, इसमें आता है या नहीं? यहाँ के तो सब 'हाँ' करते हैं। समझे बिना हाँ करते हैं। हमारे पण्डितजी को ऐसा ठहराते हैं। निमित्त की मुख्यता थी, वह तो पहले था, इन्होंने भी फिर बदल डाला। कौन जाने? विभंग, विभंग पहले नहीं, विभंग अर्थात् विपरीत भंग, ऐसा। विभंग अज्ञान, वह नहीं, विपरीत भंगवाला। कहो, समझ में आया इसमें?

'विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् यत्तस्मादविचलनं स एव, स एव' लो समझ में आया? **'पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्'** लो! यह बड़ी..... **'स एव'** पुरुषार्थसिद्धि–उपाय मार्ग, उपाय अर्थात् मार्ग ऊपर का वजन है अभी। उपाय अर्थात् मार्ग, कारण, उपाय। यह एक ही मार्ग है, यह एक ही उपाय है, यह एक ही कारण है। कहो, समझ में आया?

पहले पद में सम्यग्दर्शन की व्याख्या, दूसरे में सम्यग्ज्ञान की, तीसरे में चारित्र की और चौथे में इन तीनों का एकपना एक ही मार्ग है—ऐसे चार पद कहे। लो, समझ में आया? भाई! रात्रि को बात चलती थी न? भाई! ये दो उपाय निरूपण, निरूपण किया करते हैं। क्या करे परन्तु लोगों को.... भारी अकुलाहट है। उन्हें फिर जवाब देने में रुकना, इसे फिर उसके लिये ढूँढ़ना और... काल ऐसा है न। कहो, शोभालालजी! ठीक आया न? यह स्पष्ट बात है।

एक ही मार्ग है, एक ही उपाय है, एक ही कारण है। कार्य का एक कारण है, मोक्षरूपी कार्य का एक कारण है। कौन? कि आत्मा शुद्धस्वरूप है, उसे विपरीत अभिनिवेशरहित सम्यग्दर्शन प्रगट करना, उसे विपरीत—पर के ज्ञान से रहित स्वरूप का ज्ञान करना, राग से उदासीन होकर स्वरूप में स्थिर होना—यह एक ही प्रकार का मोक्षरूपी कार्य का एक कारण है। कार्य के दो कारण यहाँ इनकार करते हैं, भाई! लो! यह तो वे (कहते हैं), दो कारण का एक कार्य, दो कारण का... आहाहा! उस कार्य का एक ही कारण है—ऐसा सिद्ध किया। वजुभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो एक दूसरा होता है, व्यवहार के शास्त्रों में दूसरा—

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

व्यवहार होवे, उसका ज्ञान कराते हैं। यहाँ यह प्रश्न किया, भाई फूलचन्दजी ने लिखा ऐसा कि व्यवहार है, वह ज्ञान कराने के (लिये है), यह तुमने तुम्हारी कल्पना से लिखा है। व्यवहार ज्ञान कराने के लिये है—ऐसी कहाँ बात फैलाते हो? 'खानियाचर्चा' में लिखा है। उसका अर्थ कि यह वस्तु जानी है, तब एक रागादि अभी बाकी रहा है, शास्त्र का ज्ञान है, व्रत का विकल्प है, उसे व्यवहार कहते हैं, वह जानने में निमित्त कहते हैं अर्थात् इस उपादान का ज्ञान हुआ, तब उस निमित्त का ज्ञान होता है। करना, वह तो स्व-पर का ज्ञान ऐसा ही रह जाता है। उसे इसका ज्ञान होने पर ऐसा होवे, उसका ज्ञान वहाँ स्वतः रह जाता है, होता है। इससे उसका ज्ञान करनेयोग्य है—ऐसा कहने में आया। समझ में आया?

ज्ञान का स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक है न! स्व का-शुद्ध का ज्ञान हुआ, तब अन्दर राग बाकी है, उसे व्यवहार समकित का आरोप, उपचार से निमित्त देखकर कहते हैं—ऐसा जानना। शास्त्र के ज्ञान का निमिततरूप से परालम्बी है, उसे निमित्तरूप से है—ऐसा जानना। वैसा यहाँ ज्ञान कराया, तो ज्ञान करना, वह कोई नया ज्ञान करना नहीं है। यह तो स्व का ज्ञान होने पर स्व-परप्रकाशक ज्ञान ही ऐसा प्रगट होता है। समझ में आया? (समयसार) ११ वीं गाथा में कहा, उसकी १२ में सन्धि है।

भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ तो अब उसे जाननेयोग्य अपूर्ण—कोई अधूरी दशा रहती है या नहीं? या पूर्ण हो गया है? पूर्ण का आश्रय करके दर्शन हुआ, पर्याय में पूर्ण हुआ नहीं; इसलिए पर्याय में अभी थोड़ी अशुद्धता है, शुद्धता के अंश पहले की अपेक्षा बढ़ते हैं—ऐसे सब भेद को जानना, वह प्रयोजनवान है। यह उसमें नहीं आया जानना वह? कहाँ आया? ऐसा कहते हैं। व्यवहार को जानना, वह भी है, यह बात तुम ही कहते हो, निमित्त का ज्ञान कराने (के लिये, यह तुम ही कहते हो)। यह क्या कहा? 'तदात्वे', 'तदात्वे' है न? कल दोपहर को 'तदात्वे' आया था न? कल आया था। लो! उस काल में जाननेयोग्य है। सत्य बात है।

आत्मा अपने स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरता करता है, तब कुछ बाकी रह जाता है, वह जाननेयोग्य रह जाता है। ऐसा ज्ञान का स्वभाव ही उस प्रकार का स्व-परप्रकाशक का खड़ा होता है। इसे जानना, ऐसा कोई नया ज्ञान प्रगट नहीं करना। समझ

www.vitragvani.com

में आया? परन्तु इस प्रकार से जानने की दशा ही (रह जाती है)। केवलज्ञानी का पूर्ण (दशा) होती है, पूरा है, इसलिए कहीं उन्हें (जाना हुआ प्रयोजनवान ऐसा नहीं रहता)। इसे यहाँ (निचले गुणस्थान में) थोड़ा-थोड़ा अर्थात् स्थिरता बढ़ती जाए या अशुद्धता घटती जाती है, वैसा इसे ज्ञान होता है, बस! समझ में आया?

जो इस उपाय में लगते हैं अब उनका वर्णन करते हैं:- एकदम तीनों की अलग बात करे न? अब मुनि की बात करते हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों में जिनकी लीनता है, उन्हें मुनि कहने में आता है। इसलिए इन तीनों की बात करके, तीनों की एकता की दशा हो, उनकी—मुनि की—बात करते हैं। समझ में आया? जो इस उपाय में लगते हैं, दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों, हों! तीनों, एक ही मार्ग है। **अब उनका वर्णन करते हैं।**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - १६

जो इस उपाय में लगते हैं, अब उनका वर्णन करते हैं:-

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।१६।।

रत्नत्रय पद धारी मुनिवर तजते हैं नित पापाचार।
अहो अलौकिक वृत्ति धारते परद्रव्यों से रहें उदास।।१६।।

अन्वयार्थ : (एतत् पदम् अनुसरतां) इस रत्नत्रयरूप पदवी का अनुसरण करनेवाले अर्थात् इस पदवी को प्राप्त हुए (मुनीनां) मुनियों की (वृत्तिः) वृत्ति (करम्बिताचारनित्य-निरभिमुखा) पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा पराङ्मुख तथा (एकान्तविरतिरूपा) परद्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप और (अलौकिकी) लोक से विलक्षण प्रकार की (भवति) होती है।

टीका : 'एतत्पदं अनुसरतां मुनीनां वृत्तिः अलौकिकी भवति।' - इस रत्नत्रयरूप पदवी को प्राप्त हुए महा मुनियों की रीति लौकिक रीति से मिलती नहीं है। वही कहते हैं। लोक, पापक्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है; मुनि, पापक्रियाओं का चिन्तवन भी नहीं करते। लोक, अनेक प्रकार से शरीर को सँभाल और पोषण करता है परन्तु मुनिराज, अनेक प्रकार से शरीर को परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते हैं। और लोक को इन्द्रिय-विषय अत्यन्त मिष्ट लगते हैं, जबकि मुनिराज, विषयों को हलाहल विष समान जानते हैं।

लोक को अपने पास जन-समुदाय रुचिकर लगता है, जबकि मुनिराज दूसरों का संयोग होने पर खेद मानते हैं। लोक को बस्ती सुहावनी लगती है, किन्तु मुनि को निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है। कहाँ तक कहें? महामुनि की रीति लौकिक रीति से विरुद्ध होती है। कैसी है मुनियों की प्रवृत्ति? 'करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा' - पापक्रिया सहित आचार से पराङ्मुख है। जिस प्रकार श्रावक का आचार, पापक्रिया से

www.vitragvani.com

मिश्रित है; वैसे मुनीश्वरों के आचार में पाप का मिश्रण नहीं है। अथवा 'करम्बित' अर्थात् कर्मजनितभाव मिश्रित आचरण से पराङ्मुख हैं, केवल निजस्वरूप का अनुभव करते हैं; इसलिये 'एकान्त–विरतिरूपा' अर्थात् सर्वथा पापक्रिया के त्यागी हैं अथवा एक निजस्वभाव के अनुभव से सर्वथा परद्रव्यों से उदासीन स्वरूप हैं। रत्नत्रय के धारक महामुनियों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है।।१६।।

गाथा १६ पर प्रवचन

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।१६।।

लो! एकान्त आया इसमें, देखो! एकान्त है न? **'एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः'** लो! माँगीरामजी! यह मुनि का व्याख्यान आया। ये कल पूछते थे। **इस रत्नत्रयरूप पदवी का अनुसरण करनेवाले....** भगवान आत्मा का अन्तर अनुभव का सम्यग्दर्शन, उसका ज्ञान और उसमें राग से हटकर स्वरूप में रमणता (होना)—ऐसा जो निश्चयरत्नत्रयरूप परिणाम। वैसी **पदवी का अनुसरण करनेवाले अर्थात् इस पदवी को प्राप्त हुए (पुरुष) महा मुनियों की ऐसे महासन्तों की वृत्ति.... 'करम्बिताचारनित्य–निरभिमुखा' पापक्रिया मिश्रित आचारों से....** श्रावकों को अभी तो कुछ पापमिश्रित क्रिया होती है। इससे उन्हें यहाँ कहना चाहते हैं। **मुनि को पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा पराङ्मुख...** बिल्कुल परान्मुख। **'एकान्तविरतिरूपा' परद्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप...** इसकी व्याख्या की। **'एकान्तविरति' परद्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप...** इसमें क्या अर्थ किया है? एकान्तविरति की व्याख्या की। समझ में आया? यह तो एकान्त आया न? इस ओर में एकान्त झुक गया है। **'एकान्तविरति' परद्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप और लोक से विलक्षण प्रकार की होती है।** दुनिया की अपेक्षा मुनियों की चारित्र की दशा अलौकिक, अलौकिक–दुनिया से अलग प्रकार की होती है। समझ में आया? एकान्त आया।

www.vitragvani.com

'विरतिरूपा' कहा है न? विरति अर्थात् उदासीन लिया। १६ वीं गाथा में है न? १६ वीं। विरति अर्थात् एकान्त नहीं, सर्वथा किया। इनने एकान्त और सर्वथा कहा है। सर्वथा अर्थ किया, एकान्त को सर्वथा कहा। एकान्त अर्थात् सर्वदा, सर्वथा उदासीनरूप, **'विरतिरूपा'** सर्व द्रव्यों से, ऐसा।

मुनियों की वृत्ति चारित्रदशा, अन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित की अन्तर रमणता अलौकिक वृत्ति है, अलौकिक है। लोकोत्तर परिणति है। परद्रव्य से, रागादि से और समस्त परवस्तुओं से उदासीनरूप अलौकिक—लोक के विलक्षण प्रकार की—अन्तर मुनि की दशा होती है। उसे यह रत्नत्रय का उपाय परिणमित हुआ कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

देखो! इस श्रावक में भी यह पहला लिया। पहले लेकर फिर कहते हैं कि ऐसा पालन न कर सके, उसे श्रावकपना होता है, ऐसा। इसके लिये यह बात पहले ली है। पूर्ण बताकर, पूर्ण के पालनेवाले ऐसे होते हैं। ऐसा न पाल सके, उसे श्रावकपना अंगीकार करना—ऐसा कहेंगे। इसलिए यह बात यहाँ उठाई है। समझ में आया?

अहा! यह तो परमेश्वरदशा! मुनिदशा अर्थात् बाह्य में नग्नदशा हो, अन्तर में अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प हो, परन्तु उनसे उदासीन हैं—ऐसा यहाँ तो कहते हैं। शुभभाव से भी उदासीन हैं। अशुभभाव तो उन्हें होता नहीं, परन्तु जो उन्हें अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प की दशा उत्पन्न होती है और शरीर की नग्नदशा (होती है), उससे भी अन्तर में तो उदासीन है। समझ में आया? अर्थात् उसकी उपेक्षा करके स्वभाव की अपेक्षा में स्थित हैं। आहा!

मुनि; मुनि अर्थात्? जिन्हें गणधरदेव का नमस्कार पहुँचे। चार ज्ञान, चौदह अंग-पूर्व का (ज्ञान) जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में प्रगट होता है। अन्तर्मुहूर्त में बढ़े, उनका जिन्हें नमस्कार पहुँचे, वह तो कैसी दशा! भाई! आहा! गणधर, सीमन्धर भगवान के गणधर बिराजते हैं। वे भी जब विकल्प से नवकार में आवें, (तो कहते हैं) 'णमो लोए सव्व साहूणं, णमो लोए सव्व आयरियाणं, णमो लोए सव्व ऊवज्झायाणं!' अहो सन्त! तेरे चरण में मेरा नमस्कार! जो राजा-भगवान तीर्थंकर धर्मराजा—उनके दीवान, ऐसे परमेश्वर के

www.vitragvani.com

समीप में बैठे हुए, समीप में रहे हुए, जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त करने की समीपता है ऐसे मुनि, गणधर भी कहते हैं, अहो! मुनि! तेरी अलौकिक परिणति है, तेरी अलौकिक दशा है! अन्तर दर्शन अनुभव, स्व का सम्यग्ज्ञान और स्वरूप में रमणता; शुभराग से भी उदासीन होकर, यह जो मोक्ष के कार्य के कारण का सेवन तू करता है, (वह) अलौकिक वृत्ति है! वहाँ लौकिकपना नहीं रहा। देखो! भाषा कैसी है? लौकिकपना नहीं। वह व्यवहार—जो रागादि है—वह तो लौकिक व्यवहार है। समझ में आया?

'**अलौकिकी भवति**'—ऐसा कहा है न? अलौकिक होते हैं, अलौकिक। यह राग का विकल्प कोई अलौकिक नहीं है। आहाहा! '**एकान्तविरतिरूपा अलौकिकी भवति**' वाह! वृत्ति, वृत्ति शब्द है न? देखो न! महामुनियों की वृत्ति शब्द पड़ा है। वृत्ति अर्थात् परिणति। है न? पाठ में ही है, देखो! १६ वीं गाथा का अन्तिम शब्द है-वृत्ति। '**मुनीनामलौकिकी वृत्तिः**' १६ वीं गाथा, अन्तिम पद। '**मुनीनामलौकिकी वृत्तिः**' मुनियों की अलौकिक परिणति है। आहाहा! समझ में आया? अलौकिक परिणति होती है—ऐसा लेना। मुनि अर्थात् अलौकिक वृत्ति। '**एकान्तविरतिरूपा भवति**' ऐसा। वाह! समझ में आया?

जिन्हें अतीन्द्रिय प्रचुर स्वसंवेदन (प्रगट हुआ है), अन्दर-आनन्द की दशा में रमते हैं, प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द की दशा में अन्दर जम गये हैं, पिण्ड-पिण्ड हो गये हैं—ऐसी अन्दर दर्शन-ज्ञानसहित की चारित्र की रमणता, ऐसी जिनकी अलौकिक परिणति है। उन्हें '**एकान्तविरतिरूपा**' दशा हो गयी है। सर्वदा उन्हें वही निरन्तर परिणति सदा ऐसी वर्तती है—ऐसा वापस कहते हैं। एकान्त का अर्थ भले सर्वदा कहा। उन्हें सर्वदा राग से निवृत्तिरूप अलौकिक परिणति—वीतरागी परिणति, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रचुर स्वसंवेदनसहित सदा परिणति अलौकिकी वर्तती है। यह अलौकिकीवृत्ति, वह चारित्र है। कहो, खोडीदासभाई! आहाहा! भाषा क्या की है? देखो न! लोक से विलक्षण प्रकार की। व्यवहार आदि विकल्प है, उससे यह तो विलक्षण है। समझ में आया? कहा न! व्यवहारनय लौकिक..... द्रव्यसंग्रह में लिया है। लोकोक्ति।

यह मुनिपना, इन तीन की एकता का समूह—दर्शन-ज्ञान-चारित्र। भगवान आत्मा

www.vitragvani.com

में जम गये हैं, जम गये हैं। ऐसे जमे हैं कि अन्तर से निकलना ही उन्हें नहीं रुचता। वे **'एकान्तविरति'**—सर्वदा उदासीनरूप हैं। किसी समय उदासीन और किसी समय कुछ, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। एकान्त एक पक्ष में उदासीनरूप से ही सदा स्थित हैं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता का—मोक्षमार्ग का—यह कारण भाव, उस कार्य का कारण, उन मुनि को पूर्ण प्रगट हुआ होता है। उसे मुनि की वृत्ति कहने में आता है।

विशेष कहेंगे...... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९ गाथा-१६ सोमवार, पौष शुक्ल ६, दिनांक १६.०१.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' 'अमृतचन्द्राचार्य' कृत, १६ वीं गाथा। टीका, २२ वें पृष्ठ पर है। **'एतत्पदं अनुसरतां मुनीनां वृत्तिः अलौकिकी भवति।'** क्या कहते हैं? **'एतत्'** अर्थात् **इस रत्नत्रयरूप पदवी को प्राप्त हुए....** ऊपर कहा था, १५ वीं गाथा में कहा था कि सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या? कि आत्मा में कर्म के निमित्त से हुए पुण्य-पाप के विकल्प, विकार और कर्म के निमित्त से प्राप्त बाह्य की सामग्री—दोनों से रहित आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है। ये पुण्य-पाप के विकल्प—राग और बाह्य संयोग, यह कर्मजन्य उपाधि है। इनसे भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य भिन्न है। ऐसा आत्मा का अनुभव करना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य वीतराग समरसीस्वरूप है आत्मा। उसे उसके विषम शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति या काम, क्रोध शुभाशुभभाव, ये विषम भाव हैं, इनसे समभाव को भिन्न करके, विषमभाव से भिन्न स्वरूप है—ऐसे अन्तर में सन्मुख दृष्टि करके, आत्मा के अनुभव में प्रतीति करना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह रत्नत्रय पदवी कही न, यह पहली सम्यग्दर्शन की पदवी है। **'एतत्'** शब्द पड़ा है न? **'एतत् पदम्'** यह रत्नत्रय की पदवी। इसके उपाय में लगे हुए जीव कैसे होते हैं—उनका इस १६ वीं गाथा में वर्णन है।

www.vitragvani.com

पहली पदवी यह कि वस्तुस्वरूप अत्यन्त निर्विकल्प अर्थात् राग के विकल्प—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, आदि राग—इससे भिन्न चीज़ है। ऐसी अन्तर में—अन्तर्मुख में दृष्टि स्वभावसन्मुख की होना और पुण्य-पाप के राग से विमुख होकर स्वभाव की एकाग्रता की अनुभव में प्रतीति करना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन—मोक्ष के उपाय की पहली पदवी सम्यग्दर्शन है। शान्तिभाई!

दूसरी पदवी—इन शुभ और अशुभराग के विकल्प से रहित, चैतन्य के ज्ञानस्वरूप स्वयं चिदानन्दस्वरूप है, उसका अन्तर्मुख में ज्ञेय करके उसका ज्ञान करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन के बाद की सम्यग्ज्ञान की दूसरी पदवी है। समझ में आया?

तीसरी (पदवी)—यह शुभ और अशुभ जो राग है, इससे हटकर / उदासीन होकर शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थिर होना, वीतरागपर्यायरूप से परिणमित होना, इसका नाम तीसरी चारित्र की पदवी कही जाती है। कहो, समझ में आया? मांगीरामजी! यह तुमने कल पूछा था कि मुनिपने की विधि। वह गाथा आयी। ये तीन प्रकार की जो एकत्व पदवी—ऐसा है न? देखो! यह रत्नत्रयस्वरूप पदवी। पूरी तीनों एकसाथ ली है न यहाँ तो?

भगवान आत्मा अनन्त चैतन्य गुणधाम। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।' ऐसी अन्तर में (प्रतीति होना)। विकल्प जो रागादि थे न? दया, दान... यह दोपहर में तो कहा जाता है कि मैं शुद्ध हूँ—ऐसा जो विकल्प / राग... इसमें वह आ जाता है। आस्रव से भिन्न कहने पर, कर्मजनित पर्याय से भिन्न कहने पर मैं शुद्ध हूँ—ऐसा जो विकल्प, उससे भी रहित इसमें हो जाता है। समझ में आया? ऐसे चैतन्यस्वरूप का, निजस्वरूप के सन्मुख होकर, विकार से विमुख होकर अन्तर में भान करके प्रतीति करना—यह प्रथम अनन्त काल में नहीं हुई सम्यग्दर्शन की—पहली—यह मोक्षमार्ग के उपाय की पदवी है। शोभालालजी! और वह सम्यग्ज्ञान सहित होती है। वह ज्ञान किसका? कि जो स्वरूप शुद्ध है उसका। रागादि का नहीं। राग से लक्ष्य छोड़ा है और स्वरूप में अन्तर एकाग्र हुआ है, तब ज्ञानस्वरूप चिदानन्द है—ऐसा जो स्वसंवेदनज्ञान आया, उसे यहाँ मोक्ष की पदवी का दूसरा अवयव—दूसरा भाग—ज्ञान कहा जाता है। उसके साथ तीसरी (पदवी)—पुण्य-पाप के कर्मजनित उपाधिभाव शुभ-अशुभ है, उनसे उदास होकर स्वरूप में चरना-

www.vitragvani.com

रमना–लीन होना, उसे यहाँ चारित्र (कहते हैं)। एतत् पदवी में तीसरा बोल चारित्र पदवी का, जो मोक्ष का उपाय तीन होकर एक है, (कहने में आता है)। तीन होकर एक उपाय है। समझ में आया?

एतत् पदवी—**इस रत्नत्रयरूप पदवी को प्राप्त हुए....** ऐसी दशा को जो प्राप्त हुए होते हैं। **महा मुनियों....** उन्हें महामुनि कहते हैं। तीन उपाय को एकसाथ कहना है, इसलिए पहले महामुनि लिये हैं। पश्चात् ये तीन न पाल सके, उसे गृहस्थाश्रम में स्वरूप की अन्तर अनुभव की दृष्टि और स्वरूप के ज्ञानपूर्वक देश (एकदेश) पाप का त्याग करे तो उसका देशविरति नाम का श्रावकपना होता है, परन्तु इसके पहले यह बताते हैं। समझ में आया?

ऐसे (तीन पदवी को) प्राप्त हुए महामुनि हैं। तीनों होकर एक उपाय। **महा मुनियों की रीति लौकिक रीति से मिलती नहीं है।** उनकी रीति लोक के साथ, लोकरीति के साथ मिलान खाये, ऐसी नहीं, एक बात। **वही कहते हैं। 'अलौकिकी भवति'** है न? वृत्ति, उसकी व्याख्या करते हैं। **लोक पापक्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है,...** सम्यग्दृष्टि जीव, आत्मा की शुद्धदृष्टि होने पर भी, अभी उसे पापपरिणाम की आसक्ति एकदेश रही हुई है; जबकि मुनि को उस पापक्रिया की आसक्ति छूट गयी है। देखो! उनके समक्ष कहते हैं, **लोक, पापक्रियाओं में आसक्त होकर प्रवर्तन करता है, मुनि, पापक्रियाओं का चिन्तवन भी नहीं करते।** उन्हें पाप का विकल्प भी नहीं—ऐसा कहते हैं। ऐसी इन मुनि की दशा होती है कि जो जंगल में बसते हैं, यह भी आयेगा। समझ में आया?

लोक अनेक प्रकार से शरीर को सँभाल रखते हैं.... एक बात, और **पोषण करता है....** ध्यान रखते हैं। आसक्त की वृत्ति है, इसलिए और उसके लिये जरा पोषण की वृत्ति भी उन्हें होती है। **मुनिराज अनेक प्रकार से शरीर को परीषह उत्पन्न करके...** पहला शरीर की संभाल रखता है, जबकि ये, परीषह अनेक प्रकार के हों, ऐसा अन्दर पुरुषार्थ करते हैं। नहीं समझ में आया? स्वरूप की ओर की जिन्हें इतनी उग्रता है कि बाहर की प्रतिकूलता के ढेर आवें, तो भी उनके सन्मुख जिनकी दृष्टि नहीं होती। इसीलिए कहते हैं कि परीषह को उपजाते हैं। ऐसा कहते हैं, उसका अर्थ। प्रतिकूलता

www.vitragvani.com

इतनी आ पड़े क्षुधा की, तृषा की, बाघ, भालू इत्यादि कि जो जंगल में बसते हैं। उन्हें बाहर के परीषह पड़े—ऐसी स्थिति में वे खड़े होते हैं-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? बाहर की प्रतिकूलता हो—ऐसी स्थिति में जाकर खड़े रहते हैं—ऐसा कहते हैं। उपजाते हैं का यह अर्थ है। और दूसरी बात—**सहन करते हैं।** कहा था न, सँभाल रखते हैं और पोषण करते हैं। जबकि यहाँ कहते हैं-परीषह उपजाते हैं और सहन करते हैं। ऐसे दोनों पारस्परिक लिया है। ऐसे गुलाँट खाकर बात की है। पाठ में है न? पाठ में शब्द (है); '**अलौकिकी भवति**' इसके सामने-लौकिक वृत्ति के सामने अलौकिक वृत्ति का मिलान करते हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा मुनिपना ही मोक्ष के लिये पहला उपाय है, यह पहले लेना। यह न ले सके तो उसे फिर श्रावक की वृत्तियाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित अंगीकार करना—ऐसा कहेंगे। समझ में आया?

परीषह सहन करते हैं। गृहस्थाश्रम में परीषह न उपजे और शरीर की सँभाल रखे तथा वृत्ति पोषण की हो, जरा शरीर को ठीक रहे ऐसा। जबकि मुनियों को परीषह जहाँ उपजे, ऐसी स्थिति में खड़े होते हैं, जाते हैं। उपवास करते हैं। देखो न! परीषह उपजाते हैं—इसका अर्थ। जंगल में जाते हैं, पर्वत पर खड़े रहते हैं, महा तेज धूप में ऐसे खड़े रहते हैं। सर्दी होवे तो तालाब के किनारे जाते हैं, तालाब के किनारे जाते हैं। सर्दी में किनारे जाते हैं, तालाब के किनारे जाते हैं। सर्दी में तालाब के किनारे बैठते हैं, नग्न होकर... मुनि तो नग्न ही होते हैं। मुनि की दूसरी दशा नहीं होती। समझ में आया?

परीषह उत्पन्न करके उन्हें सहन करते हैं। ऐसा कहते हैं वापस। उस समय वहाँ सहनशीलता से आनन्द में झूलते हुए उसे—परीषह को जीतते हैं। मुनि अतीन्द्रिय आनन्द की लहर करते हैं। ऐसी सर्दी पड़ने पर या गर्मी की ११८ डिग्री की धूप, और पर्वत पर जाते हुए राजकुमार आदि मुनि होते हैं या साधारण हो, अन्तर के अतीन्द्रिय आनन्द की घूँटें पीते हैं। अन्तर के निर्विकल्प समाधि के शान्ति के वीतराग समरस के प्याले पीते हैं। समझ में आया? उसे मुनिपने की चारित्र की दशा कहा जाता है। माँगीरामजी! ये उपजाते हैं और वापस सहते हैं। उपवास आदि अट्ठम करे, जंगल में जाए, सर्दी में रहे। आनन्द और शान्ति से (वेदन करते हैं)। अतीन्द्रिय आनन्द में... तालाब में जैसे ठण्डे तालाब में पड़ने

www.vitragvani.com

से मनुष्य को सर्दी लगे, ऐसे भगवान अतीन्द्रिय आनन्द की जो श्रद्धा हुई है, अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान हुआ है, उस अतीन्द्रिय आनन्द में जीव को डुबोते हैं, उस अतीन्द्रिय आनन्द में डुबकी मारते हैं। समझ में आया?

लोक को इन्द्रिय–विषय अत्यन्त मिष्ट लगते हैं.... पारस्परिक बात की है। अलौकिक वृत्ति। लौकिकवृत्ति के सामने अलौकिकवृत्ति। पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर के झुकाव का आसक्ति का राग उसे होता है। **मुनिराज विषयों को हलाहल विष समान जानते हैं।** भोग को रोग–समान जानकर, भोग का भाव उन्हें उत्पन्न नहीं होता। समझ में आया? एक बात यह की। दूसरी विशेष करते हैं। इसी–इसी की—अलौकिकवृत्ति की—ही व्याख्या है। पारस्परिक की।

लोक को अपने पास जन–समुदाय रुचिकर लगता है.... जहाँ–जहाँ मनुष्य हों, पुरुष हो, स्त्री हो, शिष्य, सभा हो तो इसे रुचता है। **मुनिराज दूसरों का संयोग होने पर खेद मानते हैं।** यह प्रतिमा पूछेगा और फिर जवाब देना है और.... यह सेठ आया है और यह राजा आया है और यह कुछ पूछेगा और फिर जवाब (देना)। यह कहाँ पंचायत (करनी)? कहो, समझ में आया?

कहते हैं लोगों को मनुष्य के समुदाय के संग में उन्हें ठीक लगता है, जबकि मुनि को दूसरे का संयोग भी होने पर, संयोग होने पर अर्थात् आ पड़ने पर, ऐसा। करना चाहते तो नहीं, परन्तु आ पड़ने पर उन्हें खेद वर्तता है। समझ में आया? देखो! यह चारित्र की अन्तरदशा। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–आनन्द के भानसहित, आत्मा की लहर में आत्मा अन्दर से उड़ते हुए उसे यह बाहर में रुचता नहीं। यह व्यक्ति ऐसा पूछेगा, यह आया, यह राजा आया, इसकी महिमारूप से इसे नहीं बुलावे—इसे नहीं कहे तो ठीक नहीं लगे। धर्मात्मा मुनि की दशा, लौकिक की अपेक्षा अलौकिक परिणति उनकी होती है। समझ में आया?

लोक को बस्ती सुहावनी लगती है.... बस्ती में रहना रुचता है, बस्ती में रहना रुचता है। ऐसा यहाँ लेना है। जहाँ मनुष्य बसते हों–रहते हों, वहाँ रुचता है। **मुनि को निर्जन स्थान ही प्रिय लगता है।** निर्जन—जन रहित। मुनियों की ऐसी दशा (होती है)। ऐसी दशा मुनि की होती है। समझ में आया? जैन के मुनि। इसके अतिरिक्त दूसरे तो मुनि

www.vitragvani.com

हो सकते नहीं। तीन उपाय का साथ में वर्णन करना है न? दर्शन-ज्ञान और चारित्र। मुनि को निर्जन स्थान रुचता है, एकान्त (होवे), कोई भूल से भी न हो, मनुष्य नहीं, एकान्त में अपना काम साधना अच्छा लगता है। समझ में आया? पहले को (लोक को) सभा एकत्रित हो, लोग एकत्रित हो—अधिक हो तो ठीक, ठीक, उसे उत्साह आता है। मुनि को उसका उत्साह नहीं आता; उन्हें खेद होता है। यह क्या? आत्मा के भानसहित की स्थिरता की रमणता में रमते सन्तों को दूसरे का संग भी अच्छा नहीं लगता; उन्हें बस्ती में रहना नहीं रुचता। आहाहा! 'मुम्बई' में साधु नहीं रहते। अभी तो है ही कहाँ? बात तो सब कठोर पड़ेगी, भाई! समझ में आया?

मुनिपना अर्थात् क्या? दुनिया ने मुनिपना सुना नहीं है। वीतराग—सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिसे मुनिपना कहते हैं, वह दशा कैसी होती है, यह लोगों ने सुना नहीं है। आहा! ऐ...ई! माँगीरामजी! श्रीमद् में नहीं आता?

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥

ऐसी भावना, सन्तों को अन्तर में रमणता जग गयी है न! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उपरान्त चारित्र के स्वरूप की रमणता की बलवान दशा जागृत हो गयी है। जिन्हें सिंह का योग होवे तो भी जिनके मन में कम्पन नहीं है, आसन चलित नहीं होता, मन चलता नहीं। निर्जन वन में... सन्त तो वन में ही रहते थे.... नग्न मुनि होते हैं। वे वीतरागी मुनि नग्न होते हैं। समझ में आया? ये वस्त्र-पात्र और जो ये (रखते हैं), वे तो बाद में कल्पना से बनाकर ठहराया है। यह वीतराग में मार्ग की पद्धति नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं कि निर्जन स्थान अच्छा लगता है, जंगल में अकेले (रहते हैं)। बहुत आमदनी होती हो न व्यापारी को, और घर के लोगों को भी सूचना न देनी हो तो रात्रि में भाई इकट्ठे होकर पैसे गिनते हैं। समझ में आया? आमदनी बहुत होती हो और आमदनी का आँकड़ा लड़कों को या महिलाओं को भी ख्याल में न देना हो तो वे भाई होते हैं न, दो-

www.vitragvani.com

तीन व्यक्ति, वे इकट्ठे होकर रात्रि में उठकर बारह बजे और तीन बजे आँकड़े (रुपये) गिनते हैं। ऐसा हुआ है, हों! कारण कि महिलाओं को खबर करे तो कहेगी अपने ऐसी तीन लाख की आमदनी बारह महीने में है, पाँच लाख की आमदनी है। महिलायें पचा नहीं सकती। घर की बहू को पता न पड़ने दे। ऐ... न्यालभाई! यह तो एक व्यक्ति कहता था, हों! महाराज! हमारे थे वे रात्रि में तीन इकट्ठे होकर पैसे गिने, हमें पता भी नहीं पड़ने दे। महिलाओं को पता नहीं, लड़कों को पता नहीं पड़ने दे।

मुमुक्षु : उसे पता कैसे पड़ा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे यह... करते थे—ऐसे पता पड़ा। रात्रि को उठते थे और अकेले बैठते थे और कोई नहीं था—ऐसे पता पड़ा। शान्तिभाई!

ये (मुनि) आत्मा की लहर करने, अब आत्मा की अन्दर कमाई करने एकान्त में बैठे, इन्हें बाहर की जरूरत नहीं पड़ती। निर्जन वन में अकेले स्वयं अन्दर आत्मा में लहर (मौज) करते हैं—ऐसा कहते हैं। आहा...! समझ में आया? आहा...! ये तुम्हारे शिष्य, ऐसा कहते उन्हें शर्म लगे। अरे! हमारे शिष्य? हमारे दूसरा द्रव्य क्या? समझ में आया? पहले को ऐसा कहे—तुम्हारे इतने लड़के हैं और वह प्रसन्न होता है। पहले को कहे तुम्हारे शिष्य है तो वह प्रसन्न होता है। हमारे शिष्य! बापू! आत्मा को शिष्य क्या? और आत्मा को दूसरी चीज़ क्या? आहा...! समझ में आया? ऐसी अलौकिक वृत्ति के धारक को यहाँ जैनदर्शन में साधुपद कहने में आता है।

कहाँ तक कहें? 'टोडरमलजी' ने इसका अलौकिक वृत्ति में से लौकिक के साथ ऐसे गुलाँट खाकर मिलान किया है। जो शास्त्र की पद्धति है न? अस्ति कहना हो तो नास्ति से (कहे) और नास्ति कहना हो तो अस्ति से (कहे)। यह 'अमृतचन्द्राचार्य' की पद्धति है, वह इन टोडरमलजी ने पकड़ी है। आहा...! **महामुनिश्वरों की रीति लौकिक रीति से विरुद्ध होती है।** वे (गृहस्थ) स्नान करें तो ये (मुनि) स्नान नहीं करते; वे निश्चिन्त रात्रि को सोवे, जबकि ये पूरी रात जगें। पिछली रात्रि में एक पिछली पहर में जरा-सा, थोड़ा-सा भाग पिछले पहर में थोड़ा-सा... एक ही करवट से, हों! एक ओर के करवट से, बस! थोड़ी-सी... लौकिक प्रवृत्ति से मुनि की (क्रिया) अत्यन्त ही उल्टी ही सब है। समझ में आया? मुनियों को दो घण्टे की नींद नहीं होती। समझ में आया?

www.vitragvani.com

मुनिदशा अर्थात् कि ऐसे छठवें–सातवें गुणस्थान में झूले। क्षण में अप्रमत्त के आनन्द का स्वाद लेकर उग्ररूप से वेदते हैं। क्षण में कोई विकल्प ऐसे स्वाध्याय करूँ या... नींद भी उन्हें एक घण्टे की एक नींद लगातार नहीं होती। एक घण्टे की लगातार नींद होवे तो उन्हें मुनिपना नहीं रहता। न्यालभाई! उन्हें तो.. आहाहा! तन्दुरुस्त–तन दुरस्त होवे तो... आत्मा के अतीन्द्रिय के स्वाद के समक्ष, उन्हें शरीर में क्या है, इसका पता भी नहीं पड़ता किसी समय। ऐसी जिनकी दशा अन्दर होती है। समझ में आया?

चारित्र अर्थात् क्या? आहाहा! जिस चारित्रवन्त को त्रिलोक के नाथ तीर्थंकर के गणधर जिन्हें नमस्कार करें! धर्मराजा सर्वज्ञ परमेश्वर धर्मपिता, उनके गणधर पुत्र; जिन्हें चार ज्ञान (है और) अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्व की रचना करने की सामर्थ्य है—ऐसे सन्त–भगवान के पुत्र–गणधर को सर्वज्ञ पुत्र कहने में आता है। वे भी ऐसे मुनि, यह दशा जिन्हें आयी हो, उन्हें ऐसा कहते हैं नमस्कार... नमस्कार... नमस्कार...! मेरे तुम्हारे चरणकमल में नमस्कार! ऐसे मुनिपद को नमस्कार होता है, बापू! यह मुनिपद सुना नहीं है; होवे तो कहाँ परन्तु सुना नहीं है (कि मुनि) कैसे होते हैं! मोहनभाई! समझ में आया? माँगीरामजी!

महा सन्तों! देखो! चारित्र ऐसा होता है—ऐसी इसे श्रद्धा कराते हैं। सम्यग्दर्शन में यह आ जाता है कि पुण्य–पाप के परिणाम रहित की जो चारित्रदशा—संवर—ऐसा होता है। ऐसी उसकी प्रतीति में आ जाता है, ज्ञान में आ जाता है, परन्तु स्थिरता में आये हों, वे जीव कैसे होते हैं—उसका यहाँ वर्णन करते हैं। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को प्रतीति में आया है कि यह आत्मा शुद्ध आनन्द है, इसमें पुण्य का विकल्प जो व्रत आदि उत्पन्न होते हैं, वे भी नहीं और उस स्वरूप में अत्यन्त वीतरागी पर्यायरूप से स्थिर हो तो चारित्र कहलाता है—ऐसा इसे प्रतीति में आ गया है। संवर और निर्जरा की प्रतीति करते हुए उसमें यह प्रतीति आ गयी है। समझ में आया? और मुनि को इतनी अधिक शान्ति—आत्मा के आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन—इतना अधिक आनन्द का वेदन होता है कि जिसके समक्ष उन्हें दुनिया के परीषह का ख्याल भी नहीं रहता। समझ में आया? इस दुनिया से मुनियों की पद्धति ही अत्यन्त उलटी है। लौकिक वृत्ति से अलौकिक वृत्ति अलग है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

कैसी है मुनियों की प्रवृत्ति? 'करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा' – पापक्रिया

www.vitragvani.com

सहित आचार से पराङ्मुख है। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान तो है परन्तु हिंसा के और झूठ आदि के जो परिणाम हैं, वे जिन्हें सर्वथा छूट गये हैं। पापक्रिया सहित के अन्दर पाप के परिणाम, हों! आचार से परान्मुख है, वह तो नास्ति से बात की है। इसकी अस्ति करेंगे। **जिस प्रकार श्रावक का आचार पापक्रिया से मिश्रित है....** देखो! इसके साथ मिलाते हैं। समकिती श्रावक सच्चा हो, उसे आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्मलानन्द है, पुण्य–पाप के रागरहित मेरा स्वरूप है—ऐसा भान हुआ होता है, ऐसी श्रद्धा भी अन्दर हुई होती है, परन्तु उसे—श्रावक को—आंशिक त्याग वर्तता है; इससे उसे पापमिश्रित परिणाम होते हैं। पापक्रिया से मिश्रित परिणाम श्रावक को पंचम गुणस्थान में, आत्मज्ञान–दर्शनसहित होने पर भी, उसे सर्वथा पाप की विरति नहीं होती।

वैसे मुनीश्वरों के आचार में पाप का मिश्रण नहीं है। समझ में आया? अत्यन्त निर्विकल्प आनन्द में झूलते हैं। उन्हें सर्वविरतिपना है—पाप से बिलकुल / सर्वथा छूट गये हैं। आहाहा! अथवा **'करम्बित'** की व्याख्या करते हैं। **'करम्बित' अर्थात् कर्मजनितभाव मिश्रित आचरण....** अर्थात् राग है न पुण्य का या पाप का, उसके मिश्रित जो आचरण, उससे वे मुनि परांमुख हैं। पहला परांमुख कहा था न, उसकी विशेष व्याख्या करते हैं। अब उसके सामने अस्ति कहते हैं।

केवल निजस्वरूप का अनुभव करते हैं.... एक केवल, केवल आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप तो दृष्टि में, सम्यग्दर्शन में आया, हुआ तब से आया। सम्यग्ज्ञान हुआ, तब से अतीन्द्रिय, यह आनन्द–अतीन्द्रिय आनन्द का ही अकेला पिटारा आत्मा है, ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द को, अकेले निजस्वरूप को, आनन्द को ही अनुभव करता है। विकल्प–पुण्य का भी जिसे अनुभव में नहीं। समझ में आया? आहाहा!

पापक्रिया से परांमुख है, यह तो नास्ति से बात की। वहाँ अस्ति क्या वर्तती है? अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार—पिटारा प्रभु है, उसे सम्यग्दर्शन में प्रतीति तो आयी कि आनन्द यहाँ है। पुण्य–पाप के भाव में भी आनन्द नहीं, पुण्य–पाप का बन्धन हो, उसमें आनन्द नहीं और उसके फल की यह धूल मिले, उसमें यह आनन्द नहीं—ऐसी तो प्रतीति पहले हो गयी है। बाबूभाई!

www.vitragvani.com

मुमुक्षु :.........

उत्तर : कुछ नहीं आता। धूल भी उपयोग में नहीं आता। क्या आता है? घर कहाँ इसके बाप का था? वह तो धूल का ढेर खड़ा होता है। पुद्गल का ढ़ेर खड़ा होता है। सम्यग्दृष्टि, यह ढेर मेरा है—ऐसा अन्तर में मानता ही नहीं। उसे यदि मेरा माने तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? कथंचित् कैसा फिर?

भगवान आत्मा—शुद्धात्मा में पुण्य-पाप के विकल्प मेरे हैं—ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है; वह जैन नहीं, उसे समकित नहीं। कहो! पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे मेरे हैं—ऐसा मानता नहीं। वह तो विकार है। विकार मेरा होगा? मैं तो निर्मलानन्द हूँ। बाबूभाई! बहुत सूक्ष्म बात है। उसमें किसी दिन सुनने जाए, उसमें व्यवस्थित न आवे। पूछा था तो कहा, किसी दिन जाता हूँ। उसका सब ढीला सब। कहा, रविवार को। रविवार को सदा जाते हो तो व्यवस्थित कहलाये। ऐसा नहीं था। कहो, समझ में आया इसमें? बाबूभाई! यह तो बापू! परिचय करे तो समझ में आये ऐसा है। अभी बाड़ा (सम्प्रदाय) चलते हैं, उनमें यह बात है ही नहीं। न्यालभाई! यह तुम्हारे बापू सबसे फिर कर आये हैं, हों! समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, सम्यग्दृष्टि (हों), तथापि गृहस्थाश्रम में भी... यह तो आ गया। १५ वीं गाथा में नहीं आया? देखो! **कर्मजनित पर्याय को आत्मरूप से-अपनेरूप जानने का नाम ही विपरीत श्रद्धान है....** १५ वीं गाथा का भावार्थ। ये सब पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध के परिणाम—यह तो कर्मजन्य उपाधि का भाव है। उसे आत्मा मानने का नाम मिथ्यादर्शन, अज्ञान है। आहाहा! तो फिर उससे मुझे पुण्य बँधेगा, शुभभाव मेरा, मुझे पुण्य बँधता है न, तो उससे मुझे सुविधाएँ मिलेगी। ये सब भगवान के पास... सब सुविधा मेरी है और मुझे होती है (-यह) मान्यता ही मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? वह मान्यता गयी है, यहाँ तो कहते हैं। सम्यग्दर्शन होते ही वह श्रद्धा टलकर नष्ट हो गयी है, परन्तु अभी अन्दर जो थोड़ी आसक्ति रही है, वह आसक्ति मेरी है—ऐसा अन्दर नहीं, परन्तु आसक्ति रही है, इसलिए उसे चारित्र नहीं है। उस आसक्ति की अस्थिरता, स्वरूप की लीनता द्वारा आंशिक टले, उसे श्रावक कहते हैं और विशेष पूरी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

टले, उसे मुनि कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! समकिती को छह खण्ड के राज होते हैं। नहीं, मुझे तो नहीं, मेरे नहीं; मेरा है, वह अलग हो नहीं और अलग हो, वह मेरा हो नहीं।

मुमुक्षु : उसे भोगता है और मेरा नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : भोगता, भोगता ही नहीं। कौन कहता है भोगता है? स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! सम्यग्दृष्टि स्वभाव को स्पर्शित है, उसे भले आसक्ति होती है, परन्तु वह वास्तव में पर को स्पर्श नहीं करता; दृष्टि की अपेक्षा से तो आसक्ति को स्पर्श नहीं करता। समझ में आया? ऐसी दृष्टि और ज्ञानपूर्वक दशा में चारित्र की दशा कहते हैं। **केवल निज स्वरूप का अनुभव करते हैं।** इसमें तो व्रत पालता है, अमुक करता है– यह आया नहीं। यह तो बीच में विकल्प, उससे बाहर भिन्न होकर (स्वरूप में) स्थिर होता है, इसका नाम निश्चयव्रत है। समझ में आया?

अलौकिकी वृत्ति की व्याख्या चलती है। वह लोकोत्तरदशा है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का पाक पका है। आहा! भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी अनन्त आनन्द के पाक का खेत है। उसमें अन्तर भान होने के पश्चात् स्वरूप लीनता में खेती करता है (तो) अतीन्द्रिय आनन्द का उफान ज्ञानी को आता है, उसे चारित्र कहने में आता है। समझ में आया? लोगों को कठिन लगता है। अरे...! हम मुनि हैं और हमें मुनि नहीं कहते, हमें मुनि नहीं कहते। परन्तु मुनि होवे नहीं और मुनि माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे तो ऐसा है, हमें मानते नहीं... परन्तु बापू! यह प्रश्न ही तुझे किसका उठता है? मुनि होवे उसे तो अपने आनन्द का सन्तोष है, उसे दुनिया की पड़ी ही नहीं है, दुनिया कौन वन्दन करता है, कौन आदर करता है, इसकी पड़ी नहीं है। आहाहा! समझ में आया?... परन्तु उसे यह पड़ी किसकी हो? दूसरा वन्दन कौन करता है, कौन नहीं करता—परन्तु तुझे विकल्प का क्या काम है? तू तुझे आदर—बस पूरा हो गया, दूसरे का काम क्या है तुझे? समझ में आया? किसे बुरा लगता है? क्या है? परन्तु बुरा अर्थात् क्या? वह तो उसे नहीं आदर करने का भाव, वह तो उसके कारण से नुकसान है, उसमें तुझे क्या है? समझे? यह नुकसान क्या है? समझ में आया?

मुनि की वृत्ति निज स्वरूप... चारित्र लेना है न? सम्यग्दृष्टि को निज स्वरूप की

www.vitragvani.com

दृष्टि हुई, निज स्वरूप का ज्ञान हुआ, परन्तु निजस्वरूप की स्थिरता का अनुभव उग्ररूप से नहीं है, उग्रपने नहीं है। यहाँ चारित्र की व्याख्या करनी है। मुनि को तो उग्ररूप से आनन्द की मौज, मजा लेते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेते हैं। आहाहा! समझ में आया?

दूधपाक खाया गया हो और फिर उस कड़ाही में चिपका हो और फिर कलछी से उखेड़कर लड़के खाते हैं। उन्हें बहुत मीठा लगता है। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा में आनन्द ऐसे चिपका हुआ है, उसमें यहाँ आत्मा अन्दर में एकाकार चिपट जाता है। आत्मद्रव्य है न? द्रव्य है। आनन्द है, वह गुण है। वह गुण चिपटा हुआ है अर्थात् आत्मा के साथ एकाकार हुआ है। उसकी दृष्टि और ज्ञान तो हुआ है, अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में आनन्द थोड़ा तो आया था; सम्यक्चारित्र में तो अन्दर से अतीन्द्रिय आनन्द का उफान आता है, जिसके समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन भी तिनका, तृण, छिलका, सड़ा हुआ कचरा (लगता है)। यद्यपि सम्यग्दृष्टि को ऐसा है।

आत्मा का भान होने पर, सम्यक् अनुभव होने पर, इन्द्र का इन्द्रासन सड़ा हुआ तृण, सड़ा हुआ कचरा लगता है। सड़ा हुआ कचरा, हों! उकरड़ा समझते हो? ढेर, कूड़े का ढेर। हमारे काठियावाड़ में उकरड़ो भाषा है। समझ में आया? आत्मा वस्तु शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसे कर्मजनित पुण्य-पाप के विकल्पों से पार अन्तरदृष्टि पड़ने पर पूरी दुनिया का वैभव सड़े हुए (कचरे जैसा लगता है)। यहाँ तो वहाँ तक नहीं कहा? 'चक्रवती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग, काग बीट सम मानत है, सम्यग्दृष्टि लोक।' क्या कहा? चक्रवर्ती की सम्पदा! सोलह हजार देव सेवा करें, छियानवें हजार रानियाँ अप्सरा जैसी और ऐसी-ऐसी उसे लड़कियाँ, दामाद, नव निधान...यह सम्पदा और 'इन्द्र सरीखा भोग, कागबीट सम मानत है' शान्तिभाई! उस कौए की विष्ठा समान सम्यग्दृष्टि उसे मानता है। आहाहा! कौए की विष्ठा। कुत्ते की विष्ठा तो जरा कहीं काम भी आवे। वैद्य प्रयोग करे, नाम न रखे, दवा करे। समझ में आया? ऐसे कौए की विष्ठा। 'चक्रवती की सम्पदा इन्द्र सरीखा भोग, कागबीट सम मानत है, सम्यग्दृष्टि लोक।' आहाहा! विष्ठा कहा तो चिल्लाने लग जाए। सम्यग्दृष्टि, अरे! बापू! यह वैभव अर्थात् क्या? ज़हर का ढेर। कर्म के प्रकार बँधा हुआ यह सब ज़हर का वृक्ष। यह पुण्य बँधा हुआ हो न, वह ज़हर का वृक्ष है, उसमें से

ज़हर पकेगा; उसमें कहीं आत्मा नहीं पकेगा। आहाहा! समझ में आया? धूल का ढेर, वह तो ज़हर का (वृक्ष है)। उसमें आत्मा को क्या?

मुमुक्षु : काम आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम किसमें आवे? राग के लिये काम आवे, ममता के लिये। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि सम्यक्–आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति है—ऐसी सम्यग्दृष्टि होने पर गृहस्थाश्रम में छह खण्ड के राज्य में चक्रवर्ती पड़ा उसे कौवे की विष्टा समान उस पदवी को जानता है। बाबूभाई! वह वापस ऐसा कहे, मेरे थोड़ी आमदनी और उसे ज्यादा आमदनी, मेरे दो लाख की आमदनी, उसे दस लाख की बारह महीने में आमदनी। होली है न परन्तु क्या है तुझे? शान्तिभाई! प्रतिस्पर्धा यह सब होली की चलती है, यह तो चलती है।

धर्मी, जिसे आत्मा की श्रद्धा हुई है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर / समुद्र है, उसमें राग की गन्ध नहीं, ऐसी वह चीज़ है। पुण्य के परिणाम की गन्ध नहीं—ऐसे आनन्द की गन्ध से भरपूर है। आहाहा! ऐसी जिसे अन्तर में, अनुभव में प्रतीति–श्रद्धा हुई, उसे इस जगत् के चक्रवर्ती के राज भी कौवे के विष्टा जैसे लगते हैं। मक्खन जैसा शरीर, इन्द्राणियाँ ज़हर जैसी लगती है। विष्टा.... विष्टा.... कौवे की विष्टा... आहाहा! समझ में आया? दोनों उत्कृष्ट बात ली है। चक्रवर्ती की सम्पत्ति, इन्द्र सरीखे भोग। देव में इन्द्र और यहाँ चक्रवर्ती। आहाहा! स्वयं को जरा शुभभाव आवे उसे भी हितकर नहीं मानता, उसे भी ज़हर मानता है। नये शुभभाव हों, उन्हें समकिती ज़हर मानता है तो उसका बन्धन और उसका फल उसे कैसे अच्छा मानेगा? आहाहा! समझ में आया?

इसलिए.... अब वह शब्द आया '**एकान्तविरति**' '**एकान्तविरतिरूपा**'। तीसरी लाईन '**एकान्तविरतिरूपा**' **अर्थात् सर्वथा पापक्रिया के त्यागी हैं....** सम्यग्दृष्टि को तो अभी राग होता है, तथापि राग को हितकर नहीं मानता। मुनि को राग नहीं होता, यहाँ तो ऐसा कहना चाहते हैं। सर्वथा विरतिरूप–बिल्कुल पाप की निवृत्ति। अकेली पाप की निवृत्ति ऐसा नहीं लिया। **एक निजस्वभाव के अनुभव से....** ऐसे अस्ति से वापस बात ली है। पाप की निवृत्ति हुई है परन्तु यहाँ आनन्द में प्रवृत्ति हुई है।

www.vitragvani.com

एक निजस्वभाव के अनुभव से.... भगवान आत्मा के स्वाद से... जिसे एक घी में सराबोर मिठाई खाता हो, उसे कोई यह ज्वार के, लाल ज्वार के छिलके की रोटियाँ दे तो उसे कूँचा लगता है। लाल ज्वार के, हों! सफेद ज्वार के छिलकों में कस होता है, लाल ज्वार के छिलकों में कस नहीं होता। यह तो हमारे अनुभव भी हुआ होता है न! लाल ज्वार की रोटियाँ आयी थी (संवत्) १९७६ की बात है, हों! ७६, एक बार 'विरमगाँव' गये थे तब। मैं और जीवणलाल दो थे। उसका स्वाद नहीं होता, उसके छिलके की तो बात ही क्या करना? संवत् १९७६ में गये थे, बहुत वर्ष हो गये। तब बढ़वाण में नहीं वे वृद्ध आये थे, मोरबीवाले विट्ठलगढ़, विरमगाँव के पास है न। १९७६ में संघ किया था, तुम्हें याद नहीं। १९७६ में मणीलाल डोसाभाई काँप में आये थे, १९७६ की बात है, बहुत वर्ष हो गये, सैंतालीस वर्ष हो गये... उतरे थे।

यहाँ कहते हैं, आहाहा! भाई! जिसे आत्मा का धर्म स्वभाव है, वह प्रतीति में, ज्ञान में आया; उसके स्वभाव के समक्ष दुनिया के विभाव और विभाव के फल तो उसे तुच्छ लगते हैं। यहाँ तो धर्मात्मा मुनि है, उनकी तो क्या बात करना! कहते हैं। उन्हें तो **एक निजस्वभाव के अनुभव से....** आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर जहाँ अन्दर में उछलता है, वस्तु, वस्तु भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव से भरपूर परिपूर्ण सागर आत्मा है, उसकी अन्तर में दृष्टि, ज्ञान और लीनता द्वारा, जो अनुभव द्वारा आनन्द वर्तता है, उसे **परद्रव्यों से उदासीन स्वरूप हैं।** इसलिए वह **सर्वथा परद्रव्यों से उदासीन स्वरूप हैं।** इस द्वारा उदासीन है, ऐसे दो अस्ति की। निजस्वरूप के अनुभव द्वारा, आनन्द की मस्त लहर के समक्ष सर्व परद्रव्यों से जिसे अन्तर में मुनिदशा को उदास... उदास... उदास है। समझ में आया?

रत्नत्रय के धारक महामुनियों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। यह क्या व्याख्या कही? यह ऊपर सोलह (गाथा का) शीर्षक था। **जो इस उपाय में लगते हैं, उनका वर्णन आगे करते हैं।** पन्द्रहवीं में तीन उपाय बतलाये थे-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इस उपाय में लगता है, उसका यहाँ वर्णन किया है। इस उपाय में परिणम रहे हैं, उनका क्या स्वरूप है?—ऐसा वर्णन किया। समझ में आया?

www.vitragvani.com

जैन अर्थात् जैन होना, वह कहीं बाड़ा में जन्मा; इसलिए जैन नहीं है। जैन एक भिखारी में जन्मा हो, चाण्डाल में जन्मा हुआ हो... समझ में आया? परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वह चाण्डाल हो तो भी देव को पूजनीय है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आया है। राख से दबी हुई अग्नि। शरीर देखो तो काला कूबड़ा हो, हरिजन का अवतार हो... समझ में आया? परन्तु अन्तर में आत्मा का भान है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है; चारित्र भले न हो, अन्तर में आनन्दस्वरूप का भान और वेदन है—ऐसा वह चाण्डाल, उसका-चाण्डाल का एक बालक आठ वर्ष का हो, काला-कूबड़ा, नाक झर गयी हो, आँख-कान टूट गये हों, रोटियाँ भी मुश्किल से मिलती हों परन्तु वह आनन्द मानता है। बाबूभाई! आहाहा! देव उसकी सेवा करते हैं। आहाहा! धन्य-धन्य तेरी बात है! आता है या नहीं छहढाला में? 'लेश न संयम पै सुरनाथ जजै हैं' आता है। छहढाला में आता है। सम्यग्दृष्टि जीव को संयम भले न हो, चारित्र भले न हो परन्तु ऐसा भान है, इसलिए इन्द्र भी पूजता है। यह छहढाला में आता है। 'लेश न संयम....' सब कण्ठस्थ थोड़े ही होता है? कहो, समझ में आया? आहाहा!

चक्रवर्ती का छह खण्ड का राज्य, उसमें पड़ा परन्तु जिसे राग वह मैं हूँ—ऐसी मान्यता है, वह भिखारी में भिखारी है, वह रंक है; दूसरा चाण्डाल के घर में अवतरित, काला शरीर, बोलने में ऐ...ऐ... भाषा हो, वे तो जड़ की क्रियायें हैं। भगवान आत्मा पुण्य-पाप के राग से रहित का अन्तरभान हुआ है, कहते हैं वह बादशाह है। अन्तर के अनन्त स्वरूप की लक्ष्मी का स्वामी हो गया है। आहा! कहो, समझ में आया? और इसे छह खण्ड का राज्य होने पर भी भिखारी... भिखारी... भिखारी... है।

अपने सेठिया ने लिखा नहीं? आया है या नहीं तुम्हारे वह? वह पुस्तक आयी है या नहीं? बाबूभाई! बाबूभाई किसी दिन निवृत्त होते हों इसलिए न आयी हो। सरदारशहर के सेठिया हैं, वे लिखते हैं, देखो! नहीं आया? परन्तु वह तो निवृत्त हो तब आवे न। निकालो, पृष्ठ निकालकर बताना चाहिए न! पृष्ठ १३, दूसरी लाईन है, देखो! 'गुणीजन संभाल करि सके अन्य तो अनुचर जाणजो जी, मारा ज्ञान' यह तब बनाया था, जब उनके लड़के का लड़का ढाई वर्ष का मर गया। सरदारशहर के सेठिया ने। जिन्हें चालीस वर्ष

www.vitragvani.com

पहले साठ लाख रुपये उनके मामा के पास थे। साठ लाख उन्हें देते थे परन्तु नहीं लिये। क्या करना है ? चालीस वर्ष पहले के साठ लाख, हों! बाबूभाई! अभी का तुम्हारा रुपया ढाई आने और तीन आने हो गया है। फिर लड़का मर गया ढाई वर्ष का, बड़ा घर है, गृहस्थ व्यक्ति है, अभी पाँच-सात लाख रुपये हैं, बड़ी इज्जत है। लड़का मर गया, इसलिए लोग आने लगे। लड़के की बहू को कहा, क्यों लड़की ? लड़की ही कहे न ससुराल में लड़के की बहू को! अरे! बापू! अपने घर में रोना हो! लड़के का मुर्दा पड़ा है ढाई वर्ष का, (तब) यह गायन बनाया। अपने रोते हैं न बापू! ? मेरा पेट नहीं कहते ? मेरा पेट, मेरा पेट रोते हैं न ? उसके बदले मेरा ज्ञान रचा है। हिन्दुस्तान में भी यह भाषा है वहाँ। अपने महिलाएँ नहीं रोतीं ? यह लड़का मर जाये, लड़की मर जाये (तब) मेरा पेट—ऐसा बोलते हैं न अन्तिम ? अन्तिम सारांश। ऐसे यह कहते हैं, देखो!

'गुणीजन संभाल करि सके' इस आत्मा के अनन्त आनन्द को सम्हाले वह सेठ है। ऐ...शान्तिभाई! 'अन्य तो अनुचर...' अनुचर अर्थात् भिखारी। 'जान जो जी म्हारा ज्ञान' अन्य हमारा पेट कहते हैं, उसके बदले हमारा ज्ञान रचा है। यह तेरहवाँ गायन है इसमें पूरा। यह तो एक लाईन बोलते हैं, हों! 'अन्य तो अनुचर जाण जो जी म्हारा ज्ञान' म्हारा ज्ञान अर्थात् मैं तो ज्ञानमूर्ति हूँ। मेरा तो ज्ञान है, मेरा लड़का कैसा, शरीर कैसा, और राग कैसा ? आहाहा! बाबूभाई! है न ? 'गुणीजन दु:ख-सुख करे छे जी राज, आतमसुख जीतियो जी, म्हारा ज्ञान' मैं आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ, मुझमें आनन्द है, मुझे दु:ख है ही कहाँ ? ए... शान्तिभाई! 'गुणीजन अन्त: प्रभु पद ध्याय सिद्धसपद पामश्या जी' वह लड़का पड़ा है, मुर्दा ढाई वर्ष का, हों! आँख में आँसू नहीं, आँख गीली नहीं। इसमें रोया जाता है ? यह तो आये और जाये, चला करता है। समझ में आया ? गुणीजन अन्ततत्त्व प्रभु पद ध्याय। ये महिलायें सब यह गाये। 'सिद्ध सपद पामश्यां जी म्हारा ज्ञान' मैं तो ज्ञानमूर्ति हूँ। मैं तो अल्पकाल में सिद्धपद को पानेवाला हूँ। आहाहा! समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसे ये रत्नत्रय धारक महासन्त सम्यग्दृष्टि भी जहाँ बाहर की सम्पत्ति को कौवे की विष्ठा जैसी मानते हैं, उसे पर में उत्साह नहीं तो मुनिपद का क्या कहें! वे तो चारित्र के अनुभव में रमते हैं। ऐसे मुनिपद को चारित्र को तीन उपाय में लगे हुए कहने में आते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १७

उपदेश देने का क्रम

बहुश: समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैक देशविरति: कथनीयानेन बीजेन।।१७।।

बारबार कहने पर भी जो सकल पाप कर सकें न त्याग।
उनको समझाते हैं करना, एक-देश पापों का त्याग।।१७।।

अन्वयार्थ : (य:) जो जीव (बहुश:) बारबार (प्रदर्शितां) बताने पर भी (समस्त विरतिं) सकलपापरहित मुनिवृत्ति को (जातु) कदाचित् (न गृह्णाति) ग्रहण न करे तो (तस्य) उसको (एकदेशविरति:) एकदेश पापक्रियारहित गृहस्थाचार (अनेन बीजेन) इस हेतु से (कथनीया) कथन करना अर्थात् समझाना चाहिये।

टीका : 'य: बहुश: प्रदर्शितां समस्तविरतिं न जातु गृह्णाति तस्य एकदेशविरति: अनेन बीजेन कथनीया।' जो जीव अनेक बार उपदेश देने पर भी सकल पापरहित महाव्रत की क्रिया को कदाचित् ग्रहण न करे तो उस जीव को एकदेश पापरहित श्रावकक्रिया इस तरह बतावे।

भावार्थ : जो जीव, उपदेश श्रवण करने में रुचिवान हो, उसे प्रथम ही बारबार मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये। और यदि वह जीव मुनिपद अंगीकार न करे तो बाद में उसे श्रावकधर्म का उपदेश देना योग्य है।।१७।।

प्रवचन नं. २० गाथा-१७-२१ — मंगलवार, पौष शुक्ल ७, दिनांक १७.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि उपाय, अमृतचन्द्राचार्य कृत। १६ गाथा पूरी हुई, १७वीं **उपदेश देने का क्रम** आचार्यों को उपदेश देने का क्रम कैसा होता है - ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैक देशविरतिः कथनीयानेन बीजेन।।१७।।

आचार्यों की मुख्य बात है, हों! आचार्यों को जगत् को उपदेश कैसा करना, (उसकी बात है)। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन मोक्षमार्ग का एक स्वरूप कहा, उसमें उसे पहले मुनिपने का-तीन की एकता का उपदेश देना चाहिए, यह बात शुरु करते हैं। फिर शुरु करेंगे, वह भी न पालन कर सके तो उसे श्रावकधर्म का उपदेश (देना) और उसमें भी उसे सम्यग्दर्शन का पहले करना। यह कहेंगे, पहले आगे कहेंगे २१ में। '**तत्रादौ सम्यक्त्वं**' २१ गाथा में कहेंगे।

यहाँ तो आचार्यों को पहला उपदेश सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित मुनिपने का मुख्य उपदेश होना चाहिए क्योंकि मोक्ष का कारण मुख्य वह है। **जो जीव 'बहुशः' बारबार बताने पर भी सकलपापरहित मुनिवृत्ति को**.... सकल पापरहित अन्तर मुनि परिणति को **कदाचित् ग्रहण न करे तो उसको एकदेश पापक्रियारहित गृहस्थाचार इस हेतु से**.... उसे गृहस्थाश्रम का आचार बतावे। सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित, हों!

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो निवृत्ति की बात है। यह तो निवृत्ति, चारित्र की अपेक्षा है परन्तु उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित यह तो बात पहले लेना। समझ में आया? एकदेश पापक्रियारहित अर्थात् जो चारित्र में सर्वविरति का भाव है, ऐसा इसे न हो तो एकदेश (ग्रहण करे) **अनेन बीजेन** इस बीज द्वारा अर्थात् इस हेतु से, इस कारण से **कथन करना अर्थात् समझाना चाहिये।** उसे श्रावक का धर्म कहे, उसकी शक्ति न हो तो मुनिधर्म पालन न कर सके तो ऐसा कहे।

टीका : जो जीव अनेक बार उपदेश देने पर भी सकल पापरहित महाव्रत की क्रिया को कदाचित् ग्रहण न करे तो उस जीव को एकदेश पापरहित श्रावकक्रिया इस तरह बतावे। सम्यग्दर्शन ज्ञान तो पहले होवे ही, इसके बिना तो यह बात नहीं है। समझ में आया? परन्तु इसे इसका उत्साहित एकदम हो और महाव्रत

www.vitragvani.com

अंगीकार करे तो उसे मोक्ष का मूल हेतु हाथ आने से उसे मोक्ष नजदीक होता है। इसलिए पहला उपदेश वह दे। वह उसे न समझे तो उसे श्रावक का उपदेश दे।

भावार्थ : जो जीव उपदेश श्रवण करने में रुचिवान हो.... उपदेश सुनने की रुचिवाला हो। **उसे प्रथम ही बारबार मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये।** आचार्यों को। मुनि भी इस सम्यग्दर्शन–ज्ञानसहित चारित्र के ऐसा कहते हैं। तीन रत्न इकट्ठे हों उसका देना ऐसा। **यदि वह जीव मुनिपद अंगीकार न करे तो बाद में उसे श्रावकधर्म का उपदेश देना योग्य है।** इतना सहन नहीं कर सके, इतनी ताकत न हो तो उसे श्रावक का (उपदेश देना)। उसका आश्रय लेकर फिर कितने ही सम्यग्दर्शन क्या इसका पता नहीं होता और एकदम मुनिक्रिया का कह दें, उनकी यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन–ज्ञानसहित चारित्र में एकदम उपदेश देने से उत्साहित हो, चारित्र अंगीकार करे और ऐसा उपदेश देने पर न ग्रहण कर सके तो श्रावक का कहे, ऐसी बात है। सम्यग्दर्शन तो पहला, यह आगे कहेंगे। १८, जरा शब्दार्थ की शैली साधारण हो गयी।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा – १८

श्रावकधर्म के उपदेश की रीति आगे बताते हैं, उसी रीति से उपदेश देना चाहिये। जो इस अनुक्रम को छोड़कर उपदेश देता है, उस उपदेशदाता की निन्दा करते हैं:–

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।१८।।

मुनिव्रत का उपदेश न दे अरु श्रावकव्रत का करे कथन।
कोई अल्पमति तो जिन प्रवचन में उसको दण्ड विधान।।१८।।

अन्वयार्थ : (यः) जो (अल्पमतिः) तुच्छबुद्धि उपदेशक (यतिधर्मं) मुनिधर्म का (अकथयन्) कथन न करके (गृहस्थधर्मं) श्रावकधर्म का (उपदिशति) उपदेश देता है, (तस्य) उस उपदेशक को (भगवत्प्रवचने) भगवान के सिद्धान्त में (निग्रहस्थानं) दण्ड देने का स्थान (प्रदर्शितं) बताया है।

टीका : 'यः अल्पमतिः यतिधर्मं अकथयन् गृहस्थधर्मं उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रहस्थानं प्रदर्शितं।' – जो तुच्छबुद्धिवाला उपदेशक मुनिधर्म का उपदेश न देकर, गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, उसे भगवान के सिद्धान्त में दण्ड का स्थान बताया है।

भावार्थ : जो उपदेशक पहले यतीश्वर के धर्म का तो उपदेश न सुनावे अपितु प्रथम ही श्रावकधर्म का व्याख्यान करे तो उस उपदेशक को जिनमत में प्रायश्चितरूप दण्ड का पात्र कहा गया है।।१८।।

गाथा १८ पर प्रवचन

श्रावकधर्म का व्याख्यान आगे जिस रीति से करते हैं, उस रीति से उपदेश

www.vitragvani.com

न लगे.... मूल तो मुनिपने का उपदेश उसे नहीं लगता। **तो यह अनुक्रम छोड़कर जो उपदेशदाता उपदेश देते हैं, उसकी निन्दा करते हैं।** मुनिपने का उपदेश पहले चाहिए, वास्तव में तो यह है। मुनिपने का उपदेश का अनुक्रम छोड़कर अकेला श्रावक का उपदेश दे तो वह निन्दा का पात्र है—ऐसा मूल कहते हैं। शब्द की शैली जरा ऐसी है, इसमें है, टोडरमलजी में ऐसे शब्द हैं।

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।१८।।

जो तुच्छबुद्धि उपदेशक.... उपदेशक की बात है। **मुनिधर्म का कथन न करके....** प्रथम चारित्रसहित का कथन न करके **श्रावकधर्म का उपदेश देता है, उस उपदेशक को भगवान के सिद्धान्त में दण्ड देने का स्थान बताया है।** उत्कृष्ट उपदेश की शैली है। सम्यग्दर्शनसहित, ज्ञानसहित चारित्र अंगीकार करे तो एकदम मुक्ति को समीपरूप से पाता है। इसलिए मूल उपदेश तो यह। ऐसा मूल उपदेश न देकर पहले ही सीधा दूसरा दे तो वह दण्ड का–प्रायश्चित्त का स्थान है।

टीका : जो तुच्छबुद्धिवाला उपदेशक मुनिधर्म का उपदेश न देकर, गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है,.... सम्यग्दर्शन–ज्ञानसहित **उसे भगवान के सिद्धान्त में दण्ड का स्थान बताया है।** चारित्र की, पूर्ण चारित्र की अपेक्षा से अपूर्ण चारित्र की बात पहले करे और पूर्ण न करे तो दण्ड का पात्र है, ऐसा कहना है।

भावार्थ : जो उपदेशक पहले यतीश्वर के धर्म का तो उपदेश न सुनावे अपितु प्रथम ही श्रावकधर्म का व्याख्यान करे तो उस उपदेशक को जिनमत में प्रायश्चितरूप दण्ड का पात्र कहा गया है। इसे फिर कोई एकान्त में ले जाये (कहे), अपने तो सीधे मुनिपने की बात करनी, सम्यग्दर्शन–ज्ञान नहीं, उसकी यहाँ बात नहीं है। तीन एकता की पूर्णता एकसाथ हो उसकी बात करते हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञानसहित का चारित्रपना वही मुख्य मोक्ष का मार्ग है। उसका ही उपदेश आचार्यों को पहले करना चाहिए। उसे न पालन कर सके तो श्रावकधर्म का उपदेश करना परन्तु पहले से ही यदि मुनिधर्म का उपदेश न देकर श्रावक का दे तो उसे प्रायश्चित्त का स्थान गिना है।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसे बने वैसे मुनि हो। बढ़ाने की बात कहाँ है?

सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित। दो तो इकट्ठे सहित, उत्कृष्ट चारित्र की दशा का ही उपदेश आचार्यों को पहले करना चाहिए, आचार्यों की बात है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना मुनिपना आया कहाँ से? यहाँ तो तीन की एकता, वह मोक्ष का मार्ग है; इसलिए तीन की एकता का पहले उपदेश देना—ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, अल्पमति कहा है न। उसकी मति अल्प है, पहले चारित्र का उपदेश देना चाहिए। ऐसा कहते हैं। ऐसा न देकर सीधे श्रावक का दे तो उपदेशक अल्पमति होना चाहिए। ऐसा कहते हैं। है न, पाठ में है न, अल्पमति।

जो उपदेशक पहले यतीश्वर के धर्म का तो उपदेश न सुनावे.... पहले श्रावक के धर्म का व्याख्यान करे। चारित्र के उत्कृष्ट और जघन्य दो भेद। उनमें यह बात चारित्र की अपेक्षा से (की है)। दर्शन-ज्ञान तो होते ही हैं; उनके बिना तो यह बात नहीं। उसमें पहले दर्शन का ही उपदेश दे। यह तो फिर आयेगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; चारित्र की अपेक्षा के भेद हैं। वैसे तो दर्शन अपेक्षा से पहला सम्यग्दर्शन का ही उपदेश दे। आ आदौ-ऐसा कहेंगे, देखो! है न? २१ **तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।** २१ गाथा। पहला तो सम्यग्दर्शन का ही प्रयत्न करना और पहला वही उसे उपदेश देना परन्तु यह तो तीन-चारित्र की अपेक्षा से, तीन की एकता की अपेक्षा से उत्कृष्ट चारित्र छोड़कर जघन्य श्रावक की मध्यम दशा बतावे तो उसका उत्साह विशेष होवे, उसे चारित्र अंगीकार करने से ठगा जाये। इस अपेक्षा से बात की है। १९।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - १९

आगे उसको दण्ड देने का कारण कहते हैं:-

अक्रमकथनेन यत: प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्य:।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्त: प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना।।१९।।

उस दुर्मति के अक्रम कथन से मुनिव्रत में उत्साहित शिष्य।
अरे! ठगाया गया तुच्छ पद में ही वह होकर सन्तुष्ट।।१९।।

अन्वयार्थ : (यत:) जिस कारण से (तेन) उस (दुर्मतिना) दुर्बुद्धि के (अक्रमकथनेन) क्रमभंग कथनरूप उपदेश करने से (अतिदूरं) अत्यन्त दूर अर्थात् अत्यधिक (प्रोत्सहमानोऽपि) उत्साहवान होने पर भी (शिष्य:) शिष्य (अपदे अपि) तुच्छ स्थान में ही (संप्रतृप्त:) सन्तुष्ट होकर (प्रतारित: भवति) ठगाया जाता है।

टीका : 'यत: तेन दुर्मतिना अक्रमकथनेन शिष्य: प्रतारितो भवति।' - जिस कारण से उस मन्दबुद्धिवाले उपदेशक द्वारा अनुक्रम को छोड़कर कथन करने से सुननेवाला शिष्य ठगाया जाता है। पहले ही श्रावक धर्म का उपदेश सुनकर शिष्य क्यों ठगाया जाता है?-उसका कारण कहते हैं। कैसा है शिष्य? ''अतिदूरं प्रोत्सहमानो अपि अपदेऽपि सम्प्रतृप्त:।'' अत्यन्त दूर तक जाने के लिये उत्साहित हुआ था तो भी अपद जो तुच्छ स्थान उसमें ही संतुष्ट हुआ है। इस शिष्य के अन्तरंग में इतना अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ था कि यदि प्रथम ही मुनिधर्म सुना होता तो मुनिपदवी ही अंगीकार करता। परन्तु उपदेशदाता ने उसको प्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश दिया; अत: उसने उसे ही अंगीकार कर लिया। फलत: मुनिधर्म से वंचित ही रह गया। इस वास्ते उस उपदेशदाता को इस विधान के लिये दण्ड देना योग्य है।।१९।।

गाथा १९ पर प्रवचन

आगे उसको दण्ड देने का कारण कहते हैं:-

www.vitragvani.com

अक्रमकथनेन यत: प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्य:।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्त: प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना।।१९।।

जिस कारण से उस दुर्बुद्धि के क्रमभंग कथनरूप उपदेश करने से अत्यन्त दूर अर्थात् अत्यधिक उत्साहवान.... एकदम वैराग्य हो गया हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित (होवे), एकदम वैराग्य हो गया हो, उदास... उदास... ऐसे शिष्य को ऐसा **उत्साहवान होने पर भी शिष्य तुच्छ स्थान में ही.... अपद** अर्थात् गृहस्थाश्रम के पद में **सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है।** मुनिपने से वह ठगाया जाता है।

जिस कारण से उस मन्दबुद्धिवाले उपदेशक द्वारा अनुक्रम को छोड़कर कथन करने से सुननेवाला शिष्य ठगाया जाता है। यहाँ तो चारित्र की पहली उग्रता दर्शन-ज्ञान के साथ की कहने के लिये, मोक्षमार्ग की पूर्णता बताने के लिये यह कथन है। समझ में आया? जहाँ सम्यग्दर्शन ही नहीं-ज्ञान नहीं और सीधे मुनिपना ले, वह मुनिपना है नहीं, वह मुनिपना व्यवहार से भी नहीं है, यह तो बाद में कहेंगे। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र नाम भी प्राप्त नहीं होता। **पहले ही श्रावक धर्म का उपदेश सुनकर शिष्य क्यों ठगाया जाता है....** उत्कृष्ट वैराग्य था उसे एकदम वैराग्य की धुन थी।

उसका कारण कहते हैं। कैसा है शिष्य? अत्यन्त दूर तक जाने के लिये उत्साहित हुआ था... एकदम पुरुषार्थ करके मानो कि मोक्ष लूँ। **तो भी अपद जो तुच्छ स्थान उसमें ही संतुष्ट हुआ है।** तथापि वह श्रावकधर्म सुनकर उतने में सन्तुष्ट हो गया है। **इस शिष्य के अन्तरंग में इतना अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ था कि यदि प्रथम ही मुनिधर्म सुना होता तो मुनिपदवी ही अंगीकार करता।** यह सब व्यवहार की शैली की उपदेश पद्धति की बात है। **परन्तु उपदेशदाता ने उसको प्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश दिया; अत: उसने उसे ही अंगीकार कर लिया। फलत: मुनिधर्म से वंचित ही रह गया।** उसको। **इस वास्ते उस उपदेशदाता को इस विधान के लिये दण्ड देना योग्य है।** यह व्यवहार की विशेष चारित्र की प्रधानता बताने को यह बात की है। अब यहाँ मूल श्रावक की शुरुआत होती है। ऐसा मुनिपना नहीं ले सके उसे श्रावक के धर्म का उपदेश देना।

श्रावकधर्म-व्याख्यान

गाथा - २०

जो जीव, मुनिधर्म का भार उठाने में असमर्थ हैं, उनके लिये आचार्य आगे श्रावकधर्म का व्याख्यान करते हैं। वहाँ श्रावक को धर्मसाधन में क्या करना चाहिये- उसका व्याख्यान किया जा रहा है।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति।।२०।।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण इन तीन भेदमय मुक्ति-मार्ग।
सेवन करने योग्य सदा है यथाशक्ति श्रावक को जान।।२०।।

अन्वयार्थ : (एवं) इस प्रकार (तस्यापि) उस गृहस्थ को भी (यथाशक्ति) अपनी शक्ति अनुसार (सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मक:) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप (मोक्षमार्ग:) मुक्ति का मार्ग (नित्यं) सर्वदा (निषेव्य:) सेवन करना योग्य (भवति) है।

टीका : 'तस्य अपि यथाशक्ति एवं मोक्षमार्ग: निषेवय: भवति।' - उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति अनुसार, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है, ऐसे मोक्षमार्ग का सेवन करना योग्य है।

भावार्थ : मुनि के तो मोक्षमार्ग का सेवन सम्पूर्ण रूप से होता है और गृहस्थ को भी अपनी शक्ति-प्रमाण मोक्षमार्ग का थोड़ा-बहुत सेवन करना चाहिये। कारण कि धर्म का कोई दूसरा अंग नहीं है जिसका सेवन करने से अपना भला हो सके। कैसा है मोक्षमार्ग?

www.vitragvani.com

'सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मक:' – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का त्रिक जिसका स्वरूप है। भिन्न-भिन्न तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं। तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।।२०।।

गाथा २० पर प्रवचन

जो जीव मुनिधर्म का भार उठाने में असमर्थ हैं,.... देखो! मुनिधर्म का भार शब्द प्रयोग किया है। भार का अर्थ शुद्धचारित्र का पालन करने की शक्ति न हो। ऐसा शुद्धचारित्र निरतिचार वीतरागभाव। ऐसे चारित्र को पालन करने में समर्थ न हो। **उनके लिये आचार्य आगे श्रावकधर्म का व्याख्यान करते हैं।** मूल तो इसमें श्रावकधर्म की व्याख्या है। **वहाँ श्रावक को धर्मसाधन में क्या करना चाहिये-उसका व्याख्यान किया जा रहा है।** श्रावक को धर्मसाधन में क्या कहना, उसकी पहले व्याख्या है।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति।।२०।।

देखो! श्रावक को भी तीनों साथ लिये, तीन रत्नत्रय साथ (लिये)। **एवं इस प्रकार उस गृहस्थ को भी.... तस्यापि उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भेदरूप मुक्ति का मार्ग सर्वदा सेवन करना योग्य है।** देखो! पाँचवें गुणस्थान में भी तीन रत्न लिये, भाई! यह नियमसार में भी भक्ति के अधिकार में आता है, भक्ति अधिकार। तीन निश्चय रत्नत्रय को मुनि और श्रावक दोनों सेवन करते हैं। निश्चयरत्नत्रय पाँचवें में नहीं है—ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या बात है। चौथे में भी आंशिक है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, श्रावक को-पंचम गुणस्थानयोग्य जीव को, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीन भेदरूप मुक्ति का मार्ग-इन तीन का एकरूप ऐसा मुक्ति का मार्ग **सर्वदा सेवन करना योग्य है।** श्रावक को आत्मा के अनुभवसहित, ज्ञानसहित, श्रावक के व्रत का अथवा स्थिरता की आंशिकदशा और व्रतादि, यह मार्ग सर्वदा सेवन करनेयोग्य होता है, लो! **'तस्य अपि यथाशक्ति एवं मोक्षमार्ग: निषेवय: भवति।' उस गृहस्थ को**

www.vitragvani.com

भी अपनी शक्ति अनुसार,.... देखा ? मुनि को पूर्ण है, इसे भी उसका अंश यथाशक्ति प्रमाण **जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है, ऐसे मोक्षमार्ग का सेवन करना योग्य है।**

मुनि के तो मोक्षमार्ग का सेवन सम्पूर्ण रूप से होता है.... महामुनि सम्यग्दर्शन –सम्यग्ज्ञानसहित, वीतरागता की तीन कषाय के अभाव की परिणतिसहित मुनिमार्ग का सेवन सम्पूर्णरूप से उन्हें होता है। मोक्षमार्ग का सेवन, **गृहस्थ को भी अपनी शक्ति–प्रमाण....** देखो ! इसमें से, हों ! तीन में से। **मोक्षमार्ग का थोड़ा–बहुत सेवन करना....** दर्शन–ज्ञानसहित थोड़ा–बहुत अर्थात् चारित्र की थोड़ी दशा भी इसे ग्रहण करना। थोड़ा–बहुत अर्थात् क्या ? एक प्रकार का नहीं; श्रावक को बहुत प्रकार हैं न ? स्थिरता के, पंचम गुणस्थान है न ! **कारण कि धर्म का कोई दूसरा अंग नहीं है....** मोक्षमार्ग दर्शन–ज्ञान और शान्ति / चारित्र इसके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार से नहीं है ऐसा कहते हैं। आत्मा में शुद्ध चैतन्यस्वरूप की अन्तर्दृष्टि, उसका ज्ञान और अन्तर की स्थिरता–ऐसा जो मोक्ष का मार्ग, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म का अंग नहीं है—ऐसा कहते हैं। देखो, समझ में आया ?

दूसरा अंग नहीं है जिसका सेवन करने से अपना भला हो सके। आत्मा पूर्णानन्द शुद्धस्वरूप है, उसकी निश्चय दृष्टि, उसका निश्चय ज्ञान, और उसमें स्वरूप की सेवनदशा, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई मोक्ष के मार्ग का अंग नहीं है—ऐसा कहते हैं। **जिसका सेवन करने से अपना भला हो सके।** भला तो आत्मा की शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र के सेवन से भला होता है। मूल तो ऐसा कहते हैं।

कैसा है मोक्षमार्ग ? 'सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मक:'–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का त्रिक जिसका स्वरूप है। (त्रयात्मक) भिन्न–भिन्न तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं। सम्यग्दर्शन एक अलग मार्ग, सम्यग्ज्ञान अलग मार्ग, सम्यक्चारित्र अलग मार्ग – ऐसा नहीं है। तीनों होकर एक त्रिक मोक्षमार्ग है। **तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।** अब देखो ! तीन में शुरुआत में यह मूल चीज यहाँ से अब आती है। मोक्षमार्ग में मुनिपने की तीन की एकता को अलौकिक बात है; न पालन कर सके तो श्रावक का, उसे भी सम्यक् पहला यह। सम्यग्दर्शन के बिना उसे ज्ञान भी सच्चा नहीं होता और उसे चारित्र भी सच्चा नहीं होता। इसलिए प्रथम में प्रथम गृहस्थाश्रम में गृहस्थी जीव को भी सम्यग्दर्शन का अखिल प्रयत्न / पुरुषार्थ (करना चाहिए)। देखो !

गाथा - २१

इन तीनों में प्रथम किसको अंगीकार करना चाहिये, वह कहते हैं:-

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।२१।।

इनमें सबसे पहले सम्यग्दर्शन पूर्णयत्न से ग्राह्य।
क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान चरित होते सम्यक्।।२१।।

अन्वयार्थ : (तत्रादौ) इन तीनों में प्रथम (अखिलयत्नेन) समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन को (समुपाश्रयणीयम्) भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये (यत:) क्योंकि (तस्मिन् सति एव) उसके होने पर ही (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (च) और (चारित्रं) सम्यक्चारित्र (भवति) होता है।

टीका : 'तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम्।' इन तीनों में प्रथम ही समस्त उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे, सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये। इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है; और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता। यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है। अत: इसके अंगीकार करने में किंचित्मात्र भी प्रमाद नहीं करना। मृत्यु का वरण करके भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना। बहुत कहाँ तक कहें? इस जीव के भला होने का उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं। इसलिये उसे अवश्य अंगीकार करना। इसे ही प्रथम अंगीकार करने का क्या कारण है -वह बताते हैं। 'यत: तस्मिन् सति एव ज्ञानं च चरित्रं च भवति।' - उस सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है।

भावार्थ : सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले तो भी अज्ञानी ही कहा जाता है। फिर महाव्रतों का साधन करके अन्तिम ग्रैवेयक तक के बन्धयोग्य विशुद्ध परिणाम करे तो भी वह असंयमी ही कहलाता है। तथा सम्यक्त्वसहित जितना भी जानपना होवे

उस सभी का नाम सम्यग्ज्ञान है और जो थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्तन करे तो उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है। जिस प्रकार अंकसहित शून्य हो तो वह प्रमाण में आता है किन्तु अंक बिना शून्य तो शून्य ही है। उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं। अतः पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके पश्चात् अन्य साधन करना चाहिये।।२१।।

गाथा २१ पर प्रवचन

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।२१।।

यहाँ वजन है। **इन तीनों में प्रथम समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से 'अखिलयत्नेन'....** देखो! पुरुषार्थ द्वारा प्रगट होता है–ऐसा कहते हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन अखिल / महाप्रयत्न से प्रगट होता है; वह कहीं प्रयत्न बिना अपने आप आ जाय, ऐसी चीज़ नहीं है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन **प्रथम समस्त प्रकार से....** इन तीनों में पहले सम्यग्दर्शन **समस्त प्रकार सावधानतापूर्वक यत्न से....** बहुत प्रकार से स्वरूप की ओर के सावधानी के पुरुषार्थ से। सन्मुखता का पुरुषार्थ लेना। समझ में आया? **'अखिलयत्नेन'** आचार्य ने ऐसा शब्द प्रयोग किया है। पूर्ण **'अखिल'** पूरा प्रयत्न, पूरा प्रयत्न। कलश–टीका में आता है न? सहज साध्य है। किस अपेक्षा से? यहाँ तीनों में प्रथम समस्त प्रकार से सावधानीपूर्वक। यहाँ पुरुषार्थ अपनी ओर करने में काललब्धि आदि पक जाती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : चारित्र लेकर फिर सम्यग्दर्शन।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले चारित्र होता नहीं। चारित्र था कब परन्तु?

मुमुक्षु : परन्तु यह चारित्र लेकर करे तो क्या बाधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु सम्यग्दर्शन बिना चारित्र होता नहीं। उसमें ले कहाँ से? 'सब साधन बन्धन हुए' वहाँ ऐसा होता है। यह मुनिपना तो यह नग्न–दिगम्बर की बात है, हों! वापस तुम्हारे माने हुए की बात नहीं। आहाहा! नग्न–दिगम्बर बाह्य से और

www.vitragvani.com

अभ्यन्तर में चारित्र की परिणति (होवे) ऐसे को मुनिपना मुख्य कहते हैं। ऐसी दशा हो सके नहीं तो उसे पहले श्रावकपना अंगीकार करना। श्रावकपने में भी **'अखिलयत्नेन'** प्रयत्न करके भगवान आत्मा की सन्मुखता के प्रयत्न से पुरुषार्थ करना। समझ में आया?

तीनों में भी प्रथम दर्शन, ज्ञान, चारित्र में भी पहले में पहला समस्त **'अखिल'** अर्थात् पूरे प्रकार से सावधानरूप यत्न से सम्यग्दर्शन भले प्रकार **'समुपाश्रयणीयम्' भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये....** स्वभावसन्मुख की दृष्टि को पहले यथार्थरूप से अंगीकार करना चाहिए। समझ में आया? पहले इस सम्यग्दर्शन बिना... यह कहेंगे, देखो! **क्योंकि 'तस्मिन् सति एव'....** सम्यग्दर्शन होते ही **'तस्मिन् सति एव' सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।** सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान को सम्यक्पना होता है, तब उसे सच्चा चारित्र होता है। उसके बिना ज्ञान और चारित्र सच्चा नहीं होता। कहो समझ में आया?

'पालीताणा' बना था, नहीं? गुरु उपदेश देते थे, हमारी शक्ति कम हो तो यह करो। वहाँ तो वस्त्र निकाल दिया और साधु हो गया। दूसरों को कहे तुम्हारी शक्तिप्रमाण पहले क्षुल्लकपना अंगीकार करो, ऐसा करो। वहाँ तो एकदम वस्त्र छोड़ दिये और नग्न हो गया मुझे तो एकदम... क्योंकि यह पाठ शास्त्र में ऐसा है। अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता। आहाहा! कौन करे उस क्रिया को? कर नहीं सकता।

यहाँ तो कहते हैं कि अन्तर में अनुभवदृष्टि हुई है, प्रतीति में निर्विकल्प आनन्द का भान हुआ है, ज्ञान हुआ है, पश्चात् उसे चारित्र अंगीकार करना चाहिए। पहले तो उत्कृष्ट चारित्र की ही प्रयत्नदशा से मोक्ष होता है। ऐसा न हो तो उसे श्रावकपना (अंगीकार करना); उसमें भी पहले सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिए। कहो, समझ में आया? इसके कितने शब्द प्रयोग किये! देखो, **आदौ** प्रयोग किया है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रथम सम्यग्दर्शन **आदौ** उसमें भी **'अखिलयत्नेन'** प्रयोग किया है, पूर्ण पुरुषार्थ से। उसमें भी **'समुपाश्रयणीयम्'** भलीभाँति सेवन करना, उपासनीय अर्थात् अंगीकार करना, आश्रय करना। भगवान आत्मा शुद्ध असंख्य प्रदेशी आनन्दकन्द है, उसका भलीभाँति आश्रय लेकर प्रयत्न भलीभाँति करना, कहो समझ में आया?

भलीभाँति अंगीकार करना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दर्शन होते ही **सम्यग्ज्ञान और**

www.vitragvani.com

सम्यक्चारित्र होता है। इसके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होते। मिथ्याज्ञान और मिथ्याव्रत आदि होते हैं, वे कहीं आत्मा के कल्याण का कारण नहीं है। कहो, क्या करना पहले? निवृत्ति लेकर बैठे तो पहले ठीक पड़े न! इतनी निवृत्ति हो तो...। अनन्त बार ऐसी ली है। नौवें ग्रैवेयक गया, तब अनन्त बार ऐसा नग्नपना लिया है, बाह्य नग्न–मुनि, हों! उसे द्रव्यलिंग कहते हैं। वस्त्रवाले को द्रव्यलिंग भी नहीं है।

'तत्र आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम्।' इन तीनों में प्रथम ही समस्त उपायों से,.... जितने उपाय लागू पड़ें, उतने उपाय द्वारा पहले में पहला, **जिस प्रकार भी बन सके वैसे, सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये।** यदि बने तो इसका अर्थ—यदि बने तो यही पहले करना, ऐसा। करने का तो यही है। बने तो–वापस फिर ढीला–ऐसा नहीं लेना वहाँ। यह बने तब तो सम्यग्दर्शन अंगीकार करना पहले। इसमें ही बने ऐसा है। अर्थात्? बने तो अर्थात्? इसका अर्थ क्या है?

नहीं, इसमें एक अर्थ है। विशेष कदाचित् जानपना न हो तो यह तो करना। जो बने तो–ऐसा है। जानपने के बोल विशेष कदाचित् न हो तो बने तो यह तो करना। जानपने में बहुत रुके रहना और यह न करना–ऐसा नहीं। ऐसे 'बने तो' का सच्चा अर्थ यह है। ऐसा कि खास बने तो यह ही करना। जानपने में रुकने की अपेक्षा, विशेष जानपने में रुकने की अपेक्षा यह पहले करना–ऐसा कहते हैं। वह कम हो तो आपत्ति नहीं, परन्तु यह इसे पहले करना। समझ में आया? यह आगे कहेंगे। सामान्य और विशेष समकित की व्याख्या, कहेंगे। इस जानपने की विशेषता के समक्ष मूल यह करना–ऐसा कहते हैं। वह ज्ञान बने तो भले करे पहले, जानपना विशेष उतना मात्र, परन्तु फिर भी यह करना, वह मुख्य है। यह रह न जाए। जानपने के बोल में यह और यह करते–करते (यह रह न जाए), क्योंकि देखो! पहले कहेंगे सामान्य समकित.... परभावों से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को अपनेरूप श्रद्धना, उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। विशेष जानपनेवाले को विशेष कहेंगे। समझे न? यह २२ वीं गाथा में कहेंगे। समझ में आया? थोड़ा–बहुत जानपना हो तो भी उसे उस अन्तर्मुख का प्रयत्न करना–ऐसा कहते हैं। स्वभावसन्मुख की प्रयत्नदशा को अंगीकार करना। उसमें ज्ञान भी उघड़ जाएगा। समझ में आया?

www.vitragvani.com

उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे,.... इसका अर्थ कि प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन करना। **उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे,....** उपाय अर्थात् पुरुषार्थ से बने तो इस प्रमाण करना। **इसके प्राप्त होने पर....** सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर **अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है।** इस सम्यग्दर्शन से अवश्य इसे (जीव को) मोक्षपद प्राप्त होगा, जरूर इसे केवलज्ञान प्राप्त होगा। समझ में आया? दूसरा बहुत जानपना हो और भले कदाचित् कोई व्रत का अभ्यास करता हो, परन्तु उससे कोई मोक्ष नहीं होगा; इससे तो जरूर मोक्ष होगा—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वह प्राप्त होने पर अवश्य-जरूर केवलज्ञान की-पूर्ण की प्राप्ति होगी। देखो! यहाँ सम्यग्दर्शन पर जोर दिया है, इसमें मोक्षपद की प्राप्ति ले ली, एक में। समझ में आया? **इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता।** सम्यग्दर्शन के बिना सर्वथा मुक्ति, संवर, निर्जरा का अंश भी नहीं होता... तो पूर्ण मोक्ष तो होता नहीं। समझ में आया?

यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है। सम्यग्दर्शन—आत्मा में विपरीत-अभिनिवेशरहित आत्मा का परिणाम—ऐसा जो सम्यग्दर्शन—वह स्वरूपप्राप्ति का अद्वितीय कारण है। आत्मा को जो शुद्धस्वरूप है, उसकी प्राप्ति का यही कारण है। पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति का भी कारण है और वर्तमान सम्यग्दर्शन में, यह आत्मा पूर्ण है, उसकी प्राप्ति इसमें होती है। समझ में आया? स्वरूपप्राप्ति अर्थात् आत्मा शुद्ध ज्ञायकमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड, इस सम्यग्दर्शन में उसकी प्राप्ति होती है। समझ में आया? मोक्षपद प्राप्त होता है, उसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

यह स्वरूप की प्राप्ति का.... लो! **अद्वितीय कारण है।** अजोड़ कारण है। स्वयं शुद्ध परमात्मा, सम्यग्दर्शन में ही प्राप्त होता है; इसके अतिरिक्त ज्ञान में भी वह प्राप्त नहीं होता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? दृष्टि में पूर्ण चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति होती है, पूरा परमात्मा प्राप्त होता है; इसलिए इस मोक्ष के मार्ग में पहले इसे प्रयत्न करके अंगीकार करना। **अतः इसके अंगीकार करने में....** इसलिए इसे अन्तर ग्रहण करने में **किंचित् मात्र भी प्रमाद नहीं करना।** आलस्य नहीं करना। समझ में आया? शुद्धस्वरूप की ओर सन्मुख होने के लिये प्रयत्न करना, उसका आलस्य नहीं करना। इस सम्यक् में

www.vitragvani.com

आत्मा का सिद्धस्वरूप कैसा है–इसकी—परमात्मा की—प्राप्ति उसमें होती है। वर्तमान, हों! और पश्चात् पूर्ण भी इससे होता है। वर्तमान भी इससे प्राप्त होता है और पूर्ण भी इससे होता है।

मरकर भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना। मरकर अर्थात् दुनिया की दरकार छोड़कर; शरीर का होना हो, वह होओ, (सब) छोड़कर, बाहर की स्थिति में दुनिया गिनेगी या नहीं गिनेगी, अकेला पड़ जाऊँगा या नहीं पडूँगा—सब छोड़ देना। समझ में आया? दुनिया ऐसा भी कहे लो! ये! आत्मा शोधने निकले हैं। व्रत पालना नहीं, क्रिया करना नहीं—ऐसा दुनिया कहे तो उसके लिये मर जा, वह भले कहे, उस पर लक्ष्य मत रख। समझ में आया? वे तो सब मानो हम साधु हो गये हैं, इसलिए अब हो गया... फिर आत्मा खोजना तो क्या? आत्मा तो बाद में मिलता है। पहले तो साधुपना पाले, फिर आत्मा मिले न! तेरा साधुपना कब था? गृहीत मिथ्यादृष्टि है। गृहीत मिथ्यात्व, गृहीत मिथ्याज्ञान, विपरीत कल्पना। व्रत के परिणाम का तो ठिकाना कहाँ था? **अमस्ता** किन्तु शुभ का भी कहाँ ठिकाना है? कहो!

मरकर भी इसे प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना। आता है न? कुतूहल। कलश (२३, समयसार) में (आता है), मरकर अर्थात् दुनिया की दरकार छोड़ देना। छोड़, होगा सो होगा। आत्मा सन्मुख को अंगीकार करने का प्रयत्न (कर)। यही पहले (कर)। आत्मा का मोक्षमार्ग और वर्तमान पूर्ण प्राप्ति का यही कारण है। कहो, समझ में आया? **बहुत कहाँ तक कहें?** देखो! **इस जीव के भला होने का उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं।** समझ में आया? जानपना हो, न हो। समझ में आया? दुनिया को समझाना आवे, न आवे, इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक सम्यग्दर्शन की चीज़ ऐसी है। इसके अतिरिक्त जगत में भला कोई है नहीं। आहा!

इस जीव के भला होने का उपाय सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं। कहो, समझ में आया? चौथे गुणस्थान में क्षायिक समकित हो, ज्ञान बहुत अल्प हो, लो! उसके साथ सम्बन्ध नहीं। वस्तु–पूरी चीज़ है, वह अनुभव में पकड़ में आ गयी, बस! यही मोक्ष का (मार्ग है)। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय है नहीं। इसके अलावा कोई भला–कोई

www.vitragvani.com

है ही नहीं। समझ में आया? जानपने में तो पाँच समिति, तीन गुप्ति, हेय-उपादेय का थोड़ा ज्ञान हो। समझे न? बारह अंग का हो, न हो—उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस जीव के भला होने का उपाय इसका मूल 'दंसण मूलो धम्मो' मूल जो चारित्र, उसका मूल सम्यग्दर्शन है। है न? धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। धर्म अर्थात् चारित्र, परन्तु उसका मूल सम्यग्दर्शन है। कहो! उस व्यवहार समकित की बात होगी यह? **आदौ** में कहा न? भाई! **आदौ** प्रथम यह करो। तो व्यवहार समकित की बात होगी यह? ऐ...ई...! हरिभाई! व्यवहार समकित क्या? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा.....

मुमुक्षु : ये आत्मा के परिणाम हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मरूप है न! आत्मरूप ही है—ऐसा कहेंगे। २२ वीं (गाथा में) ये तो आत्मरूप है, ये आत्मरूप है। शुभभाव भी संवर-निर्जरा का भाग है, वह आत्मा का रूप है, ऐसा वे कहते हैं। ये तो सब तैयार रखे हैं। शुभयोग में संवर-निर्जरा है, आया नहीं? कल नहीं आया था संवर-निर्जरा? शुभभाव में संवर-निर्जरा है, ऐसा कहते हैं। क्या करना है? विपरीत स्थिति में धर्मपना मनवाना है। क्या करें? कहा नहीं था?

एक व्यक्ति ने पूछा, भाई! ऐसी उपादान-निमित्त की चर्चा, निश्चय-व्यवहार की चर्चा अपने बाप-दादा के पास नहीं थी और अपने बाप-दादा भगवान की पूजा-भक्ति करते तो उन्हें धर्म होता होगा या नहीं?—ऐसा प्रश्न पूछा, तो दूसरे ने उत्तर दिया-धर्म होता था। क्यों? वे भगवान है—ऐसा मानते थे या नहीं? ये भगवान, परमेश्वर हैं, अरिहन्त हैं, केवली हैं—वे ऐसा मानते हैं या मूर्ति है—ऐसा मानते हैं? ऐसा। वे भगवान है, ये भगवान अरिहन्त हैं, अरिहन्त अनन्त ज्ञानी हैं, ऐसा। वे ऐसा कहते हैं कि तुम पत्थर हो, तुम यह हो? ऐसा उसने कहा। ऐ...ई...! भगवान हैं, भगवान अनन्त ज्ञान सम्पन्न हैं, अनन्त दर्शन सम्पन्न हैं, वीतराग सम्पन्न हैं, देव पूर्ण ज्ञानी हैं—ऐसा वे देखते हैं, ऐसा उन्हें ज्ञान था, उन्हें श्रद्धा थी। ठीक! क्या करे? कोई पूछनेवाला नहीं मिलता, लूटनेवाला मिलता है। लोगों को—समाज को इतनी सब आगे बढ़ने की समझ नहीं मिलती। जहाँ पड़े, वहाँ यदि सन्तोष मनवा देता हो तो दिक्कत नहीं। उसमें तुम्हारे अधिक आगे बढ़ोगे... उसे चाहिए हो उतना। यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के बिना एक अंश भी आगे चले-ऐसा नहीं है।

www.vitragvani.com

ये क्रियाकाण्ड करके, व्रत और नियम पालकर, ब्रह्मचर्य, यात्रा, भक्ति और पूजा करके (चले जाएं)। समझ में आया?

आत्मा पूर्ण वस्तु—जो स्वरूप पूर्ण है, उसकी अन्दर प्रतीति, भान आये बिना... इसे स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति का उपाय तो यह है। समझ में आया?

इस जीव के भला होने का उपाय... देखो! उपाय तीन कहे थे। दर्शन–ज्ञान–चारित्र, तीन उपाय हैं, परन्तु यह उपाय **सम्यग्दर्शन समान अन्य कोई नहीं।** समझ में आया? **इसलिये उसे अवश्य अंगीकार करना।** इसलिए उसे पहले शुरुआत में प्रगट करना। **इसे ही प्रथम अंगीकार करने का क्या कारण है....** वापस बात करते हैं, लो! पहले उसे अंगीकार करना, सम्यग्दर्शन यथार्थ (प्रगट करने का कारण क्या है?) अभी तो यहाँ देव–गुरु–शास्त्र का भी ठिकाना न हो, देव–गुरु–शास्त्र किसे कहना? समझ में आया? और इसे समकित हो गया है। देव–गुरु की श्रद्धा है—हमें देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा है, नवतत्त्व की श्रद्धा है। नव तत्त्व में आत्मा कैसा है—इसकी खबर बिना श्रद्धा कहाँ से आयी?

इसे ही प्रथम अंगीकार करने का क्या कारण है, वह बताते हैं। पाठ में **'यतः तस्मिन् सति एव ज्ञानं च चरित्रं च भवति।' उस सम्यग्दर्शन के होने पर....** आत्मा का अन्तर दर्शन–श्रद्धा होने पर, शुद्धस्वरूप का निर्विकल्प भान / श्रद्धा होने पर **सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है।** फिर उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है, होता है। इसके बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं। जहाँ दृष्टि विपरीत है, अन्तर्मुख दृष्टि हुई नहीं, उसका ज्ञान अन्तर्मुख झुके ऐसा सच्चा हो सकता नहीं। समझ में आया? **'यतः तस्मिन् सति'** सम्यग्दर्शन होता, ऐसा। एक निश्चय से ज्ञान और चारित्र ही होता है। तो ही उसे सच्चा ज्ञान और चारित्र होता है, इसके बिना नहीं होता।

भावार्थ : सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले तो भी अज्ञान ही कहा जाता है। आत्मश्रद्धा, अनुभव की प्रतीति बिना जो ग्यारह अंग पढ़े तो भी वह अज्ञान नाम पाता है। ग्यारह अंग किसे कहते हैं? आहाहा! जानपना करे। हिन्दी में क्या है? पढ़े। ग्यारह अंग पढ़े। पढ़ लिये ग्यारह अंग। ग्यारह में कितना होता है? एक आचारांग, उसमें अठारह हजार पद; एक पद में इक्यावन करोड़ (से) अधिक श्लोक, एक पद में!

www.vitragvani.com

इक्यावन करोड़ (से) अधिक श्लोक एक पद में। वैसे अठारह हजार पद, उनका एक आचारांग, उसका दुगुना सूयगडांग, दुगुना ठाणांग—ऐसे ग्यारह अंग का जानपना होवे तो वह अज्ञान है। कहो, समझ में आया?

सम्यक्त्व बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले... लो 'भणे' अर्थात् पढ़े। **तो भी अज्ञान ही कहा जाता है।** ग्यारह अंग का पढ़ा हुआ भी अज्ञानी है। सम्यग्दर्शन के बिना वह अज्ञान है, ज्ञान है नहीं। कहो, समझ में आया इसमें? कहेंगे, हों! अंक बिना का शून्य। **फिर महाव्रतों का साधन करके....** यह आया। महाव्रत कैसे? दिगम्बर मुनि जैसे, हों! अट्ठाईस मूलगुण, उनके महाव्रत, हों! तुम्हारे ये सब हैं, वे तो महाव्रत ही नहीं हैं, द्रव्यलिंग भी नहीं है। समझ में आया?

यह तो नग्न मुनि हो, दिगम्बर हो, अट्ठाईस मूलगुण, महाव्रत आदि पालता हो, तो भी सम्यग्दर्शन के बिना वे शून्य हैं। समझ में आया? 'महाव्रत आदि'; आदि अर्थात् अट्ठाईस मूलगुण, व्यवहार समिति, व्यवहार गुप्ति, अशुभ से हटे, शुभ में रहे, उस प्रकार से चुस्त ब्रह्मचर्य पालन करे। व्यवहार है, व्यवहार साधन है—ऐसा माने; उसे होगा-ऐसा माने; उसे दर्शन बिना ये सब **महाव्रतों का साधन करके अन्तिम ग्रैवेयक तक के बन्धयोग्य विशुद्ध परिणाम करे....** देखो! नौवें ग्रैवेयक जानेयोग्य के शुभभाव करे, **तो भी वह असंयमी ही कहलाता है।** असंयमी है। आहा...! अन्तिम में अन्तिम बात ली। महाव्रत आदि का साधन करे, अट्ठाईस (मूल)गुण पाले, हजारों रानियाँ छोड़कर महाव्रत ले, ऐसा करे, ऐसे अतिचाररहित चुस्त पालन करे, हों! अन्तिम ग्रैवेयक तक, नौवें ग्रैवेयक तक के बन्ध परिणाम को पाये—ऐसा कहते हैं। बन्ध के योग्य ऐसा जो शुभपरिणाम; विशुद्ध अर्थात् शुभभाव को करे, **तो भी वह असंयमी ही कहलाता है।** तो भी उसे असंयती नाम प्राप्त होता है। असंयती होता है-ऐसा कहते हैं। उसे ज़रा भी संयम होता नहीं। समझ में आया?

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'—इसका अर्थ (करते हैं)। वह तो अभव्य के लिये है—ऐसा (कुछ लोग) कहते हैं। सबके अर्थ बदल डाले। वह तो अभव्य के लिये हैं—ऐसा कहते हैं; वरना तो भव्य को महाव्रत हो, वे मोक्ष का ही

www.vitragvani.com

कारण है। यहाँ तो कहते हैं कि महाव्रत आदि सब परिणाम, वे शुभपरिणाम हैं, पुण्यबन्ध का कारण है, नौवें ग्रैवेयक का बन्ध करते हैं। आत्मा के जन्म-मरण में अबन्ध परिणाम वे जरा भी है नहीं। कहो, समझ में आया? महाव्रत आदि का साधन करते हैं, हों! ऐसा है न?

अन्तिम ग्रैवेयक तक के बन्धयोग्य विशुद्ध परिणाम.... महाव्रत का साधन करे तो विशुद्ध परिणाम-बन्ध को पाता है-ऐसा कहते हैं। उस साधन में कोई स्वरूप साधन है नहीं। **तथा सम्यक्त्वसहित जितना भी....** देखो! सम्यक्त्व / आत्मश्रद्धा, अनुभव, भान **सहित जितना भी जानपना होवे....** जो कुछ थोड़ा भी जानपना हो, **उस सभी का नाम सम्यग्ज्ञान है....** समझ में आया? **सम्यक्त्वसहित जितना....** उसमें (मिथ्यात्वसहित में) ग्यारह अंग तक कहा था। यहाँ जो कुछ जानपना थोड़ा-बहुत हो, वह सब सम्यग्ज्ञान (नाम) पाता है। तथा उसको (मिथ्यात्वी को) महाव्रत आदि का पूर्ण साधन था और इसे **जो थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्तन करे....** थोड़ी भी रागरहित स्थिरता हो। समझ में आया? **थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्तन करे....** रागरहित थोड़ी भी स्थिरता हो तो वह सम्यक्चारित्र नाम पाता है। समझ में आया? यह पूरी बात, पूरा अभी बदलाव हो गया है। वह व्याख्या रह गयी। मुनिपना... मुनिपना... मुनिपना.... मुनिपना... जाओ, ले लो।

सम्यग्दर्शनसहित यदि थोड़ा भी त्याग... त्याग अर्थात् राग का अभाव... थोड़े अंश भी राग का अभाव। तो भी उस अन्तर सम्यग्दर्शनसहित आंशिक स्थिरता हुई, इससे उसे सम्यक्चारित्र कहने में आता है। महाव्रत आदि के इतने बड़े साधन करे तो भी सम्यग्दर्शन के बिना (बन्धयोग्य) विशुद्ध परिणाम को पाता है। आत्मदर्शन / सम्यग्दर्शनसहित थोड़ा भी राग का त्याग हो तो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। देखो!

जिस प्रकार अंकसहित शून्य हो तो वह प्रमाण में आता है.... अंकसहित की शून्य हो तो गिनती में आवे। पहले एकड़ा (अंक) होवे, फिर शून्य, अंकसहित शून्य होवे, एकड़े सहित शून्य होवे तो प्रमाण में—गिनती में आवे। अंक के बिना शून्य, शून्य ही है। एकड़े के बिना शून्य, वह शून्य ही है। लाख शून्य लिखी हो तो (भी) अंक के बिना शून्य, शून्य है और एक अंक हो एकड़ा और यह शून्य होवे तो गिनती में आवे, प्रमाण में

www.vitragvani.com

गिनी जाए। देखो! एक को शून्य पड़े तो नौ बढ़ जाए। एक हो और फिर शून्य आवे तो नौ बढ़ जाएँ। लाख शून्य हो और एक न हो तो शून्य, शून्य ही रहे। आहाहा! समझ में आया?

उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं। नाम तो दिया, हों! ज्ञान और चारित्र नाम दिया। ऐसे समकित के बिना ग्यारह अंग का ज्ञान और महाव्रत आदि के साधन, वे सब व्यर्थ हैं। इसके आत्मा को चारित्र बिल्कुल है नहीं। देखो! **आदौ** शब्द पड़ा है न, इसमें यह सब वज़न है। प्रथम में प्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है उसे जानना और उसे अंगीकार करना। समझ में आया? सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है?— इसका पता नहीं होता। यह देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, अमुक करना-हो गया और अपन यह व्यवहार साधन करते हैं, इसलिए धीरे-धीरे निश्चय चारित्र होगा—यह सब मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्यावर्तन है। समझ में आया?

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं। अतः.... यह पहला शब्द था, उसकी शुरुआत अब। **पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके....** यहाँ तक '**आदौ**' की व्याख्या की है। है न **आदौ**? **तत्र**, वहाँ, तीन में वहाँ, ऐसा। **तत्र** अर्थात् तीन में वहाँ। तीन अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। तीन में वहाँ **आदौ** समकित, ऐसा।

'श्रीमद्' कहते हैं कि लोग अभी व्रत-तप पालते हैं। सम्यग्दर्शन तो नाममात्र है, ज्ञान नाममात्र और व्रत भी उसके नाममात्र कहने के; और माना है कि हमारे दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों हैं। समझ में आया? उसके व्रत भी कैसे, वे जानने जैसे होते हैं, ऐसा। सम्यग्दर्शन का तो पता भी नहीं, ज्ञान का तो कुछ पता नहीं, हो गये हम व्रतधारी और मुनि! कहते हैं कि समकित के बिना वह ज्ञान और वे सब व्रत, वह चारित्र अर्थात् वे व्रत, हों सच्चा चारित्र कहाँ है? (वह सब) व्यर्थ है।

अतः पहले सम्यक्त्व अंगीकार करके पश्चात् अन्य साधन करना चाहिये। इसके पश्चात् स्वरूप में स्थिर होने के साधन अथवा फिर विकल्प आदि व्यवहार आवे, वह पश्चात् होता है। इसके बिना, पहले यह न हो तो उसे हो सकता नहीं। देखो! यह २१ वीं गाथा से शुरु हुई है अलौकिक बात। लो! समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - २२

इस प्रकार जो सम्यक्त्व का लक्षण जाने तो उसे अंगीकार करे। इसलिए (प्रथम ही) उस सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदा कर्तव्य।
विपरीताभिनिवेश रहित यह श्रद्धा ही है आत्मस्वरूप।।२२।।

अन्वयार्थ : (जीवाजीवादीनां) जीव-अजीवादि (तत्त्वार्थानां) तत्त्वार्थों का (विपरीताभिनिवेशविविक्तं) विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित अर्थात् अन्य को अन्यरूप समझने रूप जो मिथ्याज्ञान है, उससे रहित (श्रद्धानं) श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास (सदैव) निरन्तर ही (कर्त्तव्यं) करना चाहिये। कारण कि (तत्) वह श्रद्धान ही (आत्मरूपं) आत्मा का स्वरूप है।

टीका : 'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां श्रद्धानं सदैव कर्त्तव्यं।' - जीव, अजीव आदि जो तत्त्वार्थ - तत्त्व अर्थात् जिसका जैसा कुछ निजभाव है वैसा ही होना वह, और उस तत्त्व से संयुक्त जो अर्थ अर्थात् पदार्थ वही तत्त्वार्थ - उसका श्रद्धान अर्थात् 'ऐसे ही है अन्य प्रकार से नहीं है, ऐसा प्रतीतभाव वही सदा कर्त्तव्य है।' कैसा श्रद्धान करना योग्य है? 'विपरीताभिनिवेशविविक्तं' अर्थात् अन्य को अन्यरूप माननेरूप मिथ्यात्व से रहित श्रद्धान करना। 'तत् आत्मरूपं अस्ति' - वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। जो श्रद्धान, क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होता है, वही सिद्ध अवस्था तक रहता है। इसलिए वह उपाधिभाव नहीं है, आत्मा का निजभाव है।

भावार्थ : तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह तत्त्वार्थश्रद्धान दो प्रकार का है। एक सामान्यरूप, एक विशेषरूप। जो परभावों से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को

www.vitragvani.com

आपरूप से श्रद्धान करे, उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान तो नारकी, तिर्यंचादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। और जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे, उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य, देवादि विशेष बुद्धिवान जीवों के होता है। परन्तु राजमार्ग (मुख्यमार्ग) की अपेक्षा साततत्त्वों को जानना वही सम्यक्त्व का-सम्यक्श्रद्धान का कारण है। कारण कि यदि तत्त्वों को जाने नहीं तो श्रद्धान किसका करे? इसलिए सात तत्त्वों का वर्णन संक्षेप में करते हैं।

१. जीवतत्त्व : प्रथम ही जीवतत्त्व चेतना लक्षण से विराजमान (वह) शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। वहाँ (१) शुद्ध जीवतत्त्व-जिन जीवों के सर्व गुण-पर्याय अपने निजभावरूप परिणमन करते हैं अर्थात् जिनके केवलज्ञानादि गुण शुद्ध परिणति-पर्याय से विराजमान हुए हैं, उन्हें शुद्ध जीव कहते हैं।

(२) अशुद्ध जीवतत्त्व : जिन जीवों के सर्व गुण-पर्याय विकारभाव को प्राप्त हो रहे हैं, ज्ञानादि गुण आवरण से आच्छादित हो रहे हैं, उनमें से जो थोड़े-बहुत प्रगटरूप हैं, वह विपरीत परिणमन कर रहे हैं और जिनकी परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही है, उन मिथ्यादृष्टि जीवों को अशुद्ध जीव कहते हैं।

(३) मिश्रजीव : जिन जीवों के सम्यक्त्वादि गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध हो गई है अथवा उनमें भी कुछ मलिनता शेष रह गई है अर्थात् कोई ज्ञानादि गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध हो गई है तथा शेष सब अशुद्ध रह गई है। कुछ गुण अशुद्ध ही हो रहे हैं, ऐसी तो गुणों की दशा हुई है और जिनकी परिणति शुद्धाशुद्धरूप परिणमन कर रही है, उन जीवों को शुद्धाशुद्धस्वरूप मिश्र कहते हैं। इस भाँति जीवतत्त्व तीन प्रकार का है।

२. अजीवतत्त्व : जो चेतनागुण से रहित हैं वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल (कालाणुरूप) पाँच प्रकार के हैं। उनमें (१) पुद्गलद्रव्य - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण-संयुक्त अणु तथा स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें जो एकाकी-अविभागी परमाणु है, उसे अणु कहते हैं। अनेक अणु मिलकर स्कन्धरूप होने पर स्कन्ध कहलाता है। अथवा पुद्गलद्रव्य के छह भेद हैं। (१) स्थूलस्थूल - काष्ठ पाषाणादि जो छेदे-भेदे जाने पर बाद में मिलें नहीं, उन्हें स्थूलस्थूल पुद्गल कहते हैं। (२) स्थूल - जो जल, दूध, तेल आदि द्रव पदार्थों की तरह छिन्न-भिन्न होने पर फिर तुरन्त ही मिल

www.vitragvani.com

सकें, उन्हें स्थूल कहते हैं। (३) स्थूलसूक्ष्म – आपात, चांदनी, अन्धकारादि जो आँख से दिखाई पड़े किन्तु पकड़ने में न आवें, उन्हें स्थूलसूक्ष्म कहते हैं। (४) सूक्ष्मस्थूल – जो शब्द, गन्धादि आँख से दिखाई न पड़ें किन्तु अन्य इन्द्रियों से ज्ञान में आवें, उन्हें सूक्ष्मस्थूल कहते हैं। (५) सूक्ष्म – जो कार्मण स्कन्धादिक बहुत परमाणुओं के स्कन्ध हैं परन्तु इन्द्रियगम्य नहीं हैं, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। (६) सूक्ष्मसूक्ष्म – अति सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणु को सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं। इस प्रकार इस लोक में प्रचुर प्रसार इस पुद्गलद्रव्य का ही है।

(२) धर्मद्रव्य : जीव और पुद्गलों को गति करने में सहकारी गुणसंयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है।

(३) अधर्मद्रव्य : जीव और पुद्गलों को गतिपूर्वक स्थिति करने में सहकारी–गुणसंयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है।

(४) आकाशद्रव्य : सर्व द्रव्यों को अवगाहनहेतुत्वलक्षणसंयुक्त लोकालोक–प्रमाण एक द्रव्य है। जिसमें सब द्रव्यें पाई जावें, उसे लोक और जहाँ केवल एक आकाश ही है, उसे अलोक कहते हैं। दोनों की सत्ता भिन्न नहीं है; अतः एक ही द्रव्य है।

(५) कालद्रव्य : सर्व द्रव्यों को वर्तनाहेतुत्वलक्षणसंयुक्त लोक के एक–एक प्रदेश पर स्थित एक–एक प्रदेशमात्र असंख्यात द्रव्य हैं। उनके परिणाम के निमित्त से समय, आवली आदि व्यवहारकाल है। इस प्रकार जीव सहित छह द्रव्य जानना। काल के बहु प्रदेश नहीं हैं, अतः काल के बिना शेष पाँच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं। इसमें जीवतत्त्व और पुद्गल–अजीवतत्त्व के परस्पर सम्बन्ध से अन्य पाँच तत्त्व होते हैं।

३. आस्रवतत्त्व : जीव के रागादि परिणामों से योग द्वारा आनेवाले पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहते हैं।

४. बन्धतत्त्व : जीव की अशुद्धता के निमित्त से आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरणादिरूप अपनी स्थिति और रससंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्धरूप होने को बन्धतत्त्व कहते हैं।

५. संवरतत्त्व : जीव के रागादि परिणाम के अभाव से पुद्गलों के न आने को संवरतत्त्व कहते हैं।

www.vitragvani.com

६. निर्जरातत्त्व : जीव के शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बँधे हुए कर्मों के एकदेश नाश होने को संवरपूर्वक निर्जरा कहते हैं। कर्म के फल को भोगने पर जो उनकी निर्जरा की जाती है, वह निर्जरा, मोक्ष के लिये कारणभूत नहीं है।

७. मोक्षतत्त्व : सर्वथा कर्म के नाश होने पर जीव के निजभाव प्रगट होने को मोक्षतत्त्व कहते हैं। यह सात तत्त्वार्थ जानना। पुण्य–पाप तत्त्व है, वह आस्रवतत्त्व के भेद हैं; इसलिए अलग नहीं कहे गए। इस प्रकार यह तत्त्वार्थ का श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

प्रश्न : इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है। किस प्रकार? जिस समय सम्यग्दृष्टि, विषय–कषाय की तीव्रतारूप परिणमन करता है, तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है? लक्षण तो वह है जो लक्ष्य में सर्वथा सदाकाल पाया जावे।

उत्तर : जीव के दो भाव हैं। एक श्रद्धानरूप है, दूसरा परिणमनरूप है। श्रद्धानरूप तो सम्यक्त्व का लक्षण है और परिणामरूप, चारित्र का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि, विषय–कषाय के परिणमनरूप हुआ है, श्रद्धान में प्रतीति यथावत् है। ''जिस प्रकार गुमाश्ता साहूकार का चाकर है। उसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सभी कुछ सेठ का कार्य है, मेरा घर तो भिन्न ही है। परिणामों से तो सेठ के कार्य में प्रवर्तन करता है और उस सेठ के कार्य को 'मेरा–मेरा' भी कहता है, नफा–नुकसान होने पर हर्ष–शोक भी करता है और उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है। परन्तु जिस समय उस सेठ का और अपना हिसाब करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी वैसी प्रगट करता है। सेठ के कार्य में प्रवर्तन करते समय वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है। कदाचित् वह सेठ के धन की चोरी करके उसे अपना जाने तो उसे अपराधी कहते हैं। फिर वह गुमाश्ता सेठ की नौकरी को पराधीन दुःखदायक मानता है परन्तु अपने स्वयं के धन के बल–बिना आजीविका के वशवर्त्ती होकर उसके काम में प्रवर्तन करता है।'' वैसे ही ज्ञानी कर्म के उदय को भोगता है।

इसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब दिखावा मात्र भेष है, मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है, परिणामों के द्वारा औदयिकभावों में परिणमन करता है और उदय के सम्बन्ध के वश 'मेरा–मेरा' भी कहता है, इष्ट–अनिष्ट में हर्ष–विषाद भी करता है और अपनी उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है। परन्तु जिस समय

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

उस कर्म और अपने स्वरूप का विचार करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी, वैसी ही प्रगट करता है। फिर उस कर्म के उदय में वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है, यदि कदाचित् कभी भी उस कर्म के उदय को श्रद्धान में अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं।

पुनः वह ज्ञानी, कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है परन्तु अपने शुद्धोपयोग के बल–बिना पूर्वबद्ध कर्म के वश होकर कर्म के औदयिकभावों में प्रवर्तन करता है। इस प्रकार सम्यक्त्वी के तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन परिणमनरूप तो निर्बाधरूप से निरन्तर ही है परन्तु ज्ञानोपयोग अपेक्षा से देखा जावे तो सामान्यरूप अथवा विशेषरूप, शक्ति अवस्था में अथवा व्यक्त अवस्था में (–सम्यक्रूप परिणमन तो) सदाकाल होता ही है।

प्रश्न : भले ही इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है परन्तु अतिव्याप्ति दोष तो लगता है। कारण कि द्रव्यलिंगी मुनि, जिनप्रणीत सात तत्त्वों को ही मानता है, अन्यमत के कल्पित तत्त्वों को नहीं मानता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्य के अलावा अन्य स्थान में न पाया जावे।

उत्तर : द्रव्यलिंगी मुनि, जिनप्रणीत तत्त्व को ही मानता है परन्तु विपरीताभिनिवेश से संयुक्त मानता है, शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को अपनी जानता है, इससे अजीवतत्त्व में जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है। पुनः आस्रव–बन्धरूप जो शील* संयमादिरूप परिणाम हैं, उन्हें संवर–निर्जरारूप मानकर मोक्ष का कारण मानता है। द्रव्यलिंगी पाप से तो विरक्त हुआ है परन्तु पुण्य में उपादेयबुद्धि से परिणमन करता है; इसलिये उसे तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं है। इस भाँति (विपरीत अभिप्रायरहित) तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये।।२२।।

गाथा २२ पर प्रवचन

इस प्रकार जो सम्यक्त्व का लक्षण जाने.... अब समकित का लक्षण क्या है, उसे जानना चाहिए? **तो उसे अंगीकार करे। इसलिए (प्रथम ही) उस सम्यक्त्व का**

* शील = शुभभावरूप व्यवहार ब्रह्मचर्यादि।

www.vitragvani.com

लक्षण कहते हैं। देखो! **आदौ** समकित। पहले में पहला समकित, जो मोक्ष का उपाय, मोक्ष का कारण—ऐसे समकित की यह व्याख्या है। यह निश्चय समकित की व्याख्या है—ऐसा कहते हैं। श्रावक के लिये यह है, देखो! तब वे कहते हैं—श्रावक को सराग समकित होता है; वीतराग समकित निश्चय नहीं होता है, निश्चय समकित ऊपर होता है। यहाँ रागसहित, शुभयोगसहित की श्रद्धा (होती है—ऐसा वे कहते हैं।)

यहाँ तो आचार्य यह बात करते हैं कि मोक्षमार्ग के तीन अवयव अर्थात् तीन समुदाय है। उसका पहला सम्यग्दर्शन, श्रावक के लिये व्याख्या चलती है और उस श्रावक को भी पहले सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है—पंचम गुणस्थान की व्याख्या चलती है।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

देखो! यह श्लोक रखा है, भाई ने-टोडरमलजी ने, मोक्षमार्गप्रकाशक में निश्चय सिद्ध करने के लिये यह गाथा है। नौवें में या सातवें में? नौवें में। **'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्' 'सदैव'** भिन्न किया, शामिल चाहिए। **'सदैव कर्त्तव्यम्'** सदा ही कर्तव्य है। व्यवहार सदा कर्तव्य नहीं है; यह तो निश्चय है, इसलिए सदा ही कर्तव्य है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? सदा ही कर्तव्य अर्थात् 'उसरूप' सदा रहेगा। फिर ठेठ सिद्ध में भी (रहेगा)—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्' देखो! अभी तो श्रावक को पहली सम्यग्दर्शन की दशा ऐसी होती है, उसका वर्णन करते हैं। अब वे (दूसरे लोग) कहते हैं कि चौथे, पाँचवें और छठवें (गुणस्थान) में व्यवहार समकित होता है, व्यवहार ज्ञान होता है, व्यवहार चारित्र होता है; निश्चय नहीं होता। यहाँ तो यह निश्चय की बात करते हैं। **जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का....** इसके बाद व्याख्या करेंगे, हों! सामान्य-विशेष। जीव, अजीवादि। क्योंकि थोड़ी बुद्धिवाले कितने ही तिर्यंच होते हैं, कितने ही मनुष्य होते हैं, देव होते हैं, नारकी होते हैं। उन्हें सामान्यरूप से भी यह जीवतत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन होता है, विशेष तत्त्व का ज्ञान न हो। चैतन्यस्वरूप कहेंगे। परभावों से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को अपनेरूप श्रद्धान करे, उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं।

www.vitragvani.com

भावार्थ में है। समझ में आया? विशेष जानपना न हो, विशेष पहलू न जानता हो, मूल पहलू संक्षेप में (जानता हो)। ज्ञायकस्वरूप आत्मा और इसके अतिरिक्त सब अजीव, बस! परभाव, वह पुण्य-पाप; स्वभाव, वह भिन्न—ऐसा सामान्यरूप से भी जानकर जो अन्तर सम्यग्दर्शन अंगीकार करता है, वह सामान्य समकित है। उसमें सात तत्त्व भी सामान्यरूप से आ जाते हैं, उतारे हैं।

आत्मा, यह आत्मा, वह आनन्दस्वरूप है—ऐसा भान हुआ, वह आत्मा। इसके अतिरिक्त, इस आनन्द के अतिरिक्त ये दूसरी बात है, वह इससे विरुद्ध है; दुःख अर्थात् आस्रव और बन्ध है। इस तत्त्व (जीव) में आनन्द है, इससे दूसरा जो तत्त्व, वह अजीव। सब साथ में आ गया। साधन हो, वह संवर-निर्जरा, पूर्ण साधन हो, वह मोक्ष। यह वस्तु आनन्द है, इसकी पूर्णता मोक्ष। यह साधन हो पर्याय प्रगटी, वह संवर-निर्जरा, यह आत्मा। इससे विरुद्ध वह अजीव; आनन्द से विरुद्ध वह आस्रव और बन्ध। समझ में आया? आस्रव और बन्ध, वह दुःखरूप। थोड़े में उसमें आ गया। उसमें भी ये सात तत्त्व तो डालने पड़ेंगे न? सामान्य में भी इन सात के बिना कोई उनका लक्षण दूसरा नहीं, वह लक्षण कोई दूसरा नहीं उनका। सामान्य-विशेष का अन्तर है, बाकी लक्षण दूसरा नहीं है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित अर्थात् अन्य को अन्यरूप समझने रूप जो मिथ्याज्ञान है उससे रहित.... लो! जिसका जो तत्त्व का भाव है—जीव का तत्त्वभाव, पुण्य का तत्त्वभाव, अजीव का तत्त्वभाव, पाप का तत्त्वभाव, संवर का स्वरूप, निर्जरा का स्वरूप तत्त्वभाव और मोक्ष का (स्वरूप)। ऐसा दूसरे को दूसरेरूप समझने के मिथ्याज्ञान से रहित होता है। **श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास 'सदैव' निरन्तर ही करना चाहिये।** लो! नियमसार (तीसरी गाथा में) आया न? **'णियमेण य जं कज्जं'** नियम से जो करनेयोग्य है, शब्द है कुन्दकुन्दाचार्य का। नियम से जो करनेयोग्य आत्मा का दर्शन, ज्ञान और स्थिरता / रमणता—तीन, ये नियम से करनेयोग्य निश्चय है। वह सदा ही करनेयोग्य है।

कारण कि वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है। लो! निर्विकल्प श्रद्धा हुई,

www.vitragvani.com

वह आत्मा की निर्विकारी पर्याय है, वह आत्मा का स्वरूप है कि जो सम्यग्दर्शन वह का वही ठेठ सिद्ध में रहता है; इसलिए सम्यग्दर्शन का पहले में पहला अखिल प्रयत्न करके-उपाय करके अन्तर्मुख होकर अंगीकार करना, यह पहला ही मोक्षमार्ग का अवयव है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१ गाथा-२२ गुरुवार, पौष शुक्ल ८, दिनांक १९.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, २२ वीं गाथा। ऐसा यदि समकित का लक्षण जाने तो उसे अंगीकार करे,, इसलिए उसे समकित का लक्षण कहते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

अन्वयार्थ : जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीत अभिनिवेश.... रहित। दूसरे को दूसरेरूप समझनेरूप मिथ्याज्ञान से रहित। आस्रव को आत्मा समझे, आत्मा को आस्रव समझे; संवर को बन्ध समझे, बन्ध को संवर समझे - इत्यादि। दूसरे को दूसरेरूप समझनेरूप मिथ्याज्ञान से रहित **श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास निरन्तर ही करना चाहिये। कारण कि वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।** सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का स्वरूप है, आत्मा का रूप है, आत्मा की निर्मलपर्याय है। सम्यग्दर्शन, वह मोक्षमार्ग का अवयव है। वह आत्मा के निर्मलपर्याय का स्वरूप है। रागादि को सम्यग्दृष्टि नहीं करता—ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आत्मा का रूप है, वह तो शुद्ध आत्मा है, ऐसी उसकी श्रद्धा की पर्याय भी शुद्ध ही है, आत्मा का वह स्वरूप है।

टीका : 'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां श्रद्धानं सदैव कर्त्तव्यं।' - जीव, अजीव आदि जो तत्त्वार्थ - तत्त्व अर्थात् जिसका जैसा कुछ निजभाव है... जीव का निजभाव, आस्रव का निजभाव, संवर-निर्जरा का निजस्वरूप, जैसा उनका स्वरूप और भाव है। **वैसा ही होना....** उस भाव में वैसा ही होना वह। इसका नाम तत्त्व। पुण्य का भाव शुभ है, पाप का अशुभ है, संवर-निर्जरा का शुद्धभाव है, आत्मा का

www.vitragvani.com

ज्ञायकभाव है, अजीव का अजीवत्व भाव है। उस–उस भाव को उस प्रकार से अन्तर में श्रद्धा करना।

उस तत्त्व से संयुक्त जो अर्थ.... तत्त्वार्थ लेना है। **जिसका जैसा कुछ निजभाव है....** जीव का निजभाव ज्ञायक है, पुण्य का निजभाव शुभ है इत्यादि। **जिसका जैसा कुछ निजभाव है, वैसा ही होना वह, और उस तत्त्व से संयुक्त....** उसके भाव से संयुक्त वह वस्तु। **जो अर्थ अर्थात् पदार्थ वही तत्त्वार्थ....** ये सातों तत्त्व। सात अर्थ है, उनका भाव, **उसका श्रद्धान अर्थात् 'ऐसे ही है....** यहाँ जरा इसका अर्थ करेंगे। **अन्य प्रकार से नहीं है, ऐसा प्रतीतभाव वही सदा कर्त्तव्य है।' कैसा श्रद्धान करना योग्य है? 'विपरीताभिनिवेशविविक्तं' अर्थात् अन्य को अन्यरूप माननेरूप मिथ्यात्व से रहित...** जो भाव जिस तत्त्व का है, उससे विपरीत दूसरे भाव से उसे मानना, इसका विपरीत मिथ्यात्व है। उससे रहित श्रद्धान करना। **वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है।** लो! यह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। शुभयोग विकल्प, वह कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह तो पुण्य का स्वरूप है।

जो श्रद्धान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होता है.... जिस आत्मा के स्वरूप की शुद्ध श्रद्धा **क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होता है, वही सिद्ध अवस्था तक रहता है।** समझ में आया? वही स्वरूप तिर्यंच को हो, मनुष्य को हो, नारकी को हो, क्षायिक। वही सिद्ध अवस्था तक रहता है। **इसलिए वह उपाधिभाव नहीं है,....** इसलिए सम्यग्दर्शन कोई शुभविकल्प या शुभयोग नहीं है – ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन, निरुपाधि आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसकी शुद्ध श्रद्धारूपी परिणाम, वह आत्मा का निरुपाधिरूप–स्वरूप है। विकल्प जो दया, दान या शुभयोग है, वह तो उपाधिरूप है। ये सम्यग्दर्शन के परिणाम उपाधिरूप नहीं। कहो, समझ में आया?

भावार्थ आत्मा का निजभाव है, वह आत्मा की निज पर्याय है। शुद्धस्वरूप जैसा ज्ञायक है, वैसी (प्रतीति) और जो रागादि भले हो, उस अनुसार जिसका जो भाव है, उसकी यहाँ श्रद्धा स्वसन्मुख में (होना) और उसमें ये रागादि नहीं—ऐसे परिणाम की श्रद्धा, वह आत्मा का ही भाव है, आत्मा की ही निर्मल दशा है। वह आत्मा का ही

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वास्तविकरूप-स्वरूप है। कहो, इतना तो स्पष्टीकरण किया है कि सम्यग्दर्शन तो आत्मा का रूप है। (लोग अभी) शुभयोग को समकित कहते हैं। आठवें (गुणस्थान की) कहाँ बात है, यह चौथे की बात है। पहले से बात जीवादि तत्त्वार्थ (श्रद्धान की ली है) समझ में आया? शुभयोग तो उपाधि है, विकल्प है, कर्मजन्य भाव है; उसे समकित नहीं कहा जाता।

समकित, स्वरूप शुद्ध चैतन्य की सन्मुख का और उसमें दूसरे तत्त्व हैं, वे-वे भाववाले, उसमें नहीं इस प्रकार इसकी श्रद्धा का विपरीत श्रद्धानरहित होना, इसका नाम आत्मा का ही स्वरूप और रूप है जो कि स्वरूप सिद्ध भगवान में भी रहता है।

मुमुक्षु : सिद्ध अवस्था तक रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी निर्मल पर्याय है न! मोक्षमार्ग में हुई वह मोक्ष में भी रहती है। आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? जो टहनी हुई, वह टहनी फिर वृक्ष में भी रहती है। ऐसे मार्ग की बात की है। मोक्षमार्ग है, वह फिर मोक्ष में कैसे रहे? ऐसा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्ष में (किस प्रकार रहे)? सम्यग्दर्शन वह तो मोक्षमार्ग है, वह फिर मोक्ष में कैसे रहे? जो निर्मल अवयव हुआ, वह वहाँ भी रहता है - ऐसा कहते हैं। शुद्धस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा, राग के लक्ष्यरहित चैतन्य के आश्रय से हुए निर्मल श्रद्धा के परिणाम तो सिद्धस्वभाव में भी रहते हैं, मोक्ष में भी रहते हैं - ऐसा कहते हैं। मोक्ष का मार्ग है, तथापि मोक्ष में भी रहता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह तत्त्वार्थश्रद्धान दो प्रकार का है। दो प्रकार का होता है। **एक सामान्यरूप, एक विशेषरूप। जो परभावों से भिन्न...** पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न **अपने चैतन्यस्वरूप को आपरूप से श्रद्धान करे...** उसमें सब आ गया, संक्षिप्त में सातों (तत्त्व आ गये)। परभावों से भिन्न—अजीव और पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध ये सब परभाव हैं; इनसे भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप (का श्रद्धान करे)। विशेष ज्ञान न हो परन्तु इस प्रकार सामान्य बुद्धिवाले को नारकी में, मनुष्य में, देव में, तिर्यंच में परभावों से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को अपनेरूप से श्रद्धान करे कि यह चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, वह मैं हूँ; परभाव, वह मैं नहीं। इसमें यह परभाव की श्रद्धा आ गयी। समझ में आया?

www.vitragvani.com

चैतन्यस्वरूप को अपनेरूप श्रद्धा करे, उसमें संवर, निर्जरा और मोक्ष भी आ गया। चैतन्यस्वरूप वह मैं–इसमें निर्मलता की पर्याय चैतन्यस्वरूप प्रगट हुई, वह संवर, निर्जरा और मोक्ष है। परभाव में अजीव, आस्रव, बन्ध सब उसमें आ गया। स्व–पर में सातों ही आ गये। समझ में आया? विशेष ज्ञान न हो, क्षयोपशम न हो, तथापि ऐसी श्रद्धा हो उसे भी सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें ज्ञान की विशेषता नहीं – ऐसा कहते हैं। सनातन मार्ग में सातों तत्त्वों का जानपना लेंगे।

परभावों से भिन्न.... विकार के विकल्प से अत्यन्त भिन्नस्वरूप ऐसा जो चैतन्यस्वभाव शुद्ध आत्मा का, उसकी श्रद्धा। **उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं।** सामान्य अर्थात् विशेष ज्ञान के बिना भी है बराबर यथार्थ, आत्मा के अनुभव की प्रतीति। कहो समझ में आया? ऐसा कहकर यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन हुआ, इसीलिए उसे जानपना बहुत ही हो, बहुत ही हो, ऐसा कुछ नहीं।

यह श्रद्धान तो नारकी,.... को भी होता है। सम्यग्दर्शन। तिर्यंच / पशु में मेंढ़क आदि को भी होता है। **सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है।** यह तो सबको होता है, सामान्यरूप से तो सबको होता है। **और जीव–अजीवादि सात तत्त्वों के विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं।** उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। तथापि उसका फल, वस्तु तो एक ही प्रकार की है, हों! जानपना विशेष है, इसलिए उसका तत्त्वार्थश्रद्धान बहुत निर्मल है—ऐसा कुछ नहीं। इसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। समझ में आया?

यह श्रद्धान मनुष्य, देवादि विशेष बुद्धिवान जीवों के होता है। क्षयोपशम अधिक हो और अनुभव की प्रतीति तो ऐसी ही होती है, जैसी सामान्य में कही वैसी ही इसे होती है। इसे अधिक जानपने का भाव होता है इतना (विशेष है)। समझ में आया? **विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे, उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य, देवादि विशेष बुद्धिवान जीवों के होता है। परन्तु....** अब राजमार्ग कहते हैं। **राजमार्ग (मुख्यमार्ग) की अपेक्षा साततत्त्वों को जानना वही सम्यक्त्व का–सम्यक्श्रद्धान का कारण है।** क्योंकि पहले को–तिर्यंच को सात तत्त्व

www.vitragvani.com

के नाम भी नहीं आते हों। कितने ही मनुष्यों को भी ऐसे सात तत्त्व के नाम न आते हों (परन्तु) अन्दर वस्तु का भान हो गया। समझ में आया? इसलिए कहते हैं कि वह भी सामान्य सम्यग्दर्शन है, वह भी सम्यग्दर्शन है; विशेष ज्ञानसहित, वह भी सम्यग्दर्शन ही है। परन्तु राजमार्ग में सात तत्त्व का जानपना इसमें लिया गया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सामान्य-विशेष इस अपेक्षा से, ज्ञान की अपेक्षा से। इसलिए इसकी श्रद्धा में भेद किया। क्या कहा? ऐ.ई..! ऐसा कहते हैं कि वह तो ज्ञान की अपेक्षा से विशेष हुआ, परन्तु श्रद्धा में क्या? श्रद्धा का इस अपेक्षा से भेद किया। जैसे श्रुतकेवली के अवगाढ़ समकित, केवली को परमावगाढ़ समकित है। वरना समकित तो समकित है। यहाँ सात तत्त्व लेना है न, इसलिए उसे राजमार्ग में सात का ज्ञान लेकर विशेष कहना है। समझ में आया?

मुमुक्षु : समयसार में अकेले आत्मा की बात करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक आत्मा इन सात में आ जाता है। एक आत्मा शुद्धस्वरूप का भान (हुआ), उस आत्मा में यह अजीव नहीं, ऐसा साथ आ जाता है। उसमें पुण्य-पाप और आस्रव बन्ध नहीं, ऐसा आ जाता है, सब एक ही लक्षण है। इसका स्पष्टीकरण मोक्षमार्गप्रकाशक में किया है, बहुत किया है। कहो समझ में आया? शुद्धस्वरूप भूतार्थ वस्तु के अन्तर में स्वसन्मुख होकर प्रतीति (हो), उसमें यह सब आ जाता है। सामान्यरूप से वहाँ आत्मा को लिया परन्तु उसमें अजीव आदि नहीं—ऐसी श्रद्धा भी साथ आ जाती है। उसमें नहीं, इसलिए दूसरे हैं—ऐसी श्रद्धा आ गयी।

राजमार्ग (मुख्यमार्ग) की अपेक्षा.... सात कहे न, इसलिए अब इसे विशेष स्पष्ट (करते हैं)। **साततत्त्वों को जानना, वही सम्यक्त्व का-सम्यक्‌श्रद्धान का कारण है।** जानना, वह श्रद्धा का कारण है—ऐसा कहते हैं। **कारण कि यदि तत्त्वों को जाने नहीं तो श्रद्धान किसका करे?** यह जीव है, ये पुण्य-पाप हैं, यह बन्ध है, यह अजीव है, इसी प्रकार यह संवर-निर्जरा आदि विशेष न जाने तो जाने बिना श्रद्धान किसका करे? **इसलिए सात तत्त्वों का वर्णन संक्षेप में करते हैं।** तत्त्वार्थश्रद्धान शब्द पड़ा है न?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

इसलिए सात तत्त्व किस प्रकार हैं, उसकी बात जरा समझाते हैं। जीवतत्त्व किसे कहते हैं, उसके तीन प्रकार करेंगे।

१. जीवतत्त्व : प्रथम ही जीवतत्त्व चेतना लक्षण से विराजमान (वह) शुद्ध,... बिराजमान। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप से, चेतनालक्षण से बिराजमान है। चेतनालक्षण से जीवतत्त्व बिराजमान है। **(वह) शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है।** जीवतत्त्व भी तीन प्रकार का उसके भाव में होता है। **वहाँ (१) शुद्ध जीवतत्त्व–जिन जीवों के सर्व गुण–पर्याय अपने निजभावरूप परिणमन करते हैं...** लो! केवली (कहे)। **जिन जीवों के सर्व गुण–पर्याय....** निर्मल गुण की पर्याय, ऐसा। अपने निजभावरूप से शुद्ध परिणमित हुए हैं। **अर्थात् जिनके केवलज्ञानादि गुण शुद्ध परिणति–पर्याय से विराजमान हुए हैं, उन्हें शुद्ध जीव कहते हैं।** केवली को, सिद्ध को शुद्ध जीव कहते हैं। कहो, समझ में आया? जीवतत्त्व की व्याख्या (कही) जीवतत्त्व में शुद्ध पूर्ण गुण की पर्याय निर्मल हो गयी, उसे शुद्ध जीवतत्त्व कहते हैं।

(२) अशुद्ध जीवतत्त्व : जिन जीवों के सर्व गुण–पर्याय विकारभाव को प्राप्त हो रहे हैं,.... जिन जीवों के सर्व गुण–पर्याय जो विकारभाव को प्राप्त हो रहे हैं। कितने ही अस्तित्व आदि नहीं, परन्तु जो गुण हो रहे हैं उनकी बात लेना। **ज्ञानादि गुण आवरण से आच्छादित हो रहे हैं,....** ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि उनकी पर्याय में आच्छादित हो रहे हैं। **उनमें से जो थोड़े–बहुत प्रगटरूप हैं वह (ज्ञानादि) विपरीत परिणमन कर रहे हैं....** उघाड़ ज्ञान आदि हैं परन्तु वे परपने जानने में परिणमन कर रहे हैं। समझ में आया?

अस्तित्व गुण आदि तो निर्मल है, वह बात यहाँ नहीं लेना। जो कुछ विकाररूप परिणमते हैं, वे सब विकाररूप परिणमित हुए हैं – ऐसा लेना। थोड़ा बहुत जो कुछ उघाड़ है–मिथ्यादृष्टि को ज्ञान का उघाड़ होता है, दर्शनोपयोग का (होता है) परन्तु वह विपरीतरूप परिणमता है। उसका व्यापार पर के प्रति है, स्व के प्रति नहीं। **जिनकी परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही है....** जिनकी दशा अकेले पुण्य–पाप के विकाररूप हो रही है। **उन मिथ्यादृष्टि जीवों को अशुद्ध जीव कहते हैं।** पर्याय की अशुद्धता अर्थात्

www.vitragvani.com

अकेले मलिनता के कारण उसे अशुद्ध जीव कहते हैं। यह जीवतत्त्व की व्याख्या करते हैं। समझ में आया?

(३) मिश्रजीव : जिन जीवों के सम्यक्त्वादि गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध हो गई है.... गुण अर्थात् पर्याय। जिनकी समकित आदि ज्ञानादि, शान्ति आदि, आनन्दादि की कितनी ही शक्ति शुद्ध हुई है, देखो! कितनी ही शक्ति शुद्ध हुई है अर्थात् पर्याय। **अथवा उनमें भी कुछ मलिनता शेष रह गई है....** शक्ति शुद्ध हुई है, उसमें कुछ मलिनता भी रह गयी है। **अर्थात् कोई ज्ञानादि गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध हो गई है....** ज्ञान–दर्शन आदि, **शेष सब अशुद्ध रह गई है।** कितनी ही वहाँ अशुद्ध भी रही है।

कुछ गुण अशुद्ध ही हो रहे हैं,.... गुण अर्थात् पर्याय। **ऐसी तो गुणों की दशा हुई है और जिनकी परिणति पर्याय शुद्धाशुद्धरूप परिणमन कर रही है....** इन गुणों की दशा शब्द से तो मूल तो पर्याय है परन्तु गुण की बात ली है। उसके गुण में से पर्याय में ऐसा हुआ है, ऐसा। **जिनकी परिणति शुद्धाशुद्धरूप परिणमन कर रही है उन जीवों को शुद्धाशुद्धस्वरूप मिश्र कहते हैं।** देखो! सम्यग्दृष्टि को अशुद्धपरिणति है, उसका स्वामी नहीं। वास्तव में तो शुद्ध परिणति ही उसका स्वरूप है परन्तु अशुद्ध साथ में है, इसलिए मिश्र लेकर उसकी बात की है। कहो, समझ में आया इसमें?

सम्यग्दर्शन में तो सविकल्पसहित है ही नहीं। यह तो इनकार किया नहीं? उस दृष्टि में निर्मलता में आत्मा के साथ में विकल्पसहित आत्मा है—ऐसा नहीं माना, विकल्पसहित है—ऐसा नहीं माना परन्तु वहाँ अस्थिरता, अशुद्धता है। इस अपेक्षा से कितनी ही निर्मल दशा और कितनी ही मलिनता एक साथ गिनकर समकिती को, मुनि को भी मिश्रदशा में गिनने में आया है। कहो, समझ में आया इसमें कुछ?

कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि व्यवहार से—रागादि विकल्प से मुक्त है, विकल्पसहित जीव है ही नहीं। कल आया था। वह जीव में विकल्पसहित मानता नहीं, जीव विकल्पसहित है—ऐसा अनुभव नहीं करता। इसलिए अनुभव में विकल्पपना नहीं है। विकल्पपना है, एक अशुद्धपना है, उससे भिन्नरूप से परिणमित होता है परन्तु इससे यहाँ बतलाया है, जीवतत्त्व को अर्थात् अशुद्धपरिणति भी उसकी है—ऐसा गिनकर उसे जीवतत्त्व में मिश्रपना गिनने में आया है। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कोई कहे कि समकिती जीव तो ज्ञाता-दृष्टा है, मुनि अकेले ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। यह ठीक है और यह मिश्र है यह भी ठीक है। इस समय थोड़ी अशुद्ध पर्याय परिणमित हुई है, इसका स्वामी नहीं, उसका मालिक नहीं, उसकी रुचि नहीं परन्तु है अवश्य—इतना बतलाने के लिये यह मिश्रपना गिनने में आया है। समझ में आया?

इस भाँति जीवतत्त्व तीन प्रकार का है। (१) जिसकी-शुद्ध जीव की परिपूर्ण परिणति केवलज्ञान आदि हो गयी। (२) मिथ्यादृष्टि की अत्यन्त अशुद्ध परिणति है। (३) सम्यग्दृष्टि से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में कितनी ही शुद्ध और कितनी ही अशुद्ध है, उसे यहाँ मिश्र में गिनने में आया है। कहो, समझ में आया? ऐसे जीव की, जैसा है वैसा उसकी श्रद्धा में श्रद्धा करना चाहिए - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : त्रस-स्थावर के जीव तो आये नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रस-स्थावर वह जीव कहाँ है? छह काय वह जीव कहाँ है? ज्ञानस्वरूप वह जीव है, उसकी परिणति के प्रकार लिये। ठीक पूछा। त्रस-स्थावर के भेद किये न? जीव के ५१३ भेद। यह तो उस जीवतत्त्व के शुद्धपने की परिणतिवाला तत्त्व; अत्यन्त अशुद्धता की परिणतिवाला तत्त्व और मिश्रवाला तत्त्व, उसे जीवतत्त्व कहने में आया है यहाँ तो। वह तो अजीवतत्त्व है—काया वह तो अजीवतत्त्व है, शरीर तो अजीवतत्त्व है। इसलिए उसे कैसे कहने में आवे? जीवतत्त्व में उसे कैसे रखा जाये? शरीर जो है एकेन्द्रिय का, दो इन्द्रिय का, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय वह तो अजीवतत्त्व है; वह कोई जीवतत्त्व नहीं। अब आया, देखो! अजीवतत्त्व आया।

२. अजीवतत्त्व : जो चेतनागुण से रहित हैं वह पुद्गल,.... यह शरीर, लो! एकेन्द्रिय का शरीर, दो इन्द्रिय का शरीर, तीन इन्द्रिय का शरीर... यह जड़, जड़। **चेतनागुण रहित, वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल (कालाणुरूप) पाँच प्रकार के हैं।** कालरूप अर्थात् कालाणु, एक भिन्न द्रव्य लिया न। **उनमें (१) पुद्गलद्रव्य - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण-संयुक्त....** है। पुद्गल के रजकण रंग, गन्ध और स्पर्शसहित हैं। उसके गुण ऐसे होते हैं-ऐसा कहते हैं। अचेतन है न! चेतनस्वरूप नहीं। अचेतन है तो अचेतन में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सहित है। **अणु तथा स्कन्ध के भेद से दो प्रकार**

www.vitragvani.com

के हैं। पुद्गल में एक परमाणु और स्थूल स्कन्ध, उसमें दो प्रकार का है।

उनमें जो एकाकी–अविभागी परमाणु है, उसे अणु कहते हैं। अकेला रजकण अविभागी, जिसके दो भाग न हों, उसे परमाणु कहते हैं, अणु कहते हैं। **अनेक अणु मिलकर स्कन्धरूप होने पर स्कन्ध कहलाता है।** अणु मिलकर स्कन्ध हो, उसे स्कन्ध कहते हैं। मिलन, मिलन, मिलाप से स्कन्ध हुआ न? मिलाप से भाषा है। पंचास्तिकाय में आया था, नहीं? अन्योन्य मिलते हैं परन्तु फिर भी इकट्ठे नहीं होते। गाथा आयी नहीं? अन्योन्य अवगाह से है। पंचास्तिकाय में मूल गाथा में 'मिलन' शब्द पड़ा है। अन्योन्य मिलते हैं। मिलते शब्द से सम्बन्ध ऐसे क्षेत्र में इकट्ठे (रहते हैं) तथापि एक–दूसरे द्रव्य स्वयं पलटकर दूसरा (द्रव्य) नहीं होता। वहाँ 'मिलन' शब्द है। उन्होंने मिलन का विवाद निकाला है, मिले हैं या नहीं? मिले हैं या नहीं? मिले अर्थात् एक जगह, एक क्षेत्र में हैं। दो चलें तब एकसाथ चलते हैं। अकेला, उसे स्कन्ध कहते हैं। अनेक अणु मिलकर इकट्ठे हुए वे **अथवा पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं।** पंचास्तिकाय की शैली है।

(१) स्थूलस्थूल – काष्ठ पाषाणादि जो छेदे–भेदे जाने पर बाद में मिलें नहीं.... देखो! मिले नहीं। उसको मिला कहेंगे। 'मिलना' एक शब्द ऊपर बड़ा विवाद है। स्पर्श का विवाद, स्पर्श उसका विवाद। जो टुकड़े होकर पत्थर के या लकड़ी के हुए पश्चात् दोनों इकट्ठे नहीं होते, उसे **उन्हें स्थूलस्थूल पुद्गल कहते हैं। (२) स्थूल – जो जल, दूध, तेल आदि द्रव पदार्थों की तरह छिन्न–भिन्न होने पर फिर तुरन्त ही मिल सकें....** मिल सकें का अर्थ ऐसे संयोग से इकट्ठे हों। **उन्हें स्थूल कहते हैं।** यह तो स्वयं स्वतः टुकड़े हुए और वे भिन्न रहे। यहाँ भिन्न द्रव्य से ऐसे भिन्न होने के पश्चात् मिल जाते हैं इस कारण से, ऐसा कहते हैं। पानी ऐसा थोड़ा पृथक् पड़ जाये, तथापि मिल जाये उसके कारण, ऐसा ही उसका स्वभाव है। पहले भिन्न पड़े और इकट्ठे न हों, ऐसा उनका वह स्वभाव है। इसलिए उसके प्रकार कहे—स्थूलस्थूल, स्थूल। **तुरन्त ही मिल सकें उन्हें स्थूल कहते हैं।** तुरन्त अर्थात् पानी ऐसा किया तो साथ में मिल जाये, दूध ऐसा किया तो तुरन्त मिल जाये। दूसरा मिला दे ऐसा नहीं, अपने आप मिल जाये, उसका नाम यहाँ स्थूल कहने में आता है। लो! इसमें एक–दूसरा कुछ मिला दे, यह बात नहीं रहती

www.vitragvani.com

–ऐसा कहते हैं। मिल जाये—ऐसा उनका स्वभाव है–स्थूल पुद्गल का ऐसा उसका स्वभाव है।

(३) स्थूलसूक्ष्म – आपात, चांदनी, अन्धकारादि जो आँख से दिखाई पड़े किन्तु पकड़ने में न आवें उन्हें स्थूलसूक्ष्म कहते हैं। लो! **(४) सूक्ष्मस्थूल – जो शब्द, गन्धादि आँख से दिखाई न पड़ें किन्तु अन्य इन्द्रियों से ज्ञान में आवें...** शब्द सुनायी दे, गन्ध सूँघने में आवे, पकड़ में नहीं आवे, आँख से दिखायी न दे। **उन्हें सूक्ष्मस्थूल कहते हैं। (५) सूक्ष्म – जो कार्मण स्कन्धादिक बहुत परमाणुओं के स्कन्ध हैं परन्तु इन्द्रियगम्य नहीं हैं उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। (६) सूक्ष्मसूक्ष्म – अति सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणु को सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं।** ये तो पुद्गल के ही ऐसे प्रकार हैं – ऐसा कहते हैं। किसी ने किये और किसी से होते हैं, ऐसा नहीं है। पुद्गल के ही ऐसे छह प्रकार के स्वभाव हैं, उन्हें पुद्गल कहते हैं। ऐसे स्वभाववाले को पुद्गल कहते हैं। यह स्वभाववाला दूसरा कोई उसमें मिला दे और इकट्ठा कर दे और छोड़ दे—ऐसा नहीं है। **इस प्रकार इस लोक में प्रचुर प्रसार इस पुद्गलद्रव्य का ही है।** अधिक तो यह दिखता है, जहाँ–तहाँ सर्वत्र पुद्गल, पुद्गल छहों प्रकार के। उसके कारण पुद्गल का मिलना, गलना, छूटना सब पुद्गल की क्रिया है, उसमें आत्मा का कुछ अधिकार नहीं है।

(२) धर्मद्रव्य : जीव और पुद्गलों को गति करने में सहकारी गुणसंयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है। जीव और परमाणु स्वयं के कारण ऐसे गति करें, स्वयं गति करनेवाले को सहकारी। देखो, गति करने में, गति करते हैं उसमें। सहकारी–साथ में। **सहकारी गुणसंयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है।** लो! गति में। गति करने में सहकारी कहा। वे (जीव पुद्गल) गति करते हैं और वह (धर्मद्रव्य) गति करने में सहकारी है। गति करते हैं और वह गति करने में सहकारी / साथ में है।

(३) अधर्मद्रव्य : जीव और पुद्गलों को गतिपूर्वक स्थिति करने में सहकारी–गुणसंयुक्त.... साथ में, स्थिति करते हैं स्वयं अपने से। **सहकारी–गुणसंयुक्त लोकप्रमाण एक द्रव्य है।** निमित्तरूप। देखो! यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसे तत्त्व अन्यत्र होते नहीं और इन तत्त्वार्थों में ये सब मिल जाते हैं। ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान इसे होना चाहिए।

www.vitragvani.com

(४) आकाशद्रव्य : सर्व द्रव्यों को अवगाहनहेतुत्वलक्षणसंयुक्त.... सभी द्रव्यों को रहने के लिये अवगाह दे—ऐसे लक्षणवाला। **लोकालोक-प्रमाण एक द्रव्य है।** लोकालोकप्रमाण वस्तु एक ही है, दो नहीं। लोक-अलोक भाग भले ही पड़े, वे क्षेत्र की (अपेक्षा से है), वरना भाग पड़ते नहीं। **जिसमें सब द्रव्य पाई जावें उसे लोक और जहाँ केवल एक आकाश ही है, उसे अलोक कहते हैं। दोनों की सत्ता भिन्न नहीं है अत: एक ही द्रव्य है।** आकाश की सत्ता तो एक ही है, लोक-अलोक की-आकाश की सत्ता एक ही है।

(५) कालद्रव्य : सर्व द्रव्यों को वर्तनाहेतुत्वलक्षणसंयुक्त.... सभी द्रव्यों को वर्ताने के हेतुवाला लक्षणसहित। **लोक के एक-एक प्रदेश पर स्थित एक-एक प्रदेश मात्र असंख्यात द्रव्य हैं।** लोक के आकाशप्रदेश जितने असंख्यात कालाणु हैं। **उनके परिणाम के निमित्त से समय, आवली आदि व्यवहारकाल है।** उसके परिणाम के, काल के परिणाम के निमित्त से यह उसका व्यवहारकाल। **इस प्रकार जीव सहित छह द्रव्य जानना। काल के बहु प्रदेश नहीं हैं....** इकट्ठे नहीं होते इसलिए। **अत: काल के बिना शेष पाँच द्रव्यों को पंचास्तिकाय कहते हैं। इसमें जीवतत्त्व और पुद्गल -अजीवतत्त्व के परस्पर सम्बन्ध से अन्य पाँच तत्त्व होते हैं।** उसकी बात करते हैं। जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व के सम्बन्ध से पाँच पर्यायें बीच में खड़ी होती हैं। दो द्रव्य नहीं परन्तु पर्याय है, ये दो द्रव्य हैं। इसमें लेंगे।

३. आस्रवतत्त्व : जीव के रागादि परिणामों से... इसे भाव आस्रव (कहते हैं) परन्तु उसे यहाँ नहीं कहते। **योग द्वारा आनेवाले पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहते हैं।** वे परमाणु आवें उसे आस्रवतत्त्व कहने में आता है। भाव आस्रव तो यह है—जीव के रागादि परिणाम हैं वे भाव आस्रव हैं। उनका निमित्त है, नये रजकण आवें वे द्रव्य आस्रव है। पुद्गल के आगमन को आस्रव कहते हैं। यहाँ पुद्गल को आस्रव कहकर (कहा है), वरना तो यह भाव आस्रव जीव के परिणाम में डाल दिया, अशुद्ध-मिश्र में डाला है न? समझ में आया? क्या कहा? आस्रवतत्त्व कहा? वे पुद्गल आवें उन्हें कहने में आया है। जीव के पुण्य-पाप के परिणाम से एक बात। योग द्वारा अर्थात् कषाय

www.vitragvani.com

और योग दो। पुण्य-पाप के विकार द्वारा, विकार से और योग से दो लिये हैं। कषाय और योग, इनके द्वारा आते हुए पुद्गल के आगमन को आस्रवतत्त्व कहा जाता है। यहाँ पुद्गल को आस्रवतत्त्व कहा, क्या कहा? ऐसी शैली ली है।

४. बन्धतत्त्व : जीव की अशुद्धता के निमित्त से.... आत्मा में जितना पुण्य-पाप का मेल-परिणाम मिथ्यात्व आदि को हों, उसके निमित्त से। **आये हुए (नये) पुद्गलों का ज्ञानावरणादिरूप अपनी स्थिति...** ज्ञानावरणादि आठ कर्म; उनकी अपनी स्थिति। देखो! यह अपनी स्थिति, **और रससंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ...** रस, अनुभाग। ज्ञानावरणादि अर्थात् प्रकृति आ गयी, उनकी स्थिति आयी, रस आया, प्रदेश आये-चारों आ गये। समझ में आया? जीव को जितनी मलिनता के परिणाम होते हैं, उनके निमित्त से **आये हुए पुद्गलों का ज्ञानावरणादिरूप...** प्रकृतिरूप हुआ, उनकी स्थिति हुई, उनका रस हुआ और उनके प्रदेश हुए—चारों ही आ गये—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग। **रससंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्धरूप होने को बन्धतत्त्व कहते हैं।** पुद्गल का प्रकृतिस्थिति अनुभाग प्रदेश का बन्ध होना उसे बन्धतत्त्व कहते हैं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। जड़ को बन्धतत्त्व कहते हैं। अशुद्धता के परिणाम, वे भावबन्ध हैं परन्तु मूल यहाँ से लिया है। मूल जीव का स्वरूप नहीं है न, इसलिए यहाँ तो तत्त्व को यहाँ सब डाला है। बन्ध वह, अशुद्ध वह, अशुद्धपना उसका है।

५. संवरतत्त्व : जीव के रागादि परिणाम के अभाव से.... संवरतत्त्व उसे कहते हैं कि जीव में पुण्य-पाप के परिणाम का अभाव (हो), लो! उसे संवर कहते हैं। शुद्ध परिणाम को संवर कहते हैं। दया, दान, व्रतादि शुभ हैं, वे कहीं संवर नहीं; वे आस्रव-भाव आस्रव हैं। भाव आस्रव से नये द्रव्य आस्रव आते हैं। समझ में आया? **जीव के रागादि परिणाम के अभाव से....** शुद्ध परिणाम हुए, शुद्ध। **पुद्गलों के न आने को संवरतत्त्व कहते हैं।** यह बात की, वहाँ से-पर से उठायी। यहाँ राग-द्वेष के परिणाम नहीं थे, इसलिए वहाँ पुद्गल का आना नहीं था, उसे यहाँ द्रव्य संवर कहा गया है। भाव संवर यहाँ है। परन्तु यह संवर उसे कहते हैं, हों! ये दया, दान, व्रत और भक्ति वह संवर नहीं; वह तो आस्रवभाव है, विकल्पभाव है। उससे तो नये आवरणों को वह भाव निमित्त होता

www.vitragvani.com

है। यह तो राग–द्वेष का अभाव, शुद्ध चैतन्यस्वभाव की शुद्ध परिणति जो संवररूप है, उसके निमित्त में नये आवरणों का—पुद्‌गलों का न आना, उसे द्रव्यसंवर कहने में आता है। लो! ये संवर की व्याख्या आयी। मांगीरामजी! ये सामायिक करके बैठे, उसे संवर कहते हैं—ऐसा है नहीं। ऐसा कहते हैं।

सामायिक किसे (कहते हैं)? यहाँ तो अन्तर में शुद्ध चैतन्य का स्वभाव, उसे शुभ–अशुभ विकल्प जो दया–दान के हैं, उनसे रहित, स्वरूप की अन्तर में स्थिरता के परिणाम रागादिरहित के (परिणाम), उसे भावसंवर कहने में आता है। यहाँ तो उसे शुभभाव को संवर मानते हैं; इसलिए कहते हैं कि जो तत्त्व जैसा है, वैसा उन्होंने नहीं माना। दूसरे के भाव को दूसरे में ले गया। दया, दान, व्रत, भक्ति णमोकार मन्त्र का स्मरण आदि है, वह सब शुभभाव है, आस्रव है, उसे संवर, निर्जरा में / धर्म में मानता है (उसका) तत्त्वार्थश्रद्धान ही विपरीत है।

६. निर्जरातत्त्व : जीव के शुद्धोपयोग के बल से.... लो! देखो! शुभोपयोग जो राग—दया, दान है वह निर्जरा का कारण नहीं, बन्ध का कारण है, आस्रव है। शुद्धोपयोग–शुभ और अशुभरागरहित आत्मा के पवित्र शुद्ध परिणाम, जैसा (स्वरूप) पवित्र है, वैसे ही शुद्धोपयोग के पवित्र परिणाम द्वारा, उसके बल से **पूर्व में बँधे हुए कर्मों के....** देखो! मूल तो सब बात कर्म से उठायी है। **पूर्व में बँधे हुए कर्मों के एकदेश नाश होने को संवरपूर्वक निर्जरा कहते हैं।** निर्जरा के दो प्रकार वर्णन करना है, इसलिए संवरपूर्वक निर्जरा कही है। दो प्रकार वर्णन करना है न। आत्मा में शुद्धस्वरूप का शुद्ध उपयोग। दया, दान और नाम स्मरण, भक्ति आदि के विकल्परहित शुद्ध चैतन्य का निर्विकल्प शुद्धोपयोग, उसके बल से **पूर्व में बँधे हुए कर्मों के एकदेश नाश होने...** देखो! इसके बल से एकदेश नाश होना। भाषा तो क्या करना? नाश तो उसके कारण होता है। समझ में आया? यहाँ उस परिणाम का अभाव (हुआ ऐसा कहा परन्तु वह) नहीं आनेवाला था, तब निमित्त हुआ। योग द्वारा आनेवाले पुद्‌गल उसके कारण आये हैं। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का एकदेश का नाश होना। कहो, क्या कहा इसमें? शुद्धोपयोग के बल से कर्मों का एक अंश में नाश होता है।

www.vitragvani.com

आत्मा उनका नाश करता है। नहीं ? यहाँ बल से कहा न ? शुद्धोपयोग का बल वहाँ रहा, निमित्तरूप से। पूर्व में बँधे हुए कर्मों का एकदेश नाश होने की योग्यता उसके कारण वहाँ रही। उसे **संवरपूर्वक निर्जरा कहते हैं।** निर्जरा के दो भेद करना है न, इसलिए समुच्चय सीधी निर्जरा नहीं ली। उसे संवरपूर्वक—सम्यग्दर्शन ज्ञान के संवरपूर्वक, शुद्धस्वरूप के उपयोग बल द्वारा देश–एक भाग से कर्म का खिरना, उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहते हैं।

दूसरी (बात करते हैं) **कर्म के फल को भोगने पर जो उनकी निर्जरा की जाती है, वह निर्जरा मोक्ष के लिये कारणभूत नहीं है।** कर्म का उदय आवे और खिर जावे उसे निर्जरा कहने में नहीं आता। सबको कर्म का उदय आता है, सबको खिर जाता है। शुद्धोपयोग का बल होकर जो खिरे, उसे यहाँ निर्जरा तत्त्व गिनने में आया है। यह उपवास करे और निर्जरा हो, यह कहते हैं नहीं; वह निर्जरा नहीं ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : इसमें नहीं लिखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें नहीं आया यह ? कर्मफल को भोगकर निर्जरा वह तो कर्मफल भोगकर, वहाँ संवरपूर्वक निर्जरा कहाँ हुई ? अपवास किये परन्तु सम्यग्दर्शन का भान तो नहीं। शुद्ध चैतन्य का भान नहीं, वहाँ अपवास कहाँ से निर्जरा करता था ?

मुमुक्षु : अपवास किया इतनी शुद्धता हुई ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ हुई ? धूल में हुई ? कदाचित् राग की मन्दता की हो तो पुण्य होता है। शुद्धस्वभाव की अन्तर्दृष्टि की तो खबर नहीं। कहो, समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं न ! संवरपूर्वक निर्जरा, सम्यग्दर्शनपूर्वक की शुद्धता, वह वास्तव में निर्जरा कहलाती है। एक, एक तत्त्व में दूसरे को मिला डाले तो तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीत है—ऐसा कहते हैं। अभी पहला ही पाया जिसका खोटा है, उसे कोई सच्चा ज्ञान और चारित्र–वारित्र होता नहीं। कर्मफल को भोगकर अर्थात् विपाक, निर्जरा करने में आवे, वह निर्जरा मोक्ष को नहीं देती। वह अविपाक निर्जरा कही, यह विपाक। ऐसा कहकर दोनों समझा दिया।

७. मोक्षतत्त्व : सर्वथा कर्म के नाश होने पर.... यहाँ से उठाया है, यहाँ से उठाया है न। यहाँ से आस्रव का उठाया, यहाँ नाश होने से उठाया है। **जीव के निजभाव**

www.vitragvani.com

प्रगट होने को मोक्षतत्त्व कहते हैं। यहाँ से लिया, सर्व कर्म का नाश होने पर, जीव के परिणाम में जो (निजभाव) प्रगट हुआ, उसे मोक्ष कहते हैं। नहीं तो वे कर्म छूटे, उसे मोक्ष कहते हैं—ऐसा वहाँ नहीं लिया। वहाँ ऐसा लिया, कर्म का नाश होने पर जीव का निजभाव शुद्ध अनन्त केवलज्ञान आदि निर्मल परिणाम प्रगट हों, उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष क्या है? जीव का निजभाव प्रगट होना वह मोक्ष। निजभाव अन्तर मोक्षस्वरूप शुद्ध तो था, वह प्रगट हुआ, उसे मोक्ष कहने में आता है। यह मोक्ष की व्याख्या की।

जीव में मोक्षस्वरूप भाव तो त्रिकाल था ही, मोक्षस्वरूप भावमोक्ष तो सदा था ही; उसकी शक्ति में से व्यक्तता, निजभाव की पूर्ण व्यक्तता प्रगट होना, उसे मोक्ष कहते हैं। ओहोहो! द्रव्य कहा, द्रव्य का भाव शक्तिरूप त्रिकाली मुक्तरूप था कहा, उससे प्रगट अवस्था होना। यह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों (आ गये)। समझ में आया? जीव का निजभाव प्रगट होता है—ऐसा कहा न? जीव स्वयं पदार्थ है; उसका निजभाव तो ज्ञायकभाव त्रिकाल शुद्ध है, वह शक्ति से मोक्षस्वरूप ही है। उसका निजभाव प्रगट होना, निजभाव था, वह पर्याय में प्रगट होना। जीव वस्तु का निजभाव ज्ञायक शुद्ध त्रिकाल, ऐसा पर्याय में पूर्ण शुद्ध प्रगट होना, उसे मोक्ष कहते हैं। देखो! विशिष्टता कैसी समाहित की है! समझ में आया? कर्म का नाश होने पर, यह भी बताया, निमित्तपने का अभाव हुआ। यहाँ द्रव्य जीव, उसकी शक्ति त्रिकाल मुक्तस्वरूप, उसकी अन्तर में व्यक्तता पर्याय में पूर्ण शुद्धता हुई, उसे मोक्षतत्त्व कहते हैं। कर्म का अभावपना, वह भी बतलाया।

यह सात तत्त्वार्थ जानना। पुण्य-पाप तत्त्व है, वह आस्रवतत्त्व के भेद हैं... तब (कोई कहे) इसमें पुण्य-पाप क्यों नहीं आये? वे आस्रव के भेद हैं, उसमें वे आ गये। **इसलिए अलग नहीं कहे गए। इस प्रकार यह तत्त्वार्थ का श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।** लो! इसका बोल था न मूल। **जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्** सातों का ही स्पष्टीकरण किया। अब प्रश्न हुआ।

प्रश्न : इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है। अर्थात् कि यह सम्यग्दृष्टि जीव में सर्वत्र ऐसा लक्षण व्याप्त है—ऐसा यथावत् नहीं है। **किस प्रकार? जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय-कषाय की तीव्रतारूप परिणमन करता है...** तब उसे इस सम्यग्दर्शन की

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कहाँ प्रतीति है ? ऐसा कहते हैं। वहाँ लक्षण कहाँ है ? ऐसा कहते हैं। **जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय–कषाय की तीव्रतारूप परिणमन करता है, तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है?** शिष्य का प्रश्न समझ में आया ? तुम कहते हो कि तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् आत्मा का निर्मलरूप।—तो जब सम्यग्दृष्टि विषय कषाय में प्रवर्ते, शुभ–अशुभ परिणाम में (प्रवर्ते) तब यह श्रद्धान कहाँ होता है ? उसे उस समय श्रद्धान कहाँ होता है ? क्योंकि विषय–कषाय में तो प्रवर्तता है, उसे यह श्रद्धा कहाँ रहती है ? ऐसा पूछता है। **लक्षण तो वह है जो लक्ष्य में सर्वथा सदाकाल पाया जावे।** लक्षण तो ऐसा कहना चाहिए कि जो सर्व लक्ष्य में (होवे)। वह लक्षण लक्ष्य को बतावे, उसमें सदाकाल होता है। सम्यग्दृष्टि जब लड़ाई में हो, भोग में हो, विषय में हो, तब यह श्रद्धा कहाँ है वहाँ ? होवे तो उसमें प्रवर्ते किसलिए ? कहते हैं। उसे पाप माने, जिसे आस्रव माने और प्रवर्ते किसलिए ? ऐसा। समझ में आया ?

उत्तर : जीव के दो भाव हैं। जीव में दो प्रकार के भाव हैं। एक श्रद्धानरूप भाव, एक दूसरा परिणमनरूप भाव। श्रद्धा का परिणमन तो आगे कहेंगे परन्तु यहाँ परिणमन चारित्र अपेक्षा से लेना है; वरना परिणमन तो आगे कहेंगे। समझ में आया ? **जीव के दो भाव हैं। एक श्रद्धानरूप है, दूसरा परिणमनरूप है। श्रद्धानरूप तो सम्यक्त्व का लक्षण है...** श्रद्धा तो सम्यक्त्व का लक्षण है। सात तत्त्व का जैसा स्वरूप है, वैसा एक–दूसरे में मिलाये बिना वास्तविक जैसा है, वैसी प्रतीति / श्रद्धा, वह तो सम्यग्दर्शन का यथार्थ लक्षण है।

परिणामरूप चारित्र का लक्षण है। यहाँ परिणाम चारित्र की अपेक्षा से लेना है, आगे तो श्रद्धा का परिणमन कहेंगे आगे। निरन्तर रहता है। समझ में आया ? ऐसा परिणमन निरन्तर रहता है, यह कहेंगे। सम्यग्दृष्टि को तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन परिणमन तो निर्बाधरूप से निरन्तर ही है—ऐसा आगे कहेंगे। दूसरे पृष्ठ पर है। समझ में आया ? यहाँ श्रद्धानरूप परिणमन से इस चारित्र में विषयकषाय में परिणमता है, वह भिन्न है—ऐसा बतलाने के लिये यह बात ली है। समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि विषय–कषाय के परिणमनरूप हुआ है,.... देखा ? ये बताना है

www.vitragvani.com

इसलिए। सम्यग्दृष्टि-आत्मा की श्रद्धा है, बराबर पुण्य-पाप की श्रद्धा है, श्रद्धा बराबर है, तथापि वह विषय-कषाय के परिणामरूप हुआ है। भोग की वासना या कषाय की वासना, युद्ध के परिणामरूप हुआ है। **श्रद्धान में प्रतीति यथावत् है।** विषय-कषाय के परिणमनरूप, पर्यायरूप, बदलनेरूप भाव हुआ है, तथापि **श्रद्धान में प्रतीति यथावत् है। जिस प्रकार...** देखो! शब्द से शब्द मिलायेंगे, न्याय न्याय साथ में।

जिस प्रकार गुमाश्ता, साहूकार का चाकर है। उसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सभी कुछ सेठ का कार्य है,.... गुमाश्ता, सेठ का चाकर है-एक बात। **उसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सभी कुछ सेठ का कार्य है,...** धन्धा आदि। **मेरा घर तो भिन्न ही है।** कहो, ठीक है? गुमाश्ता जानता है कि मेरा घर अलग है। **परिणामों से तो सेठ के कार्य में प्रवर्तन करता है....** भाषा देखो! हमें यह नुकसान होता है, हमें ऐसा होता है—ऐसा कहेगा। **उस सेठ के कार्य को 'मेरा-मेरा' भी कहता है,...** हमारा काम है, हमें भरना पड़ता है, हमें नुकसान होता है, हमें फायदा होता है - ऐसा सब बोलता है। **नफा-नुकसान होने पर हर्ष-शोक भी करता है....** कौन? गुमाश्ता। पाँच हजार जाये तो नौकर कहता है अरे! हमें पाँच हजार का नुकसान हुआ। हमें अभी पाँच हजार का फायदा हुआ-ऐसा कहता है। **उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है।** कहो! मैं अलग हूँ, यह घर मेरा नहीं—ऐसी प्रतीति को सम्हालता नहीं। ऐसा कहते हैं, हों! सम्हालता नहीं। प्रतीति नहीं, ऐसा नहीं; प्रतीति को सम्हालता नहीं—ऐसा कहना चाहते हैं। उस प्रतीति को अर्थात् मेरा घर अलग है और यह अलग है। ऐसी **उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है। परन्तु जिस समय उस सेठ का और अपना हिसाब करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी वैसी प्रगट करता है।** अन्दर में थी कि भाई! यह नफा-नुकसान मुझे नहीं; मुझे तो दो हजार का वेतन है, वह मिलना है, दूसरा कुछ है नहीं। **जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी, वैसी प्रगट करता है। सेठ के कार्य में प्रवर्तन करते समय वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है।** सेठ के कार्य में प्रवर्तते हुए मेरा घर अलग है—ऐसी उसकी प्रतीति शक्तिरूप से रहती है। तोल-तोलकर शब्द रखे हैं।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शक्ति प्रतीतिरूप रहती है। शक्ति। कौन? प्रतीतिरूप। अन्दर शक्ति प्रतीतिरूप रहती है। ऐसा कहाँ प्रगट परिणमनरूप कहाँ है? बाहर में तो परिणाम दूसरे हैं। यह मेरा है और तेरा है ऐसा करते हैं न? वह शक्ति प्रतीतिरूप रहती है ऐसा कहा न? प्रवर्तते समय वह शक्ति प्रतीतिरूप (रहती है) कौन? मैं भिन्न हूँ—ऐसी मान्यता की शक्ति। मान्यता की शक्ति प्रतीति (रूप रहती है) शक्ति (अर्थात्) द्रव्यरूप की बात नहीं, प्रगट हुई उसकी यहाँ बात है। प्रतीति की शक्ति प्रतीतिरूप रहती है, प्रतीति की शक्ति में सम्हालता नहीं कि मैं यह हूँ—ऐसा कहते हैं। ज्ञान में याद नहीं करता—ऐसा कहना है।

कदाचित् वह सेठ के धन की चोरी करके.... यह एक विशिष्टता कहते हैं। **वह सेठ के धन की चोरी करके उसे अपना जाने तो उसे अपराधी कहते हैं।** समझ में आया? **वह गुमाश्ता, सेठ की नौकरी को पराधीन दुःखदायक मानता है परन्तु अपने स्वयं के धन के बल-बिना....** देखो! प्रत्येक-प्रत्येक बात समकिती के साथ मिलायेंगे, हों! **अपने स्वयं के धन के बल-बिना आजीविका के वशवर्त्ती होकर उसके काम में प्रवर्तन करता है।... वैसे ही ज्ञानी कर्म के उदय को भोगता है।** अब न्याय देंगे। वैसे ही ज्ञानी कर्म के उदय में-राग में परिणमन करता है—ऐसा कहेंगे। सूक्ष्म बात है।

इसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब दिखावा मात्र भेष है,... समझ में आया? **मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है,...** मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ, समस्त राग की परिणति से—इन सबसे भिन्न है।

मुमुक्षु : मालिक होकर रहे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : मालिक हुआ ही नहीं अन्दर में, कहते हैं। वह बाहर से बोलता है, अन्दर में है नहीं, प्रतीति में नहीं।

परिणामों के द्वारा औदयिक भावों में परिणमन करता है... पर्याय में रागादिभाव से समकिती परिणमन करता है। **उदय के सम्बन्ध के वश 'मेरा-मेरा' भी**

कहता है,... उदय के सम्बन्ध के कारण यह मेरा पुत्र, यह मेरा शरीर – ऐसी भाषा कहता है। **इष्ट-अनिष्ट में हर्ष-विषाद भी करता है...** अनुकूल-प्रतिकूलता में जरा राग-द्वेष भी, हर्ष-शोक भी होता है। विषाद भी करता है—इसका अर्थ होता है, हों! **अपनी उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है।** देखो! वह (गुमाश्ता) सम्हालता नहीं न! ऐसा। मैं नौकर हूँ, मेरा घर भिन्न है—ऐसा सम्हालता नहीं। इसी प्रकार यह, मैं समकिती हूँ बारबार प्रतीति सम्हालता नहीं। **परन्तु जिस समय उस कर्म और अपने स्वरूप का विचार करता है...** वह सेठ और (नौकर) जब (हिसाब) निपटाना चाहते हैं कि यह पैसे इतने तुम्हारे और यह मेरे। **उस कर्म और अपने स्वरूप का विचार करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी वैसी ही प्रगट करता है।** राग मेरा स्वरूप नहीं, पुण्य मेरा स्वरूप नहीं, पुण्य बन्धन मेरा नहीं, उसके फल मेरे नहीं। समझ में आया?

फिर उस कर्म के उदय में वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है,... देखो आया, पहले में शक्तिरूप प्रतीति, यहाँ प्रतीति शक्तिरूप। यह तो वह का वही है। **कर्म के उदय में वह प्रतीति...** कर्म के परिणमन काल में, राग के परिणमन काल में वह प्रतीति शक्तिरूप प्रतीति में पड़ी है—ऐसा कहते हैं। **यदि कदाचित् कभी भी उस कर्म के उदय को श्रद्धान में...** पहला किसी का-सेठ का लेकर चोर नहीं होता। इसी प्रकार **उस कर्म के उदय को श्रद्धान में अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं।** पहला गुनहगार है न। पाँच-पचास हजार चुपके से उसकी लक्ष्मी ले लेवे तो (गुनहगार है); इसी प्रकार कर्म के उदय के भाव को, पुण्य-पाप के भाव को, शरीर के फल को, बाहर के फल को श्रद्धान में अपना नहीं जानता, अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं। जैसे उसे (गुमाश्ता को) चोर कहते हैं; वैसे इसे मिथ्यात्वी कहते हैं। कहो, समझ में आया? ऐसा श्रद्धान में और परिणमन में अन्तर समकिती को होता है—ऐसा कहते हैं। नौकर-बोले (तब) उस प्रमाण (सेठ) बोले, उसकी तरह बोले, हमारा पुत्र है, हमारे व्यापार है—ऐसा समकिती भी बोले, लो! श्रद्धान में पूरा अन्तर पूर्व और पश्चिम जितना है (अन्तर न रहे) उसे तो उसे स्वयं को मिथ्यात्वी कहते हैं। समझ में आया? विशेष बात बाकी है....

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

www.vitragvani.com

प्रवचन नं. २२ गाथा–२२ शुक्रवार, पौष शुक्ल ९, दिनांक २०.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय पृष्ठ २९, २२ वीं गाथा का भावार्थ चलता है। २२ में ऐसा कहते हैं कि

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

सम्यग्दर्शन का लक्षण यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है और वह आत्मा का स्वरूप है–ऐसा कहा है। आत्मा का स्वरूप अर्थात् शुद्ध स्वरूप आत्मा है, उसकी ही शुद्ध पर्याय परिणतिरूप उसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान कहने में आया है। कोई विकल्प या राग, वह यहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है। आत्मा का रूप है वह। जैसा शुद्ध स्वभाव है, ऐसी ही अन्दर निर्विकल्प रागमिश्रित अतिरिक्त अकेली शुद्ध चैतन्य की श्रद्धारूप पर्याय को यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है। समझ में आता है? तब शिष्य ने प्रश्न किया।

प्रश्न : इस लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है। २९ पृष्ठ, कहते हैं कि ऐसी तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण गिनने पर, सम्यग्दृष्टि में इसमें अव्याप्ति अर्थात् किसी जगह यह लक्षण न हो—ऐसा बनता है। किस प्रकार? कि **जिस समय सम्यग्दृष्टि विषय–कषाय की तीव्रतारूप परिणमन करता है...** यहाँ तीव्रतारूप (इस पर) अधिक वजन है। विषय और कषाय के तीव्रता परिणाम से परिणमित होता है। **तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है?** युद्ध के परिणाम हों, विषय–भोग के परिणाम हों, तब उसे यह तत्त्वार्थश्रद्धान का लक्षण कहाँ रहता है? ऐसा पूछता है।

लक्षण तो वह है जो लक्ष्य में सर्वथा सदाकाल पाया जावे। लक्षण तो ऐसा कहा जाता है जो प्रत्येक में लागू पड़े। कहीं भी लागू न पड़े, उसे लक्षण नहीं कहा जाता। उसका उत्तर। यह प्रश्न पहले बाँधा। विषय–कषाय के तीव्र परिणामरूप से वर्तते समकिती को उस प्रकार का तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहाँ रहता है? ऐसा पूछता है। तत्त्वार्थश्रद्धान का विचार भी उस समय नहीं होता, (तब) तो विषय–कषाय के परिणाम हैं, युद्ध में भी कषाय के परिणाम हैं, भोग में विषय के परिणाम हैं। वे तीव्र परिणाम लिये हैं। अशुभभाव के तीव्र

www.vitragvani.com

परिणाम के समय भी समकिती को तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण, वह कैसे बैठता है ? वह तो अव्याप्ति आयी इसलिए उसमें कुछ मेल नहीं खाता–ऐसा शिष्य (पूछता है) उसका उत्तर।

उत्तर : जीव के दो भाव हैं। एक श्रद्धानरूप है, दूसरा परिणमनरूप है। परिणमन तो श्रद्धा को भी है परन्तु यहाँ विशेषरूप से इसे परिणमन गिनने का कारण उन विषय–कषाय की तीव्रतारूप परिणमता है न ? ऐसा प्रश्न किया था, इसलिए इन्होंने जरा ऐसा लिया है। वरना श्रद्धा भी परिणमनरूप ही है। **जीव के दो भाव हैं।** एक श्रद्धानरूप परिणमन है और एक कषाय तथा विषय के भावरूप परिणमन है। (ऐसे) दो भाव जीव में हैं। **सम्यग्दृष्टि विषय–कषाय के परिणमनरूप हुआ है,...** सम्यग्दृष्टि क्षायिक हो या क्षयोपशम आदि हो परन्तु वह विषय–कषाय के परिणामरूप हुआ है।

श्रद्धान में प्रतीति यथावत् है। अन्दर वस्तु शुद्ध चैतन्य वस्तु की प्रतीति निर्विकल्परूप से यथार्थ वहाँ परिणमित हो रही है। विषय–कषाय के परिणमन काल में भी चैतन्य के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा का परिणमन वहाँ यथावत् रहा है। कहो, समझ में आया ? श्रद्धा का परिणमन और विषय–कषाय का परिणमन, दो अलग बतलाने हैं।

मुमुक्षु : यह चारित्रगुण का....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह चारित्र का दोष है, अन्दर श्रद्धा निर्मल है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, उसकी प्रतीति निर्मल वर्तती है, तथापि उस काल में विषय–कषाय के परिणाम में वर्तता होने पर भी, श्रद्धा तो यथावत् है। यथावत् है (अर्थात्) जैसी है पहले, वैसी ही उस काल में है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **जिस प्रकार...** अब दृष्टान्त देते हैं। इसके साथ उतारेंगे, एक–एक शब्द को उतारेंगे।

जिस प्रकार गुमाश्ता, साहूकार का चाकर है। गुमाश्ता, सेठ का चाकर है। एक–एक शब्द के ऊपर सब उतारेंगे। **उसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सभी कुछ सेठ का कार्य है,...** धन्धे–पानी में करोड़ों रुपयों का व्यापार करता हो सब जाने, यह सब सेठ का कार्य है। **मेरा घर तो भिन्न ही है।** मेरा घर, मेरी पूँजी, मेरी चीज़, इससे एकदम अलग है। **परिणामों से तो सेठ के कार्य में प्रवर्तन करता है...** देखो ! श्रद्धा यह है, मेरा घर अलग है। परिणामों द्वारा, परिणाम में तो सेठ के कार्य में प्रवर्तता है। धन्धा–

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

पानी, लेने–देने की बात में (प्रवर्तता है)। **उस सेठ के कार्य को 'मेरा–मेरा' भी कहता है,...** ऐसा कहता है कि हमारे नुकसान होता है, भाई! ऐसा तुम मत करो। हमें ऐसा होता है—ऐसा सब बोलता है। परिणाम में–भाषा में तो ऐसा बोले, धन्धा है सेठ का; बोले ऐसा कि हमारे ऐसा फायदा है, हमारे ऐसे नुकसान जाता है, हमारे भी ऐसे ब्याज भरना पड़ता है, हमें भी भरना पड़ता है। इसलिए तुम रात्रि के आठ बजे दो लाख देने आये परन्तु ये कल के लिखे जायेंगे, आज के नहीं। मुम्बई में होता है न। आठ बजे बाद कल के लिखे जाते हैं। तब कहता है, हमें भी बापू! ब्याज देना पड़ता है न, इस प्रकार देना पड़ता है—ऐसा बोलता है। मुम्बई में ऐसा है, सोमचन्दभाई! आठ बजे जब कोई पैसा देने आवे तो वे आज में नहीं लिखे जाते, कल में लिखे जाते हैं। इसलिए उसे वह नौकर है, वह ऐसा कहता है भाई! हमें भी ब्याज देना पड़ता है। हम कल आठ बजे देने जायेंगे तो हमारे कल में लिखे जायेंगे, आज में नहीं लिखे जायेंगे, तुम्हारे भी कल में लिखे जायेंगे – ऐसा बोलता है, परिणाम में ऐसा बोलता है, परिणाम में ऐसा उसे वर्तन होता है।

उस सेठ के कार्य को 'मेरा–मेरा' भी कहता है, नफा–नुकसान होने पर हर्ष–शोक भी करता है... पचास हजार जाये तो कि अरे! भाई! हमें बराबर पोसाया नहीं, इस व्यापार में पोसाया नहीं, खजूर में पोसाया नहीं, हों! ठीक नहीं। अरब स्थान से (खजूर की) बोरियाँ मँगाया अवश्य परन्तु हमें पोसाया नहीं – ऐसा बोले। हमें पोसाया नहीं ऐसा बोले। ए.. न्यालभाई! बोलते हैं या नहीं नौकर? यह तुम्हारे खजूर के (व्यापारी) तुम्हारा भतीजा याद आया। उतारा था न वह सवा लाख का एक बार, नहीं? बादाम और पिस्ता वहाँ से अरबस्थान से (उतारा था) हम वहाँ थे और सवा लाख का उतारा था, जहाज था, अरबस्थान से आया था। बादाम–पिस्ता का। ऐसा बोले, नौकर को कहे उसने कहा हो मनसुखभाई ने कि देखो! यह ऐसा है, ऐसा कहना। भाई! हमारे देखो! नफा लेना पड़ता है, इस प्रकार ऐसा है। ऐसा नौकर बोलता है। हर्ष और शोक भी करता है। पैसा पचास हजार, लाख की आमदनी हो तो ऐसा भी कहता है कि भाई! हमें जरा ठीक है, पैसा कमाया है, हमारे ठीक है, ऐसा कहता है न? है तो कहाँ उसके? परन्तु परिणाम से तो ऐसा बोलता है।

और उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है। अब यहाँ एक–एक शब्द

पर उतारेंगे। **उस प्रतीति को...** मैं इस सेठ का नौकर हूँ और यह सेठ है-ऐसी प्रतीति को वहाँ बारम्बार याद भी नहीं करता। बोलता है ऐसा सब, वहाँ बारम्बार याद नहीं करता। **परन्तु जिस समय उस सेठ का और अपना हिसाब करता है...** हिसाब करने बैठे, तब कहता है-मेरा दो हजार वेतन है, वह इस प्रकार है, बाकी यह सब तुम्हारा। **तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी...** कि मैं तो नौकर हूँ, मेरा घर अलग है, यह कार्य सेठ का है, मैं परिणाम द्वारा बोलता था परन्तु मेरी प्रतीति जैसी है, वैसी यहाँ प्रसिद्ध करता है। बापू! मुझे पैसा तो दो हजार मिला वही मेरा है। तुम्हारे लाख, दो लाख, पाँच लाख पैदा हुए, वे तुम्हारे हैं, मुझे कुछ है नहीं। प्रवर्तता है समझ में आया?

सेठ के कार्य में प्रवर्तन करते समय वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है। शब्द में जरा फेरफार है। उल्टा-सीधा इतना नहीं। यहाँ प्रतीतिरूप अर्थात् उसमें कहेंगे, प्रतीति वह शक्तिरूप रहती है, इतना उसके सिद्धान्त में कहेंगे। आत्मा में उतारेंगे तब। यह तो नौकर का दृष्टान्त दिया है। सेठ के कार्य में प्रवर्तते हुए उस नौकर की शक्ति अर्थात् मैं, मेरा घर अलग और नौकर हूँ—ऐसी प्रतीति उसे शक्तिरूप अर्थात् द्रव्यरूप से ऐसा नहीं; पर्याय में प्रतीति वहाँ शक्तिरूप से रहती है, यह पर्याय की बात है, प्रगट पर्याय की बात है। देखो न! टोडरमलजी ने यह दृष्टान्त कितना सरस दिया है?

कदाचित् वह सेठ के धन की चोरी करके उसे अपना जाने तो उसे अपराधी कहते हैं। आठ लाख पैदा किये हों, उसमें लाख अपने नाम में चढ़ा दे, तब तो चोर कहते हैं। **फिर वह गुमाश्ता, सेठ की नौकरी को पराधीन दुःखदायक मानता है...** एक-एक शब्द को आत्मा में उतारेंगे। **फिर वह गुमाश्ता, सेठ की नौकरी को पराधीन दुःखदायक मानता है परन्तु अपने स्वयं के धन के बल-बिना...** स्वयं को लक्ष्मी का बल नहीं है। सेठ के पास लक्ष्मी का बल है, स्वयं को लक्ष्मी का बल नहीं है। **आजीविका के वशवर्त्ती होकर उसके काम में प्रवर्तन करता है।** आजीविकावश पैसे के बल बिना, सेठ के पास आजीविका के वश उसके काम में प्रवर्तता है। एक-एक शब्द पर सिद्धान्त उतारेंगे। एक शब्द बदलेगा नहीं।

वैसे ही ज्ञानी कर्म के उदय को भोगता है। अब आया, लो! इसी प्रकार धर्मी

कर्म के उदय में राग–द्वेष के विषय–कषाय के परिणाम होते हैं, उन्हें भोगता है अर्थात् ऐसा दिखता है। लोग कहते हैं, इस अपेक्षा से बात की है। यह भोगता है न! विषय भोगता है न! युद्ध करता है या नहीं! ज्ञानी, कर्म के उदय को वास्तव में तो जानता है, भाई! परन्तु भोगता है, यह शब्द प्रयोग किया है, लोग देखते हैं इस अपेक्षा से। समझ में आया? लोग देखते हैं, लो! यह समकिती। समझ में आया?

श्रीमद् ने एक बार पूछा, कहा था न? श्रीमद् गद्दी पर बैठे थे। (साथ में) एक सेठ बैठे थे। उसमें एक नौकर आया, नौकर आया तो साधारण मनुष्य था। उसने पूछा, यह तो सब पूछ नहीं सकते, इसलिए सेठ श्रीमद् पूछते हैं कि भाई! क्यों आये हो? तब (वह कहता है) सेठ साहब यह काम इतना था, भाई! इसका काम है, दो मिनिट में निपटाया। तब वह जो सेठ बैठा था, उसे वहम पड़ा ऐसे ज्ञानी में सुनता हूँ ये ज्ञानी है? एक साधारण मनुष्य है, तुच्छ हल्का मनुष्य है, वह आया उसे भी पूछे बिना नहीं रहा। भाई! क्यों आये हो? तब उसको शंका पड़ी, इसलिए श्रीमद् ने सेठ को कहा वह साथ बैठा था उसे, भाई! वह नौकर था, जिस काम से आया था, वह दवाब से बोल नहीं सकता और तुरन्त अपने जवाब न दें तो उसे बहुत देरी हो जाये। उसे बहुत काम होते हैं; इसलिए यह उत्तर मुझे देना पड़ा। वह मनुष्य साधारण गरीब आया था, कुछ पूछने आया होगा कि यह सेठ साहब ऐसा कहते हैं कि यह माल लेना या देना? उसे यदि ऐसा न पूछो तो उसे देरी हो जाय और उसे दूसरे काम बहुत होते हैं। भाई! इसलिए हमें उसे पूछना पड़ा। वह साधारण मनुष्य है परन्तु उसका काम ऐसा था कि उसे तुरन्त जवाब न दूँ तो देरी हो ऐसा था और उसे देरी होना पोसाता नहीं, इसलिए बोला। भाई! इस प्रकार है, तुम्हें जो शंका पड़ी हो, वह अब सुधार लो, (सेठ कहता है) सच्ची बात, यथार्थ है। कहीं से आया होगा, कहाँ उसका स्थान मुम्बई का, उसमें से किराया खर्च करके आया होगा। अब उसे तुरन्त उत्तर न दूँ तो उसका शीघ्र जाना कैसे हो? उसे बहुत काम होते हैं, इसके लिए हमें कहना पड़ता है। समझ में आया?

भोगता है—ऐसा कहा न? देखो न, भोगता है, उसे जवाब दिया, लो! इतनी बात में भी ज्ञानी को राग की भी परवाह नहीं और इतना क्या? भाई! कारण में अन्तर है। वह मनुष्य गरीब था, साधारण था। उसे पूछे तो तुरन्त काम निपट जाये उसका, ऐसा था।

www.vitragvani.com

इसके अन्तरङ्ग में ऐसी प्रतीति है कि यह सब दिखावा मात्र भेष है,... यह दिखाने का ठाठ है। धन्धे का, पानी का, बोलने का चलने का, यह सब दिखावटी ठाठ है, एक बात। सम्यग्दृष्टि को अन्तरंग में प्रतीति ऐसी है कि स्त्री, विषयादि, युद्ध आदि, कषाय आदि, धन्धा आदि में दिखने पर भी, यह सब दिखावटी ठाठ है, मैं तो इसका जानने-देखनेवाला हूँ। **मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है,...** देखो! उसमें (दृष्टान्त में था) **मेरा घर तो भिन्न ही है।** जैसे गुमाश्ता, सेठ का नौकर है, उसके अन्तर में ऐसी प्रतीति है वैसे ज्ञानी, कर्म के उदय को भोगता है, उसके अन्तरंग में प्रतीति (है कि) यह सब दिखाव का ठाठ है। शब्द-शब्द सामने मिलाते हैं।

मेरा घर तो भिन्न ही है। नौकर ने माना कि इस धन्धे-आमदनी से मेरा घर अलग है। वैसे धर्मी (ऐसा मानता है कि) **मेरा स्वरूप तो उन सबसे भिन्न ही है,...** यह सब ठाठ की क्रिया, राग की क्रिया, विषय की क्रिया या यह बोलने की क्रिया, धन्धे की (क्रिया उससे) मेरी चीज अत्यन्त भिन्न है। उस समय अन्तर में अपना शुद्धस्वभाव भिन्न है—ऐसी प्रतीति शक्तिरूप से उसे सदा वर्तती है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : सच्चा ठाठ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चा ठाठ अपना स्वरूप, यह कहा न, कहा न। कहा न, मेरा ठाठ तो यह स्वरूप है, मैं ज्ञानानन्दस्वरूप यह मेरा स्वरूप है, मेरा घर ही अलग है। वह नौकर दुकान में बैठा है परन्तु (प्रतीति है कि) मेरा घर अलग है, मेरे घर में पुत्र और पैसा है, उतना मेरा है; ये सब लड़के और पैसे मेरे नहीं हैं। समझ में आया?

एक नौकर नहीं था? था न तुम्हारे? नहीं? राणपुर में था न एक? सेठ आवे तो उठा दे सेठ को। (उसे कहे) तुम्हारा काम नहीं, तुम्हारा काम नहीं। तुमने कहा नहीं? दुकान पर आकर तुम्हें बोलना नहीं। ऐसे बहुत होते हैं। नौकर काम करनेवाला ठीक से बराबर हो। तुम्हें बोलना नहीं, आना हो तो बैठे रहना, कुछ बोलना नहीं, ठीक, भाई लो! नेमचन्दभाई! सेठ भी ऐसा... क्योंकि उसका भरोसा बराबर पक्का। तुमने कहा था कि तुम्हें यहाँ आना, बैठना, बोलना नहीं उल्टा-सीधा कुछ। क्योंकि वह जानता है कि यह बोलेगा, इसको कुछ भान नहीं होता, ठीक लो! भाई! एकदम उठ जाये तो दूसरे क्या जाने कि यह सेठ लगता है। यह तो होता है। इसे एक था राणपुर में।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

परिणामों के द्वारा औदयिक भावों में परिणमन करता है... देखो! **परिणामों से तो सेठ के कार्य में प्रवर्तन करता है...** ऐसा पहले कहा था। यहाँ यह **परिणामों के द्वारा औदयिक भावों में परिणमन करता है...** सम्यग्दृष्टि जीव को परिणाम में राग-द्वेष, विषय-वासना होती है। वह (दृष्टान्त में) सेठ के काम में प्रवर्तित होता है, यह परिणाम द्वारा राग के काम में, परिणमन राग का है।

उदय के सम्बन्ध के वश... देखो! वहाँ था न? **सेठ के कार्य को 'मेरा-मेरा' भी कहता है,... उदय के सम्बन्ध के वश 'मेरा-मेरा' भी कहता है,...** भाषा कहे, दुकान मेरी है। पुत्र है, हमारी दुकान है, हमारे पास पैसा ठीक है, आजीविका अच्छी चलती है—ऐसा बोले। अन्दर में प्रतीति में भिन्न है कि यह मेरी चीज़ है नहीं। **उदय के सम्बन्ध के वश 'मेरा-मेरा' भी कहता है, इष्ट-अनिष्ट में हर्ष-विषाद भी करता है...** उसमें था न। **नफा-नुकसान होने पर हर्ष-शोक भी करता है...** ऐसे इष्ट-अनिष्ट में-पुत्र मर जाये, उस समय जरा दुःख भी होता है, पुत्र जन्में तो प्रसन्नता भी बतलाता है, ऐसा हर्ष-विषाद भी करता है, परिणाम ऐसे होते हैं। करता है, करता है (ऐसा कहकर) समझाना है, हों! परिणाम ऐसे होते हैं।

अपनी उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है। उसमें हैं देखो! समझ में आया? **उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है।** कौन? कि मैं नौकर हूँ—ऐसा बारम्बार सँभालता नहीं। इसी प्रकार यह अपने सम्यग्दर्शन की प्रतीति को बारम्बार सँभालता भी नहीं। भले सँभालता नहीं परन्तु जब सेठ के कार्य का हिसाब करता है, (तब) स्पष्ट हिसाब करता है, यह है। साहिब! यह पाँच लाख पैदा हुए हैं परन्तु ये तुम्हारे हैं। मेरे तो यह दो हजार हैं, दो हजार में मेरे खाते लिख डालता हूँ। **इष्ट-अनिष्ट में हर्ष-विषाद भी करता है और अपनी उस प्रतीति को बारबार सँभालता भी नहीं है। परन्तु जिस समय...** देखा? **उस कर्म और अपने स्वरूप का विचार करता है, तब जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी वैसी ही प्रगट करता है।** वह (नौकर) हिसाब करने बैठे तब प्रतीति करता है कि बापू! यह हमारा और यह तुम्हारा। दृष्टान्त बहुत सरस किया है। समझ में आया?

जैसी प्रतीति अन्तरङ्ग में थी... मैं तो आत्मा हूँ, वह (दृष्टान्त में नौकर) कहता

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है मैं तो नौकर हूँ; ये कहता है मैं आत्मा हूँ, शुद्ध जानने-देखनेवाला हूँ—ऐसी (प्रतीति) प्रगट करता है। उस काल में जब विचार करता है, तब वैसी (प्रतीति) प्रगट करता है।

फिर उस कर्म के उदय में वह प्रतीति शक्तिरूप रहती है,... उसमें यह था कि सेठ के कार्य में वह शक्तिरूप प्रतीति रहती है, इतना अन्तर, शब्द बदला है, दूसरा कुछ नहीं। कहो, समझ में आया? **कभी भी उस कर्म के उदय को श्रद्धान में अपना जाने...** सेठ का पैसा अपने खाते में खता डाले तो चोर कहलाता है, ऐसा। **उदय को श्रद्धान में अपना जाने...** भाषा यह। पुण्य-पाप के विकल्प को अपने स्वरूप में श्रद्धान करे तो गुनाहगार है। शुभाशुभभाव होते हैं, उस उदय को अर्थात् पुण्य-पाप के भाव को, **श्रद्धान में अपना जाने...** यह शुभ-अशुभभाव है, इसे श्रद्धा में अपना जाने तब तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। जैसे सेठ का पैसा ले ले तो चोर कहलाये। समझ में आया?

शुभ और अशुभभाव, पुण्य-पाप के भाव, देखो! विशिष्टता देखो! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आवे, युद्ध के, भोग के (परिणाम होवे), उस परिणाम को श्रद्धान में अपना जाने, तब तो उसने आस्रवतत्त्व को जीवतत्त्व जाना। आहा...हा...! समझ में आया? वह तो आस्रवतत्त्व है, मैं तो जीवतत्त्व शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसा न मानकर उस पुण्य-पाप के परिणाम को अपने आत्मा में खतौनी कर डाले तो श्रद्धा मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया? आहा...हा...! सेठ का माल घर में ले जाये... समझ में आता है? तो चोर है। सेठ तो कदाचित् माफ भी कर दे परन्तु यह ले गया, इसलिए यह चोर तो कहलाये न? इसी प्रकार उदय के परिणाम शुद्ध चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा में इन विकारी परिणामों को अपने स्वरूप की जाति में मिला ले, मिला ले, अपना माने, तो गुनहगार है, मिथ्यात्व है। सोमचन्दभाई!

मुमुक्षु : ....

उत्तर : नहीं, जानता है, है। मेरा स्वरूप चैतन्य है, ये रागादि आस्रवतत्त्व हैं, शरीरादि की क्रिया वह अजीवतत्त्व है एक तत्त्व दूसरे में मिलावे नहीं। तत्त्वार्थश्रद्धानम् कहा है न यहाँ? तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अजीव को अजीवरूप से श्रद्धा करता है, पुण्य-पाप के भाव को पुण्य-पापरूप से श्रद्धा करता है। स्वरूप को शुद्धस्वरूप चैतन्यरूप

www.vitragvani.com

से श्रद्धा करता है। गुनहगार तो तब होता है कि जो परिणमन पुण्य–पाप का है, विषय–कषायरूप परिणमित हुआ है, तथापि उसे स्वरूप में माने तो गुनहगार है। समझ में आया?

निःशंक अंग में कहेंगे। तलवार की धार जैसा निःशंक अंग में कहेंगे। निष्कम्प तलवार की तीक्ष्ण धार समान सन्मार्ग में संशयरहित रुचि / विश्वास को निःशंकित अंग कहते हैं। निःशंकित अंग की व्याख्या (गाथा २३ में करेंगे न)? रत्नकरण्ड श्रावकाचार (गाथा ११ के फुटनोट में) आधार दिया है। आहा..!

आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध है, उसकी श्रद्धा में आस्रव, आस्रव से भिन्नरूप श्रद्धा है, अजीव को भिन्नरूप श्रद्धान किया है, स्वरूप को आस्रव और अजीव से भिन्नरूप श्रद्धान किया है, तब वह तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन लक्षण कहने में आता है। ऐसे भिन्न भिन्न श्रद्धा में जो परिणाम से परिणमा है, तथापि स्वरूप में–अपने में उसे मिलावे तो गुनहगार है, तो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं रहता। तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं रहता। समझ में आया?

तत्त्वार्थश्रद्धान है न? सात... सात। **जीवाजीवादिनां** आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। सम्यग्दर्शन–तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जिस श्रद्धा में शुद्ध स्वरूप है, वैसी प्रतीति, शक्तिरूप से है, परिणमन में भले विषय–कषाय के परिणाम हैं (परन्तु) उस परिणाम को अपने में–खाते में खतौनी नहीं करता। चारित्र के दोष को स्वरूप की श्रद्धा में नहीं मिलाता; दोष को दोषरूप से–भिन्नरूप से जानता है। कहो, यहाँ तो शुभभाव को भी स्वरूप में नहीं मिलाता, आस्रवतत्त्व में उसकी श्रद्धा रखता है। वह आस्रवतत्त्व है; जीव स्वरूप वह तत्त्व नहीं है। आहा...हा...! लोगों को कहाँ (पड़ी है) बाहर के शुभपरिणाम से धर्म होता है, उससे सम्यक् होता है, उससे संवर होता है, इतनी सब गड़बड़ कर डाली है न। आहा...हा...!

यह फिर कल का पढ़ा है न? इतना लेखन (किया है) कि यह क्या कहते हैं? वह 'खानियां' की चर्चा। स्थूल बात भी बहुत स्थूल। ओहो! शुभपरिणाम से क्षायिक समकित हो, शुभपरिणाम से मिथ्यादृष्टि को भी शुभभाव में भोग की आकाँक्षा न हो तो उसे भी समकित का कारण होता है। यह बात है नहीं। ऐसी बात वीतरागमार्ग में नहीं है। आहा...हा...! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा, चैतन्य शुद्धस्वरूप आत्मा;

www.vitragvani.com

पुण्य-पाप परिणाम अशुद्ध आस्रवतत्त्व; शरीर, वाणी, कर्म की क्रिया परिणाम, वह अजीव तत्त्व। उसके अशुभ परिणामरूप परिणमते हुए भी, वे अशुभपरिणाम चैतन्य के स्वरूप की श्रद्धा से भिन्न रखता है। समझ में आया?

पहले आ गया था कि पुण्य और पापादि भाव सहित आत्मा नहीं है, उसे सहित मानना, वह भव का बीज है। यह गाथा आ गयी है। समझ में आया? १४, १४ '**एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।**' १४ गाथा। '**एवमयं कर्मकृतैर्भावै**' ये कर्मकृत जो शुभ-अशुभ विकारी है... १४ गाथा, पृष्ठ १९, **इस प्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादिभावों को...** दो (बात)। घातिकर्म के निमित्त के संग से हुए विकारी परिणाम आदि और अघाति के संग से आये हुए बाहर के संयोग, ये दोनों ओर, (दोनों) और हो गये। घाति और अघाति आठ कर्म वे परद्रव्य। उनके संग से यहाँ पुण्य-पाप के भाव हुए, ऐसे उनके संग से संयोग मिले, ये दोनों अपने से संयुक्त न होने पर भी... आत्मा इन दो भावों से सहित नहीं है, वे दो भाव से सहित नहीं है। **ऐसे अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीज है।** आहा...हा...! समझ में आया? अन्वयार्थ में है। इसके पहले पाँचवीं गाथा में भी यह आ गया है। '**प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः**' यह पाँचवीं गाथा। '**भूतार्थबोध-विमुखः**' सर्व संसार, अतिशयरूप से संसार ही है। भगवान आत्मा निश्चय के बोध से रहित अकेले व्यवहार के बोधवाला, वह सब संसार अभिप्राय है। समझ में आया?

कहते हैं, वह यहाँ कहते हैं। उस उदय को-कर्म के उदय को, जो वहाँ चौदहवीं में कहा था वह, भगवान आत्मा, कर्म के निमित्त से हुई अन्दर में शुभ-अशुभ उपाधि और कर्म के निमित्त से हुआ शरीरादि का संयोग, ये घाति-अघाति दोनों आ गये। एक ऐसा ढला और एक ऐसा ढला। घाति के निमित्त से हुआ अल्पज्ञान, अल्पदर्शन, विपरीत आदि, वीर्य आदि। यहाँ अघाति के (निमित्त से प्राप्त) संयोग, शरीर और सामग्री, ये सब कर्मजनित अन्तर और बाह्य की उपाधि, इनसे रहित भगवान आत्मा है, उसे सहित मानना वह भव का बीज मिथ्यात्व है। समझ में आया? कितनी स्पष्ट बात करते हैं।

यही यहाँ कहते हैं कि वह प्रतीति शक्तिरूप उसे सदा सम्यग्दृष्टि को रहती है। शुभ

www.vitragvani.com

और अशुभरूप से परिणमन होने पर भी, वह कभी उसे अपने स्वरूप में मिलाता-शामिल करता नहीं। पूनमचन्दभाई! देखो! ये श्रद्धा। ये श्रद्धा करे तब हो। धर्म का मूल यह है पहला। इसके बिना एक भी कदम आगे नहीं चलता। आहा...हा...! **कभी भी उस कर्म के उदय को...** कभी भी शुभभाव या अशुभभाव को या बाहर के संयोग को, शरीर की क्रिया आदि **श्रद्धान में अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं।** सेठ का माल घर में ले जाये तो उसे गुनहगार कहते हैं। समझ में आया?

पुनः वह ज्ञानी, कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है... उसमें क्या आया था? देखो! **गुमाश्ता, सेठ की नौकरी को पराधीन दुःखदायक मानता है...** गुमाश्ता, सेठ की नौकरी को पराधीन दुःखदायक जानता है; इसी प्रकार धर्मी **कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है...** शुभाशुभभाव, वह दुःख है... शुभाशुभभाव, वह दुःख है। संयोग उस दुःख का निमित्त है। शुभाशुभभाव, वह दुःख है और बाह्य के अघाति से प्राप्त संयोग, उस दुःख का निमित्त है। आहा...हा...! समझ में आया? अरे! बेचारे को सच्ची बात कान में पड़े नहीं, वह कब श्रद्धा करे और कब पहिचान करे? ऐसे की ऐसी जिन्दगी चली जाती है, अभिमान और अभिमान में। आहा...हा...! सत्य सुनने को मिले तो उसे श्रद्धा करने का अवकाश रहे परन्तु यह तो सुनने का ही बन्द कर दिया, ऐ... ऐसा नहीं... यह ऐसा नहीं। अपना माना हुआ सत्... समझ में आया? भाई! यह मार्ग वीतराग का है। यह कहीं किसी के पक्ष का मार्ग नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ देवाधिदेव ने कहा है कि बापू! आत्मा तो हम उसे कहते हैं, आत्मा तो हम तुझे उसे कहते हैं कि जो पुण्य-पाप के आस्रवतत्त्वरहित, शरीर और कर्म के अजीवतत्त्वरहित और चैतन्यस्वरूपवाला (है) उसे हम आत्मा कहते हैं, उसे तू मानता नहीं और उसे आस्रव को उसमें-आत्मा में साथ में मिला देता है और अजीव की क्रिया मुझसे होती है—ऐसा जीव में अजीवपने का अभिमान करता है, वह मिथ्यात्व है। समझ में आया?

ज्ञानी **कर्म के उदय को...** आहा! दोनों ओर, हों! यह धूल, पैसा, लाखों-अरबों, चक्रवर्ती पद मिला हो और अन्दर में शुभराग हुआ हो-दोनों कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है। आहा...! बहुत सरस अर्थ किया है, भाई ने-टोडरमलजी ने शास्त्र के न्याय को रखकर (अर्थ किया है)। अब उन्हें अप्रमाणिक सिद्ध करते हैं। बापू! यह तो

www.vitragvani.com

प्रमाण में तुझे भी न्याय में बैठ जाये, ऐसी पद्धति से तो बात कही जाती है। बैठ जाये ऐसी है; न बैठे, ऐसी नहीं।

भाई! आत्मा तो उसे कहते हैं कि जो शुभ-अशुभराग और कर्म तथा कर्म का बाहर का संयोग, उससे रहित को आत्मा कहते हैं। ऐसे आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को प्रतीति में न लेकर, उस कर्म के निमित्त से अन्तर में उपाधि हुई और उपाधि हुई बाहर में, बीच में रहा कर्म; उसे अपना माने तो इसका अर्थ हुआ (कि) कर्म को ही अपना माना है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन अर्थात्? पूरा हो गया! संसार की गाँठ गल गयी। आहा...हा...! पश्चात् विषय-कषाय के परिणाम रहे परन्तु वे तो चारित्रदोष के रहे। वे तो वृक्ष का मूल टूटने के बाद के पत्ते रहे, उन्हें सूखने में कितनी देरी? परन्तु अकेले पत्ते तोड़े और गाँठ / मूल सुरक्षित रखे तो वह वापस दो महीने में पल्लवित हो जायेगा, वापस वृक्ष पल्लवित हो जायेगा। आहा..हा...!

मुमुक्षु : क्षण भर तो बिना पत्तों का लगेगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बिना पत्ते का नहीं लगेगा। उस समय अन्दर बारीक-बारीक अंकुर होते हैं। वह तो बड़े-बड़े तोड़े हों, बारीक-बारीक नये उगे हों तो उसमें हों। आहा...हा...! इसी प्रकार जहाँ श्रद्धा, सम्यक् का बीज जहाँ यथार्थ नहीं, वहाँ सब बातें व्यर्थ हैं। आहा...हा...! कहो, समझ में आया?

कर्म के उदय को श्रद्धान में अपना जाने तो उसे मिथ्यात्वी कहते हैं। पुनः वह ज्ञानी कर्म के उदय को पराधीन... (अपना) नहीं मानता परन्तु अब मानता है क्या? अपने में मिलाता नहीं परन्तु उदय को पराधीन दुःख जानता है। शुभाशुभभाव दुःख है, पराधीनता है। **परन्तु अपने शुद्धोपयोग के बल-बिना...** उसमें कहा था न नौकर का? नौकर को धन के बल बिना आजीविका के वश उसके सेठ के काम में प्रवर्तता है, ऐसा। **अपने शुद्धोपयोग के बल-बिना...** देखो! शुद्धोपयोग का बल नहीं है इससे। अपने कारण से, हों! **पूर्वबद्ध कर्म के वश होकर कर्म के औदयिक भावों में प्रवर्तन करता है।** आहा...हा...! लक्ष्मी का जोर हो तो वह नौकरी क्यों करे? इसी प्रकार शुद्धोपयोग का बल नहीं है, इसलिए जरा शुभाशुभपरिणाम में प्रवर्तता है - ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com

कमजोर बल है, बल हो तो नहीं प्रवर्तता, प्रवर्तने का भाव नहीं है परन्तु इतना बल नहीं है। उसको (नौकर को) लक्ष्मी नहीं है, इसलिए नौकरी करता है। लक्ष्मी होवे तो नौकरी नहीं करे। समझ में आया?

शुद्धोपयोग परिणति शुद्ध श्रद्धा में है। पुण्य-पाप की परिणति अपने में मानता नहीं परन्तु प्रवर्तता है क्यों? शुद्धोपयोग का बल नहीं है इसलिए। कर्म का जोर है, इसलिए ऐसा नहीं। शुद्धोपयोग का अन्तर बल नहीं; इसलिए जरा पराधीन रूप से राग-द्वेष में पूर्वबद्ध कर्म के वश होकर, उसके वश होकर, आधीन होकर, हों! वह स्वयं आधीन करता नहीं, (यह) स्वयं आधीन होता है। नौकरी स्वयं करता है न सेठ की? ऐसा। **वश होकर कर्म के औदयिक भावों में प्रवर्तन करता है।** कर्म के निमित्त में विकार होता है उसमें यह प्रवर्तता है। शुद्धोपयोग का बल नहीं है। श्रद्धा में उसे (विकार को) अपना नहीं मानता परन्तु प्रवर्तता है। इतना न्याय दिया है! ये पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, श्रावक के आचार कहलाते हैं, लो! श्रावकाचार कहलाता है न? इसमें मूल तो यह रखा है। मूल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान। सम्यग्दर्शन की तीस गाथायें हैं, सम्यग्ज्ञान की छह है, फिर सब आचार की है।

इस प्रकार सम्यक्त्वी के तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन परिणमनरूप तो... देखो आया। उसमें (दृष्टान्त में) साधारण शब्द प्रयोग किया था कि एक श्रद्धानरूप भाव और एक दूसरा परिणमनरूप। उत्तर में ऐसा प्रयोग किया है। यहाँ परिणमन स्पष्ट खुला ले लिया। **सम्यक्त्वी के तत्त्वार्थश्रद्धान...** तत्त्वार्थश्रद्धान। जीव चैतन्यस्वरूप श्रद्धान, राग आश्रवस्वरूप श्रद्धान, कर्म और अजीव की पर्याय अजीव तत्त्वश्रद्धान ऐसे सम्यग्दर्शन का **परिणमनरूप तो निर्बाधरूप से निरन्तर ही है...** आहा...हा...! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को तत्त्वार्थश्रद्धान, सम्यग्दर्शन परिणमनरूप, पर्यायरूप तो निर्बाधरूप से निरन्तर ही है, निरन्तर ही है। विषय-कषाय के परिणामरूप परिणमो या शुद्धोपयोगरूप परिणमों परन्तु तत्त्वार्थश्रद्धान का परिणमन तो निरन्तर है -ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

परन्तु ज्ञानोपयोग अपेक्षा से देखा जावे तो... जहाँ ज्ञान का उपयोग वर्तता है, उससे देखने में आवे तो **सामान्यरूप अथवा विशेषरूप, शक्ति अवस्था में अथवा व्यक्त अवस्था में (-सम्यक्रूप परिणमन तो) सदाकाल होता ही है।** विशेष उपयोग भले बाहर हो, परन्तु अन्दर शक्तिरूप से तो सदा ही या व्यक्तरूप से सदा ही,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

श्रद्धारूप तो सदा ही प्रवर्तता है। उपयोग पर में प्रवर्तता हो तो शक्तिरूप से है, अपने में प्रवर्ते तो व्यक्तरूप से है परन्तु वह व्यक्त अर्थात् ज्ञान में। सदा निरन्तर श्रद्धा, सम्यग्दर्शन की प्रतीति निरन्तर धारावाही (वर्तती है)।

भाई ने कहा है न? रहस्यपूर्ण चिट्ठी में (कहा है)। व्यवहारसम्यग्दर्शन में निश्चयसम्यग्दर्शन निरन्तर गमनरूप है। (ऐसी) भाषा प्रयोग की है। क्या करना? निश्चयसम्यग्दर्शन में व्यवहार है, ऐसा नहीं प्रयोग किया। क्योंकि पूर्ण निश्चय तो आगे है परन्तु जहाँ–जहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन है, वहाँ–वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चय गमनरूप है, परिणमनरूप है। व्यवहार श्रद्धा—देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प है जहाँ; तब उसे व्यवहार कहते हैं कि वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन निरन्तर गमन और परिणमनरूप है। समझ में आया?

यह अव्याप्ति का बोल पूरा हुआ, अव्याप्ति का बोल पूरा हुआ। उसने कहा श्रद्धान का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन, वह ऐसे विषय–कषाय के परिणमन के समय तो सम्हालता नहीं, इसलिए उसे लक्षण लागू नहीं पड़ता (तो उत्तर दिया कि) नहीं, नहीं। उस समय भी है। समझ में आया? यह एक अव्याप्ति के बोल का स्पष्टीकरण आया। तुमने कहा वह लक्षण ऐसे विषय–कषाय के परिणाम में परिणमते तीव्र काल में उसे वह लक्षण याद में नहीं, स्मरण में नहीं; इसलिए लक्षण लागू नहीं पड़ता (उसके उत्तर में कहा) नहीं, लक्षण लागू पड़ता है। समझ में आया?

प्रश्न : भले ही इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है... तुमने कहा तद्नुसार तो सम्यग्दर्शन का लक्षण न व्यापे—ऐसे परिणमन के समय, ऐसा नहीं है (यह) सत्य है। **परन्तु अतिव्याप्ति दोष तो लगता है।** दूसरा प्रश्न उठाया। अतिव्याप्ति दोष लागू पड़ता है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि को भी ऐसी श्रद्धा तो होती है। **कारण कि द्रव्यलिंगी मुनि...** सम्यग्दर्शन के बिना जैन द्रव्यलिंगी साधु होता है (वह) **जिनप्रणीत सात तत्त्वों को ही मानता है...** वह कोई अन्यमत को मानता नहीं। मुनि नौवें ग्रैवेयक में गया...

मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायौ,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ॥

www.vitragvani.com

मुनिव्रत धारण किया, तब उसे तत्त्व की श्रद्धा नहीं थी? वह अन्यमत को बिल्कुल नहीं मानता था। उसका अतिव्याप्ति का प्रश्न है। **कारण कि द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीत...** वीतराग द्वारा कथित **सात तत्त्वों को ही मानता है अन्यमत के कल्पित तत्त्वों को नहीं मानता।** कल्पित तत्त्वों को माने तो नौवें ग्रैवेयक जाये नहीं।

लक्षण तो ऐसा कहना चाहिये... शिष्य कहता है, साहिब! **लक्षण तो ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्य के अलावा अन्य स्थान में न पाया जावे।** जहाँ लक्ष्य कहना चाहो, उसके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो। यह तो अन्यत्र–मुनि को सात तत्त्व की श्रद्धा होती है, उसे अन्यमत की श्रद्धा बिल्कुल नहीं है। द्रव्यलिंगी जैन साधु पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (पालन करे), ऐसे चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे, उसे भगवान के सात तत्त्व की श्रद्धा नहीं? उसे अन्यमती की तो मान्यता नहीं, अन्यमती की मान्यता होवे तो गृहीत मिथ्यात्व है और गृहीत मिथ्यात्व होवे तो द्रव्यलिंगी नौवें ग्रैवेयक तक जाये नहीं। समझ में आया?

उत्तर : द्रव्यलिंगी मुनि, जिनप्रणीत तत्त्व को ही मानता है... यह भी हम ऐसा कहते हैं, कहते हैं। सुन! **परन्तु...** अब यह डालते हैं। मानता है उन्हें, वह कोई अन्यमती को नहीं मानता। **परन्तु विपरीताभिनिवेश से संयुक्त मानता है,...** सात तत्त्व का जैसा स्वरूप है, वैसा न मानकर उनसे एक तत्त्व को दूसरे में मिलाकर विपरीत अभिप्रायसहित सात को मानता है। स्वीकार तो रखा, जैन के तत्त्व को मानता है, अन्य को नहीं मानता परन्तु विपरीत अभिप्रायसहित (मानता है) अभिनिवेश अर्थात् आग्रहसहित मानता है। अर्थात्? इसकी व्याख्या क्या अब? सात को माने और विपरीत अभिनिवेश है– इसका अर्थ क्या?

शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को अपनी जानता है... एक तो अजीवतत्त्व की भूल दिखायी। यह शरीर ऐसा गमन करे, चले, ऐसे ठीक से (चले) वह क्रिया मुझसे होती है—ऐसा मानता है। कहो, समझ में आया? शरीर ऐसे गमन करे, चले, पैर ऊँचा हो, नीचे रहे, ऐसे हो, वह क्रिया मेरी है—ऐसा जानता है। मैं जैसे शरीर को रखूँ वैसे रहता है। जीव ऐसे देखा (तो) पैर ऊँचा ले लिया। देखो! यह क्रिया मैंने की, ऊँचा ले लिया, मैंने किया,

www.vitragvani.com

ऊँचा ले लिया। ऐसी शरीरादि की क्रिया को... समझ में आया? अथवा वाणी, शरीरादि शब्द है न? शरीराश्रित क्रियाकाण्ड आदि। शरीर (साथ में) वाणी भी लेना, उसे **अपनी जानता है...** वाणी भी ऐसी मैं बोल सकता हूँ, ऐसी बोल सकता हूँ, उस वाणी की पर्याय को अपनी मानता है। सात (तत्त्व) मानता है परन्तु विपरीतरूप से मानता है, यह भूल है। अन्य को नहीं मानता, वीतराग द्वारा कथित सात को (मानता है) परन्तु सात में घोटाला करता है, कहते हैं। शरीर के आश्रित जो क्रिया (अर्थात्) यह सब शरीराश्रित क्रिया, वाणी आदि सब शरीराश्रित है। समझ में आया? पूजा में हाथ ऐसे हों, स्वाहा, वाणी स्वाहा हो, वह सब क्रिया जड़ की है परन्तु यह जानता है कि मुझसे होता है, मैं अन्दर चैतन्य हूँ तो यह होता है।

मुमुक्षु : जीवताजीव है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीवताजीव है, वह जीव में है, उसमें—जड़ में कहाँ आया? जीव तो अपनी सत्ता में है; जड़ की सत्ता में जीवताजीव अन्दर कहाँ प्रवेश कर गया है? कहो समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह बाद में कहेंगे, यह फिर बाहर आयेगा। यह तो बाहर की अजीव की बात चलती है। जीव-अजीव की बात है। शरीर और वाणी, उनकी होनेवाली पर्याय, वह मैं ऐसे रखता हूँ तो ऐसे रहती है और वाणी ऐसे बोलता हूँ तो ऐसे बोली जाती है। यह शरीराश्रित क्रिया को अपनी जानता है। लो! कहो, समझ में आया? उनको दिक्कत आती है, शरीर की क्रिया आत्मा कर सकता है, अमुक कर सकता है। आहा...हा...! रहस्यपूर्ण चिट्ठी में यह आया है—शरीराश्रित क्रिया। परमार्थ वचनिका में यह शरीराश्रित क्रिया डाला है।

वाणी, शरीर, बोलना, चलना, यह सब जड़ की क्रिया है, इसे अपनी जानता है। मैं ध्यान रखता हूँ न, तो शरीर ऐसा रहता है, मैं बराबर व्यवस्थापूर्वक ऐसा बोलता हूँ तो वाणी ऐसी ही बोली जाती है। इस प्रकार वह तत्त्व को विपरीत अभिप्रायसहित मानता है। भले मानता है भगवान के कहे हुए; दूसरे के नहीं मानता परन्तु इन माने हुए कहे हुए में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

विपरीतपना अन्दर डालकर मानता है–ऐसा कहते हैं। समझ में आया? एक बात। अब तुम्हारी महाव्रत की बात आयी।

इससे अजीवतत्त्व में जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है। यह शरीर, वाणी अजीवतत्त्व है। यह मुझसे होता है, मेरा है, मैं रखूँ वैसे रहता है, बोलना बन्द करूँ तो बन्द हो जाता है, चलूँ तो चला जाता है, शीघ्रता से चलूँ तो शीघ्रता से चला जाता है, धीरे चलूँ तो धीरे चला जाता है, आवाज जोर से करूँ तो जोर से होती है और धीमे से करूँ तो धीमे होती है, यह सब अजीव की क्रिया है। धीरे बोलूँ तो धीरे बोल सकता हूँ, धीरे ही बोले वह सब जड़ की क्रिया है, तेरी कब थी? आहा...हा...! बड़ी गड़बड़! इस अजीवतत्त्व में शरीर, वाणी की पर्याय में जीवपना माना, जीवपना माना। आहा..हा...!

पुनः आस्रव–बन्धरूप जो शील... शील अर्थात् व्यवहार ब्रह्मचर्य। व्यहार ब्रह्मचर्य, व्रत, व्यवहार विकल्प, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, विषय–सेवन न करना—ऐसा जो **आस्रव–बन्धरूप जो शील...** यह राग, वह आस्रव और बन्धरूप है। आहा...हा...! समझ में आया? शरीर से ब्रह्मचर्य पालता हूँ—ऐसा जो शुभभाव, वह आस्रवबन्धरूप है। मैंने शरीर से विषय–सेवन नहीं किया तो मैंने नहीं सेवन किया, वह अजीव में जाता है। सेवन नहीं किया—ऐसा जो शुभभाव, वह आस्रव और बन्ध में जाता है। समझ में आया?

आस्रव–बन्धरूप जो शील संयमादिरूप... इन्द्रियों का दमन करके शुभराग, छह काय के प्राणी को दुःख न देने का भाव अथवा उसे अनुकूल होने का भाव। संयमादि, इन्द्रियादि दमनरूप, वह परिणाम आस्रव–बन्धरूप है। व्रत के परिणाम, दया–दान के परिणाम, पूजा के परिणाम, वे सब आस्रव–बन्धरूप है। अबन्धपरिणामी–अबन्धद्रव्य में वे परिणाम नहीं हैं। समझ में आया? 'प्रभु का मारग है शूरों का, कायर का नहीं काम' आहा...हा...! आस्रव–बन्ध कहा न? आस्रव–बन्ध अर्थात् पुण्य–पाप इसमें शामिल आ गया। आस्रव, बन्ध और पुण्य–पाप चारों आ गये, उसमें (पहले में) अजीव आ गया, पाँचों आ गये, हो गया। आहा...हा...! आस्रव और बन्धरूप शील और **संयमादिरूप परिणाम हैं, उन्हें संवर–निर्जरारूप मानकर...** ये दो तत्त्व आ गये। आस्रव–बन्ध के

www.vitragvani.com

परिणाम को, संवर-निर्जरारूप मानता है। ये व्रत के परिणाम, आस्रव-बन्धरूप हैं, उन्हें संवर-निर्जरा मानता है, उसमें से मुझे संवर हुआ। व्रत के परिणाम शुभ हैं, उसमें शुभ परिणाम वह राग अंश है, वह आस्रव है, ऐसा मानता है। परन्तु उसमें अशुभ निवृत्त हुआ है वह मेरा संवर-निर्जरा है। परन्तु निवृत्त कहाँ हुआ है? स्वरूप की दृष्टि बिना शुभ आया, तब अशुभ से निवृत्त हुआ। (यह तो) जब शुद्ध की दृष्टि हो तब (ऐसा होता है), वरना निवृत्त (है कहाँ)? अकेली शुभभाव में ही प्रवृत्ति है। समझ में आया?

यह बड़ा प्रश्न उठाया है। शुभभाव में जितना परलक्ष्यी राग है, उतना आस्रव है और अशुभ से निवृत्त हुआ है न? हिंसा झूठ के भाव से निवृत्त हुआ है न? उतना संवर। परन्तु निवृत्त हुआ है, वह तो स्वरूप की दृष्टि बिना शुभ है, वह तो अकेला आस्रव ही है। शुद्धस्वरूप का अनुभव और दृष्टि हुई, तब शुभपरिणाम हुए उसमें से अशुभ निवृत्त हुआ, वह तो स्वरूप की शुद्धता में जाता है, उसके आश्रय में जाता है। शुभ के कारण नहीं और शुभ में नहीं। शुभ के कारण नहीं और शुभ में नहीं। द्रव्य के आश्रय से द्रव्य की पर्याय वहाँ शुद्ध होती है। आहा...हा...! समझ में आया? गजब मार्ग! कहो, कालीदासभाई! आहा! सातों समाहित कर दिये।

एक तो शरीर, वाणी की पर्याय वह ठीक मुझसे होती है, उसने अजीव को जीव माना। आस्रव-बन्धरूप शुभ-अशुभ परिणाम, यहाँ तो शुभ ही भाव लिया है। **शील संयमादिरूप परिणाम हैं उन्हें संवर-निर्जरारूप मानकर...** उन्हें संवर-निर्जरा माना। सात को माना परन्तु विपरीत माना। अब रह गया एक मोक्ष। उसे **मोक्ष का कारण मानता है।** लो, यह मोक्ष का कारण मानता है। पुण्य का भाव, यहाँ तो पुण्य का ही अकेला लिया है, हों! आहा...हा...! पाप की बात नहीं ली है।

मुमुक्षु : अकेला व्यवहार लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला व्यवहार लिया। आस्रव-बन्धरूप शील—ऐसा लिया है। आस्रव-बन्धरूप मिथ्यात्व और असंयम नहीं। जो शुभभाव है, जो विकल्प है—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव, वह आस्रव है और वह बन्धरूप है। ऐसे **शील संयमादिरूप परिणाम हैं, उन्हें संवर-निर्जरारूप मानकर मोक्ष का कारण**

www.vitragvani.com

मानता है। सभी तत्त्व की विपरीतता हो गयी। है आस्रव–बन्धरूप भाव, बन्ध के कारण; उन्हें मोक्ष का कारण मानता है और आस्रव–बन्ध को संवर–निर्जरा मानता है। आहा...हा...! समझ में आया?

द्रव्यलिंगी पाप से तो विरक्त हुआ है... देखो! वापस आया। पाप के अशुभपरिणाम से विरक्त हुआ, हों! इस अपेक्षा से बात है। मिथ्यात्व है यह बात अभी नहीं है। उस परिणाम की अपेक्षा से बात है। द्रव्यलिंगी हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभपरिणाम से निवृत्त हुआ है **परन्तु पुण्य में उपादेयबुद्धि से परिणमन करता है...** ऐसी बात है। आस्रव–बन्धरूप शील, संयमरूप पुण्य परिणाम है, उन्हें उपादेय मानता है। उन्हें ही उपादेय (मानता है)। यहाँ जीवद्रव्य है, वह उपादेय नहीं जाना; उन्हें ही उपादेय जाना है। यहाँ जीव ज्ञानस्वरूप चैतन्य है उसे उपादेय नहीं जाना। यह रह गया उसका तत्त्व इतना। दया, दान, व्रत, परिणाम शुभ वह आदरणीय है, उन्हें आदरणीयरूप से मानता है।

इसलिये उसे तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं है। इसलिए इस कारण से उसे तत्त्वार्थश्रद्धान लागू नहीं पड़ता। बहुत सरस बात की है। ओहो...हो...! बहुत सरस! एक–एक तत्त्व, सात (तत्त्व) उतारे हैं। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा (और) मोक्ष। **इस भाँति (विपरीत अभिप्रायरहित) तत्त्वार्थ–श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन अंगीकार करना चाहिये।** विपरीत श्रद्धानरहित तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन यथार्थ अंगीकार करना, यह उसका यथावत् लक्षण है। कहो, समझ में आया? कहो, यह तो समझ में आये ऐसी बात है। सोमचन्दभाई! सात तत्त्व की अन्दर की क्रीड़ा इसी और इसी में रखी। आहा...हा...! यह तो समझ में आये ऐसी बात है इसमें?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर बड़ी मिथ्यात्व की उलझन। उपादेय माना अर्थात् पुण्य को उपादेय माना, वह तो मिथ्यादृष्टि हुआ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं, उसमें होता क्या है? वह तो अनन्त बार हुआ। आहा...हा...! सोमचन्दभाई! धीरे–धीरे बदले हैं न अब। पहले अभी श्रद्धा में जहाँ

www.vitragvani.com

यथार्थता नहीं, वहाँ दृष्टि निर्मल (हुए) बिना स्थिरता होगी कहाँ से? आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं-पुण्य में उपादेयबुद्धि से परिणमित हुआ है, यही मिथ्यात्वभाव है। उसे तत्त्वार्थश्रद्धान की, संवर की खबर नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३ गाथा-२३-२४ शनिवार, पौष शुक्ल १०, दिनांक २१.०१.१९६७

यह एक शास्त्र का दोहन करके बनाया है, इसकी २३ वीं गाथा है। सम्यक् का वर्णन २२ गाथा तक आ गया, अन्तिम भी उसमें आया था कि सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या? उसके बाद के आठ आचार की यह बात है। आत्मा, पुण्य-पाप के भाव जो विकार हैं, उनसे आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्य अत्यन्त रहित है। यह आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी तीर्थंकरदेव ने जो यह आत्मा देखा, वह आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञान सम्पन्न आत्मा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा है, उसे पुण्य और पाप के जो भाव हों—दया, दान, व्रत वह पुण्य है; हिंसा, झूठ आदि वह पाप है; ऐसे दोनों भाव से रहित आत्मा है।

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। ऐसे आत्मा का—पुण्य-पाप के भावरहित आत्मा का श्रद्धान करना, इसका नाम भगवान, सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया? पुण्यभाव हो, उसे उपादेय नहीं मानना; उससे धर्म है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव आवें परन्तु वह धर्म है—ऐसा नहीं मानना। कठिन बात है, झवेरचन्दभाई! अब तो इन्हें सब छोड़कर परिचय करने जैसा है। वास्तविक बात है? सब है, अब लड़के-बड़के करते होंगे, अब क्या है परन्तु? यह वस्तु समझने जैसी है, अभी यह चलती नहीं, भाई! पूरी बात दूसरी है, वीतराग का मार्ग कोई अलग है। लोग कुछ कल्पित करके बैठे हैं, मार्ग कोई अलग है। इसे सुनने को मिलता नहीं, इसलिए इसे रुचि में तो कहाँ से आवे? न्यालचन्दभाई! बापू ने किया होगा सब, थोड़ा-बहुत किया होगा।

यह आत्मा, शुद्ध चैतन्य ज्ञान और आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसे शरीर और

www.vitragvani.com

कर्मरहित तो मानना परन्तु उसे पुण्य के भाव हों, पाप के भाव हों–ऐसे भावरहित उसे श्रद्धा करना, मानना और पुण्य को आदरणीय नहीं मानना, पाप को हितकर नहीं मानना, बाह्य संयोग की चीज़ मुझे लाभदायक है—ऐसा नहीं मानना, ऐसी आत्मा की अन्तर्दृष्टि होने को भगवान, सम्यग्दर्शन कहते हैं। कहो, न्यालभाई!

मुमुक्षु : मोटर को भी लाभदायक नहीं मानना?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर में धूल भी नहीं, मोटर में। मोटर में क्या था? यहाँ तो शुभभाव हो—दया का, दान का, भक्ति का—वह भाव भी हो परन्तु आदरणीय नहीं है क्योंकि पुण्यबन्धन का कारण है। बाहर की (चीज़े) तो फिर आयेगी, मोटर–फोटर तो कहीं पड़ी रहे उसके घर। समझ में आया?

यहाँ तो वास्तविक तत्त्व क्या है? परमेश्वर केवलज्ञानी ने कहा वह। उसकी श्रद्धा कब कहलाती है? कि आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञान का सूर्य प्रभु परम पवित्र धाम आत्मा है। उसे पुण्य के भाव—शुभभाव, दया, दान, आदि भाव–वह भी राग और नुकसानकारक है। आहा...हा...! हो भले परन्तु वह पुण्यभाव है; पुण्यभाव को आदरणीय मानना, अंगीकार करनेयोग्य मानना, इसका नाम मिथ्यात्व–अज्ञान है। ए... न्यालभाई! सुना नहीं होगा। ये सेठिया व्यक्ति, फिर वहाँ अमुक घण्टे जाये वहाँ सुनकर चला आवे, हो गया।

मुमुक्षु : पूर्व में धर्म किया था तो यह मिला।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह धर्म अब धूल, वह धर्म कहाँ था? वह तो पूर्व का शुभभाव होगा। उसका पुण्य बँधा, इसे यह धूल मिली। धूल भी धर्म किया नहीं। क्यों पोपटभाई! क्या होगा? ऐसी बात की थी अभी, चालीस करोड़ रुपया है, उसके पास, इन पोपटभाई के साले 'शान्तिलाल खुशाल', धूल में भी नहीं। कोई पुण्य के परिणाम किये होंगे, रजकण (बँधे) उससे बाहर की व्यवस्था हो गयी, उसमें आत्मा को क्या? आत्मा को लाभ क्या?

मुमुक्षु : रुपये की ममता।

पूज्य गुरुदेवश्री : ममता है–यह मेरे हैं, यह तो ममता का लाभ हुआ, वह चीज तो वहाँ रह गयी। भगवान उसे जड़ / अजीवतत्त्व कहते हैं। वह अजीव मेरा है—ऐसा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मानना, वह मिथ्याभाव है, यह आगे कहेंगे, निःकाँक्षित में। समझ में आया? देखो! पुण्य के फल इन्द्रिय के विषयों को, यह कहेंगे। पुण्य के फल को चाहता नहीं, चौबीस (गाथा में) आयेगा। धर्मी जीव पुण्य के फल को नहीं चाहता। आहा...हा...! बापू! ये श्रद्धा किसे कहना! अनन्त काल से इसने किया नहीं, बाहर का त्यागी अनन्त बार हुआ, पंच महाव्रत के परिणाम भी अनन्त बार लिये परन्तु यह वस्तु समझा नहीं।

राग की क्रिया से पार आत्मा भिन्न है—ऐसी अन्तर की श्रद्धा बिना इसे अन्तर में सम्यग्दर्शन तीन काल में प्रगट नहीं होता। इसलिए कहते हैं कि **पुण्य में...** ऊपर आ गया है, पुण्य में उपादेयबुद्धि से अनादि से परिणमित हुआ है, अनादि से, ऊपर आ गया है, ऊपर दूसरी लाईन है, २३ वीं गाथा में ऊपर, ऊपर की लाईन में है। **पुण्य में उपादेयबुद्धि से परिणमित हुआ है...** ऊपर हैं दो लाईन। **इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं।**

अनादि जैन का साधु हुआ, दिगम्बर मुनि हुआ, वनवासी हुआ, इसने हजारों रानियाँ छोड़ी परन्तु अन्दर में पुण्यभाव हो, वह मुझे हितकर है—ऐसा माना, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि रहा। समझ में आया? यह मिथ्यादृष्टि मूढ़, भले बाहर की हजारों रानियाँ छोड़कर बैठा हो परन्तु अन्दर में शुभभाव—अहिंसा, दया, दान आदि के भाव—मुझे हितकर हैं, वे मुझे लाभदायक हैं, उसका तत्त्वार्थश्रद्धान विपरीत है। न्यालभाई!

इसलिए कहते हैं कि ऐसा जो आत्मा का सम्यग्दर्शन, जो जड़तत्त्व की क्रियाएँ मैं कर सकता ही नहीं। यह वाणी, शरीर परवस्तु की दशा अजीव है, वह अजीव की दशा मैं नहीं करता, मुझसे नहीं होती। पुण्य-पाप के भाव मुझमें होते हैं, वे हितकर नहीं हैं; हेय हैं, उपादेय नहीं हैं, अंगीकार करनेयोग्य नहीं हैं। उनसे रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह अन्तर्दृष्टि में आदरणीय है—ऐसी दृष्टि करे उसे सम्यग्दर्शन दशा, धर्म की पहली दशा कहते हैं। समझ में आया? अब इसमें इसे आठ आचार होते हैं। ऐसा सम्यग्दर्शन हो, उसे आठ आचार-आठ लक्षण-आठ गुण होते हैं। पहला निःशंकित अंग।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - २३

सम्यक्त्व के आठ अङ्गों का वर्णन–

१– नि:शंकित अङ्ग

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या।।२३।।

सर्वज्ञों का कहा हुआ यह अनेकान्तमय वस्तु समूह।
शंका कभी न करना कि यह है असत्य या सत्य स्वरूप।।२३।।

अन्वयार्थ : (अखिलज्ञैः) सर्वज्ञदेव द्वारा (उक्तं) कहा गया (इदं) यह (सकलं) सकल (वस्तुजातं) वस्तुसमूह (अनेकान्तात्मकं) अनेकान्तस्वभावरूप है वह (किमु सत्यं) क्या सत्य है? (वा असत्यं) अथवा असत्य है (इति) ऐसी (शंका) शंका (जातु) कभी भी (न) नहीं (कर्त्तव्या) करना चाहिये।

टीका : 'अखिलज्ञैः इदं सकलं वस्तुजातं अनेकान्तात्मकं उक्तं किमु सत्यं वा असत्यं वा। जातु इति शंका न कर्त्तव्या।' सर्वज्ञदेव ने यह समस्त जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभावसहित कहा है। क्या वह सच्चा है या झूठा? ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिए।

भावार्थ : शंका नाम संशय का है। जिन-प्रणीत पदार्थों में शंका नहीं करना। इसी को [१]नि:शंकित नामक अंग कहते हैं (कारण कि जिन भगवान अन्यथावादी नहीं हैं।)

---

१. स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ११ में कहा है कि तत्त्व यही है ऐसे ही है अन्य नहीं अथवा अन्य रीति से नहीं है। ऐसी निष्कम्प तलवार की तीक्ष्णधार के समान सन्मार्ग में संशय रहित रुचि-विश्वास को नि:शंकित अंग कहते हैं।

www.vitragvani.com

गाथा २३ पर प्रवचन

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या।।२३।।

अन्वयार्थ : 'अखिलज्ञैः' 'अखिलज्ञैः' अर्थात् सर्वज्ञदेव। पहला शब्द है। **सर्वज्ञदेव द्वारा... 'अखिलज्ञैः'** अखिल अर्थात् तीन काल-तीन लोक जिन्होंने देखे (-ऐसे) परमेश्वर केवलज्ञानी, ये **'अखिलज्ञैः'** अर्थात् सर्वज्ञदेव। इन ने **कहा गया यह सकल वस्तुसमूह...** समस्त वस्तु अर्थात ? आत्मा, आत्मारूप से; पुण्य-पाप, पुण्य-पापरूप से; शरीर, शरीररूप से; कर्म, कर्मरूप से; भगवान द्वारा देखे हुए धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि दूसरे भी द्रव्य हैं। इन वस्तुओं का समूह **अनेकान्तस्वभावरूप है...** आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि सम्पन्न है और पुण्य-पाप के भावरहित सम्पन्न आत्मा है। पुण्य-पाप, पुण्य-पाप के भावसहित हैं, वे पवित्रभावरहित हैं। ये पुण्य-पाप के भाव, अजीव से रहित हैं, पुण्य-पाप के भाव, स्वभाव से रहित हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह कहाँ से निकाला ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसमें है। **वस्तुसमूह अनेकान्तस्वभावरूप है...** अनेकान्त है, अनेकान्त है। क्या कहा ? भगवान आत्मा अनन्त धर्मसम्पन्न; अनन्त धर्म अर्थात् स्वभाव। जानना, दर्शन, श्रद्धा, आनन्द आदि स्वभाव है। वह पुण्य-पाप के भाव से रहित स्वभाव है। अनेकान्त है न यहाँ ? ऐसी वस्तु का स्वरूप भगवान ने ऐसा कहा है, वैसा उसे श्रद्धान करके शंका नहीं करना।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन की श्रद्धा तो होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा होती है, उसमें निःशक्ति विशेष की बात करते हैं, यह निःशंकरूप से श्रद्धा करना। ऐसा होगा या ऐसा होगा ? आत्मा के स्वभाव में यह पुण्य-परिणाम अन्दर होंगे या नहीं ? पुण्य-परिणाम में कुछ पवित्रता स्वभाव होगा या नहीं ? पुण्य-परिणाम में अजीवपना होगा या नहीं ? अजीव में पुण्य-परिणाम होंगे या नहीं ?

www.vitragvani.com

अजीव कर्म में कुछ शुभभाव उसके कारण होगा या नहीं ? ऐसी निःशंकता करना कि जड़ में जड़पना है; पुण्य-पाप में विकारपना है; शुद्धस्वभाव में विकारपना नहीं परन्तु त्रिकाल निर्मलानन्दस्वभाव है। समझ में आया ?

वस्तुसमूह... ये नौ वस्तु है, नौ पदार्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। **अनेकान्तस्वभावरूप है...** प्रत्येक अनेक स्वभावरूप है। समझ में आया ? अनेकान्त शब्द है न ? भाई ! अनेकान्त शब्द पड़ा है। अनेक धर्म हैं। शुद्ध चैतन्यवस्तु में अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञानादि हैं और वे स्वपने हैं और पुण्य-पापपने नहीं, अजीवपने नहीं—ऐसा उसका अनेकान्तस्वभाव आत्मा का है और पुण्य-पाप, वह मलिनरूप है; उनमें निर्मलता नहीं, उनमें अजीवपना नहीं। अजीव अर्थात् जड़-रजकण, और अजीव जो कर्म, शरीरादि है, उनके जड़पने के गुण और पर्यायसहित है, ये पुण्य-पाप के भाव उनमें नहीं और पवित्रता उनमें नहीं। समझ में आया ?

ऐसी श्रद्धा हुई है, उसमें इसे निःशंक रहना-ऐसा कहते हैं। शंका नहीं करना कि इसमें कुछ-कुछ शुभभाव से स्वभाव को किंचित्मात्र लाभ होता होगा या नहीं ? स्वभाव को कुछ पुण्य-पाप मदद करता होगा या नहीं ? कर्म अजीव है, उनसे कुछ पुण्य-परिणाम होते होंगे या नहीं ? कर्म अजीव है, उसका कुछ आत्मा काम कर सकता होगा या नहीं ? शरीरादि के काम आत्मा कुछ कर सकता होगा या नहीं ? भगवान ने इनकार किया कि इसका-शरीर का धर्म जड़ है और तेरे स्वभाव से वह रहित है; इसलिए उसके कारण सब क्रियाएँ जड़ की होती है। इसमें शंका नहीं करना कि मेरा कुछ होगा ? मेरी कुछ मदद होगी तो उसमें होता होगा ? समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो समस्त वस्तुसमूह देखा, उसमें अनेक स्वभावरूप है, अनेकान्त है। **वह क्या सत्य है ? अथवा असत्य है...** वह कैसे होगा ? ऐसी शंका करना नहीं। तीन काल-तीन लोक में यही वस्तु ऐसी ही है। 'केवली पण्णत्तो धम्मं शरणं' भगवान केवली ने आत्मस्वभाव कहा; विभाव विपरीत कहा; अजीव पृथक् कहा। उसके स्वभाव में अनेक धर्म प्रत्येक में रहे हुए हैं। धर्म अर्थात् स्वभाव। ऐसा सत्य होगा या असत्य होगा ?

www.vitragvani.com

ऐसी शंका कभी भी नहीं करना चाहिये। धर्मी जीव को ऐसी शंका नहीं करना। यहाँ अन्दर से-दृष्टि से बात अन्दर उठायी है। समझ में आया?

टीका : यह गाथा रखी है। **सर्वज्ञदेव ने यह समस्त जीवादि पदार्थों...** देखो! जीवादि पदार्थ (कहा है)। भाई! ये पदार्थ-जीवादि पदार्थ हैं न? नौ पदार्थ। **जीवादि पदार्थों...** उसमें भी आया था न? तत्त्वार्थश्रद्धान में। यह जीवादि पदार्थ आया था। **'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां'** २२ वीं गाथा और यह २३ वीं से शुरु किया। **यह समस्त जीवादि पदार्थों...** अर्थात् जीव, जीवरूप है। आनन्द और ज्ञानरूप है; पुण्य, (पाप) पुण्य पापरूप है, मलिनरूप। कर्म और शरीर, कर्म और शरीर जड़रूप है, अजीवरूप है—ऐसे जो **जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभावसहित कहा है।** समझ में आया? भगवान ने ऐसा स्वभाव कहा है और उनमें ऐसा है। **क्या वह सच्चा है या झूठा? ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिए।** भगवान ने वस्तु कही ऐसी ही है, ऐसा ही है—ऐसी जिसे अन्तर श्रद्धा हुई, उसे कभी शंका नहीं करना। कहो समझ में आया इसमें? माँगीरामजी! लो! यह सम्यग्दर्शन का पहला अंग।

मुमुक्षु : यह तो सब ऐसा कहते हैं कि भगवान ने कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु समझते कहाँ हैं? भगवान ने कहा, भगवान! भगवान यह कहते हैं। भगवान ने **'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां'** अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानं कहा। जीव, अजीव, पुण्य, पाप अर्थात् दोनों होकर आस्रव है, उन दो (में) अटकना, वह बन्ध है, जड़कर्म का बन्ध भिन्न है, शरीर भिन्न है। ऐसे जो तत्त्व अनेक धर्मवाले भिन्न-भिन्न हैं, उन्हें उस प्रकार श्रद्धा करना। वह श्रद्धा कहाँ करता है? वह तो अभी गड़बड़ करता है।

मुमुक्षु : ऐसा तो कहता है न कि केवली ने कहा वह सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसे भान में कहाँ है? केवली ने कहा वह तो भाषा हुई परन्तु उन्होंने भाव कहा, वह तो भासित हुआ नहीं। उनकी द्वारा कथित भाव तो ज्ञान में आये नहीं तो केवली ने कहा सत् कहाँ से आया? समझ में आया? यहाँ तो इसे स्वयं को भान होना चाहिए। भगवान कहते हैं वह सच्चा, वह किस प्रकार? इसका भान (हुए) बिना? ऐ..ई..! न्यालभाई! सब ऐसे के ऐसे अभी तक गाड़ी हाँकते हैं—ऐसा नहीं चलता।

www.vitragvani.com

भगवान कहते हैं तू समझ हमने जो भाव कहे हैं (वे) तुझे तेरी प्रतीति में, तेरे ख्याल में तेरे भाव का भासन तुझे होना चाहिए। भासन ज्ञान होना चाहिए। इसके बिना तुझे सत्य नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : इस सब झंझट में न पड़े और अकेली भक्ति ही करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति करके मर जाये तो भी कुछ मिले ऐसा नहीं है, लो! भक्ति करे लाख भगवान की परन्तु भक्ति करे और शत्रुंजय में भटका करे लाख बार, करोड़ बार (तो) शुभभाव होता है, उसमें जन्म-मरण का अन्त नहीं है। झवेरचन्दभाई! समझ में आया? वहाँ वे भक्ति करे क्या परन्तु भक्ति? किसकी? वह तो जड़ की क्रिया है। वह तो भगवान को मानना, उसे तो यहाँ परमेश्वर कहते हैं, मुझे मान—ऐसा भाव तेरा शुभराग है, ले! पुण्य है, धर्म नहीं। क्योंकि परद्रव्य है-भगवान परवस्तु है। भगवान ऐसा कहते हैं कि मेरी ओर का लक्ष्य करके मुझे तू माने, वह तेरा भाव शुभ है, पुण्य है। वह वास्तव में यदि उसे पुण्य को उपादेय माने तो तेरी दृष्टि विपरीत है—ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है बापू! इसे मूल तत्त्व की बात ही (समझ में) आयी नहीं। अभी तो गड़बड़ चलती है। तत्त्व बाहर आया, तब सुनना बन्द कर दिया, नहीं, यह सुनना नहीं। न्यालभाई! भगवान ने अनेकान्तात्मक... भाई! जीवादि पदार्थ कहा न? उन जीवादिक में प्रत्येक पदार्थ के अनेक धर्म हैं-ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अपनेरूप है और पररूप नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। भगवान चैतन्यस्वरूप है। यह पुण्य-पाप के कृत्रिम विकार होते हैं, उनसे रहित है, उनमें यह नहीं। पुण्य-पाप में—भाव में शुद्धभाव का अंश नहीं, धर्म का अंश नहीं; मलिनता में निर्मलता का अंश नहीं; मलिनता में मलिनता है। अजीव में अजीव है; अजीव में पुण्य-पाप की मलिनता नहीं और अजीव में आत्मा का धर्म आंशिक उसमें है नहीं। आहा...हा...! क्या हो? लोगों को बेचारों को मिला नहीं। निवृत्त होते नहीं। मिला हो तो वापस सम्प्रदाय की बातें लगा डालें, ऐसा करो और ऐसा करो, जाओ कल्याण हो जायेगा। वह कहे दया पालो, कल्याण होगा।

मुमुक्षु : कहनेवाले को कल्याण कैसे हो-यह कहाँ पता है?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी उसे भी पता नहीं है।

भावार्थ : शंका नाम संशय का है। भावार्थ है न? **जिन-प्रणीत पदार्थों...** जिन अर्थात् वीतराग, प्रणीत अर्थात् कहे हुए **पदार्थों में शंका नहीं करना। इसी को निःशंकित नामक अंग कहते हैं...** है न भावार्थ की एक लाईन? अब इसके नीचे, नीचे है नोट, उसके नीचे एक नोट है। ***स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार गाथा ११ में कहा है कि तत्त्व यही है...*** ज्ञायकस्वरूप चैतन्य वह तत्त्व यही है; पुण्य-पाप वे यही है; अजीव और कर्म वे अजीव ही हैं। ***ऐसे ही है, अन्य नहीं...*** आहा...हा...! ***ऐसे ही है, अन्य नहीं अथवा अन्य रीति से नहीं है।*** जो जड़ है, वह जड़रूप ही है; पुण्य-पाप, पुण्य-पापरूप ही है; संवर-निर्जरा वे स्वभाव के आश्रय से वे, वे ही हैं। शुद्धात्मा त्रिकाल वह वही है।

इस प्रकार ***ऐसी निष्कम्प तलवार की तीक्ष्णधार के समान...*** देखो तलवार की तीक्ष्णधार समान। ***सन्मार्ग में संशयरहित...*** सत्मार्ग भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की मूर्ति में संशयरहित; पुण्य-पाप में संशयरहित (अर्थात्) वह मलिनता है; अजीव कर्म है, वे, इसमें नौ तत्त्व आ गये। ***सन्मार्ग में संशयरहित रुचि-विश्वास को निःशंकित अंग कहते हैं।*** नीचे नोट, नीचे नोट है। स्वामी समन्तभद्र में यह ११ वाँ श्लोक है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : तलवार की धार का दृष्टान्त...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; तलवार की धार ऐसे बराबर काट डालती है। ऐसा सन्मार्ग है कि उसमें संशय नहीं रहता। ऐसी निःशंक श्रद्धा ऐसा कहते हैं। भगवान ऐसे कंपते नहीं। ऐसा होगा? यह कोई कहते हैं न सब? अन्यमती कहते हैं, उसमें कुछ धर्म होगा? जैन के अतिरिक्त, जैन वह निःशंक मार्ग है परन्तु उसमें शंका, अपने में शंका करे। ऐसा होगा? ऐसा मार्ग? एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने—ऐसा आत्मा का ज्ञान होगा? निःशंक कहे—यह स्वभाव ही तीन काल-तीन लोक को जानने के सत्ववाला मैं तत्त्व हूँ। मुझमें अपूर्ण रह सके या राग, वह मेरे स्वरूप में है ही नहीं। ऐसी निःशंक तलवार की धार समान प्रतीति करे, उसे निःशंकता कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मैं मुझसे ही परमात्मा होनेयोग्य हूँ—ऐसा नि:शंक हो। किसी की मदद से और किसी की सहायता से मैं केवलज्ञान पाऊँ—ऐसी इसे शंका–बंका नहीं होती; नि:शंक हो जाता है। मैं आत्मा सर्वज्ञस्वभावी हूँ और उसकी प्रतीति में इसी भाव से मैं क्रम–क्रम से केवलज्ञान को मेरे स्वभाव की सहायता से ही पानेवाला हूँ; किसी पुण्य–पाप के भाव से या देव–गुरु की सहायता से–उनसे पाऊँ—ऐसा मेरा स्वरूप है नहीं। कहो, समझ में आया इसमें? आहा...हा...! गजब बातें, भाई! जैन सम्प्रदाय में जन्में, उसे जैन क्या कहते हैं? वह मिलता नहीं। बेचारा ऐसे का ऐसा पूरी जिन्दगी (पूर्ण करता है)। झवेरचन्दभाई! सच्ची बात है या नहीं?

कहते हैं, भगवान के द्वारा कथित आत्मतत्त्व आदि नव (तत्त्वों) को बराबर सन्देह किये बिना नि:सन्देहरूप से मानना नि:शंक कहते हैं। अब दूसरा नि:कांक्षितभाव। यह समकिती का दूसरा बोल नि:कांक्ष है। २४ वीं गाथा!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - २४

२- [1]निःकांक्षित अंग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत्।।२४।।

इस भव परभव में वैभव या चक्री, नारायण पद की।
दूषित जो एकान्तवाद से अन्य धर्म चाहो न कभी।।२४।।

अन्वयार्थ : (इह) इस (जन्मनि) लोक में (विभवादीनि) ऐश्वर्य, सम्पदा आदि, (अमुत्र) परलोक में (चक्रित्वकेशवत्वादीन्) चक्रवर्त्ती, नारायण आदि पदों को (च) और (एकान्तवाद-दूषित परसमयान्) एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को (अपि) भी (न आकांक्षेत्) न चाहे।

टीका : 'इह जन्मनि विभवादीनि न आकांक्षेत्' – सम्यग्दृष्टि इस लोक में तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिक को नहीं चाहता 'च अमुत्र चक्रित्व केशवत्वादीन् न आकांक्षेत्' तथा परलोक में चक्रवर्तीपद, नारायणपद और आदि शब्द से इन्द्रादिक पद को नहीं चाहता। 'एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकांक्षेत्' वस्तु के एकान्त स्वरूप को कथन करने के कारणजो दूषित हैं ऐसे अन्य मत हैं उनको भी नहीं चाहता।

भावार्थ : निःकांक्षित नाम वांछारहित का है। कारण कि इस लोकसम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता; इसलिए सम्यक्त्वी, पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को आकुलता का निमित्त होने से दुःखरूप ही मानता है। फिर अन्यमती नाना प्रकार की एकान्तरूप कल्पना करते हैं, उन्हें भला जानकर नहीं चाहता है।

---

१. निःकांक्षा-(विषयों की व विषय के साधनों की अभिलषा-आशा को कांक्षा कहते हैं) अर्थात् कर्म के वश, अन्तवाले, उदय में दुःखमिश्रित और पाप का बीजरूप सुख में अनित्यता का श्रद्धान होना वह निःकांक्षित अंग है। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा-१२)

www.vitragvani.com

गाथा २४ पर प्रवचन

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत्।।२४।।

देखो! क्या कहते हैं? इसका अर्थ, **अन्वयार्थ : इस लोक में ऐश्वर्य,...** बड़प्पन, सम्पत्ति, लक्ष्मी की इच्छा समकिती को नहीं होती।

मुमुक्षु : परन्तु करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसकी भावना करना। अन्य इच्छा नहीं करना—ऐसा कहते हैं। और इच्छा से कहीं मिलता है? और इच्छा वह स्वयं दुःखरूप है—यहाँ तो ऐसा कहते हैं। क्या कहा? देखो! ऐश्वर्य, बड़प्पन, प्रमुखपना, सेठाई, राजापना इस भव में, हों! **सम्पदा आदि,...** अन्दर विशेष अर्थ करेंगे, हों! पुत्रादि को चाहे नहीं—ऐसा कहेंगे। **परलोक में चक्रवर्त्ती, नारायण आदि पदों को...** भी नहीं चाहता। धर्मी किसे कहते हैं! ओहो...हो...! मेरे पास...

मुमुक्षु : ....सुखी होना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुखी होना अर्थात् अन्दर में सुखी होता है, बाहर में से धूल में से सुखी होना है? धूल में भी नहीं वहाँ, हैरान... हैरान होता है व्यर्थ में, यह आयेगा।

परलोक में चक्रवर्त्ती, नारायण आदि पदों... नहीं चाहता। सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव अपने शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध भावना से बढ़ाने की भावना होती है। परन्तु उसे इन पैसे, सम्पदा की इच्छा-होवे तो ठीक—ऐसा नहीं होता। क्योंकि वे तो जड़ हैं। वे होवें तो ठीक, यह मिथ्या श्रद्धा है—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : तो फिर सम्यग्दृष्टि धन्धा किसलिए करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग हो उसे होता है परन्तु यह ठीक करता हूँ—ऐसा उसे नहीं हो सकता। ऐ... न्यालभाई! इस लोक की-इसका स्पष्टीकरण उसमें अधिक लेंगे।

और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को... जो धर्म, पुण्य में धर्म मनावे,

आत्मा में पुण्य मनावे, जड़ से आत्मा की क्रिया करे, आत्मा जड़ का कर सके - ऐसे जो एकान्तवादवाले हैं—ऐसे धर्मों को वह धर्मी नहीं चाहता, ऐसे की इच्छा नहीं करता। अब स्पष्टीकरण टीका में अधिक है। देखो!

टीका : सम्यग्दृष्टि इस लोक में तो सम्पदा इत्यादि... वह लक्ष्मी को नहीं चाहता। इच्छा हो जाती है परन्तु उस इच्छा की इच्छा नहीं है—ऐसा कहते हैं। जहाँ अपनी स्वरूपसम्पदा दिखायी दी-दृष्टि में आयी है, अनन्त लक्ष्मीसम्पन्न भगवान आत्मा है, शान्त अनाकुल आनन्द और ज्ञान की मूर्ति, उसमें केवलज्ञान की पर्याय पड़ी है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है—ऐसी जिसे अन्तर सम्यग्दर्शन और श्रद्धा हुई, वह तो अपने भाव की एकाग्रता की वृद्धि करता है। दिखे भले ही समकिती छह खण्ड के राज्य में दिखायी दे परन्तु उसे अन्दर में राज्य की इच्छा नहीं है। ए! आहा...हा...! जो वस्त दुःखरूप है, दुःख का निमित्त है, उसे कैसे चाहे ? समझ में आया ? फिर नीचे कहेंगे, हों!

सम्यग्दृष्टि इस लोक में तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिक को नहीं चाहता... अरे! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : तो क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : करे क्या आत्मा ? पुत्र कहाँ इसका है ? वह तो आत्मा कोई का है, शरीर कोई का है। किसी द्रव्य को इच्छे या यह द्रव्य हो तो मुझे ठीक, तो अपने द्रव्य के कारण ठीक, यह तो रहा नहीं। कठिन बात है।

मुमुक्षु : दोनों होवे तो क्या बाधा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो होते नहीं, एक म्यान में दो रहते नहीं, एक म्यान में दो (तलवार) रहती नहीं, एक म्यान में एक तलवार। वीतराग मार्ग, बापू! सूक्ष्म है, तुझे पता नहीं। अपनी शुद्ध सम्पदा चैतन्यमूर्ति है, उसमें जहाँ श्रद्धा हुई, उसे यह परद्रव्य होवे तो मुझे ठीक—ऐसी इच्छा हो किसलिए ? आहा...हा...! ऐई.. माँगीरामजी! ये तुम्हारे लड़कों को क्या तुम्हारे भतीजों को सब बड़ी दुकानें करते हैं ?

बापू! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या ? भाई! इसे पता नहीं। सम्यक् आत्मा शुद्ध चैतन्य, सर्वज्ञ परमेश्वर ने अनन्त गुणलक्ष्मी सम्पन्न देखा, उसकी जिसे श्रद्धा होती है, उसे यह पुत्र

www.vitragvani.com

हो तो ठीक, पैसा हो तो ठीक, मकान हो तो ठीक—ऐसा उसे अन्दर में, रुचि में होता नहीं। जरा अस्थिरता आयी परन्तु उसकी अस्थिरता की भी इच्छा नहीं है – ऐसा कहते हैं। समकिती गृहस्थाश्रम में हो तो कमजोरी के कारण इच्छा होती है परन्तु उसे प्रेम नहीं, उसमें रुचि नहीं। आहा...हा...! संसार में होता है, छह खण्ड का राज्य करता हो समकिती, अन्दर में उसे इच्छा की इच्छा है नहीं क्योंकि इच्छा दु:खरूप है और पुत्र तथा लक्ष्मी तो दु:ख के निमित्त हैं। दु:खरूप और दु:ख के निमित्तों की उसे इच्छा क्यों होगी?

मुमुक्षु : सुख के निमित्त थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं, किसने कहा? सुख तो यहाँ है, आत्मा में सुख है। झवेरचन्दभाई! यह तो उल्टी गंगा है। दुनिया से भगवान की गंगा अलग है। आहा...हा...!

भाई! यहाँ तो ऐसा कहते हैं, प्रभु! तुझे आत्मा की श्रद्धा हुई है तो आत्मा में तो अनन्त शान्ति है, अनन्त आनन्द है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त वीर्य है—ऐसे स्वरूप की श्रद्धा तुझे हुई हो तो उसे विशेषरूप से प्रगट करूँ–ऐसी तुझे भावना होगी या यह जो दु:खरूप इच्छा इसकी भावना और दु:ख के निमित्त पुत्र आदि की भावना होगी? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ धूल में भी नहीं, होली मान बैठा है, था कब वहाँ? ए...! पोपटभाई! क्या होगा यह? प्रत्यक्ष लगता है, कहते हैं तुम्हारे साले को चालीस करोड़ रुपये, फट जाये न प्याला? इसके मामा के पुत्र होते हैं, इसका सगा साला होता है, एक-एक लाख की आमदनी दिन की। धूल है परन्तु ऐसा कहते हैं। झवेरचन्दभाई!

बापू! परमेश्वर ऐसा कहते और ऐसा है कि भाई! तेरा स्वरूप है न आत्मा, उसमें अनन्त आनन्द की सम्पदा पड़ी है, भाई! तुझे श्रद्धा नहीं। ऐसी सम्पदा की जिसे श्रद्धा होती है, उसे बाहर की सम्पदा की भावना नहीं होती। जरा इच्छा हो तो भी उसकी रुचि नहीं, आवे उसमें सुख नहीं मानता—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : तिरने का / कल्याण का यह एक ही रास्ता होगा?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही है, दूसरा कोई नहीं, मर जाये तो भी। पाँच, दस लाख खर्च कर डाले और तिरने का उपाय हो जाये या भक्ति करके हो जाये, तीन काल में हो ऐसा नहीं है। शुभभाव हो, भक्ति, दया का शुभभाव / पुण्य (हो), जन्म–मरण का चक्र (टले ऐसा) उसमें नहीं होता। समझ में आया? आहा...हा...!

देखो न! निकांक्षित में क्या कहा? कहते हैं कि यहाँ जिसे शुद्ध सम्पदा की श्रद्धा हुई है, भगवान आत्मा केवलज्ञानी ने देखा और कहा कि बापू! तेरे आत्मा में अनन्त आनन्द है। ऐसा जिसने अन्दर देखा और जाना और माना, उसे उस शुद्ध चैतन्य की सम्पदा की भावना होगी या इस धूल की भावना होगी? ऐसा कहते हैं। तथापि गृहस्थाश्रम छोड़ा न हो, हों! हो गृहस्थाश्रम में (परन्तु) अन्दर में उदास है, यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं...

भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड थे। भगवान के पुत्र, ऋषभदेव के पुत्र भरत। छह खण्ड, बत्तीस हजार राजा चँवर डोलते और जिनके घर नव निधान, सोलह हजार देव सेवा (करते थे), हीरे के सिंहासन में बैठा दिखायी दे परन्तु जैसे मुर्दे को पालिस लकड़ी से जलाये तो भी उस मुर्दे को कुछ नहीं और ऐसे लोहे–लकड़ियाँ बड़ी रखे तो भी कुछ नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को... हीरे के सिंहासन में बैठा है। नहीं, यह नहीं, यह नहीं; मैं तो मेरे स्वरूप की श्रद्धा में हूँ, मुझे आनन्द नहीं सिंहासन का, मुझे आनन्द नहीं सिंहासन की इच्छा का। आहा...हा...! समझ में आया?

देखो! पुत्रादि को चाहे नहीं। बाँझ मरूँगा, एक पुत्र होवे तो ठीक, ये करोड़ रुपये हुए किसे दूँगा? समकिती को चक्रवर्ती का राज हो, तथापि वह इच्छा नहीं है। यह नहीं... यह नहीं... आहा...हा...! और मुर्दे को पॉलिस करके, लकड़ियों को पॉलिस करके, रंग लगाकर पॉलिस करके जलावे, (उसे) प्रसन्नता होगी? और ऐसे रखते हैं न ये लकड़ियाँ? तीन, मुर्दा ऊँचा न हो, एक यहाँ रखते हैं, एक यहाँ रखते हैं, एक पैर ऊपर रखते हैं, उसमें अप्रसन्नता होगी? उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को संयोगों का अपारपना हो तो भी उनके कारण प्रसन्नता नहीं, प्रतिकूलता का पार न हो तो उसके कारण दु:खी नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

लोक में तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिक को नहीं चाहता... आहा...हा...!

www.vitragvani.com

सुख तो आत्मा में देखा है। धर्मी जीव ने तो आत्मा में सुख है—ऐसा माना है, जाना है, देखा है; उसे पर में सुख है ऐसी बुद्धि आवे कैसे? आहा..! ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? और **तथा परलोक में चक्रवर्तीपद,...** की इच्छा जिसे नहीं है। हम कुछ यह पुण्य करते हैं तो चक्रवर्ती (पद) मिले। यह पुण्यभाव ही हमारा नहीं है, बापू! यह पुण्यभाव ही छोड़नेयोग्य ज़हर है, उसे फिर उसके फलरूप से इच्छा कैसे मानें? आहा...हा...! वर्तमान शुभभाव हो, हो उसे वह तो ज़हर मानता है। आत्मा में आनन्द मानता है। आनन्द से उल्टा वह भाव हुआ है। उसकी जिसे भावना नहीं है, उसे उसके फलरूप से चक्रवर्ती आदि की भावना कैसे होगी?

नारायणपद और आदि शब्द से इन्द्रादिक पद को नहीं चाहता। आहा...हा...! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की खान है न! जैसे बर्फ की शीतल शिला होती है, बर्फ की शीतल शिला (होती है) वैसे आत्मा अरूपी शान्त आनन्द की शिला है। वह तो मिट्टी है, जड़ है। पुण्य-पाप का भाव हो, वह तो मलिन विकार है। उससे रहित पूरा तत्त्व जैसे चैतन्य का है, वह शीतल शिला, जैसे पाँच मण बर्फ की होती है; वैसे शरीर में अरूपी आनन्द की शिला आत्मा है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द की जिसे श्रद्धा प्रतीति और और भान हुआ, उसे कहते हैं कि इस लोक की, पुत्रादि की इच्छा कैसे (होगी)? और परलोक में चक्रवर्ती आदि और इन्द्र की इच्छा कैसे होगी? भोगीभाई! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख मानता है, धूल में सुख है? लो! ठीक। ऐसा कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि मानता है न, इस पैसे में सुख है, इस मोटर में सुख है। चालीस-चालीस बड़ी लाख-लाख की मोटरें, कितनी मोटरें है नहीं? बहुत, एक तो लेकर आया था, तुम्हारा साला। कौन था? मणिलाल न? वहाँ आया था। वहाँ हम थे न? 'वेलगाँव' (संवत्) २०२० की साल में गये थे न? वेलगाँव, वहाँ दर्शन करने आया था। लाख रुपये की मोटर आती है न? लाल नहीं? बड़ी। आया था, पाव घण्टे बैठा था। वेलगाँव से पचास मील है न? गोवा। वेलगाँव गये थे न हम? बाहुबली की यात्रा (करने गये थे तब) वहाँ आया

www.vitragvani.com

था। शान्तिलाल स्वयं नहीं आया, मणिलाल आया था। लाख रुपये वेतन देता है। वर्ष के लाख रुपये देता है, उसके काका के लड़के को। धूल.. धूल है सब। झवेरचन्दभाई!

यहाँ भगवान कहते हैं कि जिसे धर्म रुचा है, जिसे आत्मा की दृष्टि की श्रद्धा-ज्ञान और धर्म रुचा है, उसे इस सम्पदा का कुछ माहात्म्य नहीं दिखता और जिसे इस सम्पदा का माहात्म्य दिखता है, उसे आत्मा की सम्पदा का माहात्म्य दिखायी नहीं देता - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : यह भी हो और वह भी हो ऐसा नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो नहीं होते, सेर दूध में एक रुपया भर ज़हर डालो तो सब ज़हर है। आहा...!

यहाँ तो कहते हैं, निःकांक्षित अर्थात? सम्यग्दृष्टि-आत्मा की श्रद्धा-जिसे आत्मा का स्वरूप विकार से रहित कर्म / अजीव से रहित और पूर्ण आनन्द के स्वभाव से सहित है—ऐसी जहाँ अन्तर श्रद्धा, सम्यग्दृष्टि भले गृहस्थाश्रम में हो, छह खण्ड के राज्य में पड़ा हो या नरक में हो परन्तु उसे आत्मा की सम्पदा की श्रद्धा और भावना के समक्ष इस लोक की सम्पदा पुत्रादि, परलोक की चक्रवर्ती आदि की सम्पदा की इच्छा उसे नहीं होती। आहा...हा...! और चौथा बोल।

'एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकांक्षेत्' वस्तु के एकान्त स्वरूप को कथन करने के कारण जो दूषित हैं, ऐसे अन्यमत हैं, उनको भी नहीं चाहता। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा कहा, पुण्य-पाप कहा, अजीव आदि कहा उनमें से कोई एकान्त से मान बैठे कि पुण्य से आत्मा को लाभ होता है, आत्मा को पुण्य की आवश्यकता पड़ती है, आत्मा को अजीव की सहायता तो होती है, अजीव भी जीव की सहायता हो तो काम करता है—ऐसा एकान्त माननेवाले जो मिथ्यादृष्टि हैं, उनके मत को वह नहीं चाहता। समझ में आया? यहाँ तो अपने नव तत्त्व में ही अनेकान्त उतारा है। ए... पण्डितजी! अजीवतत्त्व में अजीव आ गया, जीव नहीं, पुण्य-पाप नहीं। पुण्य-पाप में अजीव नहीं; पुण्य-पाप में आत्मा नहीं; आत्मा में पुण्य-पाप नहीं; पुण्य-पाप में अजीव नहीं, बस! ऐसा उसका स्वभाव है। आहा...हा...!

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : एकान्तवाद....

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्तवाद अर्थात् इस पुण्य परिणाम से आत्मा को लाभ होता है, यह एकान्तवाद है। अनेकान्तवाद अर्थात् पुण्य से पुण्य होता है; पुण्य से आत्मधर्म नहीं होता। धर्म के स्वभाव से धर्म होता है, धर्म से पुण्य-परिणाम नहीं होता—ऐसा अनेकान्त-एक में अनेक धर्म रहे हुए हैं। स्वभाव, स्वभाव से है; विभाव से नहीं। ऐसा अनेक धर्म। पुण्य-पुण्य से है; पुण्य, पाप से नहीं और वह आत्मा से नहीं—ऐसे अनेक धर्म। पाप, पाप से है; पुण्य से नहीं, अजीव से नहीं, आत्मा से नहीं—ऐसे अनेक धर्म। न्यालभाई! यह तो लिखा है न? जीवादि पदार्थों को... ऐसा कहकर डाला है न? जीवादि पदार्थ। पर्याय भी एक पदार्थ है। नौ पदार्थ है या नहीं? पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष पदार्थ है, पदार्थ। आहा...हा...! कहो, समझ में आया इसमें? पुस्तक-बुस्तक ली है न? शान्तिभाई! पुस्तक ली है? ठीक!

वस्तु के एकान्त स्वरूप को कथन करने के कारण... एकान्त का अर्थ एक ही धर्म है अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही है और पर से नहीं—ऐसा दूसरा धर्म मानता नहीं। पुण्य, पुण्यरूप ही है और पुण्य, आत्मा के धर्मरूप नहीं—ऐसे अनेकान्त धर्म को मानता नहीं और एकान्त मानता है। पुण्य, पुण्य भी है और पुण्य, धर्म भी है। पुण्य, पुण्य भी है और पुण्य से धर्म भी है। समझ में आया? परन्तु उससे धर्म नहीं—ऐसा अनेकान्तरूप मानता नहीं और एकान्त माने, उसकी इच्छा करता नहीं।

वस्तु के एकान्त स्वभाव का कथन करनेवाले ऐसे दूषित... फिर भले जैन सम्प्रदाय के मनुष्य हों तो भी वह अन्यमत है। उसे नहीं चाहता। वे सब अन्यमत है। ऐ... डाला है न? भाई टोडरमलजी ने, टोडरमल-मोक्षमार्गप्रकाशक, पाँचवें अध्याय में उन्होंने बहुत सब डाला है। बात सच्ची है। नीचे है न? नीचे देखो! भावार्थ बाद में लेंगे। नीचे है न.... ? नि:कांक्ष समकिती का दूसरा बोल।

नि:कांक्षा-(विषयों की व विषय के साधनों की अभिलाषा-आशा को कांक्षा कहते हैं)... विषय के साधन की कांक्षा को अभिलाषा कहते हैं, वह समकिती को नहीं होती। आहा...हा...! विषयों का राग तो दु:खरूप है, उस दु:ख की कांक्षा कैसे

www.vitragvani.com

होगी? उसके साधन स्त्री, पुत्र और लक्ष्मी तो दुःख के निमित्त हैं, उनकी कांक्षा कैसे होगी? आनन्द तो आत्मा में है। सम्यग्दृष्टि ने तो आनन्द आत्मा में माना है। आहा...हा...! क्या करना? यह पाँच-पाँच लाख रुपये आते हैं न तुम्हारे भतीजे को, भूराभाई का लड़का। पाँच लाख कोटा का पैदा होता है, पाँच लाख तो बारह महीने में अकेले कोटा का। भूराभाई का लड़का, 'मनसुख भूराभाई कोठारी' कहो, मगज फट जाता है न! (अभिमान चढ़ जाता है न)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं मुँह। यह कहते हैं कि बापू! तेरा बड़ा मुँह तो यहाँ भराये ऐसा है। आहा...हा...! आनन्द तो तुझमें पड़ा है, वहाँ आनन्द आवे ऐसा है। बाकी बाहर में मुट्ठी में धुयें को मुट्ठी में लेने जायेगा तो हाथ में कुछ नहीं आयेगा। आहा...हा...! श्रद्धा का पता नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। क्या कहा?

इन विषयों की। इसलिए ऐसा कहा ***(विषय के साधनों की अभिलाषा-आशा को कांक्षा कहते हैं) अर्थात् कर्म के वश, अन्तवाले,...*** कौन? यह सब लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, इज्जत सब। कैसे हैं ये? ***कर्म के वश,...*** होकर। कर्म से आयी हुई चीजें हैं। और अन्तवाली, मर्यादावाली हैं। इनका नाश हो जानेवाला है और ***उदय में दुःखमिश्रित...*** इस कर्म के उदय में राग और ये विषय और साधन ***दुःखमिश्रित और पाप का बीजरूप सुख में अनित्यता का श्रद्धान...*** ये सब पाप के बीजरूप हैं, इनमें ***बीजरूप सुख में अनित्यता का श्रद्धान होना...*** ये अनित्य हैं, ये पाप के बीज हैं, सम्पदा, स्त्री, कुटुम्ब सब पाप का बीज है, अनित्य है—ऐसा ***श्रद्धान होना वह निःकांक्षित अंग है।*** नित्यानन्द की भावना करते हुए इन्हें अनित्यश्रद्धा करके इनकी कांक्षा छोड़ना, उसे निःकांक्ष गुण कहते हैं। आहा...हा...! यह तो अपने लहर करेंगे और धर्म होगा, ऐसा मानता है। झवेरचन्दभाई! चतुर व्यक्ति है न! अभी तक क्या सुना होगा यह सब इसे पता होता है न! वहाँ तो प्रमुख है, मुख्य। आहा..हा...! भाई! परमेश्वर का मार्ग, बापू! केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणं-बोले अवश्य शाम-सबेरे, मांगलिक में आता है न? अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं,...

कहते हैं, क्या कहते हैं? एक तो ऐसा कहा कि कर्म के वश होकर आयी हुई ये

www.vitragvani.com

चीज़ें हैं। स्त्री, पुत्र ये सब अन्तवाली ये चीज़ें हैं, क्योंकि नाश हो जानेवाला है। दूसरा, उदय में दुःख मिश्रित है। ये आया वह दुःख मिश्रित है, दुःख ही है इसमें साथ में; सुख तो है नहीं और पाप के बीजरूप सुख हैं यह। सुख माना है, इसमें पाप का बीज है। इस अनित्यता का श्रद्धान। ये अनित्य है, इसमें नित्य है नहीं। नित्यानन्द आत्मा में है, उसकी भावना के समक्ष ऐसे अनित्य सुख में, अनित्य में श्रद्धान में कांक्षा नहीं करता। समझ में आया ? इसका स्पष्टीकरण। भावार्थ करते हैं। भावार्थ है न ? अन्तिम दो लाईन। आहा...हा... ! भाषा ठीक की है।

आत्मा में आनन्द नित्य है। अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसे इस विकल्प में जोड़ दिया, वह विकल्प सब शुभाशुभभाव दुःखरूप है और बाहर का संयोग अनित्य दुःख का बीज है। सम्यग्दृष्टि को अपनी अन्तर आनन्द की श्रद्धा के समक्ष ऐसे अनित्य के दुःख में या सुख की कल्पना में भावना नहीं होती। कहो, समझ में आया ? अन्दर शुभभाव में भी सुख है—ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। शुभभाव होता है न ? दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यह मुझे कल्याणकारी है तो इसका अर्थ–यह सुखरूप है—ऐसा माना। सुखरूप नहीं है, शुभभाव दुःखरूप है, वह दुःखरूप है, अनित्य है, क्षणिक है, तथापि उसे सुखरूप मानता है, (उसकी) दृष्टि मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं मानता। कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : सबमें दुःख होवे तो सुख किसमें ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख आत्मा में। कहा नहीं ? यह बात नहीं की ? आत्मा आनन्द की खान है, आनन्द की शिला है। कभी कहाँ... पहचाना है कभी उसे ? अरूपी आनन्दशिला का धाम आत्मा है। शरीरप्रमाण भिन्न अरूपी परन्तु पदार्थ है। अरूपी भी पदार्थ है, अरूपी वस्तु है, उस वस्तु में अतीन्द्रिय आनन्द ठसाठस भरा है। जैसे बर्फ की शिला में शीतलता कौने–कौने में चारों ओर भरी है; वैसे भगवान आत्मा... इसने सुना कब है ? इसे पता कब है ? यह देह है, वह तो मिट्टी, धूल है, रजकण है। कर्म के रजकण अन्दर अलग हैं। धूल आठ कर्म। पुण्य–पाप के भाव होते हैं, वे तो आस्रवतत्त्व मलिन है; उससे रहित पूर्ण चीज़ जो है, वह नित्यानन्द प्रभु है। आत्मा नित्य शाश्वत् आनन्दमूर्ति है—ऐसी जिसे सम्यक्श्रद्धा

www.vitragvani.com

/ सम्यग्दर्शन हुआ, उसे बाह्य में सुख की कल्पना, सुख है—ऐसा कभी नहीं होता। आहा...हा... ! तथापि सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं, भोग की-वासना की वृत्ति उत्पन्न हो परन्तु उसे सुखरूप नहीं मानता; उपसर्ग मानता है। समझ में आया ? जैसे, काला नाग देखकर भागता है, वैसे सम्यग्दृष्टि को जरा विषय की वासना आवे, भोग में जुड़े ऐसा दिखे परन्तु उसे काला नाग मानता है। आहा...हा... ! वहाँ से भागना चाहता है परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण उसे राग आता है। जानता है कि अरे रे ! यह दुःखरूप है, यह दुःखरूप है, सुख तो मुझमें है, इसमें सुख है नहीं।

आत्मा कैसा है ? क्या है ? इसकी बात का इसने ख्याल ही नहीं किया। आत्मा अर्थात् एक वस्तु है परन्तु उसमें इन रजकणों में भी कोई शक्ति है, स्वभाव है, तो उसकी (आत्मा की) कोई शक्तिस्वभाव है या नहीं कुछ ? तो इस भगवान आत्मा की शक्ति-आनन्द शक्ति है, आनन्द इसका स्वभाव है, ज्ञान इसका रूप है, शान्ति इसका कश है, शान्ति इसका सत्व है। शान्ति-चारित्र ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसकी जिसे अन्तर आत्मा की दृष्टि सम्यक् हुई, उसे कहते हैं बाहर के पुत्रादि में इच्छा कैसे हो ? उसमें सुख है (ऐसा कैसे हो) ? यहाँ सुख है, वह बाहर सुख कैसे माने ? अस्थिरता की वृत्ति आ जाये, भोग में खड़ा दिखे, समकिती युद्ध में खड़ा दिखे परन्तु उसे दुःख लगता है। समझ में आया ? उसमें सुख नहीं मानता। आहा...हा... !

राजकुमार हो, समकिती हो, आत्मा का ज्ञान-श्रद्धा (हो), राज पर चढ़ायी (आवे तो) युद्ध में जाता दिखायी दे, ऐसे हाथ में हथियार (भी हो), परन्तु वह मानता है कि यह सब जड़ की क्रिया है। मुझमें यह भाव हुआ, वह दुःखरूप है। मेरी चीज़ में वह है नहीं, ऐसी जिसे विवेकदशा उस काल में भी वर्तती है। नौ के नौ तत्त्व हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न जानना है, माना है, उस समय भिन्न-भिन्न जानता है। पापभाव को पापरूप से स्वीकार करता है, मेरा स्वरूप नहीं; स्वरूप में आनन्द है, उसमें यह नहीं—ऐसा विवेक तो युद्ध के काल में भी समकिती को होता है। आहा...हा... !

'प्रभु का मारग है शूरों का, कायर का नहीं काम' लोग कहते हैं न ? 'हरि का मारग रे शूरों का' यह हरि अर्थात् आत्मा। दूसरा कोई हरि कर्ता-वर्ता नहीं। प्रभु मारग आत्मा का

(शूरों का है), कायर का नहीं काम। बापू! जिसे आत्मा में आनन्द की प्रतीति हुई है— ऐसे सम्यग्दृष्टि को बाहर के सुख का अनित्यपना भासित होता है, उसमें सुखपना कैसे भासित हो? नित्यरूप भगवान आत्मा में सुख भासित हुआ, उसे पर में सुख कैसे भासित हो? इसलिए पर में सुख की आशा नहीं करता।

भावार्थ : निःकांक्षित नाम वांछा रहित का है। कारण कि इस लोकसम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता... देखो! भावार्थ। धर्मी जीव इस लोकसम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता। ये लड़के अच्छे हुए, एक-एक पचास-पचास लाख का आसामी हो गया, आठ लड़कों में यह हुआ, चार करोड़ रुपये हुए, बहुत अच्छा (हुआ), यह समकिती नहीं चाहता, उसमें से प्रसन्न नहीं होता। आहा...हा...! गजब भाई! कहो! कामदार!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसमें सुख नहीं—ऐसा यहाँ कहते हैं। तुम्हारे तो रुपये आ गये हैं, ऐसा कहते हैं। परन्तु रुपये कब आत्मा के थे? वे तो यह कहते हैं यहाँ। आहा...हा...! रुपया, वह अजीव या जीव?

मुमुक्षु : भले अजीव हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अजीव है, वह जीव में नहीं; इसलिए अजीव के कारण जीव को सुख नहीं और अजीव के कारण दुःख भी नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

निःकांक्षित नाम वांछारहित का है। कारण कि इस लोकसम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता; इसलिए सम्यक्त्वी पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को आकुलता का निमित्त होने से.... ये सब पैसा, राज, इन्द्र के पद। समकिती वहाँ है, इन्द्र समकिती है परन्तु इन सब पदों को दुःख का कारण जानता है। आहा...हा...! ये आकुलता के निमित्त होने से दुःखरूप ही है। देखो! उस ओर आयी लाईन। **पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को...** शब्द, रूप, रंग, गन्ध और स्पर्श के ऐसे ढेर हों परन्तु वे सब पुण्य के फल वह पुण्य ही स्वयं ज़हररूप था, उसके ये फल हैं। उनकी इच्छा समकिती को आत्मा की आनन्द की दृष्टि के समक्ष उनकी-दुःख

के निमित्त की इच्छा नहीं होती। **दुःखरूप ही मानता है।** लो, इन विषय के फल को और विषय को दुःखरूप ही मानता है।

फिर अन्यमती नाना प्रकार की एकान्तरूप कल्पना करते हैं, उन्हें भला जानकर नहीं चाहता है। अज्ञानी, वीतरागमार्ग से विरुद्ध एकान्त को माननेवाले हैं। आत्मा, आत्मा का करे, आत्मा जड़ का भी करे। जड़, जड़ का करे, जड़ आत्मा को भी कुछ मदद करे—ऐसा माननेवाले एकान्तमतवाले जैन में हों तो भी वे जैन नहीं। समझ में आया? निःकांक्षित अंग कहा, लो! **अन्यमती नाना प्रकार की एकान्तरूप कल्पना करते हैं,...** एकान्ती अर्थात् आत्मा का आनन्द है, वह पर से भी होता है, पर में भी सुख है, पुण्य में भी सुख है, आत्मा में भी सुख है, पाप में भी सुख है, आत्मा में भी सुख है, जड़ में भी सुख है, आत्मा में भी सुख है - ऐसा अज्ञानी मानते हैं, वह एकान्त मत है। उसे आत्मा में आनन्द है और दूसरे में नहीं, दूसरे में दुःख है और उसमें आनन्द नहीं—ऐसा वे नहीं मानते; इसलिए सभी अन्यमती की मानते नहीं, उस अन्यमती की मान्यता को चाहता नहीं। सम्यग्दृष्टि उसकी इच्छा नहीं करता। कहो।

दो अंग कहे-एक निःशंक, निःकांक्षित। निःशंक अस्ति से है, निःकांक्षित नास्ति से है। क्या कहा? शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा / सम्यग्दर्शन हुआ, उसे पूर्ण स्वरूप में जिसे शंका नहीं अब; और निःकांक्ष अर्थात् परवस्तु की जिसे इच्छा नहीं, क्योंकि परवस्तु उसमें नहीं। समकित के आठ लक्षण में से दो लक्षण कहे। अस्ति से शुद्ध चैतन्य की जिसे श्रद्धा हुई है, उसे पर में सुख है—ऐसी इच्छा नहीं अथवा स्वयं को अपूर्णता है, अपने में सुख नहीं है—ऐसी उसे शंका नहीं होती। निःशंकस्वरूप में है और पर में दुःख है, परवस्तु उसमें नहीं; इसलिए पर की कांक्षा नहीं। जो अपने में नहीं, उसकी कांक्षा कैसे करे? और जो अपनी है, उसे छोड़कर पर की इच्छा क्यों करे? इसलिए निःशंक और निःकांक्षित ऐसे दो धर्मों में चौथे गुणस्थान में, गृहस्थाश्रम में रहा हो तो भी उसे ये दो गुण और लक्षण होते हैं तथा यह गुण न हों तब तो वह सम्यग्दृष्टि है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४ गाथा–२५–२६ रविवार, पौष शुक्ल ११, दिनांक २२.०१.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है, अमृतचन्द्राचार्य कृत। समकिती के आठ लक्षणों का वर्णन है। समकिती किसे कहते हैं? धर्मी–शुरुआत का पहला धर्मी किसे कहते हैं? यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है, यह आनन्दस्वरूप आत्मा है—ऐसी जिसे अन्तर में स्वरूप के भानसहित की निःशंक श्रद्धा होती है। आत्मा में आनन्द है, आत्मा में शान्ति है, आत्मा में ज्ञान है, आत्मा में पूर्ण वीर्य आदि भरा हुआ है—ऐसे पूर्ण आत्मा के स्वभाव के अन्तरसन्मुख होकर अन्तरप्रतीति / श्रद्धा–ज्ञान होना उसे प्रथम धर्म की सम्यक् दशा कहते हैं। समझ में आया?

उसे निःशंकता ऐसी होती है कि आनन्द और शान्ति मुझमें ही है। ऐसी उसे–सम्यग्दृष्टि को–धर्म की पहली श्रेणीवन्त को ऐसी निःशंकता होती है कि शान्ति अर्थात् चारित्र / वीतरागता, आनन्द अर्थात् आह्लाद–अतीन्द्रिय सुख, वह मेरे स्वरूप में ही है। ऐसी उसे निःशंकता समकित के पहले लक्षण की आचरण दशा प्रगट होती है। समझ में आया? दूसरा निःकांक्षिता। कल दो पढ़े जा चुके हैं। यह तो आज तीसरा बोल लेना है।

धर्मी को अपने आत्मा के स्वरूप में आनन्द और शान्ति भासित हुई है, प्रतीति की है, पहिचान की है; इसलिए उसे इन्द्रिय के विषय, उनके साधन जो अनित्य हैं, कर्मजन्य उपाधि है, दुःख मिश्रित दशा है, दुःख जो है विषयादि का, उसके विषय की आकांक्षा का भाव, उसमें सुखबुद्धि है, ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि धर्मी को नहीं होता। झवेरचन्दभाई! यह बहुत सूक्ष्म है। सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अतिरिक्त कहीं पैसा, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा, कीर्ति, शरीर, स्त्री में कहीं सुख भासित नहीं होता, क्योंकि उनमें सुख नहीं है। समझ में आया? आत्मा में होनेवाले पुण्य और पापभाव में भी सुख नहीं है—ऐसी सम्यग्दृष्टि को भावना होती है। कहो, समझ में आया इसमें? सम्यग्दृष्टि प्रथम धर्मी की पहली दशा। श्रावक के व्रत तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् होते हैं। सम्यग्दर्शन न हो, वहाँ श्रावकपना या व्रतपना सच्चा नहीं हो सकता। मिथ्या काल्पनिक माने, वह स्वतन्त्र है। समझ में आया?

www.vitragvani.com

आत्मा के आनन्द और शान्ति का दिखाव समकिती को प्रत्यक्ष प्रतीति में आया है कि मेरा स्वरूप ही आनन्द और शान्ति है। इस कारण उसे आनन्द और शान्ति, पुण्य-पाप के भाव और उसके बन्धन तथा उसके फलों में कहीं शान्ति, सुख समकिती को भासित नहीं होता। मंगलदासभाई! यह समकिती का दूसरा लक्षण और उसका दूसरा आचार कहने में आता है।

सम्यग्दृष्टि को अन्दर में ऐसा निर्णय हो गया है कि आत्मा, सुख और शान्ति का सागर है। आहा...हा...! ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को श्रावकपना या मुनिपना होने से पहले, ऐसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता की आंशिक जमावट जमे, उसे श्रावक कहते हैं और बहुत जमावट आनन्द की, स्थिरता की लहर प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द का वेदन करे, उसे साधु कहते हैं। समझ में आया?

कहते हैं कि धर्मी को निजस्वरूप में निःशंकता है कि आनन्द और सुख और ज्ञायकभाव पूर्ण वह मैं हूँ; उसे पर तरफ के सुखबुद्धि की इच्छा नहीं है। इस ओर की निःशंकता है, उस ओर के आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त किसी परपदार्थ में उसे काँक्षा नहीं है। समझ में आया? हिम्मतभाई! यह तो लोग कही, बनता है। लोग अपनी कल्पना से मानते हैं कि हम यह धर्मी हैं और हम यह समकिती हैं, यह श्रावक हो गये। ए...न्यालभाई! यह तो कल भाई ने कहा था। बड़ा दान दे फिर पूछड़ा (उपाधियाँ) लगा दे, धर्म धुरन्धर! यह तो उसे अनुभव हो गया। यह ऐसा नहीं बापू! भाई! दान में भी जो कुछ पैसे की लक्ष्मी में राग मन्द करके दिया हो, धर्म प्रभावना में या (दूसरे में दिया हो) तो उसे उस प्रकार का शुभभाव होता है, शुभभाव। मान के लिये दिया हो तो उसे शुभ भी नहीं है, उसे पापभाव है।

मुमुक्षु : पैसा भी जाये और पाप हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा कहाँ इसका था? पैसा इसका कब था? वह तो जड़ का है। न्यालभाई! पैसा तो जड़ का है। वह तो जड़ जानेवाला था, वह गया है; आत्मा के राग की मन्दता की, इसलिए वह गया है—ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह लक्ष्मी-रजकण तो जड़तत्त्व है, वह पुद्गल है। उस पुद्गल का एक क्षेत्रान्तर से दूसरे क्षेत्रान्तर में जाना, वह

www.vitragvani.com

स्वयं के स्वतन्त्र कारण और क्रिया से जाता है। आत्मा ने राग मन्द किया दया, दान में... भाई! लाख रुपये, पाँच लाख देता हूँ, यह राग मन्द किया हो, पाप के लिये नहीं, अभिमान के लिये नहीं तो उसने मन्द भाव किया परन्तु उस कारण लक्ष्मी गिन दे और दूसरे के पास जाये, वह क्रिया, मन्द कषाय का वह कार्य नहीं है। आहा...हा...! गजब बात! वह कार्य तो स्वतन्त्र जड़ का उस काल में होना हो तो होता है। यह बात–जैनदर्शन की बात बहुत सूक्ष्म है, भाई! हैं!

परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ परमात्मा ने तो ये नवतत्त्व कहे हैं। ये पैसा, नोट, लक्ष्मी, सोना, वह तो अजीवतत्त्व है तो अजीवतत्त्व के द्रव्यरूप से अजीव, उसकी शक्तिरूप से अजीव, उसकी क्रिया / अवस्था हो, वह सब अजीव की क्रिया है।

मुमुक्षु : जीव होवे तो होती है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जीव के बिना होती है, यह कहते हैं यहाँ भगवान। उस जड़ में क्षेत्रान्तर होने का, जाने का उसमें क्रियावती (शक्ति) नाम का गुण जड़ में है। आत्मा उसे ऐसे दे सके या ले सके, वह आत्मा में नहीं और उसमें भी नहीं – ऐसा कहते हैं। तत्त्व की खबर कहाँ है ? अजीवतत्त्व किसे कहना ? अजीवतत्त्व रजकण सब वह अजीवतत्त्व है। एक–एक रजकण में अनन्त गुण–शक्ति पड़ी है। उस एक–एक अनन्त शक्ति से एक–एक समय की अवस्था उसके गुण के कारण परमाणु में हो रही है। आत्मा उसकी क्रिया करे—ऐसा माने तो वह अजीव को जीव मानता है। आहा...हा...! समझ में आया ? उसे जीव और अजीव की भिन्नता के तत्त्वार्थ की श्रद्धा का अभाव है। समझ में आया ? बल्लभदासभाई! गजब बात, भाई!

बापू! परमात्मा छह द्रव्य कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, और काल। परमात्मा ने / केवलज्ञानी ने छह द्रव्य–वस्तु देखी है। जाति से छह, संख्या से आत्मा अनन्त, परमाणु अनन्त–ये रजकण अनन्त हैं। यह सब रजकण, यह मिट्टी दिखती है, वह अनन्त अजीवतत्त्व हैं। इन्हें भगवान ने अजीवतत्त्व में एक–एक रजकण में अनन्त गुण और शक्ति उसकी–जड़ की देखी है और उसकी एक–एक समय में उसकी अवस्था पलट जाती है, वह जड़ में, जड़ के कारण होता है—ऐसा भगवान ने उसका पर्याय धर्म

देखा है। उसे ऐसा न माने और उसकी अवस्था मैं करता हूँ—ऐसा माने, उसे अतत्त्वश्रद्धा है; तत्त्वार्थश्रद्धान की सच्ची श्रद्धा नहीं है। समझ में आया? पच्चीस मिथ्यात्व में आता है, अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व। पहाड़ा बोले। अजीव को जीव माने तो मिथ्या, जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व परन्तु किसे कहना अजीव और किसे कहना जीव? भगवान जाने। भगवान तो जानते ही हैं न।

यहाँ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं, नवतत्त्व में एक अजीवतत्त्व है। ये अनन्त परमाणु अजीवतत्त्व है और चार चीज़ है—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, और काल। भगवान ने छह द्रव्य देखें हैं। उनमें एक जीवतत्त्व है और बाकी अजीवतत्त्व पाँच हैं। वे पाँचों ही अजीवतत्त्व अपने कारण से-द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण से टिककर बदल रहे हैं; दूसरे के कारण उनमें टिकना या बदलना हो यह तीन काल में नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया?

जड़ में अनन्त शक्ति है। कहाँ लोगों को (खबर है)? भगवान ने एक परमाणु एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में नीचे सातवें नरक में हो तो ऊपर चला जाये एक समय में-ऐसी उसमें शक्ति है। जीव की प्रेरणा बिना, पवन की प्रेरणा बिना, दूसरे की सहायता बिना, एक-एक रजकण / पॉइन्ट जो है... यह तो बहुत रजकण का दल है, यह तो स्कन्ध, स्कन्ध है। अन्तिम पॉइन्ट जो है, उसमें इतनी ताकत है कि एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सातवीं नरक में नीचे हो तो सिद्ध तक चला जाये - ऐसी उसकी गति करने की शक्ति है। लोगों को, जड़ में शक्ति (है, उसकी खबर नहीं) तो तत्त्व किसका वह? शक्ति न हो तो तत्त्व किसका? समझ में आया? अजीव पदार्थ है और उसका तत्त्व-उसका स्वभाव, गुण शक्ति उसका तत्त्व है, उसके तत्त्व की पर्याय होना, उसके तत्त्व में फेरफार होना, वह जड़ के कारण से है। जीव ऐसा माने कि मेरे कारण से इसमें होता है, तो उसे अजीव को जीव मानने का मिथ्यादृष्टिपना लगता है। झवेरचन्दभाई! यह दूसरे प्रकार की (बातें) हैं, अभी तक सुना होगा उसकी अपेक्षा। ए...ई...!

आहा...हा...! बापू! परमेश्वर केवलज्ञानी ने नवतत्त्व कहे हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। तो अजीवतत्त्व है और अजीव में अनन्त तत्त्व

हैं। यह अजीव अनन्त द्रव्य है, प्रत्येक द्रव्य द्रवता है, द्रवता है। द्रवना अर्थात् पानी जैसे पानीरूप रहकर तरंगें उछलती है; वैसे एक-एक रजकण में पदार्थ स्वयं कायम रहकर उसमें अवस्था का द्रवना / पलटना होता है, वह उसके कारण से (होता है); आत्मा के कारण से नहीं।

ईश्वर जगत का कर्ता है—ऐसा माननेवाले को जैसे मिथ्याश्रद्धा है; वैसे यह जड़ यह जगत के तत्त्व हैं, उनकी क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा माननेवाले ईश्वरकर्ता माननेवाले जैसे हैं। ए..ई... न्यालभाई! वे कहते हैं जगत् का कर्ता ईश्वर है। कर्ता कोई हो सकता नहीं। वस्तु अनादि स्वतः सिद्ध है; कर्ता-फर्ता कोई है नहीं। उसे वे कर्ता मानते हैं, वह जैसे मिथ्या और झूठ है; इसी प्रकार यह रजकण-पैसे की लक्ष्मी और इज्जत, यह नोट, सोना, चाँदी, यह शरीर, यह ऐसे-ऐसे होता है, वह क्रिया आत्मा करता है—ऐसा माने तो ईश्वर जगत को करता है, यह आत्मा पर को करता है, दोनों एक ही मान्यता मिथ्यादृष्टि की हुई। जैन की श्रद्धा का उसे पता नहीं है। शशीभाई! समझ में आया?

भाई! श्रद्धा समझना और अनन्त काल में श्रद्धा (पलटी नहीं)। यह तो स्थूल बात है। जड़, जड़रूप से है, उसके द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से है। द्रव्य अर्थात् वस्तु, गुण अर्थात् उसकी शक्ति, पर्याय अर्थात् हालत-वर्तमान होती दशा; वह जड़, जड़रूप है, तेरे कारण नहीं। आत्मा में उसके लक्ष्य से कुछ राग मन्द किया हो-शुभराग किया हो तो वह पुण्यतत्त्व है। पहला अजीवतत्त्व है, यह पुण्यतत्त्व है। राग मन्द करके देने का भाव किया हो तो वह पुण्यतत्त्व है, उसे धर्मतत्त्व माने और उससे मुझे कल्याण (होगा ऐसा) माने तो उसमें पुण्यतत्त्व को आत्मतत्त्व में मिला दिया, संवरतत्त्व मिला दिया। इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि और मिथ्यातत्त्व कहते हैं। समझ में आया? भगवान क्या कहते हैं? इसका पता नहीं होता और हम धर्म करते हैं! धर्म कहाँ से आया? समझ में आया?

परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल, तीन लोक का ज्ञान प्रत्यक्ष हो गया। अनन्त काल से सर्वज्ञ होते आये हैं, कोई नये नहीं हैं। ये अनन्त काल से होते आये हैं। सर्वज्ञ... सर्वज्ञ... सर्वज्ञ... अभी परमात्मा विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान और लाखों केवली, तीर्थंकररूप से बीस

और केवलीरूप से लाखों हैं। महाविदेहक्षेत्र में मनुष्यरूप से वर्तमान विराजमान हैं। उन केवलज्ञानी परमात्मा ने एक समय में तीन काल तीन लोक देखे, उसमें अजीवतत्त्व को अजीवतत्त्व स्वतन्त्ररूप से देखा है। कहो, समझ में आया? इसमें कुछ राग की मन्दता —दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव हो तो उसे भगवान ने पुण्यतत्त्व कहा है; वह धर्म नहीं है, वह रागभाव है।

मुमुक्षु : धर्म का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। धर्म का कारण-फारण राग नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : भविष्य में (कारण) होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। चैतन्यमूर्ति आनन्द, पुण्य-पाप के रागरहित चीज है, उसकी अन्तर की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना, वह एक ही धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं हो सकता। वीतरागमार्ग में धर्म उसे कहते हैं, अन्य में तो धर्म है नहीं। यह धर्म अन्यमत में तीन काल में नहीं हो सकता। जिसके मत में सर्वज्ञ नहीं, उसने जगत् के तत्त्व पूरे देखे नहीं और पूरा देखे बिना कल्पना से बातें करे, वे तत्त्व सच्चे नहीं हो सकते। समझ में आया? दो बोल हो गये। यह तो दो बोल हो गये, उनकी बात चली, हों! इतनी। सम्यग्दृष्टि को निःशंकता होती है और निःकांक्षता होता है, लो! इस ओर के स्वभाव की शुद्धता और परिपूर्णता की निःशंकता होती है और आत्मा के अतिरिक्त पुण्य आदि या बाह्य संयोग की काँक्षा, उसे दुःखरूप है; इसलिए उसकी काँक्षा, इच्छा होती नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बोझा कहाँ है, हल्का है यह तो। श्रेणिक राजा, कोई बाह्य त्याग नहीं हुआ परन्तु एक सम्यग्दर्शन, अनुभव प्रतीति में भान किया है। तीर्थंकर गोत्र (बाँधा है), नरक में जाना पड़ा, नरक की आयु बँध गयी थी, पहले नरक की आयु बँध गयी; इसलिए नरक की आयु की स्थिति घटाकर कम हुई, अभाव नहीं होता। इसलिए उन्हें पहले नरक में अभी चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में श्रेणिक राजा है। परन्तु सम्यक् आत्मा की दृष्टि का अनुभव किया, इससे उन्हें अनन्त संसार छूट गया है। नरक की स्थिति भी

www.vitragvani.com

बहुत बाँधी थी, वह थोड़ी कर डाली है और पश्चात् भगवान के समीप में कोई शुभ विकल्प आया, उसमें तीर्थंकरगोत्र बँधा है। वे अभी पहले नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में है। वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी में पहले तीर्थंकर जगत्गुरु, सौ इन्द्रों से पूजनीय तीर्थंकर होंगे। यह सम्यग्दर्शन का प्रताप है, सम्यग्दर्शन ऐसी चीज़ है। समझ में आया ?

वह सम्यक्... कल कहा था न भाई ने ? रत्नकरण्डश्रावकाचार—एक सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा के निर्विकल्प शुद्ध श्रद्धान-भान के बिना जितने व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति, दान (करे), वह सब पत्थर जैसा भार है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है। बोझा है, सब बोझा। आत्मा के सम्यग्दर्शन के भान के पश्चात् कुछ भी कषाय आदि की मन्दता का परिणाम हो या स्थिरता की दशा हो, उसे स्थिरता की दशा हो, उसे मणिरत्न कहा जाता है; कषाय की मन्दता के परिणाम व्रत आदि के आत्मा के अनुभवसहित हों तो उसे पुण्य कहने में आता है। समझ में आया ? दो बोल हुए, निःशंकता और निःकांक्षिता। आज तीसरा बोल है निर्विचिकित्सा अंग, पच्चीस गाथा। तीसरा बोल, सम्यग्दृष्टि का तीसरा आचार, तीसरा लक्षण, बत्तीस पृष्ठ पर।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - २५

३- [1]निर्विचिकित्सा अंग

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।।२५।।

क्षुधा तृषा सर्दी गर्मी इत्यादि विविध संयोगों में।
ग्लानि कभी भी नहिं करना मल-मूत्रादि परद्रव्यों में।।२५।।

अन्वयार्थ : (क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु) भूख, प्यास, सरदी, गरमी इत्यादि (नानाविधेषु) नाना प्रकार के (भावेषु) भावों में और (पुरीषादिषु) विष्टा आदि (द्रव्येषु) पदार्थों में (विचिकित्सा) ग्लानि (नैव) नहीं (करणीया) करना चाहिए।

टीका : 'क्षुत्तृषा शीतोष्णप्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया' क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि नाना प्रकार की दु:खदायक पर्यायों में एवं अपवित्र विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए।

भावार्थ: विचिकित्सा नाम असुहावने का है अथवा ग्लानि का है, उनसे जो रहित हो, उसे निर्विचिकित्सा कहते हैं। पाप के उदय से दु:खदायक भावों के संयोग होने पर उद्वेगरूप न होना, कारण कि उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं है। इस दु:ख से अमूर्तिक आत्मा का घात भी नहीं है फिर विष्टादि निन्द्य वस्तु में ग्लानिरूप न होना, क्योंकि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है। इसमें आत्मा को क्या? अथवा जिस शरीर में आत्मा निवास करती है, उसमें तो सभी वस्तुयें निन्द्य ही हैं।।२५।।

---

१. निर्विचिकित्सा अंग - रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से पवित्र परन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीर में (मुनि-धर्मात्मा के मलिन शरीर में) ग्लानि न करके उनके गुणों में प्रीति करना निर्जुगुप्सा अंग कहलाता है (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा १३)

www.vitragvani.com

गाथा २५ पर प्रवचन

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।।२५।।

इसमें क्या कहा ? तीसरे में क्या कहते हैं ? पहले में ऐसा कहा, शुद्धस्वभाव की श्रद्धा का भान नि:शंक हो गया है, उसे शंका नहीं होती। पर की आकाँक्षा नहीं होती। इसमें कहते हैं कि पर में उसे द्वेष नहीं होती। पहले राग आया, यह द्वेष (कहते हैं)। धर्मी को परपदार्थ में ग्लानि, अरुचि, द्वेष ऐसा नहीं होता क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ अनेक प्रकार के होते हैं। कैसे हैं ? देखो !

टीका : क्षुधा,... शरीर में क्षुधा लगी हो, उसकी इसे अरुचि नहीं होती। शरीर की पर्याय की दशा है क्षुधा, वह जड़ की एक दशा है, उसमें इसे द्वेष नहीं है। इस जड़ की क्षुधा अवस्था को ज्ञान, ज्ञातारूप से—ज्ञेयरूप से जानता है। सम्यग्दृष्टि, क्षुधा में ग्लानि नहीं करता। समझ में आया ? **तृषा,...** यह जड़ की अवस्था है। कण्ठ आदि में तृषा हो, वह जड़ की दशा है, उसके प्रति उसे द्वेष नहीं है। वह है, इसलिए द्वेष हुआ—ऐसा नहीं है। ऐसी दशा के प्रति द्वेष करे तो वह ज्ञेय है, उसके कारण द्वेष किया तो उसकी श्रद्धा विरुद्ध हो जाती है। समझ में आया ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : खाता–पीता....

पूज्य गुरुदेवश्री : खाता, पीता की किसने बात की ? खाता है, पीता है कौन ? वह तो जड़ की दशा है। खावे–पीवे कौन ? ग्रास, रोटी तो जड़ की दशा है, जड़ ऐसे हो, पड़ना वह तो जड़ का कार्य है। आत्मा करता है उसे ?

मुमुक्षु : जीव खाता है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव खाता ही नहीं।

मुमुक्षु : मुर्दा खाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुर्दा भी नहीं खाता। खाये कौन ? समझ में आया ? खाना

www.vitragvani.com

अर्थात् क्या ? ये रजकण अन्दर ग्रास के दाल, भात के यहाँ आवे और ऐसे जाये, उसे लोग खाना कहते हैं। खाने की व्याख्या क्या ? क्या आत्मा जड़ को खाये ? आत्मा जड़ को अनुभव करे ? आत्मा जड़ को छू सकता है ? आत्मा अरूपी और यह जड़ रूपी।

मुमुक्षु : रूपी के बिना चले किस प्रकार ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से उसके बिना ही चलता है। माना है (उसके बिना नहीं चलता)। वह तो उसके कारण आता है, और उसके कारण जाता है। खोड़ीदासभाई ! गजब बात कठिन, बापू ! बापू ! वीतरागमार्ग ऐसा है कि इसने श्रद्धा में लिया नहीं। इसके अतिरिक्त भान बिना सब किया अनन्त बार। एक सम्यक् भान बिना के जितने व्यर्थ किये व्रत, नियम, तप, और सब एक रहित कोरे कागज पर शून्य। ए... न्यालभाई ! बहुत करके आये, हों ! नहीं तो गहरे-गहरे था, तीस वर्ष से रस नहीं खाते थे। इसलिए कुछ त्याग है ऐसा गहराई से मानते होंगे। शून्य लगाया, कहा। रस कब खाता था कि छोड़े ? अन्दर राग की एकता का रस है, उसे छोड़—यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा... ! बापू ! तेरे जन्म-मरण के नाश का उपाय तो कोई अलौकिक है, वह कोई साधारण है नहीं। सम्यग्दर्शन, वह जन्म-मरण के नाश का उपाय है।

सम्यग्दर्शन में उसे परपदार्थ की प्रतिकूलता में द्वेष नहीं आता, उसके कारण से द्वेष (नहीं आता)। कमजोरी के कारण आ जाये, वह अलग बात है। उसके कारण से नहीं आता; इसलिए उसे द्वेष नहीं है—ऐसा कहने में आता है, भाई ! आहा...हा... ! गजब बात भाई ! ऐसी वस्तु, ऐसी इच्छा नहीं, प्रतिकूलता में द्वेष नहीं। वाह... भगवान वाह ! तब उसे ज्ञेय जानता है कि क्षुधा, तृषा देह में है। उष्णता, सर्दी... सर्दी... सर्दी... सर्दी... जड़ की दशा (हो) उसमें द्वेष नहीं। द्वेष होवे तो... वह तो ज्ञेय है, जानने की चीज़ वह तो सर्दी है। जानने में ज्ञेय है, ज्ञेय को ऐसा मानना कि यह मुझे प्रतिकूल है, यह मान्यता ही विरुद्ध है। कठिन बात है बापू ! भाई ! वीतरागमार्ग समझना कठिन है।

मुमुक्षु : शीत ऋतु में....

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्दी-वर्दी में कहा न, सर्दी उसके घर रही, यहाँ कहाँ घुस गयी है ? ए... न्यालभाई ! अब यहाँ तो बाँधे... वे कहते हैं न ? 'आनन्द कहे परमानन्दा माणसे

www.vitragvani.com

माणसे फेर, एक लाखे तो नहीं मले ने एक तांबा न तेर' भगवान कहते हैं कि तुझे और मेरे लाख बात में करोड़ बात का अन्तर है, बोल–बोल में अन्तर है। वीतरागमार्ग और जगत् ने माना हुआ मार्ग, उसमें अनन्त गुना अन्तर है। शशीभाई! आहा...हा...!

कहते हैं, यह सर्दी...। यहाँ तो द्वेष लेना है न? भाई! भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति चैतन्य रसकन्द है। ध्रुव, ध्रुव धातु, ध्रुव, चैतन्यधातु, अकेला आनन्द शुद्ध कातली, परम पिण्ड आत्मा, उसकी जहाँ निःशंक श्रद्धा और ऐसी दृष्टि हुई, उसे शंका क्या कि यह गुण इसमें इतना होगा या नहीं? इतना सर्वज्ञपना मुझमें होगा या नहीं? मुझमें पूर्ण आनन्द होगा या नहीं? मेरे गुण की अनन्त–अनन्त ताकत शास्त्रकार वर्णन करते हैं, वह होगी या नहीं? ऐसी समकिती को शंका नहीं होती। आहा...हा...! समझ में आया?

रात्रि में यह कहा था न? भाई! पूनमचन्द का लिया था न? वह खान सुनकर अनन्त में यहाँ उतारा था। ए... पोपटभाई! उसके साले की बात सुनकर। उसमें यह लिया था, हेतु तो यह था। वह कहे साढ़े अठहत्तर लाख में उसके साले ने जमीन ली है, पोपटभाई ने। शान्तिलाल खुशालदास गोवा, चालीस करोड़ तो है, इन पोपटभाई का साला। चालीस करोड़ तो है और साढ़े अठहत्तर लाख की जमीन ली है, उसमें एक अरब रुपये निकलेंगे। क्या कहते हैं? ऐल्यूमिनियम निकलेगी। लो, यह पुण्य का ढेर सामने आता है या नहीं? धूल! कहा, उसमें कुछ नहीं, धूल है। तुम्हारे मामा का लड़का है, इसके सगे मामा का लड़का है, इसके सगे मामा का लड़का, उसका सगा साला, चालीस करोड़। शान्तिलाल खुशालदास गोवा। 'पाणसणा' के। ये उनकी बुआ का लड़का है। कहते हैं कि साढ़े अठहत्तर लाख की जमीन अभी जनवरी में ली है, उसमें कारीगरों को, वैज्ञानिकों को बुलाया, उसमें ऐल्यूमिनियम निकला है। कितना? एक अरब का। ए...! क्या है परन्तु? विष्ठा है। कहते हैं। कहते हैं, यहाँ कहेंगे अभी, देखो!

शीत, उष्ण इत्यादि नाना प्रकार की दुःखदायक पर्यायों... यह लक्ष्मी भी दुःखदायक पर्याय है। निमित्त–दुःख का निमित्त है। उसे सुख का निमित्त माने तो मूढ़ है। आहा...हा...! ए.! खोड़ीदासभाई! बापू! यह तो तलवार की धार का मार्ग है। 'धार तलवार नी सोयली दोह्यली चोदमां जिणतणी चरण सेवना धार पर रहे न देवा, धार पर नाचता देख बाजीगरा, धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा' आनन्दघनजी, भगवान

www.vitragvani.com

की स्तुति करते थे। नाथ! 'धर्म जिनेश्वर गावुं रंगशुं, भंगमां पडशो रे प्रीत जिनेश्वर, बीजो मनमंदिर आणुं नहि, ऐ अम कुलवट रीत जिनेश्वर...' प्रभु! हमारा आनन्द-शान्तस्वरूप निर्विकल्प वीतरागरस आत्मा में पुण्य के विकल्पों को में नहीं मिलाता हूँ। मैं पुण्य के विकल्प को आत्मा में मिलाकर उसमें मुझे लाभ है—ऐसा मिलाता नहीं हूँ। यह हमारे तीर्थंकर के पथानुगामी के कुल की हमारी पद्धति है। समझ में आया? बड़ों की रीत है, बड़े हमारे तीर्थंकर सर्वज्ञ परमेश्वर, उन्होंने ऐसा कहा है, भाई! यदि तू हमारा पथानुगामी है तो इस राग और पुण्य में सुख है, यह बुद्धि निकाल दे। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं न? सुख अन्दर है। परन्तु देखे तब न, देखता नहीं न! आत्मा सच्चिदानन्द अन्दर सिद्धस्वरूप है। परन्तु इसे श्रद्धा का भान कहाँ है? सिद्धपद हुआ वह कहाँ से आया? बाहर से आता है? लटकता है? चौंसठ पहरी पीपर जो है, पीपर का दाना, चौंसठ पहरी, उसे चौंसठ पहर घोंटते हैं और चौंसठ पहरी चरपराहट प्रगट होती है, वह कहाँ से आयी? पत्थर में से आयी? अन्दर पड़ी है। एक-एक पीपर के दाने में चौंसठ पहरी चरपरा रस पड़ा है, हरा रंग पड़ा है। है वह प्रगट होता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा... इतना दाना जड़ का, उसमें चौंसठ पहरी, चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया-रुपया - सोलह आना-चरपरा रस है। इसी प्रकार आत्मा में पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञानरस पड़ा है, बापू! इसे पता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि यहाँ जैसे एक-एक दाने में चौंसठ पहरी रस पड़ा है, वह घोंटने से प्रगट होता है। कहाँ से आया? कंकर घोंट डाले नहीं, यदि आवे तो, कोयले घोंटे नहीं! जिसमें नहीं उसमें से कहाँ से आयेगा। झवेरचन्दभाई! इसमें है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में... बापू! इतना दाना लगता है। असंख्य प्रदेशी शरीर प्रमाण, उसके अन्दर में भाई! जो ध्रुवरूप सत् है, सामान्य है, एकरूप रहनेवाली जो चीज़ है, वर्तमान अवस्था है, वह अलग रखो, वस्तु जो एकरूप सामान्य एकरूप रहनेवाली है, उसमें तो अपरिमित ज्ञान, अपरिमित दर्शन, अपरिमित शान्ति, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता, प्रभुता पड़ी है। समझ में आया? इसने कभी आत्मा कैसा, कहाँ है-ऐसा जाना कब? आहा...हा...! समझ में आया?

परमेश्वर त्रिलोकनाथ के फरमान में इन्द्रों की उपस्थिति में यह आया है। इन्द्र ऐसे

सौ इन्द्रों की उपस्थिति। हे इन्द्रों! तुम्हारी इन इन्द्रियों का तुम्हें जो राग होता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। वे इन्द्र तो समकिती हैं, शकेन्द्र पहले देवलोक का–सुधर्म देवलोक का, उसकी इन्द्राणी भी समकिती है। इन्द्र–इन्द्राणी दोनों एकावतारी हैं। अभी हैं। सौधर्म देवलोक, बत्तीस लाख विमान, उसका इन्द्र और उसकी रानी दोनों एकावतारी हैं। वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं। समझ में आया? क्योंकि समकित का शुद्ध आराधन करके इन्द्र अवतरित हुए हैं। इन्द्राणी वहाँ जाने के बाद समकित को प्राप्त हुई है, क्योंकि समकित पाकर स्त्री नहीं होती। वहाँ भगवान के समवसरण में बहुत बार जाते हैं। जन्म, दीक्षा के समय, केवलज्ञान के समय महोत्सव करने जाते हैं। इन्द्र अन्तरस्वरूप का आराधन करके आये हैं, इन्द्राणी वहाँ प्राप्त हुई है, दोनों एकावतारी हैं। सौधर्म देवलोक है, वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं। प्रताप (किसका)? चैतन्यस्वरूप का आराधन सम्यग्दर्शन, जिसमें भव नहीं और भव का भाव नहीं—ऐसे चैतन्य की श्रद्धा, सम्यक् प्रतीति, आहा...हा...! उसके फल में... इन्द्रों ने कहा, वहाँ भगवान ने इन्द्र की उपस्थिति में (कहा) भाई! समकिती तो ऐसे होते हैं कि जिन्हें अपने पूर्ण स्वभाव की नि:शंकिता बैठी है, अपने स्वभाव के अतिरिक्त किसी बात की, परपदार्थ की आकाँक्षा, आकाँक्षा नहीं। कहाँ पूरा स्वयं नहीं, वह पर की आकाँक्षा करे? और उसे परपदार्थ में द्वेष नहीं क्योंकि आत्मा ज्ञाता–दृष्टारूप जहाँ समकित में ज्ञात हुआ, माना गया, अनुभव में आया, उसे परपदार्थ के प्रति द्वेष नहीं है। आहा...हा...! शीत में द्वेष नहीं। आहा!

तब कहते हैं, समकिती हो वह सर्दी में ओढ़े, यह करता है न? वह तो क्रिया होती है, जरा विकल्प होता है परन्तु उसके अन्तर में पर के प्रति द्वेष नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! उष्ण के प्रति द्वेष नहीं। इत्यादि अनेक प्रकार की **दु:खदायक पर्यायों**... दु:खदायक पर्याय, देखो! **एवं अपवित्र विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए।** विष्टा देखे, सड़ी हुई बिल्ली देखे, सड़ा हुआ कुत्ता देखे, वह जड़ की अवस्था है। बापू! अजीव की पर्याय है। उसमें उसे द्वेष नहीं होता, वह तो मेरे ज्ञान में जाननेयोग्य ज्ञेय है, ज्ञात होने योग्य है, उसे देखकर ज्ञानी को द्वेष नहीं होता। आहा...हा...! भाई! दुनिया से मार्ग तो परमात्मा का कहीं दुनिया के साथ मेल खाये ऐसा नहीं है। न्यालभाई! आहा...हा...!

www.vitragvani.com

एक तो ऐसा कहा कि अनेक प्रकार की **दुःखदायक पर्यायों में एवं...** पर्यायें अर्थात् अवस्थायें, शरीर आदि पर की (पर्याय) और **अपवित्र विष्टा आदि...** विष्टा दुर्गन्ध, सड़े हुए... बापू! ये जड़ की अवस्था है। यह परमाणु की उस समय में वह पर्याय-अवस्था हुई है। किसे उसकी अरुचि करना? किसकी अरुचि करना? अरुचि तो जो राग है, उसके प्रति अरुचि करना। समझ में आया? आहा...हा...! गजब बात, बापू! नव तत्त्व हैं न, इसमें यह अजीवतत्त्व है, कहते हैं। उस अजीवतत्त्व की पर्याय में यह विष्टा आदि हों उसमें क्या? दुर्गन्ध अर्थात् क्या? उस परमाणु के गन्धगुण की उस समय की दुर्गन्ध की पर्याय है। द्रव्य के रजकण की पर्याय है, उसमें द्वेष क्या होगा? समझ में आया?

भावार्थः विचिकित्सा नाम असुहावने का है... असुहावना, असुहावना अर्थात् द्वेष **अथवा ग्लानि का है,...** ऐसे गहराई से ग्लानि हो जाना। **उनसे जो रहित हो, उसे निर्विचिकित्सा कहते हैं। पाप के उदय से दुःखदायक भावों के संयोग होने पर उद्वेगरूप न होना,...** इस पाप के उदय से शरीर में रोग (होवे), स्त्री, प्रतिकूल आयी, पुत्र कोई ऐसा जगा, दुश्मन कोई ऐसा मिला। बापू! हमारे कोई दुश्मन नहीं, हमारे कोई मित्र नहीं। विकार, वह हमारे अनिष्ट है; वस्तु वह हमें इष्ट है। मेरा स्वभाव इष्ट है, विकार-पुण्य-पाप हों, वे अनिष्ट हैं। बाहर की चीज़ हमारे तो कुछ अनिष्ट है नहीं—ऐसा सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में भी ऐसा भाव होता है, तो उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। आहा...हा...! कहो समझ में आया इसमें?

उद्वेग नहीं होना। आहा...हा...! मार डाला, ऐसी आपत्ति कहाँ तक? घर में से पलंग उठता नहीं, दो महीने यह बीमार तो दो महीने वह बीमार, तीन महीने वह बीमार, बारह महीने से पलंग खाली नहीं होता। घर में दस व्यक्ति होते हैं न, बीमार... बीमार... रहा करते हैं। ऐसा कुछ हो तो... हुआ ही करता है। क्या है परन्तु तुझे अब? समझ में आया? उस अजीवतत्त्व की पर्याय की उस प्रकार की दुर्गन्ध आदि प्रतिकूलता देखकर द्वेष न करे, उद्वेग न करे उसे देखकर उद्वेग न हो। जरा कमजोरी के कारण हो जाये, वह अलग वस्तु है। उसके कारण होवे तो मिथ्यात्व का दोष है। समझ में आया? आहा...हा...!

कारण कि उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं है। शरीर में रोग आवे, निर्धन हो,

www.vitragvani.com

गरीब मनुष्य हो, भिखारी हो, महा बेचारा सड़ा हुआ शरीर हो, रोटी न मिले, उसकी कुछ ग्लानि की जाती है ? वह भी अन्दर एक प्रभु आत्मा है। शरीर की दशा ऐसी है, इसलिए उसे ग्लानि करने की आवश्यकता नहीं। उसका तिरस्कार करना या द्वेष करना—ऐसा समकिती को नहीं हो सकता। आहा...हा...! समझ में आया ? **उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं है।** शरीर में रोग आवे, सामनेवाले को कर्म का उदय और प्रतिकूलता आवे। समझ में आया ? स्त्री अच्छी न हो, पुत्र अच्छा न हो, धन-मकान अच्छा न हो, कपड़ा अच्छा न हो, देखो ! अभी पाप के उदय से यह मिला है, बापू ! ऐसा हो वह तो पूर्व के कर्म के संयोग से ऐसा होता है। इससे कहीं उस पर द्वेष करनेयोग्य नहीं है।

फिर विष्टादि निन्द्य वस्तु में ग्लानिरूप न होना,... ग्लानि नहीं करना। विष्टा, सड़ी हुई धूल, मुर्दा इत्यादि। **क्योंकि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है। इसमें आत्मा को क्या ?** है न ? उसमें आत्मा को क्या ? ऐसी प्रतिकूलता देखने से द्वेष करने में आत्मा को नुकसान होता है। प्रतिकूलता आत्मा को है ही नहीं। वह तो ज्ञान में ज्ञेय है। आहा...हा...! **अथवा जिस शरीर में आत्मा निवास करती है, उसमें तो सभी वस्तुयें निन्द्य ही हैं।** अब तुझे किसका द्वेष करना ? बापू ! मैसूर चार किलो घी पिलाया हुआ मुँह में डाले तो छह घण्टे में विष्टा होगी – ऐसी मशीन है यह। यह मशीन ऐसी है, यह ऐसी मशीन है। गधे के चमड़े में लपेटकर मैसूर डालो तो तुरन्त विष्टा नहीं होगी। इसमें जहाँ डालो चार किलो घी पिलाया हुआ, हों ! चने का आटा, उसमें गेहूँ का आटा होता है, परन्तु एक सेर में चार सेर घी पिलाये तो शक्करपारा कहलाता है। यह डाला साथ में थूँक और... यह तो पता पड़े न डालकर, क्योंकि ऐसे का ऐसा निगलता नहीं। थोड़ा एक-दो सैकेण्ड (होवे फिर) निगलता है, फिर उतरे तब पता पड़े, ऐसा मुँह देखे दर्पण में तो कुत्ते की वमन हो।

मुमुक्षु : यह तो सब वस्तु को बिगाड़ने की मशीन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बिगाड़ने का निमित्त है यह सब, इसमें सुख-दुःख कब था ? यह तो मिट्टी धूल है। मैसूर पड़ा साथ में, वह छह घण्टे में विष्टा, सबेरे विष्टा होगी, उस विष्टा की मशीन है। अब यह निन्द्य वस्तु, उसमें तू किसे निन्द्य मानेगा ? कहते हैं। आहा...हा...! गजब भाई ! भगवान की बातें बहुत बड़ी हैं, हों ! भाई ! तुझे भगवान होना है

www.vitragvani.com

या नहीं ? भगवान होना है या नहीं ? तू भगवान है, तू पूर्णानन्द का नाथ है, उसकी तुझे प्रतीति और भान हुए, तुझे पर में द्वेष और ग्लानि का कारण क्या है ? समझ में आया ?

शरीर ही निन्द्य वस्तु है, जहाँ ऐसी हल्की वस्तु है एकदम ऐसे मैसूर मुँह में डाला साथ में ऐसे लार होने लगता है। लार होने के बाद उतरता है अथवा उतरने के पहले ऐसे जरा दर्पण में देखे कि क्या उतारता हूँ ? लार है अकेली, कुत्ते की वमन। बाहर निकालकर देखे तो फिर से लेने का मन नहीं हो परन्तु मिठास वेदता हो। अरबी के भजिये और श्रीखण्ड खाता हो ऐसे ओ...य... (करे) ऐ पोरणपोली ऐसे घी में सराबोर करके ऐसी गर्म-गर्म ऊपर से उतरे उसमें वह साथ में ऐसे पाँच किलो घी की पतेली हो, वह डाले। गर्म किया हो न, इसलिए चिमटे द्वारा (पकड़कर) घी में डाले। हो! परन्तु क्या है ? देख तो सही अब, वह तो जड़ है।

मुमुक्षु : मजा बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका मजा ? तुझे राग होता है, वह तो दुःखदायक है। राग होता है कि यह ठीक है। वह वस्तु तो जड़ है, तुझे स्पर्श भी नहीं करती, तू खाता भी नहीं, उसे स्पर्श भी नहीं करता—ऐसा शास्त्र तो कहते हैं। आत्मा, जड़ को तीन काल-तीन लोक में स्पर्श नहीं करता, क्योंकि वह रूपी और यह अरूपी, दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है।

मुमुक्षु : ये सब साथ में हैं और स्पर्श नहीं करते ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ स्पर्श करते हैं कभी ? भिन्न-भिन्न हैं, रजकण-रजकण भिन्न है। समझ में आया ? भाई ! जगत से वीतराग का मार्ग अलग है। जगत में वीतराग के नाम से चलाया है विपरीत। समझ में आया ? आहा...हा... !

कहते हैं, बापू ! शरीर ही, जहाँ आत्मा उसमें बसता है, वह शरीर ही जहाँ (निन्द्य वस्तु है), क्षण में कफ हो, क्षण में शूल आवे, विष्टा बिगड़ जाये, अजीर्ण हो जाये, उल्टी हो, देखो न यह शरीर ? भगवान तो चैतन्यमूर्ति अन्दर भिन्न है। ये शरीर के रजकण ही ऐसे परिणमते हैं—निन्द्य, इसमें हल्की चीज, उसमें तू किससे द्वेष करेगा ? (मैं) ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, वह जाननेयोग्य वस्तु है, द्वेष करनेयोग्य वस्तु नहीं—ऐसा कहते हैं, लो! सम्यग्दृष्टि को उसमें द्वेष नहीं होता।

अमूढ़दृष्टि चौथा अंग। समकित का चौथा लक्षण, चौथा आचार, २६ वीं गाथा !

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - २६

४– [1]अमूढदृष्टि अंग

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्।।२६।।

लोक, शास्त्र–आभास समय–आभास देव–आभासों में।
तत्त्वों में रुचिवन्त पुरुष श्रद्धान मूढ़ता रहित करें।।२६।।

अन्वयार्थ : (लोके) लोक में (शास्त्राभासे) शास्त्राभास में (समयाभासे) धर्माभास में (च) और (देवताभासे) देवाभास में (तत्वरुचिना) तत्त्वों में रुचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुष को (नित्यमपि) सदा ही (अमूढदृष्टित्वं) मूढ़तारहित श्रद्धान (कर्त्तव्यं) करना चाहिए।

टीका : 'तत्वरुचिना नित्यं अपि अमूढ़दृष्टित्वं कर्त्तव्यं' – तत्त्वश्रद्धावान पुरुष को सदैव अमूढ़दृष्टि होना चाहिए। मूढ़दृष्टि यथार्थज्ञानरहित का नाम है, उस रूप श्रद्धानवाले को होना योग्य नहीं। कहाँ कहाँ होना योग्य नहीं? वह आगे बतलाते हैं। लोके – लोक में बहुत से जीव विपरीत भाव में प्रवर्तन करते हों तो भी स्वयं को उनकी तरह (देखादेखी से) प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। शास्त्राभासे – शास्त्र जैसा प्रतिभासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों में रुचिरूप नहीं प्रवर्तन करना चाहिए। समयाभासे – सच्चे मत की तरह ही प्रतिभासित होने पर अन्यमत में कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े तो भी उसे भला जानकर प्रवर्तन नहीं करना। अथवा समय अर्थात्

---

१. अमूढ़त्व–दुखदायक खोटे मार्ग अथवा कुत्सित् धर्मों में और कुमार्गों में रहनेवाले पुरुषों में (भले ही वह लौकिक में प्रख्यात हों) उनमें मन से भी प्रामाणिकता माने नहीं–काया से प्रशंसा और वचन से स्तुति करे नहीं – उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं।।गाथा १४।।

२. समयाभास–यथार्थ में जो पदार्थ तत्त्वार्थ नहीं है परन्तु भ्रमबुद्धि से वैसे (तत्त्वार्थरूप) दिखाई पड़ने लगें। जैसे कि मिथ्यादृष्टियों के बनाए शास्त्र यथार्थ में तो शास्त्र नहीं हैं परंतु भ्रम से शास्त्र जैसे भासित हों, वह शास्त्राभास–समयाभास है।

www.vitragvani.com

पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व युक्तियुक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए। देवताभासे – यद्यपि देव जैसा प्रतिभासित होवे तो भी अरहन्त देव के अलावा अन्य देवों में कुछ किंचित् चमत्कारादि देखकर विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। 'च'कार से और भी जो गुरु जैसा प्रतिभासित हो ऐसे विषय–कषाय से युक्त लम्पटी वेषधारी के प्रति विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। इस भाँति यथार्थज्ञान से भ्रष्ट करनेवाले कारणों से पूर्णरूपेण सावधान रहना चाहिए।।२६।।

गाथा २६ पर प्रवचन

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्।।२६।।

इसका अर्थ इस ओर (है)। **लोक में शास्त्राभास में...** इस ओर अर्थ है न? लोक में वीतरागता के जो शास्त्र हैं, उनसे विरुद्ध शास्त्र, उन्हें लोग शास्त्र मानते हों, उसमें मूढ़ता नहीं होना। वे मिथ्या हैं, वीतरागमार्ग सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ मार्ग एक सत्य है। सर्वज्ञ कथित अलावा जो लोगों ने कल्पना से शास्त्र रचे हों, उनमें समकिती को मूढ़ता नहीं होती। उसमें भी कुछ होगा, उसमें भी कुछ होगा। समझ में आया? ऐसी मूढ़ता नहीं करता। वीतरागस्वरूप आत्मा, उससे सर्वज्ञपद से निकली हुई वाणी में आत्मा का तत्त्व, जड़ का तत्त्व आया, ऐसे तत्त्व अन्यत्र नहीं हो सकते।

मुमुक्षु : ......सर्वत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र नहीं, उसमें कुछ नहीं, सब समझने जैसा है। लोगों को बेचारों को कुछ पता नहीं। जैन में जन्मे, उन्हें पता नहीं। फिर (कहते हैं) उसमें यह है और अमुक है। ए.. वह सब शास्त्राभास है, उसमें यह तत्त्व है नहीं। समकिती उलझता नहीं कि इसे बड़े माननेवाले हैं न! बड़े–बड़े करोड़पति, अरबोंपति, बाबा और राजा मानते हैं न! वह तो पुण्य के कारण मानते हैं, वहाँ धर्म की वस्तु नहीं है। आहा...हा...!

धर्माभास में... जहाँ धर्म न हो, वहाँ धर्म मानना। समझ में आया? **और**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

देवाभास में... अरिहन्त आदि देव का स्वरूप नहीं और दूसरे साधारण को देव मानना। **तत्त्वों में रुचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुष को सदा ही मूढ़तारहित श्रद्धान करना चाहिए।** जरा भी विमूढ़ नहीं होना चाहिए। सर्वज्ञ कथित आत्मा, सर्वज्ञ कथित जड़, सर्वज्ञ कथित पुण्य–पाप—ऐसे भाव का ज्ञान, सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सच्चा नहीं होता। कहो, समझ में आया? सत्य, वह सत्य ही होता है न! सत्य में दूसरा फिर असत्य कहाँ से आया? तथापि वह द्वेष में आ गया है। कोई अन्यमती हो, वह हो तो उसका द्वेष नहीं करना। समझ में आया? उसे–बेचारे को वह बात जँची हो, द्वेष नहीं करना। इसमें विस्तार किया है। समझ में आया? किसी के देव, हनुमान आदि सब स्थापित किये हों, लाओ इन्हें हटाऊँ, मेरे देव नहीं—ऐसा नहीं, ऐसा नहीं होता, द्वेष नहीं होता। जगत में है, वह जान लेना चाहिए। समझ में आया? विपरीत मान्यतावाला, विपरीत मान्यतावाले का देव या उसके स्थान हो (तो उसका) द्वेष नहीं करना चाहिए। यह तीसरे बोल में आता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्यवहार के लिये तो लगता ही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार कैसा? व्यवहार में लड़के का विवाह करना था? व्यवहार है वह। धर्म में व्यवहार के लिये... ये पैसे के लिये नहीं मानते कितने ही हनुमान और सिखोतेर और अम्बाजी और... तुम्हारा साला ही मानता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : बीमार होवे तो मनौती मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह महामूढ़ जीव है। बीमार होवे तो यह पैसा रखूँगा, यहाँ नारियल रखूँगा, यहाँ अमुक चढ़ाऊँगा, रोग मिटेगा तो अमुक करूँगा, एकदम अज्ञानियों की भ्रमणा है।

सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को वीतरागमार्ग की जिसे अन्तर प्रतीति हुई है, उसे उसमें कहीं मूढ़ता नहीं हो सकती। समझ में आया? नीचे किया है, अमुक है न? फुटनोट है? वह बत्तीस पृष्ठ नीचे, नीचे फुटनोट है।

अमूढ़त्व–दुखदायक खोटे मार्ग... नीचे है। दु:खदायक खोटे मार्ग में मूढ़ता नहीं होती। यह सब... इसमें कुछ होगा? ***अथवा कुत्सित् धर्मों में और कुमार्गों में रहनेवाले पुरुषों में (भले ही वह लौकिक में प्रख्यात हों)...*** लाखों करोड़ों मानते हों परन्तु जहाँ आत्मदर्शन और आत्मज्ञान की विरुद्ध बात है—पुण्य से धर्म मनाते हों, पाप

www.vitragvani.com

में मजा मनाते हों—वे सब कुदेव और कुगुरु हैं। ऐसे पुरुषों को ***मन से भी प्रामाणिकता माने नहीं...*** मन से प्रामाणिक नहीं माने। यह कठोर बातें हैं। समझ में आया?

काया से प्रशंसा... नहीं करे ***और वचन से स्तुति करे नहीं...*** आत्मा का मार्ग –वीतराग ने जो शुद्ध चैतन्य की दृष्टि ज्ञान और चारित्र का वर्णन किया, ऐसा स्वरूप अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। उसे मान्यता के बिना करोड़ों मनुष्य माने। लोग कहें, आहा...हा...! बापू! इसे बहुत मानते हैं। मूढ़ता नहीं करना, मर जायेगा।

मुमुक्षु : मुम्बई में दो वस्तु को बहुत मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सी?

मुमुक्षु : यह वीरपुर के भगत और सांईं बाबा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह... वह... सांईं बाबा। भान नहीं होता, अक्ल नहीं होती। यह उस वीरपुर का कहते हैं न, क्या? जलाराम। अब हम वहाँ गये थे, तो वह तो बेचारा दर्शन करने आया था। वहाँ बैठता है न? गद्दी पर बैठता है। गिरधरलाल के भानेज का लड़का है। पूरे शरीर में कोढ़ है। कहा, यह सबको मिटाता है तो इसे तो कोढ़ है न! उसकी गद्दी पर बैठा हो, उसे स्वयं को कोढ़ है। आया था बेचारा, दर्शन करने आया था, १०१ रुपये रखे थे, हों! बेचारे ने। वह खाली हाथ नहीं आता। वे लोग दर्शन करने आये थे। हम गये थे, तब चन्दुभाई थे न? शिक्षा अधिकारी, चन्दुभाई थे, शिक्षा अधिकारी। गोंडल के बड़े पटेल, वे स्वयं लेकर आये थे, वे स्वयं आये थे, दर्शन करने आये थे। कोढ़ था। दर्शन करके १०१ रुपये रखे, सवा सेर शाकर रखी। फिर विचार किया कि इसने १०१ रखे हैं, क्या करना इनका? शान्तिभाई कहे–रखो अपने। रखे, कहाँ उसे वापस देना। उसे कोढ़ है, लो! समझ में आया? लोग मूर्ख, मूर्खों के गाँव कोई अलग होते हैं?

मुमुक्षु : प्रत्यक्ष दु:ख मिट जाता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में नहीं मिटता दु:ख अब, मूढ़ है। साता के उदय के बिना तीन काल में नहीं मिटता। ऐसा भ्रम। वह साँईं बाबा एक ओर शिरडी का। मूढ़ जैनों को भान नहीं, अन्य को तो भान नहीं परन्तु जैन को भी पता नहीं होता। चल निकले, मूर्ख बड़े मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे तो। उन्हें वीतरागमार्ग की आत्मा की श्रद्धा नहीं। आत्मा में सुख है, दु:ख है नहीं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : बहुतों को लड़का देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं देते। एक बार नहीं कहा था? हमारे वहाँ 'वढ़वाण' नहीं था? वह देवी, बूटमाता। हम वहाँ (संवत्) १९८२ में थे, चारों ओर से लोग आवें, दो-दो हजार लोग। पुत्र तुम्हें दे और उसका जो बहनोई है, उसे पुत्र नहीं, कहा। वह मलूकचन्द, मलूकचन्द। हमें तो सब पता है, ८२ की साल, ४१ वर्ष हुए। सब वहाँ चल निकले। जो भुआ है, उसके बहनोई को पुत्र नहीं, पुत्र नहीं, उसकी बहिन बाँझ है, वहाँ तो दो, क्या चल निकले... जैन भी आये न! पैर लगने आये वापस। क्या करने आये हो? ऐसे के ऐसे। मूर्ख के गाँव कोई अलग होते हैं? प्रत्येक गाँव में मूर्ख भरे हैं। समझ में आया?

धर्मी-आत्मा की शान्ति और आनन्द के माननेवाले, वीतरागस्वरूप ऐसा आत्मा, वह जिसे रुचिकर हुआ है, वह उससे विरुद्ध दूसरे शास्त्र, दूसरे गुरु... समझ में आया? उन्हें नहीं मानता, प्रामाणिकरूप से नहीं मानता, वह तो बड़ा प्रामाणिक है, नहीं। नहीं; मिथ्याश्रद्धा है, वह प्रामाणिक है ही नहीं। **काया से प्रशंसा *और वचन से स्तुति करे नहीं*...** अमूढ़दृष्टि, हाँ! यह रत्नकरण्डश्रावकाचार का १४ वाँ श्लोक है। टीका इस ओर ३३ पृष्ठ पर।

टीका : 'तत्वरुचिना नित्यं अपि अमूढ़दृष्टित्वं कर्त्तव्यं' – तत्त्वश्रद्धावान पुरुष... तत्त्वश्रद्धा आत्मा शुद्ध आनन्द है; पुण्य-पाप मलिन दुःखदायाक है; अजीव पर है—ऐसी जिसे तत्त्वश्रद्धानवाली दशा हुई है, तत्त्वरुचि हुई है, उसे **सदैव अमूढ़दृष्टि होना चाहिए।** उसे उलझना नहीं। **मूढ़दृष्टि यथार्थज्ञानरहित का नाम है, उसरूप श्रद्धानवाले को होना योग्य नहीं।** मिथ्याश्रद्धावाला होना योग्य नहीं है। **कहाँ कहाँ...** चार बोल है।

लोके – लोक में बहुत से जीव विपरीत भाव में प्रवर्तन करते हों तो भी स्वयं को उनकी तरह (देखादेखी से) प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। अज्ञानी बाबा, राजा आदि सब मानते हैं, सबको मानते हैं, दूसरों को पैर पड़ते हैं, पैसा-पैसा मिलेगा, यहाँ से यह मिलेगा। देखा-देखी प्रवर्तन नहीं करना। जैनधर्म की परीक्षा करके स्वयं प्रवर्ते। ये सब बड़े मानते हैं, इसलिए ऐसा होगा। अमुक मानते हैं, इसलिए ऐसा होगा—ऐसा नहीं; सत्य कैसा है? न्यालभाई! देखा-देखी नहीं होना, ऐसा कहते हैं। देखो! देखा-देखी नहीं करना, यह बड़े ऐसा करते हैं, इसलिए इसमें कुछ होगा न? धूल में भी नहीं है।

www.vitragvani.com

शास्त्राभासे – शास्त्र जैसा प्रतिभासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों में रुचिरूप नहीं प्रवर्तन करना चाहिए। वीतरागमार्ग में तो वीतरागभाव का पोषण किया होता है। राग और विकार का पोषण जिसमें न हो—ऐसे कहे हुए शास्त्र, वे सच्चे शास्त्र हैं। जिसमें किसी राग का पोषण किया हो, राग से लाभ मनाया हो, वे कुशास्त्र हैं; शास्त्र है नहीं। ऐसे शास्त्रों में, अन्यवादियों द्वारा बनाये हुए ग्रन्थों में रुचि नहीं करना। समझ में आया?

समयाभासे – सच्चे मत की तरह ही प्रतिभासित होने पर अन्यमत में कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े... बड़ी-बड़ी तपस्यायें करे, बड़ी इज्जत हो। समझ में आया? **उसे भला जानकर प्रवर्तन नहीं करना।** वीतरागमार्ग की श्रद्धा-ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कहीं अन्यमत में अंश भी सत है नहीं। ऐसी बात है भाई! कोई क्रिया दिखे, अपवास करता हो, कोई ब्रह्मचर्य पालता हो, उसे ऐसा हो कि ओहो...हो...! आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया! अर्थात् क्या परन्तु? दृष्टि खोटी है न। आत्मा क्या है, जड़ क्या है, पुण्य-पाप क्या है। जीव भगवान अलग है, पुण्य-पाप अलग है, अजीव अलग है—ऐसे भिन्न-भिन्न तत्त्व की जहाँ एकता मान्यता करे, दो को सब इकट्ठे मिलाकर करे, उसे तत्त्व की रुचि सच्ची नहीं है।

अथवा समय अर्थात् पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे, ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व... कहे-आत्मा भी व्यापक है, पूरा है, परिपूर्ण है। परिपूर्ण पूर्ण इदम् आत्मा-आता है न? ओहो! अपने भी है, इसमें भी पूर्ण इदम् लगता है, हों! परन्तु वह तो पूरा सब होकर एक आत्मा कहते हैं, ऐसा है नहीं। एक-एक आत्मा भिन्न है, परिपूर्ण है, सर्व ज्ञान सामर्थ्य से परिपूर्ण भरा हुआ है, ऐसे अनन्त आत्माएँ हैं, एक आत्मा है ही नहीं। सब होकर एक आत्मा कहे और फिर उसे माने। ए... प्रवीणभाई! यह तो धर्म की कसौटी है भाई!

पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे, ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व युक्तियुक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए। सर्व व्यापक कहते हैं और सब एक ही होता है। नाम, रूप, सब असत्य है, नाम, रूप सब असत्य है। फिर जो बाकी रह गया अकेला वह अद्वैत तत्त्व है। नाम रहता नहीं, हों!

www.vitragvani.com

लकड़ी का लकड़ी नाम रहता नहीं, दूध का दूध नाम रहता नहीं, फिर बदल जाता है; इसलिए नाम खोटा लगता है, रूप भी खोटा लगता है परन्तु नामरूप से खोटा भी परमाणु स्वतन्त्र द्रव्य है, उसकी पर्याय कहाँ खोटी है ? आता है न ? बहुत बातें करते हैं, ऐसी लड़ावे... मानो... आहा...हा... ! समझ में आया ? **पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे, ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व युक्तियुक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए।**

देवताभासे – यद्यपि देव जैसा प्रतिभासित होवे तो भी अरहन्त देव के अलावा अन्य देवों में कुछ किंचित् चमत्कारादि देखकर विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। इसके घर देव आता लगता है, हों ! कुछ होगा। अब भूत, अनन्त बार देव तू हुआ, सुन न अब। देव आवे उसमें आत्मा कहाँ आया ? धर्म कहाँ आया ? अन्य में भी कोई देव आता हो, चमत्कार देखकर उसमें बहुमान नहीं करना। कहो, हिम्मतभाई ! **'च'कार से और भी जो गुरु जैसा प्रतिभासित हो...** श्रद्धा का भान नहीं होता, आत्मज्ञान का भान नहीं होता, दर्शन का भान नहीं होता और अकेले बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मनाते हों, उसे गुरु जैसे दिखते हों—ऐसा प्रतिभासे, उसे मानना नहीं, समकिती उसे मानता नहीं। गजब बात भाई !

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : भार है या हल्का है ? हमारे दलाल है यह, दलाल। ऐसी तेरी दशा हो, ऐसा तेरा स्वरूप हो, उसमें भार नहीं, परन्तु दशा ही ऐसी है, कहते हैं।

विषय–कषाय से युक्त लम्पटी वेषधारी के प्रति विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। इस भाँति यथार्थज्ञान से भ्रष्ट करनेवाले कारणों से (पूर्णरूपेण) सावधान रहना चाहिए। लो ! देव–गुरु–शास्त्र में विपरीतता हो जिसमें, उसमें जरा कुछ होगा—ऐसा मानकर यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट नहीं होना। ये सब यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट होने के कारण हैं। समकिती, मूढ़ नहीं होता। देव स्वयं डिगाने आवे तो भी नहीं डिगता। आहा...हा... ! ऐसी उसकी अमूढ़दृष्टि होती है। यह समकिती का चौथा आचार, लक्षण या उसकी दशा में स्वरूप की वह स्थिति होती है। ये चार बातें की। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

www.vitragvani.com

प्रवचन नं. २५ गाथा-२३-२५ शुक्रवार, वैशाख कृष्ण १०, दिनांक ०२.०६.१९६७

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय है। उसका यहाँ २३ वाँ श्लोक है, श्लोक। मोक्ष की सिद्धि का उपाय—आत्मा का मोक्ष जो शुद्धपर्याय हो, उसका उपाय, वह इसमें बताया गया है। इसमें सम्यग्दर्शन, मोक्ष का उपाय पहला है, फिर सम्यग्ज्ञान-चारित्र की बात लेंगे। यह सम्यग्दर्शन के आठ आचारों का वर्णन है। समकिती को आठ अंग होते हैं। अंग कहो, आचार कहो, लक्षण कहो। सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ भगवान परमात्मा ने... मूल ऊपर २२ में आ गया है न?

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।।२२।।

सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का रूप है। यहाँ वीतराग दृष्टि हुई, उसे सम्यग्दर्शन कहा है। भगवान आत्मा अनन्त गुण का रूप... जीवादि (तत्त्वार्थ) भगवान द्वारा कथित तीर्थंकरदेव, यह २२ में हैं। हम पढ़ते हैं २३! यह तो २२ में सम्यक्त्व का स्वरूप है। उसके बाद आठ अंगों का यह वर्णन है। है? २२ में जरा देखो! पहला '**जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।**' '**सदैव कर्त्तव्यम्**' अर्थात् इन सिद्ध में भी यह सम्यग्दर्शन होता है। '**श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं**' देखो! इसका अर्थ देखो!

जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) रहित अर्थात् अन्य को अन्यरूप समझने रूप जो मिथ्याज्ञान है, उससे रहित श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास निरन्तर ही करना चाहिये। वह श्रद्धान, आत्मा का स्वरूप है। यहाँ तो वहाँ से बात लेनी है। आत्मा शुद्ध निर्विकल्प रागरहित वस्तु है। उसकी निर्विकल्प-रागरहित आत्मा की अनुभूति करके प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-आत्मा का रूप कहा जाता है। राग है, वह कहीं आत्मा का रूप नहीं है; सराग समकित, वह तो विकल्प है। समझ में आया? राग है, वह कोई समकित नहीं। सराग समकित की व्याख्या.... यह तो फिर अभी इस मस्तिष्क में आ गया। पहले तो यह पढ़ता था, उसमें से आया। उसमें

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

आत्मारूप आया है। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप अन्तर्मुख दृष्टि करके वीतरागभाव से आत्मा की प्रतीति करना, इसका नाम आत्मरूप और सम्यग्दर्शन कहने में आता है। समझ में आया? व्यवहार समकित, समकित नहीं है–ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वह अनात्मरूप है।

उत्तर : वह राग है; यह तो आत्मरूप है। माँगीरामजी! समकित क्या है? विकल्प–राग, वह व्यवहार समकित–वह राग है; वह कोई वस्तु नहीं। वह तो आरोप से–निमित्त के आरोप से कथन किया है। समकित तो, आत्मा शुद्ध आनन्द, पूर्ण स्वरूप, सर्वज्ञ से कथित ऐसा, परमेश्वर वीतरागदेव से (कथित) ऐसा जो आत्मा, उसे अन्तर्मुख होकर, राग के विचाररहित अरागी, निरागी परिणति द्वारा उसकी प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन कहने में आता है। लो, भाई! मांगलिक ठीक हुआ, देखो! यहाँ से–२३ से आया। कहो, समझ में आया?

पंचाध्यायीकार ने तो बहुत सरस बात ली है, आधार सब दिये हैं। देखो? यह अमूढ़दृष्टि में दिया है, इसमें—मक्खनलालजी का पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है न बड़ा? पहले यह (संवत्) १९८२ में देखा था। बढ़वाण में चातुर्मास था। उसमें तो स्पष्ट ऐसा लिखा है। सराग समकित नहीं होता, समकित तो वीतराग ही होता है और जहाँ समकित है, वहाँ ज्ञानचेतना (होता ही है)—ऐसा सिद्ध किया है न यहाँ? ज्ञानचेतना, कितने ही कहते हैं कि छठवें गुणस्थान तक प्रतीतरूप–श्रद्धारूप समकित होता है, ज्ञानचेतना नहीं, बाद में होती है, सब लिखा है। नहीं, पहले से ही—सम्यग्दर्शन से ही ज्ञानचेतना अर्थात् ज्ञान, ज्ञान में एकाग्र होकर; ज्ञान, राग में नहीं। वस्तुस्वरूप ज्ञान चेतन है, वह ज्ञान में एकाग्र होकर जो ज्ञानपर्याय–सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, उसमें जो प्रतीति हुई, उसे ज्ञानचेतनासहित सम्यग्दर्शन की प्रतीति वर्तती है। कहो, समझ में आया? बहुत गड़बड़ चलती है। व्यवहार, व्यवहार समकित, व्यवहार व्यवहार समकित है ही नहीं। समकित व्यवहार अर्थात् कि नहीं; वह तो निमितत देखकर आरोप से कथन है। आरोप से कथन है तो बिलाव, सिंह हो गया?

मुमुक्षु : आत्मसन्मुख दृष्टि में आठ अंग....

www.vitragvani.com

उत्तर : आठ अंग होते हैं, आठ आचार होते हैं, होते हैं। उनके आचार वे हैं, यह कहते हैं, देखो! २२ वीं गाथा ली?

देखो! **'आत्मरूपं तत्, तत्' 'वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है।'** ऐसा ज़ोर है वापस, देखा? आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप, शुद्धस्वभाव अनन्त गुण निर्विकल्प स्वभाव जिसका; ऐसे स्वभाव के सन्मुख होकर, विकार से विमुख होकर अन्तर आत्मा के ज्ञान के भान की प्रगट दशासहित प्रतीति करना, वह आत्मा का सम्यग्दर्शनरूप है। कहो, समझ में आया? उस सम्यग्दर्शन के ये आठ आचार हैं। लो, ठीक! उसके आठ किरण, सूर्य उगा हो, उसके आठ किरण होते हैं न? किरण। वैसे इसके आठ लक्षण कहो, आठ चिह्न कहो, आठ अंग कहो या आठ आचार कहो। पहला बोल। समकित के आठ अंग का वर्णन, नि:शंकित अंग। २३ वीं गाथा।

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या॥२३॥

आहा...हा...! **अन्वयार्थ : 'अखिलज्ञैः' 'अखिलज्ञैः'** अखिल। सर्व के जाननेवाले ऐसे सर्वज्ञ प्रभु। देखो! अखिल अर्थात् सम्पूर्ण जगत, तीन काल-तीन लोक—उसे जाननेवाले। **सर्वज्ञदेव द्वारा....** देखो! पाठ ही पहले यह रखा। **कहा गया यह सकल वस्तुसमूह...** भगवान ने फिर एक ही चीज़ नहीं कही। उनका कथित समस्त वस्तु का समूह अर्थात् बहुत (वस्तुएँ)। और कैसी है? **अनेकस्वभावरूप है....** अनेकान्तात्मक-अनेक स्वभाव है। वस्तु का एक ही स्वभाव है—ऐसा नहीं। अनन्त धर्मात्मक अस्ति-नास्ति आदि अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा, परमाणु आदि। भगवान केवलज्ञानी ने छह द्रव्य देखे; वे सब अनेक स्वभावरूप है।

वह क्या सत्य है? अथवा असत्य है-ऐसी शंका कभी भी नहीं करना चाहिये। अर्थात् उसे होती नहीं, ऐसा। उपदेश में तो ऐसा बोले न? ऐसी शंका होती नहीं। भगवान ने-परमेश्वर ने कहा हुआ षट्द्रव्यात्मक लोक अनेक स्वभाववाला तत्त्व जैसा है, वैसा ही भगवान ने कहा है, और वैसा है। उसमें सम्यग्दृष्टि को ज़रा भी शंका सूक्ष्म भी होती नहीं। समझ में आया?

www.vitragvani.com

टीका : सर्वज्ञदेव ने यह समस्त जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभावसहित कहा है। यह तो इतने के इतने शब्दार्थ किये हैं। **क्या वह सच्चा है या झूठा? ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिए।** यह तो अन्वयार्थ में है। वजन इतना है **'अखिलज्ञै:'**। सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, जिनके कथन में कहनेवाले ऐसे जो सर्वज्ञ परमेश्वर जिस सम्प्रदाय में हों, उन सर्वज्ञ से कथित पदार्थों को सम्यग्दृष्टि नि:शंकरूप से श्रद्धा करता है। उनमें उसकी शंका नहीं होती। ऐसे होंगे या नहीं? एक आत्मा में अनन्त गुण? एक परमाणु इतना छोटा, उसमें अनन्त गुण? एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश को रोके और गुण कितने? कि जितने आकाश के गुण अनन्त, उतने अनन्त गुण एक परमाणु में। समझ में आया? लोकालोक व्यापक आकाश (है), उसके जो गुण की संख्या, उतनी संख्या एक परमाणु की। समझ में आया? इतने धर्म, गुण अनन्त–अनन्त। वस्तु है न? वस्तु का समूह कहा न? वस्तु समूह अर्थात् छहों द्रव्य। **'वस्तुजातं'** कहा न? वस्तु की सब जाति / समूह। आहा...हा...!

रास्ते में चलते एक–एक रजकण यह क्या है? देखो! इस पवन के कारण वह उड़ता है या नहीं? क्या कहलाता है वह? देखो! उड़ता है न यह बाहर? कागज ऊँचे–ऊँचे। कहो, यह पवन के कारण उड़ते हैं या नहीं? देखो! यह पवन के कारण कहाँ का कहाँ जाता है? वह पृथक् पड़ गया है, एक नीचे और ऊँचे और ऐसे हुआ ही करता है। पवन न होवे तो होगा? परन्तु इसका अर्थ यह है कि एक–एक रजकण अनन्त धर्मात्मकस्वरूप है, उसके कारण वह सब ऊँची गति–नीची गति हुआ करती है, स्वयं की क्रियावतीशक्ति स्वयं के ही कारण से, पर के कारण से नहीं।

मुमुक्षु : इसका नाम अनेकान्तात्मक है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका नाम अनेकान्तात्मक है। कल टूट गया था तो कल बहुत ऊँचा चलता था, क्षण में ऊँचा जाए, क्षण में नीचे जाए। देखो! (कोई) माने कि इसके कारण यह होता है परन्तु उसका अस्तित्व है या नहीं? एक–एक उसका पोईन्ट जो रजकण है, उसका अस्तित्व है और उसके अस्तित्व का क्षेत्रान्तर, रूपान्तर, कालान्तर, भावान्तर होना, वह स्वयं के कारण है। ऐसा ही वह अनन्त धर्मात्मक पदार्थ है। क्यों मास्टर? यह

www.vitragvani.com

परमाणु अपने आप उड़ते होंगे यह ? यह देखो न, ये कौए उड़ते हैं सामने। देखो! यह वस्त्र उड़ता है, लो! देखो! पवन के कारण उड़ता है या नहीं ? देखो! यह, माँगीरामजी!

यहाँ कहते हैं **'वस्तुजातं अखिलज्ञैः'** भगवान ने एक-एक वस्तु अनन्त धर्मात्मक देखी है। भाई! आकाश बड़ा हो या परमाणु छोटा हो, सब धर्म—उसके गुण—तो समान ही हैं। समझ में आया? ऐसे आत्मा एक निगोद में हो! इतना शरीर, एक शरीर में अनन्त आत्मायें, लो! अब एक आत्मा में अनन्त-अनन्त धर्म। आहा...हा...! ऐसा है, और वस्तु किसे कहे? वस्तुरूप से जहाँ स्वाभाविक पदार्थ—जहाँ अकृत्रिम पदार्थ सहजस्वरूप वस्तु है। कोई जड़-चेतन (चाहे जो) हो, उसकी अनन्त शक्ति, अनन्त धर्म, अनन्त गुणस्वरूप ही होती है। वह स्वयं प्रतिक्षण अपने अनन्त धर्मरूप परिणमति है, वह स्वयं के कारण ही है, उसमें किसी का कारण-फारण नहीं। नहीं तो, अनेक, वे अनेक नहीं रहते।

इसलिए (कहा) **'वस्तुजातं'** वस्तु का समूह अनेक स्वभावरूप। एक तो वस्तु का समूह कहा, और फिर अनेक धर्मात्मक कहा, ऐसा। समझ में आया? एक तो वस्तु झाझा (बहुत) कही और फिर एक-एक धर्म, एक-एक वस्तु में बहुत धर्म कहे। झाझा समझे? बहुत, ऐसा। वे जितने है, उतने पदार्थ और एक-एक में जितने है, उतने अनेकान्तात्मक गुण। आहा...हा...! वस्तु ऐसी है वहाँ।

अपने ज्ञान चमत्कार की भी वस्तु ऐसी है कि एक समय में कितना जाने! क्षेत्र इतना जानता है न? प्रत्यक्ष नहीं होता? इसे असंख्य समय का उपयोग भी कितना जाने? उसका असंख्यातवाँ भाग एक समय है। एक समय में अनन्त-अनन्त जानता है, ऐसा ही उसका स्वभाव है। स्व-पने हूँ, परपने नहीं, पर अनन्तपने है—ऐसे अनन्त भी दूसरे रूप नहीं। ऐसे अनन्त धर्मात्मक पदार्थ स्वतन्त्र है। उसमें धर्मी को ज़रा भी शंका-स्वप्न में भी शंका नहीं होती। कहो!

शंका नाम संशय का है। जिन-प्रणीत पदार्थों में.... निर्दोष परमात्मा ने कहे हुए पदार्थ। जिन अर्थात् निर्दोष परमात्मा, जिनके समस्त दोष गये हैं। सभी दोष गये हैं और सब गुण निर्मल हुए हैं। दोष सब गये हैं और गुण सब निर्मल हुए हैं, बस! वे भगवान।

www.vitragvani.com

कहो, जिन है न ? जीतना, दोषों को जीता है और सब गुण निर्मल प्रगट हुए हैं, बस ! उनका नाम जिन। यह जिन कोई सम्प्रदायवाचक नहीं है, गुणवाचक शब्द है। वस्तु में—आत्मा में जो दशा में गुण भरे हैं—पूरे स्वभाव में, उनकी पर्याय में पूर्ण प्रगटता की। पूर्ण प्रगटता की अर्थात् सदोषता का नाश किया। सदोष को जीता और निर्दोष को प्रगट किया। ऐसे को परमात्मा और जिन परमेश्वर कहा जाता है। यह तो गुणवाचक ही, वस्तु के गुणवाचक ही यह पद है। यह कोई सम्प्रदाय का पद नहीं कि जैन में अरिहन्त कहलाये या जैन में जिन कहलाये—ऐसा नहीं।

जिन–प्रणीत पदार्थों में शंका नहीं करना। इसी को नि:शंकित नामक अंग कहते हैं। लो ! नीचे। **स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ११ में कहा है कि तत्त्व यही है, ऐसे ही है...** यही है और ऐसा ही है। यह अभी वहाँ तक तो वह का वही है। अब **अन्य नहीं...** ऐसा वहाँ अनेकान्त किया है। तत्त्व यही है और ऐसा ही है, वापस ऐसा। जैसा है वह है एक कहा, तत्त्व यही है और ऐसा ही है अर्थात् इसके ऐसे गुणोंवाला ऐसा है, ऐसा। तत्त्व यही है और ऐसा ही है अर्थात् ऐसे जो गुण हैं, ऐसा ही वह तत्त्व है। समझ में आया ?

भगवान परमेश्वर केवलज्ञानी ने जो तत्त्व कहे, वह तत्त्व यही है और ऐसा ही है। उसके गुण जितने धर्म हैं, वैसा ही तत्त्व है। आहा...हा... ! यही है और ऐसा ही है। उतने हैं और उतने अनन्त धर्मात्मक वस्तु है, अन्य नहीं—यह अनेकान्त। दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार से यह वस्तु—वस्तु है नहीं। **अथवा अन्य रीति से नहीं है।** अन्य नहीं—ऐसा कहा न ? अथवा दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। जिस प्रकार से है गुण–धर्मात्मक, उस प्रकार से पदार्थ है।

ऐसी निष्कम्प तलवार की तीक्ष्णधार के समान... उपमा दी है। **निष्कम्प तलवार की तीक्ष्णधार के समान सन्मार्ग में संशयरहित रुचि...** वीतराग–सर्वज्ञ के मार्ग की अन्तर रुचि, **विश्वास को नि:शंकित अंग कहते हैं।** कहो, समझ में आया ? एक बोल हुआ। एक आचार हुआ। दूसरा अंग। समकित का—धर्मी जीव का समकित का दूसरा अंग, दूसरा लक्षण, चिह्न, आचार। निकाँक्षित अंग।

www.vitragvani.com

गाथा २४ पर प्रवचन

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत्।।२४।।

इस लोक में ऐश्वर्य, सम्पदा आदि,... चाहता नहीं। जिसे परपदार्थ की इच्छा जिसे नहीं। स्वपदार्थ की दृष्टि और अनुभवदृष्टि हुई है, और अपनी निज सम्पदा की जिसे प्रतीति हुई है—ऐसे धर्मी को परसम्पदा की इच्छा नहीं होती। इसकी व्याख्या करते हैं। इस लोक की ऐश्वर्यता, सम्पदा आदि और **परलोक में चक्रवर्त्ती, नारायण आदि पदों को...** परलोक में जाकर कोई चक्रवर्ती होऊँ, नारायण होऊँ, इन्द्र होऊँ, देव होऊँ—उसे चाहता नहीं। अपने आनन्दमूर्ति की प्रतीति हुई है, उसकी भावना करे, या यह इच्छा हो उसे? उसे परपदार्थ की इच्छा ही नहीं होती—ऐसा कहते हैं।

समकिती चक्रवर्ती के पद में पड़ा हो, तथापि उसे उस पद की इच्छा नहीं होती। यह वर्तमान नहीं और भविष्य में भी नहीं। अपना निजस्वभाव अनाकुल आनन्द और ज्ञान की मूर्ति जिसने जाना है, अनुभव किया है, देखा है—ऐसा सम्यग्दृष्टि अपने अतिरिक्त की बाहर की सम्पदा, ऐश्वर्यता, बड़प्पन... अपना बड़प्पन देखकर उसमें पर के बड़प्पन की इच्छा कहाँ करे? अपनी ऐश्वर्यता, सम्पदा देखी है, उसमें उसे दूसरे की ईश्वरता नहीं लगती। परलोक में भी चक्रवर्ती, नारायण आदि की नहीं। एक बात।

दूसरी बात **एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे।** दो बातें कही। एक तो अपनी शुद्ध सम्पदा की भावनावाला है। इस सम्पदारहित, ऐसी सम्पदा जिसमें नहीं और दूसरे ऐश्वर्य और महिमा है—ऐसे चक्रवर्ती आदि पद की जिसे इच्छा नहीं है। वह तो एक पुण्य की भी जिसे इच्छा नहीं है। पवित्रता की भावना के समक्ष जिसे पुण्यभाव की भी कीमत नहीं है। कहो! इस पुण्य के लिये तो बेचारे मर जाते हैं। पुण्य... पुण्य... पुण्य... पुण्य अर्थात् क्या परन्तु? आत्मा में एक छिलका एक जगे साधारण, स्वभाव के रस-कस के बिना का।

मुमुक्षु : गुण जलकर होता है न!

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण की शान्ति जले, तब विकल्प उठता है। वह कहाँ आत्मा की शान्ति है? अशान्ति है। आत्मा का शान्तरस वीतरागीस्वरूप, उसमें से जब बाहर हटा, तब तो अशान्ति हुई। पुण्य का विकल्प अशान्ति है। यह सम्यग्दृष्टि, पुण्य के फल की— ऐश्वर्य, सम्पदा की इच्छा नहीं करता—ऐसा कहते हैं; और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्म, जिनमें एकान्तपना है; वास्तविक तत्त्व का पता नहीं, उनकी बाहर की कोई महिमा देखकर उनकी भी इच्छा नहीं करता। अन्य धर्मों को भी नहीं चाहता। **'अपि'** अर्थात् क्या? वह नहीं चाहता और यह भी नहीं चाहता, ऐसा। सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त कोई अन्यमार्ग अनेक वर्तते हों, उन्हें सम्यग्दृष्टि नहीं चाहता कि इसमें कुछ होगा? ऐसे बड़े करोड़पति माननेवाले, अरबोंपति माननेवाले... समझे न? देवादि चमत्कार आदि होते हैं, उसमें कुछ होगा? धूल भी नहीं।

सर्वज्ञ परमेश्वर ने आत्मा कहा तथा देखा और अनुभव किया, ऐसा आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज़ कहीं अन्यत्र ऐसी हो नहीं सकती। अन्यमत में अन्यमती ने कहाँ देखा है? सर्वज्ञ हो, उसने पदार्थ देखे हों। अन्यमत में सर्वज्ञ होते नहीं, सर्वज्ञ होते ही नहीं। वहाँ फिर उसके पदार्थ सच्चे देखे हों—ऐसा है नहीं। इसलिए **एकान्तवाद -दूषितपरसमयान्** अन्य धर्म। समय का अर्थ ऐसा किया। उसे भी सम्यग्दृष्टि नहीं चाहता। कहो, समझ में आया?

बड़े-बड़े बाबा हो, जोगी हो, बड़े ऐसे महन्त घूमते हों। ओहो! बड़ा चक्रवर्ती मानता हो। उसमें कुछ होगा? वह (इसे) माने नहीं। समझ में आया? अन्यधर्मों को बिल्कुल चाहे नहीं, क्योंकि सत्य बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र हो नहीं सकती। ऐसा इसने अपनी आत्मा का अनुभव और प्रतीति करके देखा है। सर्वज्ञ कहते हैं ऐसा ही यह तत्त्व है। वे वीतरागभाव बताते हैं तो आत्मा ही वीतरागभावस्वरूप है। समझ में आया?

टीका : 'इह जन्मनि विभवादीनि न आकांक्षेत्' – सम्यग्दृष्टि इस लोक में तो सम्पदा इत्यादि तथा पुत्रादिक को नहीं चाहता... लो! यह पुत्र और पुत्रियों की इच्छा नहीं होती। बाँझ है और पुत्र होवे तो ठीक, (ऐसा) सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। सम्पत्ति इत्यादि, प्रतिष्ठा, कीर्ति बड़ी, पुत्रादि को नहीं चाहता।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : कुधर्मी को चाहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को चाहे नहीं। चाहे आत्मा की भावना करे, ऐसा कहते हैं। आत्मा आनन्द है, उसकी भावना करे या इस धूल की, जिसमें नहीं उसकी करे ? इसमें नहीं, उसकी भावना क्या करे ? ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया या नहीं ? ऐसे तुम्हारी बात सुनकर गलगलिया हो जाए, उस तुम्हारे लड़के की। वह राजकोट में बहुत कहता था। 'पूनम' आया, 'पूनमचन्द' का आया, कोई कहता था। पीछे से आकर बहुत (कहता था)। पुण्यतत्त्व भी एक अस्तित्वधारक है न ? चमक है न वह संध्या की ? संध्या का रंग। अस्त हो जाएगा, फिर कुछ नहीं मिलेगा। यह इच्छे नहीं, धर्मी को वह इच्छा होती नहीं। भाई ! ऐसा सुनकर ऐसा नहीं हो जाता उसे कि ओहो... ! मेरे ऐसा होवे और अपने ऐसा होवे तो ठीक। क्या होवे ? धूल होवे ? विष्ठा है वह सब। समझ में आया ? कहो, दिल्ली, दिल्ली रहते हो न तुम ? उसके पुत्र की वहाँ पालखी चली है। सुना है ? फिल्म, फिल्म, पालखी। हम वहाँ थे, तब वह बड़ा था, क्या कहलाता है वह ? बोर्ड। चन्दुभाई ने कहा—यह 'पूनम' का लगता है, पालखी। इसका दूसरे नम्बर का पुत्र होता है। वहाँ दो दिन में पौने पाँच लाख कमाये, अस्सी लाख की पालखी ली। पालखी अर्थात् ? वापस एक कोई कहता था, पालटी ? पालटी। यह भी कोई कहता था कि मेरे नाम का नाम आना चाहिए इसमें। पप्पो है तो पप्पो आया। तब नाम दिया है। बहुत लड़के बातें करते थे। 'पूनमचन्द' है न नाम ? उस फिल्म का नाम प से आना चाहिए। तब पालटी आयी है, कहते हैं। ऐसे के ऐसे। आहा...हा... ! अस्सी लाख में पालटी, दो दिन में पौने पाँच लाख आये। अस्सी लाख में पाँच करोड़ आयेंगे, लिखा है उसमें, लो ! थोड़े समय में पाँच करोड़ होंगे।

मुमुक्षु : बड़ा मन्दिर बनायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे तो कहते थे कि मुझे लाभ मिलेगा, यदि दे तो। वे कहते थे उस समय वहाँ राजकोट में सुनकर कि मुझे लाभ मिलेगा परन्तु उसमें कुछ है नहीं, धूल-धाणी है। यह तो पुण्य की चमक थोड़ी दिखती है। इसमें आत्मा को क्या है ? ये चमक, चमक है, चमक। अभी आज नहीं देखा ? रास्ते में कुछ जला, धड़ाका लगा, रास्ते में निकलते हुए वह तार है न तार ? बिजली का। वह कुछ जला, बड़ा भड़का हुआ, ऊपर

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

ही ऊपर अधर में खम्भे में। मैंने आवाज सुनी, मेरी नज़र वहाँ नहीं थी, मैं तो नीचे देख रहा था, इन लोगों ने देखा, बड़ा भड़का हुआ, कुछ जल गया होगा अन्दर, बड़ा भड़का हुआ। भड़का होकर वापस बुझ गया, ऐसे मुझे तो कहना है। भड़का होकर वापस बुझ गया तुरन्त का तुरन्त, नजर भी नहीं पड़ी, मैं तो ऐसे नीचे देख रहा था। बड़ी आवाज सुनी कहा यह क्या हुआ? तब कहे यह जला, खम्भे में बड़ा भड़का निकला, क्षण में भड़का प्रकाश और क्षण में वापस अंधेरा। इसी प्रकार इस पुण्य के परिणाम में भी ऐसा है। बाहर का भड़का दिखता है (वापस) अन्धकार। भाई... भाई...! ऐसी इच्छा धर्मी नहीं करता।

धर्मी को इस लोक की और पुत्रादि की... लो! समझ में आया? अथवा **तथा परलोक में चक्रवर्तीपद,...** की इच्छा नहीं करता। नारायण अर्थात् वासुदेव। समझे न? वासुदेव कहलाते हैं न? अर्धचक्री अर्धनारायण की इच्छा नहीं करता। **आदि शब्द से इन्द्रादिक पद को नहीं चाहता।** वह सम्यग्दृष्टि धर्मी गृहस्थाश्रम में हो, वह इन्द्रपद को नहीं चाहता। इन्द्रपद धूल है। उसमें क्या था वहाँ? पद कैसा? आत्मपद में आनन्दनिधान पड़ा है। उस पद की इच्छा किसकी? कहो, समझ में आया?

वस्तु के एकान्तस्वभाव को कथन करने के कारण.... जिसमें सर्वज्ञ नहीं, इसलिए उनने वस्तु का स्वरूप नहीं जाना। इसलिए वस्तु को अपनी कल्पना से एकान्त धर्म कहनेवाले, **दूषित हैं ऐसे अन्यमत हैं, उनको भी नहीं चाहता।** कहो, समझ में आया?

भावार्थ : निःकांक्षित नाम वांछारहित का है। जिसे इच्छा ही नहीं। किसकी इच्छा? धूल में। 'क्या इच्छत सब खोवत है इच्छा दुःख मूल' जिसे इच्छा ही नहीं, कांछा ही नहीं, इच्छा ही नहीं, ऐसा कहते हैं। अस्थिरता की इच्छा, वह वास्तव में इच्छा नहीं है। **कारण कि इस लोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नहीं चाहता....** लो! इस लोक सम्बन्धी पुण्य का फल। इसका ऐसा आवे और इसका ऐसा आवे, यह करें तो लड़का हो, अमुक होवे—ऐसा कुछ नहीं चाहता। लक्ष्मी मिले, पैसा मिले, कुछ धर्म करें तो पैसा मिले। समझ में आया? कुछ धर्म करें तो लक्ष्मी मिले, स्त्री-पुत्र मिले, ठीक हो। मूढ़ है। मिलना न मिलना, वह कहीं तेरी इच्छा से है? धर्मी पुण्य के फल को चाहता नहीं। लो!

सम्यक्त्वी पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को... धूल के फल को नहीं

www.vitragvani.com

चाहता, इसलिए **सम्यक्त्वी पुण्य के फलरूप इन्द्रियों के विषयों को आकुलता का निमित्त होने से दुःखरूप ही मानता है।** ये पाँच, पचास करोड़ रुपये और इन्द्र के इन्द्रासन सब दुःखरूप हैं। सम्यग्दृष्टि को आत्मा की दृष्टि हुई है, अनुभव हुआ है। आत्मा शुद्ध आनन्द की मूर्ति है, आनन्द का स्वाद है; इसलिए सम्यग्दृष्टि को दुनिया के किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं होती। कहो, समझ में आया? आकुलता का दुःखरूप, दुःख की इच्छा करे? दुनिया कहती है कि यह सुखी है; ज्ञानी कहते हैं कि दुःखी है। कहो! पाँच, पचास करोड़ हुए, दुःखी है बेचारा, फुरसत नहीं मिलती, फुरसत नहीं मिलती। उसी-उसी में यह लच्छा उलझ जाता है, विकल्प का जाल, यह करूँ और यह करूँ, यह करूँ और यह करूँ। अवसर आवे वहाँ आँख मूँद जाती है। जाओ...! मुश्किल से अवतार मिला, यह भव, भव के अभाव का कारण मिला; वहाँ भव बढ़ाकर चला गया। कहो, समझ में आया?

दुःखरूप ही मानता है। फिर अन्यमती नाना प्रकार की एकान्तरूप कल्पना करते हैं,... आत्मा नित्य ही होता है, अनित्य ही होता है, शुद्ध ही होता है, अशुद्ध ही होता है-ऐसा जो मानते हैं; पर्याय नहीं होती, कुछ कहते हैं पर्याय होती है, द्रव्य नहीं होता। ऐसे **उन्हें भला जानकर नहीं चाहता है।** सम्यग्दृष्टि उसे भला नहीं मानता। समझ में आया?

दो आचार हुए—निःशंकित, निःकांक्षित। वे तो ऐसे निःशंक, ऐसा नहीं ऐसे। अपने वीतरागस्वभाव में शंका नहीं; ऐसे परपदार्थ की इच्छा नहीं, यह अस्ति-नास्ति से बात की है। समझ में आया? अपना निर्विकल्प स्वभाव, पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वभाव में जिसे कुछ सन्देह, शंका नहीं—ऐसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की उसे इच्छा नहीं। बस! यह अस्ति-नास्ति हो गया। वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यह तो अभी तो सम्यग्दृष्टि हम हैं, यह पैसा होवे तो ठीक, अमुक होवे तो ठीक, यह होवे तो ठीक, लो! कितने मानते हैं, 'पद्मपुरा' देखो न गये थे न, पद्मपुरा। पण्डित भाषा ऐसी करते थे कि यहाँ से ऐसा अमुक होता है, फलता है, अरे! भगवान के नाम से ऐसा फलता है चलाते हो, विपरीत मान्यता कितनी! ऐसी कहीं अन्यत्र नहीं? महावीरजी, वहाँ भी चलता है न! महावीरजी में तो बड़ा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

चलता है, बहुत चलता है। ऐसा वीतराग के नाम से चलने दे! वीतराग की प्रतिमा तो एक शुभभाव में निमित्त है, भक्तिरूप से; उसे ऐसा माने वह तो महापाखण्ड चलाना है। समझ में आया? चलता है, सब कितने ही चलते हैं।

मुमुक्षु : पण्डित चलाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पण्डित चलाते हैं, पण्डित भाषण करते हैं। यहाँ लोग आवें उन्हें ऐसा होता है, अमुक ऐसा होता है, अमुक ऐसा होता है—ऐसा कहते हैं। वहाँ भंवरलाल ने भाषण किया था, नहीं? पद्मपुरा तुम आये थे या नहीं? भाषण किया था। पूनमचन्द गोदिका साथ में थे, भाषण किया था। इन लोगों को ऐसा होता है। मेरा जरा सुना न, इसलिए जरा कड़क होकर बात करते थे। ऐसे लोग मानते हैं, इसलिए लोगों का झुकाव अधिक है परन्तु अधिक ऐसे कारण से झुकाव विद्वान के नाम से ऐसी विपरीतता कराते हैं... चमत्कार खोटा, है कुछ नहीं।

नवलभाई कहते थे सब पागल हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे सब, वे सब पागल ही हैं...

इच्छामात्र नहीं होती। धर्मी को अपने पूर्ण आनन्द की भावना होती है। उसे पुण्य के विकल्प की भावना नहीं तो फिर उसकी फल की प्राप्ति हो, उसकी भावना हो ही नहीं सकती (ऐसी इच्छा होवे तो) वह मिथ्यादृष्टि है, वीतराग को माननेवाला नहीं।

अब तीसरा निर्विचिकित्सा अंग। उस ओर है निकांक्षित, उस ओर नीचे, फुटनोट में।

निःकांक्षा–(विषयों की व विषय के साधनों की अभिलाषा–आशा को कांक्षा कहते हैं)... विषयों की अथवा विषयों के साधनों की अभिलाषा। साधन हैं न सब विषय के? पुत्र और पैसा और अमुक इत्यादि–इत्यादि। उनकी आशा को कांक्षा कहते हैं। ***अर्थात् कर्म के वश, अन्तवाले,...*** ये सब अन्त वाले हैं, दो–पाँच वर्ष दिखते हैं और फिर समाप्त। धूल–धाणी वाह पाणी हो जाता है। ***उदय में दुःखमिश्रित...*** मर्यादावाले, उदय में दुःखसहित, पाप के बीजरूप ***सुख में अनित्यता का श्रद्धान होना...*** समझ में आया? ऐसे सुख में ***अनित्यता का श्रद्धान होना, वह निःकांक्षित अंग है।*** लो! आहा...हा...!

www.vitragvani.com

ऐसे सुख अनित्य हैं, नाशवान हैं। पैसे के, स्त्री के, पुत्र के, पद्मिनी हो, सब सुख ज़हर जैसे नाशवान हैं। देखो न! तीन बातें ली हैं। कर्म के वश होकर जो वस्तु आती है, वह अन्तवाली है। उदय में दुःख मिश्रित है। दुःख तो साथ ही है, साथ ही दुःख है और पाप के बीजरूप सुख, ठीक! वह सुख कैसा है? कि पाप के बीजरूप है। माना हुआ सुख —पैसे में, इज्जत में, कीर्ति में, इन्द्र-इन्द्रासन में, पुत्र-पुत्रियों में, लड़का अच्छा ऐसा कलेजा स्थिर हो, अच्छे आठ बड़े लड़के हों योद्धा जैसे कमानेवाले, कहते हैं कि वे पाप के बीजरूप हैं।

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सुख वर्तमान यह माने तब, उसमें सुख है, वह पाप का बीज है, उसमें तो पाप फटता है। कहो, समझ में आया? अच्छा लड़का हो तो प्रसन्न होता है, मूढ़ है। पाप का बीज है तेरे हृदय में—ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? अच्छा लड़का हो.. सुना? वह दो दिन में पौने पाँच लाख पैदा किये। इनका लड़का याद आया पहले में तो, दूसरे में फिर तुमने किया वहाँ याद आया। इनका है न पूनम? कलकत्ता में, अस्सी लाख की पालटी ली है फिल्म। दिल्ली... दिल्ली... आठ दिन में पौने पाँच लाख कमाये। दो दिन में, थोड़े दिन में पाँच करोड़ करनेवाला है, पाँच करोड़। प्रसन्न होवे तो मूढ़ है—ऐसा कहते हैं। उसमें प्रसन्न होवे इसका पिता तो मूढ़ है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। प्रसन्न किसका? विष्टा थोड़ी खिलावे, तो अधिक खाये, प्रसन्न हो, क्या इसका अर्थ?

वह तो पाप के बीजरूप सुख है। देखो न! आहा...हा...! एक तो कर्म के वश होकर आनेवाला है, कहीं तेरे आधार से आता नहीं और वह भी अवधि लेकर आनेवाला है। पाँच, पच्चीस वर्ष रहना, समाप्त! किसी को पाँच (वर्ष भी) नहीं रहता, थोड़ा रहे और चला जाये। उदय में दुःखमिश्रित है। यह सब उसका उदय ही दुःखमिश्रित है। पाप के बीजरूप है, उसमें तो अकेला पाप ही बाँधता है। उसके सुख में अनित्यता का (श्रद्धान), वह सुख अनित्य है, नाशवान् है—ऐसा श्रद्धान होना, उसे समकिती धर्म का निःकांक्षित अंग कहने में आता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की गाथा है। निर्विचिकित्सा अंग

www.vitragvani.com

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।।२५।।

गाथा २५ पर प्रवचन

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि अनेक प्रकार की दुःखदायक पर्यायें हैं और अपवित्र विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि न करना। ग्लानि नहीं करना। क्या कहा? द्वेष नहीं करना, ऐसा कहा। अपने शुद्ध अखण्डस्वभाव की शंका न करना, पर में इच्छा न करना। अब प्रतिकूलता में द्वेष न करना–ऐसा आया। पहले राग न करना; अब द्वेष न करना, यह आया। समझ में आया? पर्यायें... पाठ में भाव है, टीका में उसका अर्थ पर्यायें किया है।

अनेक प्रकार के भावों में **पुरीषादिषु** अर्थात् विष्टा आदि, लो! पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए। अनेक प्रकार की दुःखदायक अवस्थायें और अपवित्र विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं। वे तो जगत की जड़ की पर्याय है। परमाणु उसरूप—विष्टारूप परिणमित हुए हैं, उसमें विष्टा है, इसलिए खराब है—ऐसा कहाँ आया? वह तो परमाणु की उस समय की पर्याय है। उस समय की पर्याय का अस्तित्व है, द्रव्य का ऐसा स्वभाव है, उसरूप–गन्धरूप परिणमित हुआ, वह तो गन्धगुण की पर्याय है; उसमें अनिष्ट कहाँ आया?

क्षुधा, तृषा, लो न! क्षुधा लगे तो ग्लानि होती है। क्षुधा एक जड़ की पर्याय है, तृषा भी जड़ की अवस्था है। सर्दी लगे सर्दी, समझे न! सब दुःखदायक पर्यायें बहुत सर्दी। सर्दी जड़ की पर्याय है, वह तुझे कहाँ छूती है? आत्मा को सर्दी नहीं लगती, आत्मा को क्षुधा नहीं लगती, आत्मा को तृषा नहीं लगती, आत्मा को शीत नहीं लगती। वैसे उष्ण जड़ की पर्याय है, उष्ण बहुत गर्मी, बहुत गर्मी। उष्ण पर्याय है, शरीर में बुखार आवे, लो! १०६ डिग्री, वह तो जड़ की पर्याय है। उसमें आत्मा को क्या? उसमें ग्लानि करना, वह द्वेष है। वह द्वेष धर्मी को नहीं होता। ज्ञेय की पर्याय ही ऐसी है, उसमें द्वेष किसका? उसकी श्रद्धा में तो आया है कि परमाणु ऐसे होते हैं, परमाणु ऐसी पर्यायवाले होते हैं, रजकण ऐसी

www.vitragvani.com

अवस्थावाले होते हैं, ऐसा तो श्रद्धा में आया है। वे अवस्थावाले होते हैं, अवस्थारहित नहीं तो यह शीत, उष्ण आदि परमाणु की अवस्था है, ऐसे होते हैं। उसमें शंका और ग्लानि करने की आवश्यकता नहीं है। कहो, समझ में आया? आहा...हा...!

अनेक प्रकार के दु:खदायकभाव, पाठ में भाव था न? **नानाविधेषु भावेषु** इसका अर्थ किया पर्याय, ऐसा। अनेक प्रकार की वे पर्यायें तो परमाणु की अवस्था है, यह क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी पुद्गल की अवस्था नहीं होती? उस क्षण में उसकी अवस्था हो, वह उस परमाणु का पर्यायधर्म है। उसका तुझे इनकार करना है? ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता, तो तेरी श्रद्धा में अन्तर है। नहीं होता अर्थात्? उसकी होती है ऐसी और ऐसा न हो इसका अर्थ क्या? कहो, समझ में आया? शरीर में सर्दी, गर्मी आदि होती है। उस समय होती है, उसका पर्यायधर्म। होता है और न हो इसका अर्थ क्या?

अपवित्र विष्टा, ऐसे सड़ी हुई बिल्ली, बदबूदार चूहा, कितने महिने के सड़ गये हों, गन्ध मारे, गहरी गन्ध (आवे), वह तो परमाणु पर्याय है। गहरी कहो या छीछरी कहो, पुद्गल की पर्याय है। वहाँ श्रद्धे नहीं छह द्रव्य? छह द्रव्य की श्रद्धा की कब कहलाये? कि उसकी पर्यायसहित द्रव्य को श्रद्धे तो श्रद्धा की कहलाये। उस पर्यायसहित वह द्रव्य है, उसमें तुझे क्या है उसके कारण? उसके प्रति द्वेष नहीं करना। कहो! है न, ग्लानि नहीं करना? है न ग्लानि नहीं करना? ग्लानि अर्थात् द्वेष, ऐसा। आदि पदार्थों में... टीका, टीका पढ़ी जा रही है, ग्लानि नहीं करना। भावार्थ बाद में है। यह तो शब्दार्थ और टीका एक ही है। उसमें ग्लानि नहीं करना।

भावार्थ: विचिकित्सा नाम असुहावने का है... देखो, असुहावना-न रुचना। विचिकित्सा नाम असुहावने का है। न रुचे-प्रतिकूलता न रुचे, बुखार, सर्दी, धूप, गर्मी, क्षुधा, तृषा, हवा कुछ रुक जाये वहाँ, इच्छा से अधिक हवा आवे वहाँ अरुचि हो। **विचिकित्सा नाम असुहावने का है अथवा ग्लानि का है,...** इसकी व्याख्या की। ग्लानि कहो असुहावना कहो या द्वेष कहो। **उनसे जो रहित हो, उसे निर्विचिकित्सा कहते हैं।** असुहावना से रहित अथवा ग्लानि से रहित हो, उसे विचिकित्सा, ग्लानिरहित, द्वेषरहित कहने में आता है।

www.vitragvani.com

पाप के उदय से दुःखदायक भावों के संयोग होने पर... पूर्व के पाप का उदय हो। दुःखदायक अर्थात् दुःख के निमित्त, हों! दुःखदायक का अर्थ यह। दुःखदाता अर्थात् दुःख का निमित्त। ऐसी पर्याय का संयोग होने पर दुःख हो। ऐसे रास्ते में निकलता हो और बड़ा फणधर ऐसा फण उठाकर सामने आता हो वह तो उसकी परमाणु की पर्याय है। उसे तो वह आत्मा है, उसने भी नहीं किया। ऐसे फण मारता हो। किसकी ग्लानि करना? वह तो परमाणु की पर्याय है, स्कन्ध की वह अवस्था उस काल का भाव है। यहाँ भाव कहा है न?

उद्वेगरूप न होना,... ऐसा देखकर अन्तर में द्वेष, आत्मा के भान को भूलकर द्वेष नहीं करना। समझ में आया? ऐसे एकाकार हो जाये। आहा...हा...! भाई! हमें आयी हुई वेदना तुम्हें आवे तो पता पड़े, फिर ऐसा कहे। सहन नहीं होता। क्या सहन करना है भाई! पुद्‌गल की पर्याय का संयोग उस काल में वैसा होवे। तू किसे सत् को असत् करेगा? वह अवस्था उस काल में ऐसी ही होनी चाहिए—ऐसा तू कहेगा? वह तो सत् को असत् करना चाहता है। इससे कहीं तेरी मान्यता से हो, ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

पाप के उदय से दुःखदायक पर्याय के संयोग होने पर उद्वेगरूप न होना, कारण कि उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं है। देखो! वे जड़ की पर्यायें उसके कारण से होती है। कर्म का भले निमित्त लो। कर्म के उदय के कारण से अपने वश नहीं है, वह कहीं अपने वश नहीं है। कहो! शरीर में कठोर रोग आवे, वह अपने वश है? भगन्दर हो, क्या कहलाता है गले में? कैंसर हो और दूसरा हो, ये कण्ठमाल हो, हाडसांकली का रोग हो, ये हाड़ पड़े-पड़े टुकड़े हो जायें, हाड़ ऐसे के ऐसे, हों! कुछ खावे-पीवे नहीं, ये हड्डियाँ हैं वे गलने लगें, टुकड़े होकर निकलने लगें। हाडसांकली। किसे रखना है? कौन रखे?

मुमुक्षु : खाने की भूल हुई हो?

उत्तर : खाने की भूल क्या? वह पर्याय होनी हो, उसमें कौन भूल? परमाणु की पर्याय का स्वकाल है, उसे रोके कौन? उसकी ग्लानि क्या? उसकी यह यहाँ कहते हैं। इस प्रकार ऐसा होवे, ज्ञानरूप से जान, जानने के लिये है, वह ग्लानि करने के लिये नहीं है। समझ में आया? पूर्व के उदय के कारण ऐसा कोई बाहर में भी अपयश के, अपकीर्ति

www.vitragvani.com

के संयोग बने। बने उससे क्या है ? उसमें आत्मा को क्या ? धर्मी उसकी ग्लानि नहीं करता। ग्लानि करके उलझता नहीं, ऐसा कहते हैं। उलझता नहीं, मुझाता नहीं, समझते हो ? घबराता नहीं है, हिन्दी भाषा में।

देखो, **उदयाधीन कार्य अपने वश नहीं है।** कर्म के उदय के आधीन हुए बाहर के संयोग तृषा, क्षुधा, शीत, उष्ण ये कोई आत्मा के आधीन नहीं है। **इस दु:ख से अमूर्तिक आत्मा का घात भी नहीं है...** देखा ? बाहर की प्रतिकूलदशा से भगवान आत्मा का घात भी नहीं है। कहो ! कठोर रोग आवे इससे आत्मा का घात हो जाता है ? कठोर भूख लगे, तीव्र प्यास से कोई आत्मा का घात होता है ? यह आत्मा भिन्न, वह वस्तु भिन्न है। इसलिए धर्मी को विचिकित्सा अर्थात् द्वेष नहीं होता। ऐसी पर्याय में द्वेष नहीं होता। ज्ञाता जाननेवाला है। जगत में यह अवस्था वर्तती है, उसे जानता है, वह भी परद्रव्यरूप से जानता है।

फिर विष्टादि निन्द्य वस्तु में... विष्टा, हल्की बिल्ली मर गयी हो, चूहा मर गया हो **निन्द्य वस्तु में ग्लानिरूप न होना,...** ऐसे पदार्थों में ऊ...ऊ... (न करे)। अपने भान को भूलकर ग्लानि कर रखे ऐसा करना नहीं। **क्योंकि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है।** लो ! वह तो परमाणु का ऐसा स्वभाव है। चूहा मरे तो गन्ध मारेगा ही, वह उसकी पर्याय गन्ध की ही परिणमेगी। वही परमाणु की पर्याय किसी समय अच्छी होती है, ओहो...हो... ! वह राग करनेयोग्य नहीं है; प्रतिकूल के समय द्वेष करनेयोग्य नहीं है। वह तो वस्तु ऐसी है। सम्यग्दृष्टि जिसे अपने स्वभाव का भान है और परपदार्थ के स्वभाव का भी ज्ञान है कि ऐसा ही यह स्वभाव होता है। मुझे कुछ नुकसान नहीं करता।

क्योंकि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है। इसमें आत्मा को क्या ? कहो, समझ में आया ? शरीर में चारों ओर रोग घेरा डाले, वह वस्तु का स्वभाव है। कहो ! सातवें नरक के नारकी को कितना (दु:ख) होगा शरीर में ? समकिती को ग्लानि नहीं होती। उस सातवीं नरक के नारकी को—समकिती को ग्लानि नहीं होती। इतनी प्रतिकूलता, इतनी प्रतिकूलता। प्रतिकूलता कहना किसे ? ज्ञेय को अनुकूलता-प्रतिकूलता की छाप किसने लगायी है ? वे तो जाननेयोग्य पदार्थ हैं। यह तो अज्ञानी मानता है कि यह मुझे ठीक है और

www.vitragvani.com

यह मुझे अठीक। ठीक–अठीक परपदार्थ था ही कहाँ ? अठीक तेरा राग–द्वेष और ठीक तेरा स्वभाव। समझ में आया ? परन्तु भाई ! सुविधा कुछ ठीक हो तो धर्म किया जा सकता है—ऐसा लोग नहीं कहते ? कहो, बीड़ियाँ सुलगाकर बेचारे कठिनता से पूरा करते हों, आठ लोग, वे किस प्रकार निवृत्ति करें ? कोई पाँच–पचास हजार होवे तो चेहरा ठीक रहे, ऐसा होगा या नहीं ? मोहनभाई ! लड़का वहाँ कमाता है, ऐसा मन को सन्तोष है कि भाई ! अब अपने यहाँ रहो, दिक्कत नहीं अब। जयचन्दभाई को देखो ! कितना होता है। इसे दुःख होता है। माना है जगत ने, धूल में भी नहीं कुछ। धुएँ के वाचका है, धुआँ, धुआँ समझे न ? धुआँ, धुआँ धुएँ को पकड़े, ऐसे पकड़ में आये ? धुआँ होता है न ? धुआँ। कच्ची लकड़ियाँ, कच्चे कण्डे में धुआँ उठता है न ? अग्नि का, उसे पकड़े तो ? ऐसे परवस्तु की पर्याय उस समय में होती है, उसे कौन रोके ? आहा...हा... !

वीतरागी सम्यग्दर्शन है। वीतरागी सम्यग्दर्शन में निश्चय में आत्मपदार्थ के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की इच्छा नहीं, अपने में शंका नहीं, प्रतिकूलता में द्वेष नहीं—ऐसा सिद्ध करते हैं। वीतरागभाव सिद्ध करते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? जैसा इसका स्वभाव है न ! वीतराग, शान्तरस, शान्तरसेन्द्र ऐसा कहा है। कल नहीं आया था ? शान्तरसेन्द्र अनुभव है। वह शान्तरस कर इन्द्र है, शान्तरस का स्वामी है, अनुभव शान्तरस का स्वामी है; बाकी विकल्प तो अशान्तरस का मूल है। अशान्त ! ये बाहर के प्रतिकूल संयोग में अशान्ति प्रगट करता नहीं, द्वेष करता नहीं।

इसमें आत्मा को क्या ? यह निर्धनता हो तो आत्मा को क्या ? रोटियाँ न मिलें और क्षुधा हो तो आत्मा को क्या ? ऐसा कहते हैं। और पानी की बूँद न मिले व प्यास की अपारता हो, उसमें आत्मा को क्या ? वह तो पर की पर्याय है, जड़ का स्वभाव है। **अथवा जिस शरीर में आत्मा निवास करती है, उसमें तो सभी वस्तुयें निन्द्य ही हैं।** ऐसा विचारे। पूर्व बाहर की (वस्तुएँ) तो कहीं रह गयी। कहते हैं यह शरीर ही, जिसमें तू वश रहा है, दिखता है बाहर से, वह ये निन्द्य है, सब विष्टा, पेशाब, गन्ध, मुँह दो दिन धोवे नहीं तो गन्ध मारे, दाँत में... एक बार आया था, ऐसी दाँत में चिकनाई कि पैसा चिपक जाये। एक व्यक्ति ने जैन साधु की निन्दा की थी न ? वह तो शरीर का धर्म है। जले, दाँत में वह

www.vitragvani.com

हो, जीभ में मैल हो, दाँत में चिपके, शरीर गन्ध मारे। कहो! सब शरीर में भरा है। विष्टा, माँस, हड्डियाँ, चमड़ी, चर्बी, नली सब देखो न!

जिस शरीर में बसता है, उसमें ही समस्त ही वस्तु निन्द्य है, उसमें एक भी वस्तु अच्छी नहीं है। ऐसा कहकर कहते हैं, किससे तू द्वेष करेगा? ऐसा। द्वेष करना होवे तो तू इसे द्वेष कर—ऐसा कहते हैं। इसका शरीर का भी द्वेष कर। द्वेष करने से तुझे क्या मिलेगा? शरीर की अवस्था जो होनी है, वह है। मैसूर खाया हो और तुरन्त उल्टी हो। मैसूर समझे? मैसूर, पकवान, ऊँचा पकवान होता है न? पकवान। पकवान को तुम्हारे क्या कहते हैं? मैसूर–एक सेर आटे में चार सेर घी पिलाकर मैसूर होता है, जालीवाला। खाया और उल्टी, खा! यह निन्द्य है, जिसे क्षण में जिसने वमन बनाया ऐसा तो यह शरीर है। तू किसे बुरा कहेगा? ऐसा कहते हैं। तू किसे बुरा कहेगा? यह स्वयं ही बुरे का पुतला है। आहा...हा...!

ऐसे घी के साटा (गुजराती मिठाई) ऐसे सफेद पास्ता जैसे मीठे साटा होते हैं। ऐसा डाला तो एक आधे मिनिट में उगले और वहाँ निकाले तो हो गया। यही निन्द्य है, यही–मशीन ही विष्टा बनाने की मशीन है। अनाज में से विष्टा बनाने की यह मशीन है। पेशाब बनाने की, विष्टा बनाने की। चारों ओर यही धरता है या नहीं? कहते हैं कि तू किसके सामने द्वेष करेगा? ऐसा कहते हैं। शरीर ही निन्द्य स्थान जैसा है, उसमें तू प्रतिकूलता में कहाँ द्वेष करेगा? समभाव। सम्यग्दृष्टि को दृष्टि के भान में प्रतिकूलता में उसे द्वेष नहीं आता। यह तीसरा निर्विचिकित्सा नाम का इसे गुण कहने में आता है। लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६ गाथा–२५–२८ शनिवार, वैशाख कृष्ण १०, दिनांक ०३.०६.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है। मोक्ष के उपाय की बात है। सम्यग्दर्शन के आठ लक्षणों अथवा आचारों का वर्णन है। सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसे विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धान अन्तर में हुआ हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह (गाथा) २२ में आ गया। समझ में आया? २२ वीं गाथा में आ गया है—**'जीवादि श्रद्धानम्'** जीव–अजीव आदि जो तत्त्व

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हैं, उनके विपरीत अभिप्रायरहित अन्तर की स्वभाव–सन्मुख की दृष्टि, उसे आत्मरूप भाव—उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया? उस सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अन्तर श्रद्धा–ज्ञान में श्रद्धा के ऐसे आठ लक्षण होते हैं। आठ आचार कहो, लक्षण कहो, अंग कहो। उसका तीसरा निर्विचिकित्सा अंग अपने चला। इसके नीचे, यह बाकी रहा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का। नीचे है, ३२ वें पृष्ठ पर नीचे।

निर्विचिकित्सा अंग... सम्यग्दृष्टि को, धर्मी को... है पुस्तक? रमणीक भाई! है दूसरा अधिक, यहाँ बहुत है। किसी दिन आते हैं। निर्विचिकित्सा अंग। देखो! नीचे... **रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से पवित्र...** धर्मात्मा मुनि, यहाँ मुनि की मुख्य बात है न? मुनि हैं, सन्त सच्चे मुनि उन्हें कहते हैं कि जिन्हें **सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से पवित्र...** अपना आत्मा निर्विकल्प शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, निर्विकल्प स्व–संवेदनज्ञान और अरागी चारित्र / स्वरूपरमणता—ऐसे चारित्र से पवित्र होते हैं। वे अन्तरदशा में पवित्र होते हैं, इससे पवित्र होते हैं। समझ में आया?

परन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीर में... परन्तु शरीर है, वह स्वाभाविक अपवित्र है। **(मुनि–धर्मात्मा के मलिन शरीर में) ग्लानि न करके...** ऐसे दिगम्बर सन्त मुनि, जिनकी दशा अन्तर में स्वरूपरमणता की आनन्ददशा उग्र प्रगट हुई होती है, उन्हें बाहर में नग्नदशा होती है, उसे मुनिपना कहा जाता है। ऐसे मुनि को अन्तर में तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पवित्रता है, परन्तु बाह्य में अपवित्र ऐसा शरीर उनका अशुचि हो, उसकी ग्लानि करना नहीं–ऐसा कहते हैं। **उनके गुणों में प्रीति करना...** शरीर की मलिनता पर नज़र नहीं करना। वह तो शरीर का स्वभाव / धर्म है। मुनि तो... होते हैं, इससे उन्हें शरीर में अपवित्रता, अशुचि दिखायी दे, परन्तु उनके गुणों में जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, आननद का स्वसंवेदन अनुभव (प्रगट हुआ है), ऐसे गुणों में प्रीति करना; सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसे गुणों में प्रीति करना। समझ में आया? **निर्जुगुप्सा अंग कहलाता है...**

मुमुक्षु : मुनि को पहिचानना पड़े।

उत्तर : ऐय...! मुनि को पहिचानना पड़े–ऐसा कहते हैं। मुनि किसे कहते हैं, उसे पहिचानना पड़ेगा या नहीं? अन्तर आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द का भण्डार है, उसकी

www.vitragvani.com

अन्तर में निर्विकल्प अनुभव प्रतीति, अन्तर के आनन्द के ज्ञान में स्वसंवेदनज्ञान और स्वरूप में अरागी-वीरतरागी शुद्धपरिणतिरूप-चारित्र—ऐसे रत्नत्रयसहित मुनि की आत्मदशा पवित्र है। बाह्यदशा में नग्न होते हैं। बाह्यदशा मुनि की बाह्य में नग्नता होती है। बाह्य में वस्त्र-पात्र होवे और मुनिपना हो सके—ऐसा होता नहीं; परन्तु पहले यह समझे तो सही! समझ में आया?

मुनि अन्तर में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग है न? मोक्षमार्ग का आराधन, वह अन्तर में शुद्ध उपयोग की रमणता में आराधन करते है। गुजराती भाषा थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है? मुनि शुद्धोपयोगी होते हैं। दया, दान, व्रत के परिणाम पंच महाव्रत के—वे तो शुभ हैं, वह कोई मुनिपना नहीं है। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, वह वास्तविक मुनिपना नहीं है; इससे यहाँ ये तीन लिये। तीन में शुद्धोपयोग समाहित हो जाता है। है न? **रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से पवित्र...** इसका शुद्धोपयोग अन्दर आत्मा में, पुण्य-पाप के शुभ-अशुभरागरहित, स्वरूप की अन्तरदृष्टि, ज्ञान और रमणता-जिसकी उग्रता, वीतरागता उग्ररूप से प्रगट हुई, उसके कारण मुनि का आत्मा पवित्र है, परन्तु उनका शरीर नग्न है, अपवित्र है। शरीर में स्नान आदि नहीं होते। समझे? **स्वाभाविक अपवित्र...** फिर ऐसा लिया। रत्नकरण्ड श्रावकाचार। जैसे मुनि स्वाभाविक पवित्र हैं, वैसा शरीर स्वभाव से अपवित्र है—ऐसे दो आमने-सामने लिये। आहा...हा...? समझ में आया?

ऐसे मलिन शरीर के प्रति, मलिन शरीर की **ग्लानि न करके उनके गुणों में प्रीति करना...** अर्थात् क्या? द्वेष न करना और गुणों में प्रीति करना, ऐसा। **निर्जुगुप्सा अंग...** अर्थात् ग्लानिरहित भाव / अंग कहने में आता है। यह तो अभी मुनिदशा किसे कहना—इसका पता नहीं होता और मुनि माने, और मुनि दुनिया माने और मनावे। देवचन्दजी! यह निर्विचिकित्सा की व्याख्या की।

अब, चौथा अंग अमूढ़दृष्टि। सम्यग्दृष्टि धर्मी है, जिसे आत्मदृष्टि हुई है। अन्दर निर्विकल्प आत्मा की निर्विकल्प दृष्टि हुई है, उसे सम्यग्दृष्टि कहने में आता है। उसे ये आठ आचार / अंग होते हैं। उनमें चौथा अमूढ़दृष्टि अंग होता है।

www.vitragvani.com

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्।।२६।।

गाथा २६ पर प्रवचन

टीका : 'तत्वरुचिना नित्यं अपि अमूढ़दृष्टित्वं कर्त्तव्यं' – तत्त्वश्रद्धावान पुरुष... टीका, इसकी टीका। इस तत्त्वश्रद्धानवाले पुरुष ने (अर्थात् जिसने) पुण्य को पुण्यरूप से माना है; आत्मा को पवित्ररूप से मानकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, संवर-निर्जरा की पवित्रता प्रगट की है। जड़ को जड़रूप से स्वीकार किया है अर्थात् तत्त्वरुचि, तत्त्वश्रद्धानवाला... रुचि का अर्थ श्रद्धान किया है। **तत्वरुचिना नित्यं अपि अमूढ़दृष्टित्वं कर्त्तव्यं'** है टीका? तत्त्वश्रद्धानवाला—जिसने, सात तत्त्व भिन्न-भिन्न है; ज्ञायकभाव में आस्रव, बन्ध, अजीव नहीं; अजीव, आस्रव, बन्ध में आत्मभाव नहीं—ऐसी सच्ची तत्त्व की निर्विकल्प प्रतीति-रुचि सहित दृष्टिवाला है।

उसे सदैव अमूढ़दृष्टि होना चाहिए। उसे निरन्तर... समझ में आया? अमूढ़दृष्टि अर्थात् यथार्थ ज्ञानरहित होनायोग्य नहीं; यथार्थ ज्ञानसहित होना योग्य है। है न अर्थ? देखो! **मूढ़दृष्टि यथार्थज्ञानरहित का नाम है,...** देखो! ऐसी भाषा की। जिसे यथार्थ ज्ञान नहीं, वह मूढ़ है। भान ही नहीं कि आत्मा क्या, देव क्या, गुरु क्या, शास्त्र क्या? ऐसे का ऐसा अन्धी दौड़ से अनादि का मान रहा है। **मूढ़दृष्टि यथार्थज्ञानरहित का नाम है, उस रूप श्रद्धानवाले को होना योग्य नहीं।** ऐसी श्रद्धावाला होना योग्य नहीं है। कहो! धर्मी जीव को यथार्थज्ञानरहित का मूढ़पना, इस श्रद्धावाला होना योग्य नहीं है, कहते हैं। **'कौन कौन?'**

लोके – लोक में बहुत से मनुष्य विपरीत भाव में प्रवर्तन करते हों तो भी स्वयं को उनकी तरह (देखादेखी से) प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। यह माननेवाले ऐसा मानते हैं, अमुक ऐसा मानते (हैं)-ऐसे नहीं, देखादेखी नहीं। वास्तविक आत्मा, देव-गुरु-शास्त्र सत्य क्या है?—उनकी पहिचान करके, जो सम्यग्दृष्टि हुआ, वह लोक

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

के देखादेखी में नहीं जाता। लाखों लोग इसे मानते हैं, अमुक इसे मानते हैं, विद्वान मानते हैं, इसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। **लोक में बहुत से मनुष्य विपरीत भाव में प्रवर्तन करते हों...** लौकिक बहुत इस पीपल को पानी (पिलाते) हैं। **उनकी तरह (देखादेखी से) प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।** एक बोल।

शास्त्राभासे – शास्त्र जैसा प्रतिभासित होनेवाले अन्यवादियों द्वारा रचे गए ग्रन्थों में रुचिरूप नहीं प्रवर्तन करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को-तत्त्वश्रद्धानवाले को यथार्थज्ञानरहित रूप से प्रवर्तन नहीं करना; यथार्थज्ञानसहितरूप प्रवर्तन करना। अर्थात् जो लोक में शास्त्र जैसा कहलाता हो, शास्त्र हो नहीं; वीतरागमार्ग से विरुद्ध कथन हो...। देखो! यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (अर्थात्) मोक्ष का उपाय। उस उपाय में सम्यग्दर्शन में ऐसा ज्ञान उसे यथार्थ होता है। मिथ्या शास्त्र कल्पित बनाये हों, शास्त्र जैसे लगते हों, **अन्यवादियों द्वारा रचे गए...** भगवान की वाणी के अतिरिक्त अपनी कल्पना से बनाये हों, **ग्रन्थों में रुचिरूप नहीं प्रवर्तन करना चाहिए।** कहो, समझ में आया इसमें? सूक्ष्म बात है, भाई! जिसमें भगवान के मार्ग से विरुद्ध कहा हुआ हो, लो! समझ में आया? यह मुनिपना—वस्त्रसहित मुनिपना मनाया हो, स्त्री को मुक्ति मनायी हो, भगवान को आहार-पानी मनाया हो, वे सब शास्त्राभास हैं; शास्त्र नहीं। ऐसे शास्त्र की रुचि ज्ञानी को छोड़ना। कहो, समझ में आया कुछ? ऐसा कहते हैं।

नौ सौ वर्ष पहले हो गये हैं न? अमृतचन्द्राचार्य। शास्त्र जैसे लगें। आचारांग और सूयगडांग और ठाणांगा... नाम दे। भगवान के नाम दिये, (भगवान के) नाम से अन्दर सब घर की कल्पनायें डाल दीं। समझ में आया? पर की दया पालनकर संसार पारित होता है—ऐसा उसमें लिखा; साधु को आहार दे तो संसार कम होता है—यह सब (कथन) विपरीत है। संसार टूटता नहीं। पर को आहार-पानी देना, वह तो शुभ विकल्प है। पराश्रितभाव में स्वाश्रितभाव—संसार का अभाव—कहाँ से होगा? समझ में आया?

जगत को परीक्षा करना कठिन है। बाहर से मान लेते हैं। श्रीमद् ने कहा न 'कर विचार तो पाम।' कोई हमारे पास तेरी बात नहीं। तू निर्णय कर-तत्त्व क्या है, देव-शास्त्र-गुरु क्या है ?—तू निर्णय कर। यह कहे कि हमें निर्णय करना नहीं। हमारे भगवान सच्चे,

www.vitragvani.com

गुरु सच्चे। किन्तु गुरु कहते हैं कि तू निर्णय कर तो तुझे मिलेगा; इसके बिना नहीं मिलेगा। निर्णय करने की ताकत नहीं होती; फिर सौंप दे कि भगवान करे, गुरु दे, वह सही, जाओ। यह तो कहते हैं कि गुरु को मानता नहीं। गुरु को मानता नहीं, देव को मानता नहीं। समझ में आया?

'कर विचार तो पाम'—ऐसा कहा है। श्रीमद् ने ऐसा कहा है या नहीं? 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे वे होय।' कोई समझा दे या कोई दे देवे—ऐसा नहीं है। समझे तो (होवे) कहे समझने में अपने को कोई निर्णय नहीं करना, अपने को कुछ निर्णय नहीं करना। मूढ़ है तब तो वह तो। तुझे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं। समझ में आया? अपने कहीं पड़ना नहीं... परन्तु यहाँ कहते हैं कि निर्णय करना, तुझे समझना; तुझसे, तुझमें, तेरे द्वारा। ऐ... न्यालभाई! वे कहें-श्रीमद् अपने को दे देंगे। कोई धूल भी दे देवे-ऐसा नहीं है। श्रीमद् क्या, कोई तीन लोक के नाथ भी दे देवे-ऐसा नहीं है। केवलज्ञानी दे देवे-ऐसा नहीं है। केवलज्ञान को मानना, वह भी एक शुभराग है; धर्म नहीं। पर है न? परद्रव्य है। परद्रव्य को मानता है, वह विकल्प है।

केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं, गुरु ऐसा कहते हैं—तू हमें मानता है, वह राग है; वह धर्म नहीं। समझ में आया? देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करता हो, तो भी तत्त्वनिर्णय करने की शक्ति न हो, वह समकित का अधिकारी नहीं है। कल कहा था न? मोक्षमार्गप्रकाशक में। श्रीमद् ने स्वयं कहा है—मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ना। फिर उसके पढ़नेवाले ऐसा कहे- अपने को कोई निर्णय नहीं करना, अपने को कुछ निर्णय नहीं करना। उसमें ऐसा कहे और शिक्षा यह, श्रीमद् कहे—मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ना। उसमें ऐसा लिखा है—देव-शास्त्र- गुरु की श्रद्धा करता हो, शास्त्राभ्यास करता हो, तप और व्रत पालन करता हो; तथापि वह समकित का अधिकारी नहीं। तत्त्व का निर्णय करता हो, वह तत्त्व का निर्णय करनेवाला समकित का अधिकारी है। समझ में आया? कुछ ठिकाना (नहीं होता)। अभी तो सब उल्टा-उल्टा-पुल्टा, स्वयं को जैसी कल्पना लगे, वैसा (मानते हैं)। गुरु के कहे हुए और भगवान के कहे हुए का अर्थ अपनी कल्पना से करना... न्यालभाई! अब न्यालभाई तो सब देखकर आये हैं न! चारों ओर घूम आये हैं। कहो, समझ में आया?

www.vitragvani.com

शास्त्र जैसा प्रतिभासित होनेवाले... भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् हुए अमृतचन्द्राचार्य का कहा हुआ यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। कहते हैं कि शास्त्र जैसे लगते हों, अन्यवादी अर्थात् भगवान परमात्मा की आज्ञा के अतिरिक्त स्वयं की कल्पना से रचित हों, उन ग्रन्थों में रुचि होना, वह मिथ्यात्व है। उस रुचिरूप प्रवर्तन नहीं करना। कहो, समझ में आया?

समयाभासे – तीसरा बोल **सच्चे मत की तरह ही...** इसमें सच्चा कुछ होगा? **अन्यमत में कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े...** कोई जोरदार भक्ति देखे, कोई करोड़ रुपये खर्च करनेवाला देखे, अरबों रुपये खर्च करनेवाला देखे। **कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े...** भली जैसी, हों! वास्तव में भली होती नहीं। **अन्यमत में कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े तो भी उसे भला जानकर प्रवर्तन नहीं करना।** सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग मार्ग के अतिरिक्त कहीं भला अंश भी होता नहीं। समझ में आया? वह भी यथार्थ दिगम्बर जैनधर्म है; इसके अतिरिक्त कोई यथार्थ धर्म है नहीं। कहो, ऐसा कहते हैं-**समयाभासे** दूसरे सच्चे मत जैसे लगें। ऐ... न्यालभाई! अन्य में कोई क्रिया भली जैसी लगे। देखो न! टोडरमलजी ने तो कहा है कि स्थानकवासी, श्वेताम्बर सब जैन नहीं; अन्यमती हैं। स्पष्ट कहा है। उसे श्रीमद् ने पढ़ने को कहा है। श्रीमद् रायचन्द्र। ऐई...! उन्होंने कहा है कि वह पढ़ो। वे श्वेताम्बर और स्थानकवासी को अन्यमती कहते हैं, वह बात सत्य है-ऐसा कहते हैं। यह कहता है-नहीं, यह अपने नहीं। (ऐसा कहे-)हम श्रीमद् को मानते हैं। परन्तु तू उन्हें कैसा मानता है? समझ में आया? माँगीरामजी! जगत को इतनी विपरीत दृष्टि मिली है और विपरीत दृष्टि में ऐसे उलझा है कि सत्य हाथ आना (मुश्किल पड़ता है)।

देखो न! इसलिए (कहते हैं) **अन्यमत में कोई क्रिया भली जैसी मालूम पड़े...** पंच महाव्रत के परिणाम हों; साधु, महीने-महीने के, दो-दो महीने के उपवास करता हो, लाखों लोग मानते हों, बड़ा भाषण करता हो, दस-दस लाख लोग एकत्रित होते हों। ओहोहो! इसमें कुछ होगा? कुछ नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर से कथित कुन्दकुन्दाचार्य महाराज की परम्परा में आया हुआ मार्ग, इसके अतिरिक्त कहीं अंश भी सत्यमार्ग नहीं होता। समझ

www.vitragvani.com

में आया ? कठिन काम ! जगत को अपना पकड़ा हुआ सम्प्रदाय छोड़ना कठिन पड़ता है। देवचन्दजी ! मानी हुई बात (छोड़ना कठिन पड़ती है)।

समयाभासे समय अर्थात ? मत जैसे आभासी है। **अथवा समय अर्थात् पदार्थ सरीखा प्रतिभासित होवे ऐसे अन्यवादियों द्वारा कहे गये कल्पित तत्त्व युक्तियुक्त सा भासित होने पर भी उसमें सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए।** ऐसी युक्ति (की हो), ये वे बौद्धधर्म में ऐसी युक्ति लगाते हैं, सूक्ष्म बहुत बातें करें, बौद्धधर्म में बहुत होता है। उसमें भी कुछ धर्म लगता है, हों ! धर्मी जीव को धर्म की दृष्टि के स्थल में–स्थान में अन्यमती के कहे ऐसे पदार्थ देखने लगे, उसे नहीं मानना। एक ही आत्मा है—ऐसा करके मनाता है न वेदान्त ? लगे मानो ऐसा निर्विकल्प... ओहोहो ! सब निर्विकल्प हो जाना, विकल्प छोड़ (देना), परन्तु निर्विकल्प होकर वस्तु क्या है ? यह तो–निर्विकल्प होना, यह तो विकल्परहित तो कहा, परन्तु अस्तित्व कितना ? अस्तित्व कितना आत्मा ? किस आत्मा में विकल्प रहित होना ? पूरे आत्मा में ऐसा या अकेले इस आत्मा में ? क्षेत्र प्रमाण यहाँ तो शरीरप्रमाण आत्मा है। उसमें ऐसे एकाग्र होता है, ऐसे (बाहर में) एकाग्र नहीं होता। यह तो शरीरप्रमाण आत्मा में अनन्त गुण और वस्तु से स्वयं ही परमात्मस्वरूप है, उसमें एकाग्र होना। समझ में आया ? दूसरे जगत के कहे हुए कल्पित तत्त्व नहीं मानना। युक्ति जैसा लगे तो छोड़ देना, उनमें सत्यबुद्धि नहीं करना। कुछ होगा उसमें, हों ! समझ में आया ? आहा ! परन्तु यह निवृत्ति किसे हैं ?

देवताभासे – यद्यपि देव जैसा प्रतिभासित होवे तो भी अरहन्त देव के अलावा अन्य देवों में कुछ किंचित् चमत्कारादि देखकर... दूसरे में चमत्कार देखे, कोई ऐसे हुआ था, ऐसा हुआ। समझ में आया ? चमत्कार आदि (देखकर), **विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना।** सर्वज्ञदेव परमात्मा के अतिरिक्त–वीतरागदेव के अतिरिक्त कहीं विनयरूप विनय नहीं करना, प्रवर्तन नहीं करना। **'च'कार से और भी जो गुरु जैसा प्रतिभासित हो...** लो ! यह कहे कि हम गुरु हैं, हम गुरु हैं, हम गुरु हैं। वास्तविक तत्त्व का भान नहीं होता। वीतरागदृष्टि, वीतराग ज्ञान और वीतराग उपयोग, वह गुरु है।

वीतराग का बारम्बार उपदेश करे, वीतराग का ही उपदेश करे। गुरु तो वीतरागभाव

www.vitragvani.com

का उपदेश करते हैं, राग को बतलाते हैं। राग निमित्त होता है—ऐसा बतलाते अवश्य हैं। आदरणीय में एक आत्मा अत्यन्त पर की अपेक्षारहित का दृष्टि में आदर करना, शास्त्र की अपेक्षारहित आत्मज्ञान, राग की अपेक्षारहित की वीतरागता। ऐसा वीतरागपने का ही उपदेश करे, वे गुरु हैं। इसके अतिरिक्त गुरु जैसे कहलाते हों, उन्हें मानना नहीं। कहो, 'च' शब्द है न? 'च' **'समयाभासे च'** ऐसा।

ऐसे विषय-कषाय से युक्त लम्पटी... जिन्हें स्व-विषय प्रगट नहीं हुआ। स्वध्येय आत्मा अखण्डानन्द प्रभु चैतन्यमूर्ति है उसका भान नहीं, अकेले पर विषय में ही पड़े हैं। **वेषधारी के प्रति विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।** यह नग्नरूप वेष धारण किया हो परन्तु इस दृष्टि का भान न हो तो उसमें यह विनय न प्रवर्ते, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **इस भाँति यथार्थज्ञान से भ्रष्ट करनेवाले कारणों से पूर्णरूपेण सावधान रहना चाहिए।** इन यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट होने के कारण से सावधान रहना, यह अमूढ़दृष्टि। सम्यग्दृष्टि को यथार्थज्ञानरहितपना नहीं हो सकता। यथार्थज्ञानसहितपना होता है अर्थात् मूढ़दृष्टिरहितपना होता है, अमूढ़दृष्टि होता है। उसके ज्ञान में उलझन नहीं होती कि यह कैसे होगा? इसमें भी कुछ कहते लगते हैं। समझ में आया? वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर...

मुमुक्षु : दूसरे में भी थोड़ा-थोड़ा अच्छा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : थोड़ा अच्छा कहीं है ही नहीं। एक परमेश्वर कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा से आया हुआ मोक्ष का मार्ग, इसके अतिरिक्त कहीं थोड़ा-बहुत सच्चा कहीं है ही नहीं। तब कठिन लगता है न लोगों को यह! यहाँ तो सब कहा, देखो न! **वेषधारी के प्रति विनयरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।** अकेला वेषधारण किया हो नग्नपना, परन्तु अन्दर दृष्टि-ज्ञान मिथ्या है और पुण्य से धर्म मनवाते हों, देह की क्रिया से धर्म मानते हों, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है—ऐसा मनवाते हों, वे सब वेषधारी हैं। मार्ग तो ऐसा है। यह किसी का कहा हुआ नहीं है।

सनातन वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ महाविदेह में सीमन्धर भगवान वर्तते हैं, उनके पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। भगवान दिगम्बर मुनि सन्त दो हजार वर्ष पहले भगवान के पास गये थे और आठ दिन रहे और आकर ये शास्त्र रचे हैं, भगवान के

www.vitragvani.com

पास से आकर। कहो समझ में आया? इसके अतिरिक्त दूसरे शास्त्र, इसके अतिरिक्त दूसरे गुरु और इसके अतिरिक्त दूसरे देव सब मिथ्या है। कहो, यह सत्य और दूसरे मिथ्या, दूसरे सच्चे नहीं—ऐसा अनेकान्त, लो न! ऐसे सच्चे और दूसरे सच्चे हैं नहीं, यह अनेकान्त। कहो, समझ में आया इसमें?

कहते हैं **यथार्थज्ञान से भ्रष्ट करनेवाले**... ऐसे सब निमित्त हैं—ऐसा कहते हैं। उनके **कारणों से पूर्णरूपेण सावधान रहना चाहिए।** कहो, न्यालचन्दभाई! है इसमें? सब कथन है या नहीं सामने? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की प्रेरणा की है, श्रीमद् में प्रेरणा की है। बीस पुस्तक में उन्होंने जो स्वयं सब दिगम्बर पुस्तक के ही नाम दिये हैं। बीस पुस्तकों के सत्शास्त्र के पीछे नाम दिये हैं। उसमें एक ग्रन्थ का नाम मात्र 'योगदृष्टिसमुच्चय' एक ग्रन्थ। पैंतालीस सूत्रों में से एक भी शास्त्र का नाम नहीं। श्रीमद् में पीछे बीस नाम हैं, है न सत्सूत्र के नाम? अपने सब आत्मधर्म में बहुत दिया है। उन्होंने सत्शास्त्र इन दिगम्बर के शास्त्रों को ही सत्शास्त्र कहा है, दूसरे को सत्शास्त्र कहा नहीं।

पहले जरा खड़ा रखा था थोड़ा-बहुत अभी, फिर तो खुला कर दिया। बाद में खुला कर दिया कि यह सत्शास्त्र—समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, समझ में आया न? है या नहीं इसमें? ऐ... कितने पृष्ठ पर है? पत्र में अपने सब डाला है न? भाई! इसमें तत्त्व आया, आया है बाद से? इन्हें निकालना नहीं आवे तो क्या करे? देखो! आया, (हाथ नोंध-१५)।

सत्श्रुत—पाण्डव पुराण, प्रद्युम्नचरित्र... पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, देखो! दूसरा आया यह। यह सत्शास्त्र है, यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय लो! पद्मनन्दिपंचविंशति, गोम्मटसार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आत्मानुशासन, मोक्षमार्गप्रकाशक, लो! ठीक। मोक्षमार्गप्रकाशक, यह सत्शास्त्र है। इसमें टोडरमलजी ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर को अन्यमती कहा है, जैनमती नहीं। वे इस मोक्षमार्गप्रकाशक को सत्श्रुत कहते हैं। कहो, मलूकचन्दभाई! गजब बात भाई! श्रीमद् राजचन्द्र, श्रीमद् राजचन्द्र की पुस्तक है, उसमें अन्त में सत्श्रुत के नाम दिये हैं। ये सत्श्रुत इतने हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 'योगदृष्टि समुच्चय' बस! यह एक श्वेताम्बर का एक ग्रन्थ है। पैंतालीस सूत्र में का सूत्र नहीं। देखो, ***आदि अनेक हैं। इन्द्रिय***

www.vitragvani.com

निग्रह के अभ्यासपूर्वक ये सत्‌श्रुत सेवन करनेयोग्य है। यह फल अलौकिक है, अमृत है। समझ में आया? वे कहते हैं नहीं; अपने को कुछ नहीं करना, निर्णय नहीं करना। ये कहते हैं तू सच्चा निर्णय तुझसे कर तो तुझे धर्म होगा। वे कहते हैं हमें निर्णय करना नहीं, हम जानते नहीं। ज्ञानी जाने सच्चा। ज्ञानी जाने सच्चा परन्तु तुझे तो सच्चा निर्णय करना आया नहीं। केवली ने जाना वह सत्य यह तो सब अनादि काल से कहते आये हैं। तुझे सच्चा कब होगा? कि तू उसका निर्णय करके तेरे स्वरूप में तुझे भावभासन हो, तब तुझे निर्णय सच्चा कहलायेगा।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : नहीं, नहीं, उसमें सच्चा... इसमें क्या कहा? यह गृहस्थों को पढ़ना, तुम्हें पढ़ना ऐसा तो इसमें लिखा। यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय दूसरा कहा, पाण्डवपुराण पहले कहा। वह कथानुयोग का रखा। पाण्डवपुराण और प्रद्यम्नचरित्र। भगवान '*श्रीकृष्ण*' के पुत्र हैं न! भगवान के पास नारद पूछने गये थे, कब यह... ! उसका एक अधिकार बहुत अच्छा है इसलिए पहले वह रखा, यह दिगम्बर में है। दूसरा पुरुषार्थसिद्धिउपाय नाम लिखा। इस पुरुषार्थसिद्धिउपाय में ऐसा कहते हैं। यह २६ वीं गाथा।

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्।।२६।।

मुमुक्षु : निर्णय करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : हों, निर्णय (किये) बिना क्या होगा? यह तो कहते हैं। ये प्रद्युम्न हैं, वे श्रीकृष्ण के पुत्र, रुक्मणी के पुत्र उन्हें ले गया था न? क्या कहलाता है? विद्याधर ले गया, पश्चात् सोलह वर्ष में... नारद भगवान को पूछने जाता है, सीमन्धर भगवान को नारद पूछने जाता है, नारद भगवान से पूछता है। यह तो उसे स्वयं को क्षयोपशम हो और ऐसा लगता है कि भगवान ऐसा कहते हैं। वहाँ तो एक साथ बारह अंग निकलते हैं, वहाँ कहाँ वह पूछे। रुक्मणी का पुत्र प्रद्युम्न सोलह वर्ष में आयेगा। यह जाने कि भगवान ने मुझे जवाब दिया। उसे क्षयोपशम ऐसा हो और उसे वह आया जवाब। उसके क्षयोपशम में आया। सोलह वर्ष में आयेगा। भगवान के मुख से ऐसा निकला ऐसा

www.vitragvani.com

इसे क्षयोपशम में लगा। भगवान को एक साथ बारह अंग... वहाँ कहाँ पहले किसी को जवाब दे? भगवान तो एक समय में सब तीन काल–तीन लोक जानते हैं। उन्हें कहाँ प्रश्न जानकर उत्तर देना है परन्तु जिसकी क्षयोपशम की योग्यता हो, उसे ऐसा लगता है कि भगवान मुझे ऐसा कहते हैं, भगवान ऐसा मुझे कहते हैं। ऐसा उपादान हो, उतना निमित्त को लागू पड़ता है। कहो, समझ में आया?

अमूढ़दृष्टि–यथार्थज्ञानरहित रूप से ज्ञानी नहीं होता। उसका ज्ञान यथार्थ होता है, धर्मी का यथार्थ ज्ञान होता है। सत्य और असत्य को तौल लेता है। असत्य और सत्य का खिचड़ा नहीं करता। कहो, समझ में आया?

पाँचवाँ उपगूहन अंग। धर्मी जीव को पाँचवाँ आचार, लक्षण। यह आचार नहीं, उसका अचार? नीचे रत्नकरण्ड श्रावकाचार का आधार है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का आधार है। इसमें बीस पुस्तक में रत्नकरण्ड श्रावकाचार आया, नीचे, पृष्ठ ३२ नीचे। **अमूढ़त्व–दुखदायक खोटे मार्ग...** है न नीचे? दु:खदाता खोटे मार्ग **अथवा कुत्सित् धर्मों में...** झूठे धर्मों में, **और कुमार्गों में रहनेवाले पुरुषों में (भले ही वह लौकिक में प्रख्यात हों)...** लाखों, करोड़ों मानते हों। **मन से भी प्रामाणिकता माने नहीं...** उन्हें मन से प्रामाणिक माने नहीं, कहते हैं। दु:खदायक मिथ्यामार्ग हैं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो मोक्ष का मार्ग कहा, जो तत्त्व कहे, उनसे सब विरुद्ध कहनेवाले जो मार्ग हैं, वे सब खोटे दु:खमार्ग, दु:ख देनेवाले हैं और कुत्सित खोटे धर्म। कुछ में कुछ धर्म, राग में और पुण्य में धर्म मनाया है। कुमार्ग में रहे हुए और ऐसे में रहनेवाले जीव। वे भले लौकिक में प्रख्यात हों, मन से प्रामाणिक माने नहीं। करोड़ों मनुष्य मानते हों, ओहो..हो...! क्या इसे मानते हैं! हिन्दुस्तान में, जिसकी पूरे हिन्दुस्तान में प्रसिद्धि है, इसके मरने पर पूरे देश में आधा झण्डा हो गया। उसमें आत्मा को क्या? आहा...हा...! पूरे देश में आधा झण्डा हो गया, अकेला हिन्दुस्तान नहीं, यूरोप और अमेरिका में भी... उसमें क्या हो गया? यह बाहर की पुण्य की बातें हैं। इसमें धर्म कहाँ आया?

मन से भी प्रामाणिकता माने नहीं–काया से प्रशंसा और वचन से स्तुति करे नहीं–उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं। गाथा १४, रत्नकरण्डश्राकवाचार। समझ में आया?

www.vitragvani.com

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो स्पष्ट बात लिखी है कि भगवान को आहार नहीं होता, पानी नहीं होता, रोग नहीं होता। श्रीमद् का ऐसा पत्र भी है। एक नयी पुस्तक प्रकाशित हुई है न पचास पत्र की? अर्द्धशताब्दी हुई न! १९२४ सौ पूरे, वे लोग शताब्दी मनानेवाले हैं। पचास वर्ष का एक पुस्तक आयी, उसमें एक पत्र रत्नकरण्डश्रावकाचार का अन्तिम रखा है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....जरा भी अन्तर नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें? यह तो कथन पद्धति है। शब्दों में अन्तर है, भाव में बिल्कुल नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि, यह समझ में आया? अमूढ़दृष्टि, स्तुति आदि नहीं करता, प्रशंसा आदि मिथ्या की नहीं करता—ऐसा यहाँ रत्नकरण्ड श्रावकाचार में (कहते हैं) श्रीमद् ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार का पत्र रखा है। देव उसे कहते हैं कि जिन्हें क्षुधा न हो, तृषा न हो, रोग न हो, ऐसा पत्र रखा है। अनुवाद किया है न परन्तु इन्होंने किया है न? नयी पुस्तक में एक पत्र रखा है परन्तु वे मानते नहीं।

मुमुक्षु : वे तो ऐसा कहते हैं कि अनुवाद किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुवाद किया परन्तु इस रत्नकरण्ड श्रावकाचार का मान्य रखा है। बीस सूत्र में सत्श्रुत कहा, उसमें कहा कि देव अरिहन्त होते हैं, उन्हें रोग नहीं होता, क्षुधा नहीं होती, तृषा नहीं होती, आहार नहीं होता, पानी नहीं होता। तो वे मानते नहीं और कहते हैं हम श्रीमद् को मानते हैं। श्रीमद् को नहीं मानता, तेरी मान्यता को / कल्पना को मानता है। कहो, माँगीरामजी! वस्तु तो ऐसी है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का तो नाम दिया, उसमें—रत्नकरण्ड श्रावकाचार में देव की व्याख्या तो यह है। देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को समकित कहा, वहाँ निश्चय समकित कहा है, हों! सच्चे देव का स्वरूप कैसा? गुरु का कैसा और शास्त्र का अनेकान्त कैसा? ऐसा जिसे अन्तर में जमा, वह सम्यग्दृष्टि होता ही है। समझ में आया? उसमें देव का स्वरूप तो यह रखा है, उन्हें रोग नहीं होते, आहार नहीं होता, पानी नहीं होता, क्षुधा नहीं होती, तृषा नहीं होती। और यह कहे कि भगवान को आहार तथा तृषा होती है, उसमें तो कहाँ तेरा व्यवहार, व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं होता। समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वहाँ गुरु को नग्नमुनि कहा। दिगम्बर मुनि होते हैं, वस्त्र का धागा रखकर भी जो मुनि मनावे, मुनि माने, मनावे, वह निगोदगामी है। मोटर रखे, मुनियों को मोटर कैसी? आहा...हा...! यहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड़ में कहते हैं—एक वस्त्र का धागा रखकर, हम मुनि हैं, हम सन्त हैं, हम साधु हैं, हम आचार्य हैं, उपाध्याय हैं – ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि निगोद में जायेगा। समझ में आया? अष्टपाहुड़ में है।

कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहें उसे मानना नहीं। श्रीमद् (राजचन्द्र), कुन्दकुन्दाचार्य को वन्दन करते हैं कि वे हमारे गुरु हैं। हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यों! आपके वचन इस पामर को स्वरूप अनुसन्धान में अत्यन्त उपकारी हुए, आपको नमस्कार। वे कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं एक भी वस्त्र का धागा रखकर मुनिपना माने, मनावे वह निगोद में जायेगा। यह मानना नहीं। ए... न्यालचन्दभाई! भाई! यहाँ तो बात ऐसी है, कोई गड़बड़–बड़बड़ चले—ऐसा नहीं है। बेचारे लोगों को पता नहीं पड़ता। अन्धी दौड़ से इस सम्प्रदाय में पड़े हैं। अन्य कोई उनके पक्ष में पड़कर बातें (करे); तत्त्व है वह एक ओर पड़ा रहा। उसमें वैराग्य की बातें कुछ कषाय मन्दता की ऐसी बातें करें, इसलिए (लोगों को ऐसा लगता है) ओहो...हो...! अब ऐसी तो अनन्त बार की है। उसमें है क्या? समझ में आया? लो, यह चार बोल हुए। समझ में आया?

पाँचवाँ, सम्यग्दृष्टि धर्म की शुरुआतवाले को ऐसे आठ बोल आचार के लक्षण सच्चे होते हैं। उपगूहन अंग।

www.vitragvani.com

गाथा – २७

५– [१]उपगूहन अंग

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्।।२७।।

मार्दव आदि भावनाओं से आत्मधर्म में वृद्धि करो।
उपबृंहण के लिए और पर–दोषों को भी गुप्त रखो।।२७।।

अन्वयार्थ : (उपबृंहणगुणार्थं) उपबृंहण नामक गुण के लिये (मार्दवादिभावनया) मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से (सदा) निरन्तर (आत्मनो धर्मः) अपने आत्मा को धर्म की अर्थात् शुद्धस्वभाव की (अभिवर्द्धनीयः) वृद्धि करनी चाहिए और (परदोष–निगूहनमपि) दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना (विधेयम्) चाहिए (यह भी कर्त्तव्य है)।

टीका : 'उपबृंहणं गुणार्थं मार्दवादिभावनया सदा आत्मनः धर्मः अभिवर्द्धनीयः।' उपबृंहण नामक गुण के लिए मार्दव अर्थात् कोमल परिणाम तथा आदि शब्द से क्षमा संतोषादि भावना से सदा अपने आत्मा का निजस्वभाव प्रगटरूप से बढ़ाना 'परदोषनिगूहनमपि विधेयम्'अन्य जीव का जो कोई निन्दायोग्य दोष हो उसे प्रगट न करके दाब देना उचित है।

भावार्थ : उपबृंहण का अर्थ बढ़ाना है अतः अपने आत्मा का धर्म बढ़ाना। पुनः इस अंग का अपरनाम उपगूहन भी है, इस अपेक्षा से दूसरे के दोषों को छिपाना योग्य है क्योंकि उन्हें प्रगट करने से उनको दुःख उत्पन्न होता है।।२७।।

---

१. उपगूहनत्व = मोक्षमार्ग स्वयं तो शुद्ध ही है। उसकी अशक्त और अज्ञानी जीवों के आश्रय से उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करना उपगूहन कहलाता है। (स्वसन्मुखता के बल से शुद्धि की वृद्धि करने को उपबृंहण अंग कहते हैं।) (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा १५)

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

गाथा २७ पर प्रवचन

धर्मोऽभिवर्द्धनीय: सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्।।२७।।

अन्वयार्थ : उपबृंहण नामक गुण के लिये मार्दव,... कोमल, कोमलता। नरमाई चाहिए, नरमाई चाहिए। समझ में आया? **क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से...** सन्तोष आदि शान्ति की भावना से **निरन्तर अपने आत्मा को धर्म की...** अपने आत्मा में धर्म की शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान, वीतरागी दृष्टि, वीतरागभाव की अर्थात् शुद्ध स्वभाव की वृद्धि करना। शुद्ध स्वभाव की वृद्धि करना, इसका नाम उपगूहन है। लो! समझ में आया? **आत्मनो धर्म: अभिवर्द्धनीय:** ऐसा है न! **आत्मनो धर्म: अभिवर्द्धनीय:** भगवान आत्मा, जो शुद्ध चैतन्य वीतरागी मूर्ति, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसकी रमणता— ऐसा आत्मधर्म। **अभिवर्द्धनीय:** उसे बढ़ाना, इसका नाम समकिती का पाँचवाँ उपगूहन गुण कहने में आता है। आहा...! समझ में आया?

निरन्तर अपने आत्मा को... आत्मनो धर्म: है न? **आत्मनो** अर्थात् **अपने आत्मा को धर्म की अर्थात् शुद्धस्वभाव की...** देखो! **आत्मनो धर्म: अभिवर्द्धनीय: वृद्धि करनी चाहिए और दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना चाहिए...** दूसरों के दोषों को प्रकाशित करने से उसे दु:ख होगा। ऐसा करना नहीं। **परदोष-निगूहनमपि** शब्द पड़ा है न? **अपि** ऐसा करना और ऐसा भी करना चाहिए, ऐसा। ऐसा भी करना चाहिए। दूसरों के दोष प्रकाशित करने से उसे दु:ख होता है, इसलिए गुप्त रखना। समझ में आया? अपने दोष को भी गुप्त रखना अर्थात् मिटाना और गुण की वृद्धि करना, ऐसा। नीचे पढ़ लें, रत्नकरण्ड श्रावकाचार का, नीचे है न ३३ वें पृष्ठ पर। ***उपगूहनत्व = मोक्षमार्ग स्वयं तो शुद्ध ही है।*** मोक्ष का मार्ग वीतरागता का तो, ओहो! शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता, वह तो धर्म शुद्ध ही है। **उसकी अशक्त और अज्ञानी जीवों के आश्रय से...** उसकी अशक्त / कमजोर जीवों और अज्ञानी मूढ़ **जीवों के आश्रय से उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करना उपगूहन कहलाता है।** लो! होनेवाली निन्दा को दूर करना।

www.vitragvani.com

(स्वसन्मुखता के बल से शुद्धि की वृद्धि करने...) ऐसा इसका अर्थ उपबृंहण कहते हैं न? निन्दा का उपगूहन करना, यह वृद्धि की बात। ***(स्वसन्मुखता के बल से...)*** देखा? अन्तर शुद्ध आत्मा की शुद्धता। पूर्ण शुद्ध भगवान परमात्मस्वरूप अपना, उसकी— स्वसन्मुखता के बल से ***(शुद्धि की वृद्धि करने को उपबृंहण अंग कहते हैं।)*** यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार का श्लोक है। समन्तभद्राचार्य।

टीका : उपबृंहण नामक गुण के लिए... टीका में। **मार्दव अर्थात् कोमल परिणाम...** कोमल, नरम परिणाम चाहिए, कठोर और कठिन नहीं चाहिए। कोमलता चाहिए, कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को कोमलता हृदय में होती है, कोमलता। **कोमल परिणाम तथा आदि शब्द से क्षमा, संतोष, शान्ति आदि की भावना से सदा अपने आत्मा का निजस्वभाव प्रगटरूप से बढ़ाना...** यह उपबृंहण का अर्थ है। आहा...! अपने आत्मा का निजस्वभाव शुद्ध आनन्द और शान्ति निर्मल वीतरागस्वभाव को बढ़ाना। निजस्वभाव को प्रगटरूप से बढ़ाना ऐसा कहते हैं। अन्दर शक्ति तो है, पर्याय में प्रगटरूप से बढ़ाना। लो! इसका नाम उपबृंहण है।

'परदोषनिगूहनमपि विधेयम्' अन्य जीव का जो कोई अक्रियायोग्य दोष हो... अक्रिया अर्थात् सच्चे हो नहीं, खोटे हों, **उसे प्रगट न करके दाब देना उचित है।** यह भी एक करना, ऐसा कहकर जरा (बात की है)।

भावार्थ : उपबृंहण का अर्थ बढ़ाना है; अत: अपने आत्मा का धर्म बढ़ाना। अपने आत्मा का धर्म बढ़ाना, यह उपबृंहण है। दूसरे बढ़े और घटें, वह कोई तेरे आधीन नहीं। दूसरे बढ़े तो ठीक—ऐसा विकल्प भी राग का कारण है, राग का कारण है। धर्म बढ़े और पावे—ऐसा विकल्प दु:ख का कारण है। उसके बदले (ऐसा माने कि) हम दूसरों को धर्म प्राप्त कराते हैं, हम धर्मवृद्धि के लिये यह भाव करते हैं। भाई! तुझे पता नहीं, भाई! दूसरे धर्म पावें न पावें, वह विकल्प जो तेरा है, वह तुझे राग है। विकल्प है न? शुभभाव है न? शुभभाव है तो आकुलता है। यहाँ तो आत्मा का धर्म वृद्धि करना-ऐसा कहा है। आकुलता बढ़ाना - ऐसा कहा? समझ में आया? आहा...हा...!

अपने आत्मा का धर्म बढ़ाना। पुन: इस अंग का अपरनाम उपगूहन भी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है,... अस्ति–नास्ति की है न! दोष को गुप्त रखना और धर्म को बढ़ाना। **इस अपेक्षा से दूसरे के दोषों को छिपाना योग्य है क्योंकि उन्हें प्रगट करने से उनको दुःख उत्पन्न होता है।** इसलिए वह करना नहीं। कहो समझ में आया? बाद में जरा स्पष्टीकरण करेंगे। सम्यग्दृष्टि को पूरा–पूरा होता है, किसी को थोड़ा होता है, किसी को गौणरूप से होता है, किसी को मुख्यरूप से होता है परन्तु समकित की शोभा तो तब होती है कि जब इन आठों का सम्पूर्णरूप से प्रगट हो। बाद में कहेंगे। आठ गुण पूर्ण हों यह पैराग्राफ। किसी में कोई थोड़े गुण का भाग हो, परन्तु आठ अंग पूरे हों तो शोभा को पाता है। कहो, समझ में आया? यह उपबृंहण नाम का गुण हुआ। यह पाँचवाँ हुआ। पाँचवाँ हुआ न?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - २८

६- [1]स्थितिकरण अंग

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदिततेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।।२८।।

काम क्रोध लोभादिक प्रगटे, न्याय मार्ग से चलित करें।
शास्त्रों के अनुसार स्व-पर दोनों का स्थितिकरण करें।।२८।।

अन्वयार्थ : (कामक्रोधमदादिषु) काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार (न्यायात् वर्त्मन:) न्यायमार्ग से अर्थात् धर्ममार्ग से (चलयितुम्) विचलित करवाने के लिए (उदितेषु) प्रगट हुआ हो तब (श्रुतं) शास्त्र अनुसार (आत्मन: परस्य च) अपनी और पर की (स्थितिकरणं) स्थिरता (अपि) भी (कार्यम्) करनी चाहिए।

टीका : 'कामक्रोधमदादिषु न्यायात् वर्त्मन: चलयितुं उदितेषु आत्मन: परस्य च श्रुतं युक्त्वा स्थितिकरणं अपि कायम्।' - मैथुन का भाव, क्रोध का, मान का भाव तथा आदि शब्द से लोभादिक का भाव न्यायरूप धर्ममार्ग से भ्रष्ट करनेवाला है, अत: उनके प्रगट होने पर अपने को तथा अन्य जीवों को शास्त्रानुसार युक्ति से धर्म में स्थिर करना भी श्रद्धावान पुरुष को योग्य है।

भावार्थ : जो धर्म से भ्रष्ट हैं उन्हें पुन: धर्म में स्थापित करना स्थितिकरण है। और धर्मभ्रष्टता कामक्रोधादि के वशीभूत होने पर होती है। इसलिए जो इनके निमित्त से अपने परिणाम भ्रष्ट हों तो स्वयं युक्तिपूर्वक धर्म में स्थिर होना चाहिए, और अन्य जीव भ्रष्ट हों तो उन्हें भी जैसे बने वैसे धर्म में दृढ़ करना चाहिए।।२८।।

---

१. स्थितिकरणत्व - सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌चारित्र से चलायमान होने पर जीवों को धर्मवत्सल विद्वानों द्वारा स्थिरीभूत करने को स्थितिकरण अंग कहते हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार (गाथा १६)

www.vitragvani.com

गाथा २८ पर प्रवचन

स्थितिकरण अंग, स्थितिकरण अंग धर्म से भ्रष्ट होता हो उसे स्थिति करना, अपने आत्मा को स्थिर करना, वह पहला है। नीचे एकड़ा लिखा है न, इसलिए नीचे लो पहले।

स्थितिकरणत्व – सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌चारित्र से चलायमान होने पर जीवों को... जो जीव सच्ची श्रद्धा से भ्रष्ट होते हों, भगवान के मार्ग से, श्रद्धा से या सच्चे अन्तर वीतरागी चारित्र से भ्रष्ट होते हों, **जीवों को धर्मवत्सल विद्वानों...** देखो! धर्म प्रेमी विद्वानों द्वारा, धर्म के प्रेमी हों, दूसरों के प्रति–धर्मी के प्रति प्रेम है। **धर्मवत्सल विद्वानों द्वारा स्थिरीभूत करने को स्थितिकरण अंग कहते हैं।** व्यवहार का लिखा है। अपने को स्थितिकरण करे, तब यह होता है।

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदिततेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।।२८।।

अन्वयार्थ : काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार... काम–विषयसेवन, क्रोध से अपना और पर का आत्मा (धर्म से) डिगता हो। मद में–अभिमान में, लोभादि, माया आदि में। **विकार न्यायमार्ग से अर्थात् धर्ममार्ग से विचलित करवाने के लिए...** उसमें होता हो तो उसे स्थिर करना–ऐसा। है न? **'न्यायात् वर्त्मन:'** न्याय मार्ग से अथवा धर्ममार्ग से वीतरागी आत्मा का स्वभाव दृष्टि–ज्ञान और लीनता, ऐसा जो आत्मा का धर्म वही न्यायमार्ग और वही धर्ममार्ग है। **'न्यायात् वर्त्मन:' विचलित करवाने के लिए प्रगट हुआ हो तब...** ऐसी कोई अस्थिरता होती हो तब **शास्त्र अनुसार...** शास्त्र के अनुसार, **अपनी और पर की 'आत्मन: परस्य च'** अपनी और पर की स्थितिकरण। **स्थिरता भी करनी चाहिए।** स्थिरता भी करनी चाहिए। **स्थितिकरणं अपि कार्यम्** अर्थ करते हैं।

टीका : काम की व्याख्या–**मैथुन का भाव,...** इस विषय के भाव से अपना आत्मा (धर्म से) डिगता हो तो उसे स्थिर करना। सुखबुद्धि तो न हो परन्तु ऐसी विकल्प

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

की वृत्ति में विषयवासना हो, उसमें से हटकर जीव को स्थिर करना। समझ में आया? उसमें से भ्रष्ट होने का प्रसंग आवे, इसलिए भ्रष्ट होने देना नहीं। **क्रोध का,...** भाव कहा है न? विषय के भाव हैं। **क्रोध का,...** समझ में आया? **अदादिषु न्यायात् वर्त्मनः चलयितुं उदितेषु** क्रोध होता हो, तीव्र क्रोध होता हो, उससे परांमुख हो। तीव्र क्रोध से धर्म से भ्रष्ट होने का प्रसंग आवे, इसलिए उसे क्रोध होने नहीं देना। मान... अभिमान, जहाँ-तहाँ मान और मर्तवी पोषाये, वहाँ चलता हो तो वापस मोड़ना। समझ में आया? मान और मर्तवी पोषण का हो, उसमें से जीव को वापस मोड़ना। अपने आत्मा को अपने में स्थिर करना। दुनिया में मान मर्तवी कोई आत्मा का भला हो ऐसा नहीं है। दुनिया माने, अधिक न माने उसके साथ कहीं आत्मा का कल्याण नहीं है। दुनिया में इतने में ठीक कहलाये न, अधिक में, जिसमें रहे उस समाज में यदि ठीक कहलायें तो अपन ठीक निभें। समाज तो अनेक प्रकार की है, उसके साथ तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे मान से, भाव से, अपने को वापस मोड़ना। समझ में आया? आत्मा को स्थिर करना। **आदि शब्द से लोभादिक का भाव...** लोभ, कोई कपट, समझ में आया? कोई गृद्धि ऐसे भाव से जीव को (वापस मोड़ना) ये भ्रष्ट करनेवाले भाव हैं- ऐसा कहते हैं। ऐसे भाव, धर्म से भ्रष्ट करनेवाले हैं। अरे! **न्यायरूप धर्ममार्ग से भ्रष्ट करनेवाला है,...** ऐसा कहते हैं। है न? मूल पाठ यह है न? **न्यायात्** न्याय... न्याय... न्याय... ऐसे भाव—लोभ में बहुत जाय, क्रोध में जाय, मान में जाय, न्यायरूप धर्म में से भ्रष्ट करनेवाले हैं। **अतः उनके प्रगट होने पर अपने को तथा अन्य जीवों को शास्त्रानुसार युक्ति से...** है न? **युक्त्वा** शब्द पड़ा है न? **युक्त्वा** -अपने को और पर को शास्त्रानुसार युक्ति द्वारा न्याय से। समझ में आया?

धर्म में स्थिर करना... अपने आत्मा को धर्म में स्थिर करना, एक बात है। **यह कार्य भी श्रद्धावान पुरुष को योग्य है।** दूसरे को फिर विकल्प हो और हो, यह साथ में डाला है व्यवहार से। मूल तो अपने को स्थिर करने की बात है। दूसरा हो या न हो, वह तो उसकी पर्याय की योग्यता हो तो होता है; तेरे विकल्प से वहाँ कुछ हो नहीं जाता, सुधर नहीं जाता। समझ में आया? स्वयं अपने भाव को (वापस मोड़े)। भाई! ऐसे धर्म के मार्ग से भ्रष्ट होने के कारण उनमें सावधान रहकर अपने आत्मा को स्थिर करना। यह कार्य भी

www.vitragvani.com

श्रद्धानवाले को करना योग्य है। ऐसा कार्य भी आत्मा को अपनी श्रद्धा में करनेयोग्य है। समझ में आया?

बहुत तो फिर अकेले परोपकार में चले जाते हैं। पर का करो, पर का करो न अपने, परन्तु पर का तू कब कर सकता है? यह तो साथ में डाला है, वह विकल्प है इसलिए। पर का करे कौन? तीर्थंकर भी किसी का कर नहीं सके। जिसकी योग्यता थी, उसका हुआ। समझ में आया? शास्त्रानुसार युक्ति द्वारा वापस ऐसा (कहा है)। अपनी कल्पना से नहीं। **धर्म में स्थिर करना भी श्रद्धावान पुरुष को योग्य है।**

भावार्थ : जो धर्म से भ्रष्ट हैं, उन्हें पुन: धर्म में स्थापित करना स्थितिकरण है। लो! अपने आत्मा को और पर को। भ्रष्ट को धर्म में स्थापित करना, उसका नाम स्थितिकरण है। धर्म में स्थापित करना न? या उस भूखे को आहार-पानी देना, वह भी स्थितिकरण होगा? यहाँ तो भ्रष्ट को धर्म में स्थापित करने का नाम (स्थितिकरण है)— ऐसा कहते हैं। **धर्मभ्रष्टता कामक्रोधादि के वशीभूत होने पर होती है।** ऐसा कहते हैं। या विषय की वासना से, या किसी क्रोध से, या अपना मान रखने के लिये, या किसी कपट के लिये, या किसी लोभ की तीव्रता के लिये धर्म से भ्रष्ट हुआ जाता है।

इसलिए जो इनके निमित्त से अपने परिणाम भ्रष्ट हों... इनके निमित्त से अपने परिणाम में कुछ चलित हों, **तो स्वयं युक्तिपूर्वक धर्म में स्थिर होना चाहिए,...** तो स्वयं अन्तर के न्यायमार्ग द्वारा अपने आत्मा को स्थिर करना। **अन्य जीव भ्रष्ट हों तो उन्हें भी जैसे बने वैसे धर्म में दृढ़ करना चाहिए।** लो! धर्म से भ्रष्ट होता हो उसे, हों! **अन्य जीव भ्रष्ट हों तो उन्हें भी जैसे बने वैसे...** जैसे बने वैसे – ऐसा कहा है। अर्थात् क्या सहज विकल्प आया हो, हुआ हो, तो हो ऐसे जैसे बने वैसे, **धर्म में दृढ़ करना चाहिए।** यह सम्यग्दृष्टि का छठवाँ आचार-स्थितिकरण है। लो! दो रहे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २९

७- [1]वात्सल्य अंग

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्।।२९।।

शिव सुख सम्पत्ति का कारणभूत अहिंसा धर्म अहो।
अहो निरन्तर साधर्मीजन में उत्कृष्ट प्रीति वर्तो।।२९।।

अन्वयार्थ : (शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने) मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत (धर्मे) धर्म में (अहिंसायां) अहिंसा में (च) और (सर्वेष्वपि) सभी (सधर्मिषु) साधर्मीजनों में (अनवरतं) निरन्तर (परमं) उत्कृष्ट (वात्सल्यं) वात्सल्य अथवा प्रीति का (आलम्ब्यम्) आलम्बन करना चाहिए।

टीका : 'शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने अहिंसायां धर्मे सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमंवात्सल्यं अनवरतं आलम्ब्यम्' – मोक्षसुख की सम्पदा के कारणभूत हिंसारहित जिनप्रणीत धर्म में तथा उस धर्मयुक्त सभी साधर्मियों में उत्कृष्ट वात्सल्य निरन्तर रखना चाहिए।

भावार्थ : गोवत्स जैसी प्रीति का नाम वात्सल्य है। जैसे बछड़े की प्रीति से गाय सिंहनी के सन्मुख चली जाती है और विचार करती है कि यदि मेरा भक्षण हो जाय और बछड़े की रक्षा की जाय तो अत्युत्तम है। ऐसी प्रीति धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होनी चाहिए, जो तन-मन-धन सर्वस्व खर्च करके अपनी प्रीति को पाले।।२९।।

---

१. वात्सल्य – अपने साथ के धर्मात्मा जीवों का सच्चे भाव से कपटरहित यथायोग्य सत्कार करना। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा १७)

www.vitragvani.com

प्रवचन नं. २७ गाथा–२९–३० रविवार, वैशाख कृष्ण १२, दिनांक ०४.०६.१९६७

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्।।२९।।

पुरुषार्थसिद्धि–उपाय है। मुक्ति, वह पुरुष की सिद्धि कहलाती है। मोक्षदशा, वह पुरुषार्थ की सिद्धि, उसका उपाय। उसमें पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या चलती है। पहला, सम्यग्दर्शन अर्थात् जो जीवादि तत्त्व हैं, उनसे विपरीतश्रद्धारहित—जैसे तत्त्व हैं, ऐसा—ज्ञायकभाव आत्मा; रागादि आस्रव पुण्यतत्त्व इत्यादि जैसे हैं, वैसे स्वसन्मुख होकर आत्मा की सम्यग्दर्शनदशा प्रगट करना, वह प्रथम में प्रथम धर्मी का कर्तव्य है। समझ में आया? समझ में आया? पहले महाव्रत लेना, वह कर्तव्य नहीं है–ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : चरणानुयोग...

पूज्य गुरुदेवश्री : चरणानुयोग में इस दर्शनपूर्वक की बात है। सम्यग्दर्शन, आत्मा असंख्यप्रदेशी दल, अनन्त गुण का धाम, एकरूप के स्वसन्मुख दृष्टि करके अनुभव करना, यह पहले में पहला धर्म करनेवाले का कर्तव्य है। कहो, समझ में आया? उस सम्यग्दृष्टि को आठ अंग होते हैं—ऐसा यहाँ कहते हैं। ऐसे धर्मात्मा को आठ अंग, आठ लक्षण कहो या आठ आचार कहो। उन आठ में छह आ गये हैं; आज सातवाँ है। वात्सल्य अंग। धर्मी, जिसे आत्मा की पूर्ण आनन्दस्वरूप की प्रतीति आयी है, उसे धर्मात्मा के प्रति और अपने स्वभाव के प्रति प्रेम होता है। समझ में आया? यह सातवाँ बोल है।

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्।।२९।।

मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत... मोक्षसुख अर्थात् आत्मा की परम आनन्ददशा–ऐसी जो निज सम्पदा। मोक्षसुखरूपी सम्पदा, आत्मा की अतीन्द्रिय आनन्दरूपी, आत्मा की अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्दरूपी अवस्था, वह मोक्षसुख की सम्पदा कहलाती है। यह उसके कारणभूत उपाय की बात है न? **कारणभूत धर्म में...** कैसा धर्म

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है ? कि अहिंसा। जिसमें रागरहित आत्मा की अहिंसा, उसका नाम अहिंसा जैनधर्म कहलाता है। कहो, समझ में आया ? अहिंसा अर्थात् रागरहित, विकल्परहित आत्मा की अहिंसकदशा, निर्मल अरागीदशा, वह जैनधर्म है, वह अहिंसाधर्म है। उसमें इसे प्रेम चाहिए, प्रीति चाहिए।

और सभी साधर्मीजनों में... यह बाहर से लिया। जिन्हें आत्मधर्म / स्वभावदृष्टि प्रगट हुई है—ऐसे साधर्मी। समस्त शब्द से चौथे, पाँचवें, छठवें आदि (गुणस्थानवर्ती) हों, **और सभी साधर्मीजनों में निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य...** देखो। जिसे निरन्तर और उत्कृष्ट प्रेम होता है। अपना परम पवित्र रागरहित अहिंसा स्वभाव है। उसकी इसे दृष्टि है; इसलिए उसकी इसे प्रीति होती है। समझ में आया ? आत्मा आनन्द और ज्ञायकस्वरूप पूर्ण शुद्ध, उसके अन्तर, ये पुण्य के विकल्प हैं, उनसे रहित, स्वभाव की दृष्टि सहित, अरागीदशा की उत्पत्ति (होना), उसे अहिंसा जैनधर्म कहते हैं। यह अहिंसा जैनधर्म है। समझ में आया ?

ऐसे अहिंसा धर्म में समस्त साधर्मी... नीचे कहेंगे। समस्त साधर्मीजनों—सम्यग्दृष्टि हो या सच्चे श्रावक हों या सच्चे मुनि हों—समस्त जनों में सतत् निरन्तर... वापस किसी समय प्रेम और किसी समय द्वेष—ऐसा नहीं। समझ में आया ? सतत और वह भी उत्कृष्ट। जो कुटुम्बीजनों के प्रति प्रेम है, स्त्री-कुटुम्ब; उनकी अपेक्षा इन साधर्मीजनों के प्रति उसे उत्कृष्ट प्रेम होता है। समझ में आया ?

धर्मात्मा के प्रति, घर के कुटुम्ब की स्त्री, कुटुम्ब की अपेक्षा भी... घर में समकिती साधर्मी हो तो वह अलग बात है, वरना घर की स्त्री, पुत्र और पिता की अपेक्षा भी साधर्मी के प्रति उसे उत्कृष्ट प्रेम होता है। कहो ! समझ में आया इसमें ? समस्त साधर्मी, 'समस्त' शब्द से यह। सर्वेषु है न ? चौथे गुणस्थान से लेकर लिया है—सम्यग्दृष्टि जीव हो, श्रावक हो, मुनि हो या अविरत सम्यग्दृष्टि हो—सबमें जिसे प्रेम होता है। वह कैसा ? निरन्तर, कैसा ? दूसरों की अपेक्षा ऊँचा।

वात्सल्य अथवा प्रीति का आलम्बन करना चाहिए। इसे प्रेम का अवलम्बन लेना चाहिए। कहो, समझ में आया इसमें ? अपना निर्विकल्प आत्मस्वभाव, उसके प्रेम का अवलम्बन लेना और बाह्य में साधर्मी के प्रति ऐसे प्रेम का भाव / शुभराग

होता है। इसमें निश्चय और व्यवहार दो वात्सल्य की व्याख्या है। कहो, समझ में आया इसमें ?

टीका : मोक्षसुख की सम्पदा के कारणभूत... मोक्षसुख। मोक्ष अर्थात् परम शुद्धता का प्रगट होना। 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता।' श्रीमद् में आता है न ? निज परमात्मदशा शुद्ध जैसा स्वभाव है, वैसी दशा प्रगट होना—पूर्ण आनन्द की दशा प्रगट होना, इसका नाम मोक्ष। अत: कहते हैं कि **मोक्षसुख की सम्पदा...** यह जीव की सम्पदा है। कहो, समझ में आया ? यह शरीर, लक्ष्मी आदि कोई आत्मा की सम्पदा नहीं है; ये तो जड़, पर है। अपने पूर्ण आनन्द की, सुख की दशारूप सम्पदा, मोक्षरूपी लक्ष्मी। लो ! यह सम्पदा। इसके कारणभूत उपाय... उपाय की बात है न इसकी ? पुरुषार्थसिद्धि, पुरुषार्थसिद्धि अर्थात् मोक्षसुख; उसका उपाय यह, उपाय की बात कारणभूत है।

हिंसारहित जिनप्रणीत धर्म में... हिंसारहित की व्याख्या यह है। परजीव को न मारना, वह कोई, ऐसी कोई बात यह नहीं। जैनधर्म में वह कुछ है नहीं। मारना, न मारना, यह आत्मा के अधिकार की बात है नहीं। आत्मा को नहीं मारना; राग से आत्मा मरता है। शुभ-अशुभराग होवे तो आत्मा के प्राणों का घात होता है। यह जैनधर्म नहीं। शुभ-अशुभराग रहित आत्मा के चैतन्य प्राण को श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता द्वारा जीवित रखने का नाम जिनप्रणीत अहिंसा धर्म कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? है ?

मोक्षसुख की सम्पदा का हेतु / कारण अर्थात् उपाय। निबन्धन में व्याख्या की है न ? **निबन्धने** अर्थात् कारणभूत। निबन्धन। शिवसुख लक्ष्मी का निबन्धन अर्थात् जिससे प्राप्त हो। भगवान आत्मा जैसा आनन्द उसका स्वभाव है, वैसी उसकी प्रगट दशा पूर्ण आनन्द हो, वह मोक्षरूपी आत्मा की लक्ष्मी, उसका निबन्धन-उपाय, हेतु कौन ? अहिंसा जिनप्रणीत धर्म। विकल्प, पुण्य, दया, दान के विकल्परहित आत्मा की दया के जो परिणाम, आत्मा की दया के परिणाम—ऐसा वीतराग द्वारा कथित वीतरागी अहिंसाभाव, उसमें प्रेम करना और उस धर्मसहित ऐसे, और उस धर्मसहित, ऐसे धर्मवाला, ऐसे धर्मवाला। **ऐसे सभी साधर्मियों में...** अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर मुनि दिगम्बर आत्मज्ञानी-ध्यानी, निर्मलानन्द की दशा को प्राप्त हुए, उनके प्रति प्रेम करना। **उत्कृष्ट वात्सल्य निरन्तर रखना चाहिए।** कहो, समझ में आया ? इससे उनके विरुद्ध के प्रति

www.vitragvani.com

द्वेष करना ऐसा नहीं। ऐसा नहीं यहाँ कोई नहीं कहना है। समझ में आया? धर्मी को किसी के प्रति द्वेष नहीं होता। अन्यमत के स्थापित देव, कुदेव, प्रतिमा आदि हो तो भी उनका कोई अनादर करे या ऐसा नहीं हो सकता। द्वेष, द्वेष नहीं होता। समझ में आया? जगत में अनेक अभिप्रायवाले प्राणी होते हैं और उनके प्रमाण में उनके माने हुए देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करते हों, उनमें कोई द्वेष का कारण नहीं है। न्यालभाई! द्वेष किसी के प्रति नहीं होता। वीतराग धर्म तो राग-द्वेष रहित है। समझ में आया?

अपने निर्मल आनन्दस्वभाव का प्रेम और निर्मल आनन्दस्वभाव को प्राप्त ऐसे साधर्मियों के प्रति प्रेम, परन्तु उनसे विरुद्ध माननेवालों कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को स्थापित करनेवालों, विपरीत प्ररूपणा करनेवालों, उनके स्थापित किये हो कोई अनेक देव, उनके प्रति धर्मी को बैर नहीं होता। जगत में तो ऐसे अनादि से चला आ रहा है। समझ में आया? जगत में ऐसी विपरीत मान्यता, उनके देव-गुरु उन्होंने अपनी पूजा के लिए स्थापित किये हों, इससे किसी को अनादर करना—ऐसा जैनदर्शन में नहीं हो सकता। समझ में आया? माँगीरामजी!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : संकल्प यह कि मार डालूँ यह। जीव को मार डालूँ—ऐसी संकल्प हिंसा नहीं होती। विरोधी कोई विरोध करने आया, राज में राजा हो और विरुद्ध करने आया हो तो जाये। ऐसी हिंसा है परन्तु है हिंसा। उसे हिंसा जाने, उसे हिंसा जाने, पाप जाने। यह सब हिंसा का त्याग करना, इसका नाम अहिंसा है। संकल्प की हिंसा, विरोधी हिंसा, आरम्भ की हिंसा, उद्योग की सब हिंसा राग है। वह तो ठीक परन्तु ये दया के भाव राग, वह हिंसा है।

परजीव की दया का भाव वह भी वास्तव में तो हिंसा है। राग है न? उस रागरहित आत्मा की अहिंसा है, उसे अहिंसा कहते हैं। बाहर का त्याग है, वह तो अभी विकल्प है। अन्दर जाने के लिये मनुष्य को बाहर का खटक-खटक रहा करता है, वह मानो कि इस बाहर से त्याग होवे न ऐसा तो अहिंसा (कहलाये)। बाहर से त्याग ही है, अन्दर कहाँ प्रवेश हो गया है? वह तो एक व्यवहार से बात करते हैं कि श्रावक हो उसे संकल्प हिंसा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

नहीं होती। सम्यग्दृष्टि हो उसकी बात है। आत्मा के आनन्द का अनुभव है, उसे राग इतना छूटा है और बाकी राग रहा है, उसकी व्याख्या कि दूसरे प्राणी को मार डालूँ, ऐसे कुचल डालूँ—ऐसा भाव उसे नहीं होता परन्तु राज में कोई विरोधी विरोध (करने) आया हो तो उसके लिये उसे विरोध करने का भाव आता है परन्तु वह अच्छा है—ऐसा नहीं है। वह आता है, तथापि उसका श्रावकपना चला नहीं जाता, इतनी बात बताते हैं, वरना है तो वह पाप। विरोध करना, विकल्प वह भी पाप; आरम्भ में आरम्भी हिंसा में जो रागभाव होता है, वह भी पाप; उद्योगी में होता है, वह भी पाप परन्तु सम्यग्दृष्टि को इतना राग नहीं छूटा; इसलिए इतना राग वहाँ होता है। आरम्भी का, उद्योगी का, विरोधी का (राग है), तथापि है तो वह भी हिंसा। समझ में आया? दृष्टि में तो उससे रहित आत्मस्वभाव, वह अहिंसाधर्म है। गजब बात! वीतराग मार्ग को... समझ में आया?

सभी साधर्मियों में उत्कृष्ट वात्सल्य निरन्तर रखना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव, श्रावक, सच्चे मुनि धर्मात्मा हों, उनके प्रति धर्मी को तो वात्सल्य ही होता है, प्रेम होता है।

भावार्थ : गोवत्स जैसी प्रीति का नाम वात्सल्य है। वात्सल्य की व्याख्या की है। वात्सल्य किसे कहते हैं? गाय को बछड़े के प्रति हो, वैसी प्रीति को वात्सल्य कहते हैं। **जैसे बछड़े की प्रीति से गाय, सिंहनी के सन्मुख चली जाती है...** अपने बछड़े के प्रेम के कारण, मेरे प्राण जायेंगे—यह भी वह दरकार नहीं करती। **और विचार करती है कि यदि मेरा भक्षण हो जाय और बछड़े की रक्षा की जाय....** अर्थात् बच जाये। उसे ऐसा प्रेम बछड़े के प्रति होता है। **अत्युत्तम है। ऐसी प्रीति धर्म...** ऐसी प्रीति आत्मा के अहिंसास्वभाव में (धर्मी को होती है) समझ में आया? आहा...हा...!

देखो न! टोडरमलजी को हाथी के नीचे कुचल दिया। पता है कि इन ब्राह्मणों ने यह शिव की मूर्ति रखी है। राजा को मैं कहूँ तो राजा मानेगा... अरे! यह कैसे रखे? उनके प्राण जायें, मेरे प्राण जाये तो जाये। आहा...हा...! उस समय यह विचार आया था। उस समय की उनकी मौजूदगी में प्राण छूटने का परीषह का योग आया। उनके इस स्मरण हॉल में कर्फ्यू आया, ये सब नियम हैं, कुदरत के नियम हैं। समझ में आया?

महा कठिनता से दो सौ वर्ष में एक व्यक्ति निकला ऐसा, तब आठ दिन कर्फ्यू,

www.vitragvani.com

लोगों को छूट से आना (बने नहीं) भय को प्राप्त हो गये। इतना योग ही उन्हें नहीं था उस समय और यहाँ बाहर में प्रसिद्धि का ऐसा योग नहीं। उस समय ख्याल आ गया था। ठीक! फिर तीन दिन बाद पीछे से तीन दिन अनुकूल रहा। दो सौ वर्ष में यह योग (आया)। जब यहाँ आनेवाले ग्यारह दिन आज, उसमें ही कर्फ्यू, देखो तो सही! क्या कुदरत के नियमानुसार क्रमसर होता है, ऐसा उल्टा-सीधा कुछ नहीं होता। इतना प्रभावना में स्वयं की स्थिति लम्बी नहीं थी, इसलिए देह छूट गया और यहाँ भी इतना अधिक प्रभावना एकदम बढ़ जाये (ऐसा नहीं होता) वह निकला अवश्य प्रभावना का करनेवाला। सोलह लाख खर्च करे वह कोई कम बात है? कुदरत में... सुखाडिया के प्रति लोक में इतना विरोध। सुखाड़िया न? इस कांग्रेस के प्रति इतना गाँव के लोगों का विरोध। वे कहें गाँव में एक व्यक्ति को रहने नहीं दूँगा। कुदरत देखो न बनकर आया, कहा कि आठ दिन में आया यह। बने उस समय उसके नियमानुसार (बने)।

कुन्दकुन्दाचार्य की शैली देखो तो उनका शास्त्र भी पूरा हो गया, उनका पुण्य जबरदस्त। समझ में आया? पवित्रता जोरदार, पुण्य जोरदार, भगवान का योग, शास्त्र लिया वह पूरा किया और निर्विघ्न समाप्त (हुआ)। उनकी दशा ऐसी थी और पुण्य (ऐसा था)। उस समय में ये सब विचार आये थे, वह तो ऐसा ही है। दो सौ वर्ष में यह पहला योग है। यह आकर खड़ा रहा। यह आठ दिन में आकर खड़ा रहा। आगे-पीछे पन्द्रह दिन पहले या पन्द्रह दिन बाद नहीं। ऐसे नियमसर काम जगत के व्यवस्थित चलते हैं। उनका प्रसंग जब यह बना तब उनके प्रसंग के समय ऐसा हुआ, वहाँ बाहर के प्रसंग, फिर ऐसे प्रसंग एकदम? बड़ा, ओहो...हो...! पाँच लाख का हॉल। वह पाँच लाख का गिना जाता है। वह तो कौन जाने कितने खर्च किये होंगे। देखो! छह लाख खर्च, पाँच लाख चुपचाप दिये। बाहर से इक्यावन हजार ध्रुवफण्ड में एकान्त में बोले न, सेठिया। पाँच लाख निकाले हैं। सेठिया ने बात की है, ऐसे बोलते थे। वरना अपने को कहाँ पता? ग्यारह लाख पहले खर्च हुए, ऐसा एकान्त में बोलते थे, एकान्त में (कहते थे)। सब होकर ग्यारह लाख (हुए) प्रसंग ऐसा हुआ तो ऐसा हुआ, तथापि वापस जब सारांश कुछ आया अन्तिम परसों के दिन वह आया अनुकूल। दस-दस हजार लोग और यह सब... कोई कभी सौ वर्ष में

www.vitragvani.com

नहीं हुआ हो, अठारह हाथी और सजाकर बड़ा जुलूस (निकला) यह तो यह सब ऐसी की ऐसी लाईन है, यह सब। तीन दिन पहले कुछ और तीन दिन में कुछ। यह बाहर की स्थिति कौन करे? भाई! उनके परमाणु की पर्याय और उनके नियम में चलता हो, वह चलेगा। कोई उसका कर्ता–हर्ता नहीं है। दूसरा कहे कि हम ऐसा ठीक कर देंगे, बापू! वह कहीं तेरा किया हो—ऐसा है नहीं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, प्रेम प्रेम। ओहो...हो...! धर्मात्मा के प्रति, बछड़े को... मृत्यु करके अपने बछड़े का भला करना चाहे; इसी प्रकार धर्मी ऐसी प्रीति धर्म में और धर्मात्मा साधर्मी में चाहिए। अपने जैसे... नीचे आयेगा। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का श्लोक। इसमें अंक नहीं दिया है परन्तु वह सत्रहवाँ चाहिए। वह हाथी पैर नहीं रखता था, ऐसी कथा आती है। राजा ने हाथी को हुक्म किया, हाथी पैर नहीं रखता। उसे अरे...! स्वयं कहते हैं कि हे गजराज! जब राजा ने हुक्म किया, राजा के ख्याल में बात नहीं तो अब तुझे किसलिए डर लगता है? आहा...हा...! २८ वर्ष का युवक मनुष्य ऐसे पण्डित! आचार्यकल्प! वह तो योग ऐसा हो तो बने। कौन जाने... वरना जयपुर में तो बड़े साधर्मी जीव बहुत (हुए हैं)। कैसे–कैसे बड़े हो गये हैं?

दीवान, माँस के खानेवाले ने कहा लो! अमरचन्द दीवान। जा सिंह को खिला। अमरचन्द दीवान लड्डू लेकर सिंह के पिंजरे में गये। सिंह! यह खा, नहीं खाये तो मैं हूँ, यहाँ मुझे खा। कहो! दीवान (कहते हैं) खा सिंह! ऐसे अन्दर पिंजरे में गये। देखो! लड्डू खा, खाना हो तो और या मुझे खा। माँस, माँस नहीं दूँगा। सिंह स्थिर हो गया, माँस नहीं दूँगा, माँस नहीं दूँगा, मेरा भोजन लड्डू है खाना हो तो खा, वरना मुझे खा। सिंह नरम हो गया, उस गाँव में टोडरमलजी की मृत्यु, एक दृष्टान्त, लो! कैसा प्रसंग बनता है! आहा...हा...! कहाँ गये देव और कहाँ गये.... ? ऋषभदेव भगवान को छह महीने आहार नहीं मिला। कहाँ गये देव? लो! पुत्र को पता नहीं? छह–छह महीने तक आहार नहीं मिला। ये ऋषभदेव भगवान भरत में घूमते हैं। यह होनेयोग्य काल की जो पर्याय जहाँ हो, उसे कौन रोके और किसे विचार आवे? भाई! परन्तु उसे अन्दर से प्रेम उछल जाता है, देखो! समझ में आया?

www.vitragvani.com

आत्मा का शुद्ध अहिंसक स्वभाव ऐसा ज्ञायकभाव, ऐसा आत्मा का शान्त वीतरागी समरसस्वरूप। आज तो भगवान के दर्शन करते थे और ऐसा विचार आया कि देखो! यहाँ छाती में आत्मा के प्रदेश कितने दल भरे होंगे? छाती है न भगवान की? असंख्य प्रदेश का ऐसा जत्था पड़ा है। असंख्य चौबीसी के समय जितने तो जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। वे सब, आत्मा के असंख्यात प्रदेश दल, अरूपी हैं; इसलिए लोगों को ऐसा लगता है कि अरूपी, परन्तु अरूपी अर्थात् वस्तु है वह। समझ में आया?

ऐसे यहाँ छाती में असंख्य प्रदेश इतनी संख्या है कि असंख्य चौबीसी के समय जितने एक जीव के प्रदेश हैं। असंख्य चौबीसी किसे कहें! एक चौबीस तीर्थंकर हों, उसमें दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम होते हैं और एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम होते हैं—ऐसे-ऐसे असंख्य चौबीसी के समय इतने आत्मा के प्रदेश ठूँसठूँस कर ऐसे प्रदेश भरे हैं। अरूपी घन है। समझ में आया? लोग भगवान की मूर्ति (कहते हैं) परन्तु मूर्ति में अन्दर आत्मा है, ऐसा अन्दर था ऐसा दल, असंख्य प्रदेश का दल-पिण्ड और अकेला आनन्द और ज्ञान की पर्याय का परिणमन, महाघन। उनका तो यह प्रतिबिम्ब है। मूल वस्तु ख्याल में आये बिना प्रतिबिम्ब को किस प्रकार मानेगा यह? आहा...! ऐसे साधर्मी के प्रति...

मुमुक्षु : प्रतिमा का तेज बहुत....!

उत्तर : उस प्रतिमा का तेज... उसके अन्दर आत्मा था। उसका तो यह प्रतिबिम्ब किया है बाहर के शरीर का।

ऐसे असंख्य प्रदेश यहाँ से सब ठूँसठूँस कर अन्दर भरे हैं। इतने में असंख्य प्रदेश कितने? असंख्य चौबीसी के समय जितने। ये तो संख्यातवाँ भाग है इतना। क्या कहा? इसमें कितने प्रदेश हैं? एक इतने में कितने प्रदेश? क्योंकि यह भाग है, वह शरीर का वह संख्यातवाँ भाग है और उसके प्रदेश हैं असंख्य चौबीसी के समय जितने। इसलिए असंख्य चौबीसी का संख्यातवें भाग के जो समय उतने तो यहाँ प्रदेश हैं, पूरे दल पड़े हैं। समझ में आया इसमें? समझ में आता है या नहीं?

असंख्य चौबीसी के समय जितने एक जीव के प्रदेश। अब एक जीव का इतना

www.vitragvani.com

सिरा लो, इतना तो भी वह तो संख्यातवाँ भाग है। शरीर का संख्यातवाँ भाग है न? तब असंख्य चौबीसी के संख्यातवें भाग के यहाँ प्रदेश हैं। इतने असंख्य प्रदेश ऐसे केवलज्ञानघन से ज्ञानस्वभाव से, आनन्दस्वभाव से, अनन्त गुण से सम्पूर्ण प्रदेशों का घन पड़ा है, ऐसा पूरा घन है। ऐसे आत्मा की अनन्त निर्दोष शक्तियों का भण्डार भगवान (है)। यह तो प्रदेश की बात की परन्तु वापस एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त गुण। यह तो प्रदेश असंख्य हैं परन्तु भाव अनन्त हैं। आहा...हा...! ऐसा दल इतना घन असंख्य चौबीसी के समय जितना परन्तु यहाँ इतने-इतने में प्रदेश। आहा..हा...! और उसके एक-एक प्रदेश में, ऐसा धारावाही है कोई प्रदेश.. अनन्त गुण पड़े / बिछे हैं, ऐसे। आहा...हा...! यह आत्मा किसे कहना? समझ में आया?

आत्मा असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का धाम एक है, त्रिकाल रहनेवाला है। उसे रागादि है नहीं, विकल्प नहीं। दया, दान का विकल्प भी आत्मा के स्वभाव में नहीं, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसे आत्मा में अन्तर्मुख होकर पुण्य-पाप के विकल्परहित दृष्टि करना, स्थिरता करना, उसे अहिंसा धर्म कहते हैं, वह जिनप्रणीत अहिंसा धर्म है। आहा...हा...! गजब व्याख्या, भाई! ऐ... मगनभाई! अहिंसा परमोधर्म। 'केवलीपण्णत्तो शरणम्' आता है न? केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणम्-परन्तु कौन सा केवलीपण्णत्तो धम्मो! ऐ..ई... न्यालचन्दभाई! यह सब वहाँ प्रतिक्रमण करते हों शाम-सबेरे। बोले मांगलिक! आहा...!

भाई! यहाँ तो धर्मात्मा को ऐसा धर्म प्रगट हुआ है और स्वयं को प्रगट हुआ है तो स्वयं को प्रेम है और दूसरे धर्मी के प्रति भी उसे प्रेम है। कैसा प्रेम? पहले भाषा ली है- सतत् और परम। **अनवरतं** है न? **अनवरतं** अर्थात् अन्तर पड़े बिना / निरन्तर और उत्कृष्ट। आहा...हा...! अपने शुद्ध आनन्दस्वभाव का भी प्रेम, सतत् निरन्तर और उत्कृष्ट प्रेम। जिसे पुण्य का प्रेम और देव-गुरु का प्रेम परन्तु भगवान के प्रेम के कारण दूसरा प्रेम ऐसा हो नहीं सकता—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और देव-गुरु-शास्त्र या धर्मात्मा के प्रति प्रेम, उसे स्त्री-पुत्र के प्रति प्रेम नहीं। दूसरे प्रकार का प्रेम अधिक होता है उसे। ऐसा अहिंसास्वरूप भगवान परमेश्वर वीतरागदेव द्वारा कथित तत्त्व का प्रेम और उसके

www.vitragvani.com

साधनेवाले के प्रति प्रेम, उसे वात्सल्य / प्रेम कहा जाता है। बछड़े को जैसे है, वैसे अपने... है अन्दर, देखो!

ऐसी प्रीति धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होनी चाहिए, जो तन-मन-धन... शरीर चला जाये, मन के विकल्पों में भी वही उसे विचार हो। जाओ, जाना हो तो जाओ परन्तु साधर्मी के प्रति प्रेम उसे हटता नहीं है। दुनिया में किसके प्रेम के कारण दुनिया कहेगी... समझ में आया? तो कहते हैं कि स्वयं करे, धन को खर्च करे। लो! धन का आया इसमें। नींद नहीं आती रात्रि में? मलूकचन्दभाई को झोंके आते हैं। **तन-मन-धन...** कहो समझ में आया? इसमें तो झोंके उड़ जायें ऐसा है। इसमें क्यों झोंका आता होगा पता नहीं पड़ता? साताशीलया शरीर, सहज-सहज होता हो तो लेना। कहते हैं कि यह तन, मन, और धन। एई... नेमिदासभाई! आहा...! लो! यहाँ तो धन खर्च कर, कहते हैं। लो! यह लक्ष्मी है, उसके प्रति स्त्री-पुत्र के लिये खर्च करता है, उसकी अपेक्षा धर्म के प्रेम और साधर्मीजन के प्रेम के लिये खर्च करे—ऐसा भाव होता है-ऐसा कहना है। यह तो हुआ तो ठीक, ऐसा भाव उसे आवे न! समझ में आया? पुत्र के विवाह में कैसे लाख, सवा लाख खर्च कर डालता है। उसके प्रमाण में खर्चे और पैसे हों उसे? कहो! एक लाख खर्च किये या नहीं तुम्हारे लड़की में? एक लाख।

मुमुक्षु : इसके भाई ने खर्च किये।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके भाई ने परन्तु इसके भाई ने खर्च किये... फिर यह मन्दिर-बन्दिर या ऐसा कोई धर्मात्मा के लिये कुछ होगा या नहीं? परन्तु यह ऊपर-ऊपर के सब... मूल वस्तु स्वयं को पता नहीं पड़ता, इसलिए प्रेम नहीं आता। अपना स्वभाव, आहा...हा...! ऐसे जीव साधर्मी, उसे साधनेवाले, ऐसे जीवों के प्रति **तन-मन-धन सर्वस्व खर्च करके अपनी प्रीति को पाले।** अपनी प्रीति पालन करे। कहो, समझ में आया? स्वयं को यह राग का भाव ऐसा आवे और स्वभाव की प्रीति भी। तन-मन-धन सब जाता होवे, खर्च करके भी अपने आत्मधर्म का प्रेम नहीं जाये। शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा के प्रेम प्रीति, उसकी दृष्टि उसे प्रेम कहते हैं। कहो! यह वात्सल्य अंग कहा। सम्यग्दृष्टि का यह सातवाँ अंग, सातवाँ आचार, धर्मी का यह लक्षण। धर्मी

www.vitragvani.com

का दूसरा लक्षण होता नहीं कि वह अमुक करता हो और अमुक करता हो, उसका लक्षण यह है।

अब आठवाँ प्रभावना अंग। आठवाँ बोल है। सम्यग्दृष्टि आत्मा के शुद्ध आनन्द की प्रीतिवाला और जिसे पुण्य-पाप के परिणाम में भी प्रीति उड़ गयी है, ऐसा (है)। समझ में आया? जिसे आत्मा के पवित्र निर्दोषस्वभाव के प्रेम के समक्ष शुभ-अशुभभाव का प्रेम भी जिसे उड़ गया है, और उनके बन्धन तथा उनके फल का प्रेम भी छूट गया है—ऐसा धर्मी अपने स्वभाव के प्रति प्रेम में सतत निरन्तर जागृत होता है और ऐसे धर्म के साधनेवालों के प्रति भी उसका उत्कृष्ट प्रेम प्रसिद्ध होता है। कहो, समझ में आया? यशोविजय कहते हैं 'सांचु सगपण साधर्मी तणुं रे...' आता है न? 'बीजुं सर्वे जंजाल रे, भविकजन, साचुं सगपण साधर्मी तणु रे लाल...' सम्यग्दृष्टि ज्ञानी यथार्थ तत्त्वदृष्टिवाला... जिसने विपरीत दृष्टि छोड़कर यथार्थ दृष्टि की है—ऐसे धर्मात्मा के प्रति का सच्चा सगपण साधर्मी, दूसरा सब जंजाल। समझ में आया? स्त्री-पुत्र के प्रति प्रेम वह राग, वह दूसरे प्रकार का जंजाल। यह विकल्प उस भूमिका में होता है। स्वरूप में निर्विकल्प प्रेम वह अपना; सविकल्प प्रेम वह व्यवहार। प्रभावना-सम्यग्दृष्टि का आठवाँ अंग।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

गाथा - ३०

८- प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दान तपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।३०।।

आत्मा की करना प्रभावना सतत तेज रत्नत्रय से।
जिनशासन की, अतिशय विद्या पूजा दान शील तप से।।३०।।

अन्वयार्थ : (सततमेव) निरंतर (रत्नत्रयतेजसा) रत्नत्रय के तेज से (आत्मा) अपनी आत्मा को (प्रभावनीयः) प्रभावनायुक्त करना चाहिए (च) और (दानतपोजिन-पूजाविद्यातिशयैः) दान, तप, जिनपूजन और विद्या के अतिशय से अर्थात् इनकी वृद्धि करके (जिनधर्मः) जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए।

टीका : 'रत्नत्रयतेजसा सततं एव आत्मा प्रभावनीयः' - रत्नत्रय के तेज से निरंतर अपनी आत्मा को प्रभावनासंयुक्त करना चाहिए। और 'दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः जिनधर्म प्रभावनीयः' - तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्या, चमत्कारादि से जैनधर्म की [१]प्रभावना करना चाहिए।

भावार्थ : प्रभावना अर्थात् अत्यन्तपने प्रगट करना। अपने आत्मा का अतिशय तो रत्नत्रय के प्रताप बढ़ने से प्रगट होता है और जैनधर्म का अतिशय प्रचुर दया-दान से उग्रतप करके, बहुत धन खर्च करके भगवान की पूजा करवाकर, शास्त्राभ्यास करके तथा निर्दोष देवादि के चमत्कार से (जैन धर्म की महिमा) प्रगट होता है अतः ऐसा अतिशय प्रगट करना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन किया। यह आठ अंग किसी सम्यक्दृष्टि के सम्पूर्ण होते हैं, किसी के थोड़े होते हैं, किसी के

---

१. प्रभावना - (सर्वज्ञ वीतरागकथित विवेक पूर्वक) जैसे बने वैसे अज्ञानान्धकार के प्रसार को दूर करके जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना कहलाता है (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा १८)

गौणरूप से तथा किसी के मुख्यरूप से होते हैं। परन्तु सम्यक्त्व की शोभा तो तभी होती है जब यह आठों अंग सम्पूर्ण मुख्यरूप से प्रगट प्रत्यक्ष भासित हों। इस भांति सम्यक्त्व अंगीकार करने के पश्चात् धर्मी गृहस्थ को क्या करना चाहिये यह आगे कहेंगे।।३०।।

इस प्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्धिउपाय, जिसका अपर नाम जिनप्रवचनरहस्यकोष है, में सम्यग्दर्शन वर्णन नामक प्रथम अधिकार समाप्त।

गाथा ३० पर प्रवचन

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दान तपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।३०।।

वात्सल्य का नीचे रह गया, वात्सल्य है न? रत्नकरण्डश्रावकाचार का १७ वाँ श्लोक, नीचे **वात्सल्य – अपने साथ के धर्मात्मा जीवों का...** यह तो यह श्लोक वापस देखा था, कहा इसमें अंक क्यों नहीं लिखा? परन्तु यह शब्द इसके ही हैं, १७ वीं गाथा के ही हैं। अपने साथ के, इसमें शब्द है। धर्मी जीव, जिसे आत्मा की निर्विकल्प दृष्टि यथार्थरूप से परिणमित हुई है। **अपने साथ के धर्मात्मा जीवों का सच्चे भाव से...** भाषा ऐसी है। बाहर के देखादेखी से नहीं कि यह दुनिया है, इसलिए इतना करूँ, नहीं तो ठीक नहीं कहलायेगा। **सच्चे भाव से कपट रहित...** वापस ऐसा, माया / कपटरहित **यथायोग्य...** सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि प्रमाण, श्रावक को श्रावक प्रमाण, मुनि को मुनि प्रमाण। **यथायोग्य सत्कार करना,** वह वात्सल्य कहने में आता है। कहो, समझ में आया? अब आठवाँ, उसका अर्थ।

निरंतर रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त करना चाहिए... लो, यह प्रभावना, यह सच्ची प्रभावना। अपने आत्मा को रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—ऐसा जो आत्मा का तेज। आत्मा अखण्डानन्द प्रभु के सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र—ऐसे रत्नत्रय का जो तेज / उग्रता, शुद्धता। **अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त...** रत्नत्रय के भाव से प्रभावनायुक्त करना। यह निज प्रभावना कही जाती है। कहो, समझ

www.vitragvani.com

में आया इसमें? भाई! बात ऐसी सब। अन्तर में समाये वह, बात करना बाहर से, समाये बात अन्दर।

कहते हैं कि यह आत्मा भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्य की मूर्ति आत्मा है। विज्ञान का घन आत्मा है, आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है, अतीन्द्रिय आनन्द। उसकी श्रद्धा, उसकी श्रद्धा–निर्विकल्प श्रद्धा, निर्विकल्प स्व–संवेदनज्ञान और स्वरूप में रमणतारूप चारित्र—ऐसे रत्नत्रय के तेज से। देखा? उसकी वृद्धि से। **अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त करना चाहिए...** इस रत्नत्रय के तेज से अर्थात् रत्नत्रय की वृद्धि से, उसकी शुद्धि की वृद्धि से। अपने आत्मा को प्र–विशेष भावना, एकाग्रतायुक्त करना चाहिए। लो! यह प्रभावना। सम्यग्दृष्टि की यह सच्ची प्रभावना।

अब, बाहर व्यवहार। ऐसी प्रभावनावाला जो हो, उसे व्यवहार प्रभावना का शुभराग होता है। शुभराग हो, उसे व्यवहार प्रभावना कहा जाता है। कैसा शुभराग होता है? कि दान में, दान करके भी जैन प्रभावना बढ़ावे। समझ में आया? बाहर में करोड़ों के दान, लाखों के दान धर्म के नाम से (दे)। समझ में आया? जिनमन्दिर, जिनशास्त्र, जिनदेव, जिनगुरु, जिनशास्त्र आदि के लिये लाखों–करोड़ों के दान दे। लोक भी जरा चमक खा जाये। ओहो..! ऐसा दानी! वाह! समझ में आया?

तप... महान कोई आत्मा के आनन्दसहित की भूमिका में इच्छा निरोध करके बड़ी तपस्यायें महीने, दो महीने की करे, बाहर में ऐसा लगे कि ओहो...हो...! ऐसे धनाढ्य! ऐसी तपस्या जैनदर्शन में! आनन्दसहित की, हों! यह लंघन करते हैं वह नहीं। ए.. मगनभाई! भगवान आत्मा...! यहाँ तो अपवास करते हुए ऐसा हो, पूरा कठिन–कठिनता से करे वर्षीतप का और फिर मनावे (उत्सव) पाँच हजार, दस हजार खर्च करे तब नहीं तो तपस्या की व्यर्थ में जाये—ऐसा माने। थी कब?

यह तो आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति है, उसके आनन्द की लहर में रमते हुए, जिसे आत्मा की अन्तर... सोने में जैसे गेरु लगाते हैं और शोभा बढ़ती है; वैसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की शोभा उग्र बढ़े, उसे तपस्या कहने में आता है। उसे परमात्मा परमेश्वर वीतराग, तपस्या कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : .....

उत्तर : यह तप के, 'प्रतपनति इति तप:' आत्मा के अनन्त गुण का प्रतपन—प्र-विशेष शोभा करना, उसका नाम तप। जलना, उसका नाम प्रतपन नहीं। यह आया था, परमात्मप्रकाश में, नियमसार में तप किसे कहते हैं? भगवान आत्मा, जिसे अन्तर में दृष्टि में शुद्धस्वरूप पवित्र है—ऐसा भासित हुआ है, उसमें स्थिर होकर, पवित्रता में स्थिर होकर उग्र शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषायभाव की आनन्द की उग्रता, ऐसी दशा को भगवान, तप कहते हैं; बाकी दूसरे को लंघन कहते हैं। मगनभाई! स्त्री वर्षीतप करे और यदि दो, पाँच हजार खर्च न करे तो फिर समझे न ऐसा कहे। लंघन किया था, लंघन का बाप था अब सुन न! क्या था वहाँ? मर जाये और ठीक से न रोवे तो कहे लकड़ी पड़ी है? ऐसा बोले स्त्रियाँ, लकड़ी तोड़ी है यह? क्या है परन्तु? अब सुन न! ठीक से छाती कूटकर विलाप करे, हाथ ऊँचा करके, तब वह मर गया, उसका शोक कहलाता है। इसका अर्थ क्या कहे? लकड़ी पड़ी, मर गया... क्या कहलाता है? लकड़ी तोड़ गया है? यह सुना है एक बार, हों! 'दडवा' में। दडवा में एक महिला रूलाती। वे न रोवे तो रूलाती ऐसा। समझे?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : यह तो सब रुलानेवाली आती है परन्तु यह तो एक महिला यों ही थी। 'दडवा' गाँव में। वहाँ मौके पर गये थे, दडवा में। क्या विलाप करावे, इसमें वह होशियार कहलावे, ठीक से विलाप करावे वह।

यहाँ तो कहते हैं कि भाई! ऐसा भगवान आत्मा जिसका उपवास, आत्मा आनन्द शुद्धस्वरूप के उप अर्थात् समीप में बसकर स्थिर (होवे)। आहा...हा...! जिसे अतीन्द्रिय अमृत की डकार आवे, अतीन्द्रिय आनन्द की डकार आवे, गन्ध आवे अतीन्द्रिय आनन्द की—ऐसी दशा को भगवान, तपस्या कहते हैं। समझ में आया? सब व्याख्या में अन्तर, एक-एक व्याख्या में अन्तर।

तप, जिनपूजन... वीतराग की बड़ी पूजा करे। चक्रवर्ती करते हैं, इन्द्र करते हैं। समझ में आया? लोगों में चमक हो जाये, ऐसी पूजा करे। अरबों का खर्च करे। जिनपूजन

www.vitragvani.com

में अतिशय से वृद्धि करे। भगवान की पूजा (करे)। ऐसा आता है, हों! कल्पद्रुम पूजा और उसमें नहीं आता? चक्रवर्ती बड़ी पूजा करे, इन्द्र करे, सेठ करे। ऐसा भाव होता है। बड़ा-बड़ा शुभभाव होता है, वह शुभभाव है परन्तु पीछे उस आनन्द का शुद्धभाव होवे, उसे यह व्यवहार प्रभावना होती है। आत्मा का भान नहीं और अकेला ऐसा करे, उसे तो कोई व्यवहार से भी प्रभावना सच्ची नहीं। यह तो निश्चय प्रभावनासहित ऐसा विकल्प होवे, उसे व्यवहार प्रभावना कहते हैं। समझ में आया?

जिनपूजन... भगवान की पूजा ऐसी करे। ओहो...हो...! जयपुर में शोभायात्रा निकली थी, सब छक्क हो गये। मन्दिरमार्गी के प्रमुख साथ में, स्थानकवासी के लोग साथ में, बिना कहे, बिना आमन्त्रण के, ओहो...हो...! कितने पैसे खर्च किये! अपना जैनधर्म तो है। अपना जैनधर्म शोभता है। आहा...हा...! ऐसा रथ निकला और... लोग तो लोग, कहीं थाली डाले तो गिरे नहीं। थाली तो क्या लड्डू डाले तो कहीं नीचे पड़े नहीं, इतने लोग... लोग... जयपुर की क्या कहलाती है? सड़क? लाखों लोग। ऐसे तीन-तीन मंजिल, चार-चार मंजिल ऐसे खचाखच भरे हुए देखनेवाले। लोग उछल गये, श्वेताम्बर लोग उछल गये। ये क्या है? अपना जैनधर्म, बापू! आहा...हा...! यह शुभराग होता है, उतना कहते हैं, हों! वह क्रिया होना, न होना यह कहीं आत्मा के आधीन नहीं है। यह तो बाहर के प्रसंग बननेवाले हों तो बनते हैं। इसका कोई आत्मा करता नहीं है, यहाँ तो इसका भाव ऐसा होता है।

और विद्या के अतिशय से... लो! समझे न? किसी विद्या विशेष चमत्कार आदि हों, उनसे भी जैनधर्म की चमत्कार से व्यवहार शोभा, प्रभावना करे। **अर्थात् इनकी वृद्धि करके...** अतिशय कहा है न? अतिशय, अतिशय अर्थात् वृद्धि—ऐसा अर्थ किया है। **जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए।** जैनधर्म अर्थात् वीतरागभाव। आत्मा का वीतरागभाव, वह जैनधर्म है, उसकी वृद्धि करना चाहिए। आहा...हा...! जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं, वस्तु का स्वरूप यह है।

टीका : रत्नत्रय के तेज से (अर्थात् वृद्धि से) निरंतर अपनी आत्मा को प्रभावनासंयुक्त करना चाहिए। लो! गजब बात, भाई! देखो! ये अमृतचन्द्राचार्य। **तथा**

www.vitragvani.com

दान, तप, जिनपूजा, विद्या, चमत्कारादि से जैनधर्म की... वह गया, वह बाहर का रह गया, अन्दर का पड़ा रहा। यह तो अन्दर (आत्मज्ञान) सहित ऐसा भाव होता है। **चमत्कारादि से जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए।** लो, समझ में आया?

इसके नीचे है, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, नीचे। ***प्रभावना– अज्ञान अन्धकार का फैलाव, उसे जिस प्रकार बन सके...*** अज्ञान का फैलाव, उसे जिस (प्रकार) बन सके। ***उस प्रकार दूर करके....*** ऐसा। अज्ञान अन्धकार के फैलाव को जिस प्रकार हो सके, उस प्रकार दूर करके, ऐसा। अज्ञान का फैलाव बहुत हो, उसे ज्ञान द्वारा दूर करे, उसका नाम प्रभावना है। जगत के अज्ञान के अन्धकार को छेदकर सम्यग्ज्ञान की प्रभावना करे।

जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना चाहिए। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा, अनन्त परमेश्वर हो गये हैं, वर्तमान में लाखों विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में बीस तीर्थंकर विराजते हैं, लाखों केवली विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में अभी हैं। अनन्त होंगे भविष्य में। कभी तीर्थंकर के बिना का काल जगत का गया नहीं है।

एक बार कहा था कि त्रिकाल में त्रिकाल ज्ञानीरहित काल कभी नहीं हो सकता। यह क्या कहते हैं? त्रिकाल में त्रिकाल जाननेवाले के रहित का कोई काल नहीं हो सकता। क्या कहा? मगनभाई! क्या कहा? तीन काल है तो तीन काल के जाननेवाले का कभी विरह नहीं होता। अनादि से तीन काल के जाननेवाले ऐसे के ऐसे चले ही आते हैं। तीन काल के जाननेवाले भूत में भी अनन्त थे, अभी हैं और भविष्य में रहेंगे। तीन काल है, वहाँ तीन काल के जाननेवाले होते हैं। केवलज्ञानी तीन काल के जाननेवाले तीर्थंकरों का विरह जगत में कभी नहीं होता। अमुक क्षेत्र में न हो, इसलिए कहीं न हो ऐसा नहीं है। पूरी दुनिया की बात है न? महाविदेह में भगवान विराजते हैं। सीमन्धर भगवान साक्षात् तीर्थंकरदेव, बीस तीर्थंकर वर्तमान में विराजते हैं, लाखों केवली विराजते हैं। किसी काल में तीन काल के जाननेवालों का विरह नहीं हो सकता। वस्तु है या नहीं तीन काल? तीन काल के जाननेवाले ज्ञानी न हों—ऐसा होता है? तीन काल है तो तीन काल को जाननेवाले ज्ञानी न हों—ऐसा होगा किसी काल में? ओहो...हो...!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

कहते हैं, ऐसे अज्ञान-अन्धकार का फैलाव विस्तरित हुआ हो, ऐसा कहते हैं। ***उसे जिस प्रकार हो सके...*** ऐसा। जिस प्रकार—प्ररूपणा से, शास्त्र से, कथन से। समझ में आया? किसी को दान देकर ऐसा कहकर भी किसी प्रकार से अज्ञान का नाश होकर ज्ञान का विस्तार हो—ऐसी प्रभावना होती है। ***जिनशासन के माहात्म्य का....*** परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव का शासन ऐसा होता है। उनकी श्रद्धा निर्विकल्प होती है, निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान, आनन्दस्वरूप की रमणता, इसका नाम जैनशासन। कोई दया, दान के विकल्प हों, वे कहीं जैनशासन नहीं है; वे तो राग हैं। भक्ति आदि राग है, वह जैनशासन नहीं है। पन्द्रहवीं गाथा में आया न? **जो पस्सदि अप्पाणं** आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखना, वह जैनशासन है। व्यवहार / राग की बात नहीं ली है। निश्चय की ही बात ली है। आहा...हा...! तथापि व्यवहार होवे वह तो परन्तु उसे व्यवहार कहलाये, तो यह बात भी वहाँ नहीं ली है।

भगवान आत्मा को कर्म के सम्बन्ध और बन्धरहित अबन्ध देखना, सामान्यरूप से देखना, निश्चय से एकरूप देखना-भेदरूप देखना, आकुलता—पुण्य-पाप के राग की आकुलतारहित देखना—ऐसे आत्मा को देखना, मानने का नाम जैनशासन है। आहा...हा...! समझ में आया? जैनशासन आत्मा की वीतरागदशा छोड़कर कहीं बाहर में नहीं रहता। जिनशासन है न? जिन अर्थात् वीतराग का ज्ञान, वीतरागी शिक्षा, वीतरागी मार्ग। आहा...हा...! कहते हैं, उस अज्ञान-अन्धकार को दूर करके जिनशासन का ***प्रकाश करना, वह प्रभावना है।*** लो! यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार की १८ वीं गाथा है।

भावार्थ : प्रभावना अर्थात् अत्यन्तपने प्रगट करना। इसकी व्याख्या। प्र-भावना। प्र अर्थात् अत्यन्तरूप से, भावना अर्थात् प्रगट करना। **अपने आत्मा का अतिशय तो रत्नत्रय के प्रताप बढ़ने से प्रगट होता है...** लो! अपने आत्मा का अतिशय अर्थात् वृद्धि तो रत्नत्रय का प्रताप—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। वीतरागी दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रताप बढ़ने से इस आत्मा में प्रभावना होती है। आहा...! कोई विकल्प बढ़ने से और शुभ करने से और उससे कहीं आत्मा का प्रताप बढ़े, ऐसा है नहीं। (कोई कहे) यह निश्चय, निश्चय (कहते हैं), परन्तु निश्चय, वही सत्य है। व्यवहार होता है,

www.vitragvani.com

वह तो फिर उपचार से कथन है। वस्तु ही यह है। अन्य कहते हैं कि अकेला व्यवहार, व्यवहार, निश्चयरहित का, मिथ्या। यह कहते हैं निश्चय में व्यवहार को याद भी नहीं करते उसमें तो, हों! यहाँ तो अभी साथ ही साथ याद करते हैं। **पस्सदि जिणशासणं** वहाँ अकेली यह बात है। (समयसार, गाथा १५)।

इसकी ज्ञानदशा में आत्मा को पर के सम्बन्धरहित परिपूर्ण एकरूप ज्ञान में, दृष्टि में, अनुभव में लेना, उस दशा को जैनशासन–शुद्ध उपयोग को, भावश्रुतज्ञान को जैनशासन कहने में आता है। आहा...हा...! वह मूल बात पड़ी रही। युवावस्था में पंच महाव्रत ले लेना, युवा शरीर है। सबेरे कहते थे। युवा शरीर से पंच महाव्रत ले तो मोक्ष की लक्ष्मी शीघ्र मिल जाये, इसलिए अब शीघ्रता करना। समझे? जाओ अज्ञान में, पड़ो। मोक्षलक्ष्मी वरेगी या निगोद लक्ष्मी वरेगी? आहा...हा...! वास्तविक तत्त्व के विपरीत भाव और उस भावसहित का फिर बाह्य त्याग दिखायी दे अर्थात् विपरीत भाव का पोषण करता है। वस्तु ऐसी है वहाँ क्या हो? किसी व्यक्ति का तत्त्व अलग हो ऐसा है? यह तो वस्तु ही ऐसी है।

भगवान आत्मा एकदम पुण्य–पाप के विकल्प के आस्रवरहित का ऐसा जो जैनस्वरूप ही आत्मा का है। उसके अन्दर के स्वरूप सन्मुख की प्रतीति, ज्ञान और रमणता बढ़ाना, वह जैनशासन की प्रभावना है। लो, समझ में आया?

और जैनधर्म का अतिशय प्रचुर दया–दान से उग्रतप करके, बहुत धन खर्च करके भगवान की पूजा करवाकर,... लो! धन खर्च करके, उसके भाव की बात है, हों! खर्च होता है, वह तो बाहर की क्रिया है। **शास्त्राभ्यास करके...** ऐसा शास्त्र अभ्यास करे कि लोगों को, ओहो...हो...! पानी के पूर की तरह... कुन्दकुन्दाचार्य को देखो न! ओहो...हो...! एक–एक गाथा में गम्भीर तत्त्व भरा हुआ है। **तथा निर्दोष देवादि के चमत्कार से...** वीतराग देव के और वीतरागी गुरुओं के किसी **चमत्कार से (जैन धर्म की महिमा) प्रगट होता है; अतः ऐसा अतिशय प्रगट करना चाहिए।** अतिशय अर्थात् वृद्धि। ऐसे धर्म की वृद्धि प्रगट होती है। **इस प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंगों का वर्णन किया।** लो!

www.vitragvani.com

यह आठ अंग किसी सम्यक्दृष्टि के सम्पूर्ण होते हैं, किसी के थोड़े होते हैं, किसी के गौणरूप से... मुख्यता अमुक की होवे और दूसरे गौण हों। **तथा किसी के मुख्यरूप से होते हैं।** कोई अर्थात् एकाध स्थूल कम हो, थोड़ा अर्थात् थोड़ा हो, आठ न हों सात हों, एकाध न हो, कम हो। **परन्तु सम्यक्त्व की शोभा तो तभी होती है जब यह आठों अंग सम्पूर्ण मुख्यरूप से...** हों। लो! इसका सारांश। उसकी शोभा तो तब होती है कि जब आठों अंग और सम्पूर्ण तथा वे मुख्यरूप से **प्रगट प्रत्यक्ष भासित हों।** लो ठीक। **इस भांति सम्यक्त्व अंगीकार करने के पश्चात् धर्मी गृहस्थ को क्या करना चाहिये, यह आगे कहेंगे।** यह समकित अंगीकार करने के बाद दूसरा करने की बात कहते हैं। पश्चात् ज्ञान और चारित्र की बात होती है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र होता नहीं है। अब ज्ञान की बात करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

सम्यग्ज्ञान अधिकार

गाथा - ३१-३२

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः।।३१।।
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः।।३२।।

आत्महितैषी सम्यक्त्वाश्रित करे यत्न से सम्यग्ज्ञान।
युक्ति और आम्नाय योग से कर विचार सेवें सत्ज्ञान।।३१।।
दर्शन का सहभावी फिर भी ज्ञान पृथक् आराधन योग्य।
भिन्न-भिन्न लक्षण दोनों के अतः भिन्नता सम्भव हो।।३२।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार (आश्रितसम्यक्त्वैः) जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है ऐसे (आत्महितैः) आत्महितकारी पुरुषों को (नित्यं) सदैव (आम्नाययुक्तियोगैः) जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से (निरूप्य) विचार करके (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान का (समुपास्यं) भले प्रकार से सेवन करना योग्य है, (दर्शनसहभाविनोऽपि) सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी (बोधस्य) सम्यग्ज्ञान का (पृथगाराधनं) जुदा ही आराधन करना (इष्ट) कल्याणकारी है, (यतः) कारण कि (अनयोः) इन दोनों में अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में (लक्षणभेदेन) लक्षण के भेद से (नानात्वं) भिन्नता (संभवति) संभव है।

टीका : 'इत्याश्रित सम्यक्त्वैः आत्महितैः च यत्नेन सम्यग्ज्ञानं समुपास्यम्।' - इस

www.vitragvani.com

प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व अंगीकार किया है, ऐसे अपने आत्मा का हित करनेवाले धर्मात्मा जीवों को जिस तिस–उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए।

भावार्थ : सम्यक्त्व को अंगीकार करने के बाद सम्यग्ज्ञान को अंगीकार करना 'किंकृत्य' – किस भांति सेवन करना? 'आम्नाययुक्तियोगैः निरूप्य' – आम्नाय अर्थात् जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण–नय के अनुयोग से भले प्रकार उस सम्यग्ज्ञान का विचार–निर्णय करके उसका सेवन करना।

भावार्थ : जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम की परम्परा से मिलता हो, उसको प्रमाण और नय से अपने उपयोग में ठीक करके यथावत् जानने को ही सम्यग्ज्ञान का सेवन करना कहा जाता है। उस प्रमाण–नय का स्वरूप किंचिन्मात्र लिखते हैं।

प्रमाण–नय का संक्षिप्त स्वरूप

प्रमाण, सम्यग्ज्ञान को कहते हैं। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। जो ज्ञान, केवल आत्मा के ही आधीन होकर अपने विषयप्रमाण विशदता से स्पष्ट जाने उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है तथा जो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा वर्णादिक को साक्षात् ग्रहण करे अर्थात् जाने, उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। परमार्थ से यह जानना परोक्ष ही है, कारण कि स्पष्ट जानपना नहीं है। उसका उदाहरण – जैसे आँख से किसी वस्तु को सफेद जाना, उसमें मलिनता का भी मिश्रण है। अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है, ऐसा इसे स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता; अतः यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है, परन्तु आचार्य इसको परोक्ष ही कहते हैं। मतिज्ञान–श्रुतज्ञान से जो जानना होता है, वह सभी परोक्ष है।

परोक्ष प्रमाण – जो ज्ञान अपने विषय को स्पष्ट न जाने, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं – (१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, (५) आगम – यह पाँच भेद जानना।

(१) स्मृति – पूर्व में जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर में जान लेने को स्मृति कहते हैं।

(२) प्रत्यभिज्ञान – जैसे पहले किसी पुरुष को देखा था, फिर बाद में याद

www.vitragvani.com

किया कि यह तो वही पुरुष है जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहले की बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चय करने में आये, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे पहले यह सुना था कि नील गाय नामक पशु गाय जैसा होता है, वहाँ कदाचित वन में नील गाय को देखा तो यह बात याद आ गई कि गाय जैसा नील गाय होता है, ऐसा पहले सुना था, वह नील गाय पशु यही है।

(३) तर्क – व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। 'इसके बिना यह नहीं' इसे व्याप्ति कहते हैं। जिस तरह अग्नि के बिना धुआं नहीं होता, आत्मा के बिना चेतना नहीं होती। इस व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

(४) अनुमान – लक्षण के द्वारा पदार्थ का निश्चय किया जाय, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी पर्वत में से धुआँ निकलता देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

(५) आगम – आप्त के वचन के निमित्त से पदार्थ के जानने को आगम कहते हैं। जैसे शास्त्र से लोक का स्वरूप जानना। इस तरह परोक्षप्रमाण के पाँच भेद जानना।

नय

श्रुतज्ञानप्रमाण के अंश को नय कहते हैं। प्रमाण से जो पदार्थ जाना था, उसके एक धर्म को मुख्यता से अनुभव कराये, उसे नय कहते हैं। उसके दो भेद हैं। (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) जो द्रव्य को मुख्य करके अनुभव कराये वह द्रव्यार्थिकनय है। उसके तीन भेद हैं।

(१) नैगम – संकल्पमात्र से पदार्थ के ग्रहण करने–जानने को नैगम कहते हैं। जैसे कठौती बनाने के लिये कोई लकड़ी लेने जा रहा था, उससे किसी ने पूछा कि 'तुम कहाँ जाते हो?' तब उसने उत्तर दिया कि मैं कठौती लेने जाता हूँ। जहाँ वह जा रहा है, वहाँ कठौती तो नहीं मिलेगी परन्तु उसके विचार में है कि मैं लकड़ी लाकर कठौती बनाऊँगा।

(२) संग्रह – सामान्यरूप से पदार्थों के ग्रहण को संग्रहनय कहते हैं। जैसे – छह जाति के समस्त द्रव्य सत्तालक्षण संयुक्त हैं। इन छह द्रव्यों के समूह को द्रव्य संज्ञा द्वारा जानना इस नय का प्रयोजन है।

(३) व्यवहारनय – सामान्यरूप से जाने हुए द्रव्य के विशेष (भेद) करने को

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

व्यवहार कहते हैं। जैसे द्रव्य के छह भेद करना। इस प्रकार यह तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के बताए हैं।

पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं। जो वर्तमान पर्यायमात्र को जानता है, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। (व्याकरणादि के अनुसार शब्द की अशुद्धता को दूर करना शब्दनय तथा पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ के आरूढ़ करने को समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे 'गच्छतीति गौ:' के अनुसार 'जो चले वही गौ' होती है परन्तु यहाँ बैठी हुई को भी गौ कह देते हैं तथा जो वर्तमान क्रिया जैसी हो उसी के अनुसार वैसा ही कहना एवंभूतनय है। जैसे चलती हुई को ही गौ कहना, सोती हुई, बैठी हुई को गौ न कहना। इस प्रकार नय के भेद जानना चाहिये।) इनमें शब्दनय, समभिरूढ़नय तथा एवंभूतनय को शब्दनय कहते हैं। इस प्रमाण-नय के संयोग को युक्ति कहते हैं। 'नयप्रमाणाभ्यां युक्ति:' इति वचनात्। यहाँ पर प्रमाण-नय का थोड़ा-सा कथन इसलिए कर दिया है कि बिना प्रमाण-नय के पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। 'प्रमाणनयैरधिगम:'। (त० सूत्रजी, अध्याय १-६)

जिस समय आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, उस समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अवश्य होता ही है परन्तु इस सम्यग्ज्ञान को विशेषरूप से जुदा आराधन करना योग्य है। किसलिए? 'यत: लक्षणभेदेन अनयो: नानात्वं संभवति।' कारण कि लक्षण भेद से इन दोनों में भिन्नत्व सम्भव है। सम्यक्त्व का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और इसका (ज्ञान का) लक्षण यथार्थ जानना है, इसलिए इसे जुदा कहा।।३१-३२।।

प्रवचन नं. २८ गाथा-३१-३२ सोमवार, वैशाख कृष्ण १२, दिनांक ०५.०६.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। पुरुष अर्थात् आत्मा का चैतन्यस्वरूप, उसके प्रयोजन की सिद्धि। चैतन्यस्वरूप ऐसा आत्मा, उसके प्रयोजन की सिद्धि; उसके उपाय की इसमें बात है। चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, अपना अर्थ अर्थात् प्रयोजन। क्या प्रयोजन है? शुद्धता, परिपूर्ण आनन्द प्रगट होना, वह (प्रयोजन है)। उसके उपाय की इसमें बात है। पहले सम्यग्दर्शन की बात हो गयी।

www.vitragvani.com

देखो, **इस प्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्धिउपाय, जिसका अपर नाम प्रवचनरहस्यकोष है,...** प्रवचनरहस्यकोष, प्रवचन के मर्म को खोलनेवाला एक भण्डार है। **उसमें सम्यग्दर्शन वर्णन नामक प्रथम अधिकार।** है, लो! सम्यग्दर्शन की व्याख्या। पहले सम्यग्दर्शन की आराधना करना। इसे पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना। यह चैतन्य के प्रयोजन की सिद्धि का पहला वास्तविक यह उपाय है। कहो समझ में आया? अब सम्यग्ज्ञान। सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान का सेवन करना—ऐसा यहाँ अधिकार है।

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः।।३१।।
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः।।३२।।

इसका अर्थ। इसका अन्वयार्थ है न? **इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है...** अर्थात् अंगीकार किया है। जिसने सम्यग्दर्शन का आश्रय लिया है अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन, स्वभाव के आश्रय से प्रगट-अंगीकार किया है। कहो, समझ में आया? चैतन्यस्वरूप ऐसा आत्मा, उसके आश्रय से जिसने प्रथम सम्यग्दर्शन अंगीकार किया है। चैतन्य की पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय पहला यह है। समझ में आया? पहले सम्यग्दर्शन का आराधन, पश्चात् दूसरे सम्यग्ज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान का आराधन, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन शास्त्र के अभ्यासी को तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र के अभ्यास को भी, तत्त्व के निर्णय करनेवाले को होता है। शास्त्र आवे भले परन्तु वह अकेला शास्त्र की ओर देखता है, ऐसा नहीं है। शास्त्र ने जो कहा है कि आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है, उसमें ऐसा कहा है, बारह अंग में ऐसा कहा है। तेरे स्वसन्मुख की दृष्टि कर, उसका निर्णय कर (कि) यह वस्तु है। उसका आराधन, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। कहो! शास्त्र में भी ऐसा कहा है। बारह में नहीं आया? आत्मा की अनुभूति (करना)।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, जो पूरा ब्रह्माण्ड, चौदह ब्रह्माण्ड में सार तेरा तत्त्व है—

www.vitragvani.com

यहाँ तो ऐसा कहते हैं। ऐसा भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप का भण्डार, उसका स्वसन्मुख होकर, दर्शनशुद्धि करना, सम्यक् आराधन करना, यही पहला उपाय है। शास्त्र पढ़कर भी यदि यह नहीं किया तो उसने कुछ नहीं किया। शास्त्र पठन का फल अर्थात् शास्त्र तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ज्ञानस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा अकेला जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... ऐसे स्वरूप के स्वसन्मुख होकर, पुण्य-पाप के विकल्प से विमुख होकर, स्वसन्मुख होकर अन्तर प्रतीति, निर्विकल्प ज्ञान करके करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

यहाँ सम्यग्दर्शन की प्रधानता है क्योंकि सम्यग्दर्शन के पश्चात् ज्ञान का आराधन करना है और इसलिए सम्यग्दर्शन कारण, ज्ञान कार्य (-ऐसा) कहेंगे। (समयसार गाथा) १७ में ऐसा कहा कि पहले सम्यग्ज्ञान अनुभव हो तो यह प्रतीति हो। जिसे जाना नहीं, उसकी प्रतीति क्या? चैतन्यस्वरूप कैसा है, ऐसा जाना नहीं, उसकी प्रतीति क्या? इस अपेक्षा से वहाँ अनुभूति में हुई प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ तो दर्शन के पश्चात् ज्ञान का सेवन करना है और इससे यहाँ सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य; एक समय में उत्पन्न (हुए) होने पर भी दो को इस प्रकार कारण-कार्य गठित होता है। कहो, समझ में आया? देखो!

जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है... अर्थात् अंगीकार किया है। नीचे अर्थ करेंगे। आश्रय का अर्थ। उसका अर्थ, यह अंगीकार किया है, ऐसा। आश्रय अर्थात् समकित का आश्रय लिया है। समकित की आश्रय लिया है, ऐसा शब्द है यहाँ तो शास्त्र में। उसका अर्थ क्या? समकित का आश्रय अर्थात् पर्याय का आश्रय? ऐसा। इसलिए उसका अर्थ करना पड़ा कि समकित का आश्रय अर्थात् जिसने समकित अंगीकार किया है, ऐसा। समझ में आया? पद्य में तो जो शब्द लागू पड़ते हों, वे आते हैं परन्तु उनका भाव हो उसे समझना चाहिए न! जिसने समकित का आश्रय लिया है अर्थात् जिसने आत्मा परमानन्द मूर्ति, उसने सम्यग्दर्शन, जिसने उस द्वारा अंगीकार किया है। आत्मा के स्वभाव आश्रय से जिसने सम्यग्दर्शन अंगीकार किया है। उसका अर्थ यह कि जिसने समकित का आश्रय लिया है।

मुमुक्षु : पहली धर्म की क्रिया में पहला पाया क्या?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला पाया यह। धर्म की सम्यग्दर्शन पर्याय, वह पहली क्रिया। कहो!

आत्महितकारी पुरुषों को... देखो! जिसने आत्मा पवित्र भगवान, देव-गुरु-शास्त्र की सन्मुखता भी छोड़कर, नवतत्त्व के भेद के विकल्प की भेददृष्टि छोड़कर, अन्तर्मुखस्वभाव पूर्ण आत्मा शुद्ध चिदानन्दघन है, उसका आश्रय लेकर जिसने समकित अंगीकार अर्थात् प्रगट किया है, ऐसी भाषा है। जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, इसका अर्थ कि समकित का आश्रय लिया है। इसका अर्थ कि उसने समकित अंगीकार किया है। समझ में आया? वहाँ से मार्ग की शुरुआत होती है। धर्म की मूल भूमिका वहाँ से शुरु होती है।

वस्तु शुद्ध अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप आत्मा, सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग केवलज्ञानी ने कहा वह। परमेश्वर वीतरागदेव केवलज्ञानी ने कहा वैसा आत्मा और उनने जाना और देखा वैसा आत्मा; ऐसे अन्तर आत्मा में, उसका विकल्प द्वारा निर्णय करके, जानपना करके; फिर स्वभाव का आश्रय करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है अर्थात् अंगीकार किया है अर्थात् उसका आश्रय लिया है—ऐसा कहा है। समझ में आया? ऐसे **आत्महितकारी पुरुषों को...** देखो! यह आत्मा के हितकारी हैं।

पुरुषों को सदैव... **'नित्यं'** अर्थात् सर्वदा **'आम्नाययुक्तियोगैः'** **आम्नाय-जिनागम की परम्परा...** परमेश्वर केवलज्ञानी भगवान, परमेश्वर वीतराग की आज्ञा, आम्नाय-अनुसार जो परम्परा वीतरागमार्ग की-शास्त्र की चलती हो... समझ में आया? उसे विचारकर। कहो, समझ में आया इसमें? सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी देव द्वारा कथित शास्त्र, उनकी जो परम्परा चली है, उसे अनुसरण कर, विचार कर—एक बात। जिनागम की परम्परा, आम्नाय से, आम्नाय। अब युक्ति, आम्नाय योग से और युक्तियोग से, ऐसा। युक्ति अर्थात् प्रमाण और अनुयोग को युक्ति कहते हैं। युक्ति आती है न कहीं? कहाँ? मोक्षमार्गप्रकाशक में, नहीं? अन्वेषण काल में। पहले युक्तिमार्ग से सिद्ध करना, पश्चात् अन्वेषण काल में छोड़ देना। रहस्यपूर्ण चिट्ठी। वहाँ भी युक्ति शब्द है, वही यहाँ है।

दो बातें ली हैं। जिसमें स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है—ऐसे **आत्महितकारी पुरुषों को...** ऐसा है। नित्य / हमेशा। **जिनागम की परम्परा...** वीतराग

www.vitragvani.com

परमेश्वर से कथित शास्त्रों की परम्परा के योग द्वारा और **युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से...** वापस प्रमाण और नय। पूरा पदार्थ क्या है और उसका एक-एक धर्म सामान्य-विशेष क्या है?—ऐसे प्रमाण और नय द्वारा। कहो, समझ में आया? यह है टोडरमलजी में, नहीं? आता है न? यह टोडरमल घर के शब्द तो एक भी प्रयोग नहीं करते। जो परम्परा हो, वह प्रयोग करते हैं, देखो!

'तच्चाणेसणकाले समयं बुझेहि जुत्तिमग्गेण' ऐसा शब्द है, देखो! **तत्त्व के अवलोकन (अन्वेषण) का जो काल, उसमें समय (अर्थात्) शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय जो अनुभव काल, उसमें नय-प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है। 'जुत्तिमग्गेण'** है, देखो! समझ में आया? देखो! सम्यग्दृष्टि को इसका आराधन करना चाहिए—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

परमेश्वर वीतराग के शान्तरस से निकले हुए आगम, जिसमें अकेला वीतरागभाव तैरता हो, वीतरागभाव ही जिसमें नितरता हो—ऐसी परम्परा के आगम के योग द्वारा, प्रयत्न द्वारा **प्रयत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान का भले प्रकार से सेवन करना योग्य है,...** कहो, समझ में आया? दूसरे में फिर ऐसा आया, आत्मा की रुचि होकर... बारह अंग में ऐसा कहा कि भाई! आत्मानुभूति (करना) अर्थात् बारह अंग कोई अपूर्व नहीं और आत्मानुभूति हुई, उसे शास्त्र अभ्यास की अटक नहीं, वह निश्चय से कहा है, यहाँ व्यवहार से बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : दोनों का मेल किस प्रकार है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मेल कहा न अन्दर। अन्दर आराध्य तत्त्व आ गया। अब उसे व्यवहाररूप से उसे ज्ञान का आराधन (करना)। जिसे विशेष उपयोग लगाना है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : रह सके भले, उसका प्रश्न नहीं परन्तु उसे ऐसा कहा कि उसे अटक नहीं है—ऐसा कहा न वहाँ तो? पढ़ने की (अटक) नहीं कि पढ़े ही वह। ध्यान करे, ज्ञान करे, तथापि भले विकल्प आवे तो भी अटक नहीं, ऐसा। उसे पढ़ना ही चाहिए, उसे ऐसी अटक नहीं है, यह निश्चय से बात की है।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : वह सच्चा कारण नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वास्तविक कारण तो अनुभूति हुई वही वस्तु है। शास्त्र का पठन, वह सब बाद में व्यवहार है परन्तु उसे ऐसा आता अवश्य है (अन्दर) स्थिरता नहीं (इसलिए) आता है। इसलिए बहुत पढ़ा इस कारण उसे ऐसा हो, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं, यह तो अनुभूति हुई...

इसीलिए वहाँ कहा है। बारह अंग में अनुभूति को ही ज्ञान कहा है। यह बारह अंग का शास्त्र का ज्ञान, वह भी कोई अपूर्व नहीं है। इसलिए यहाँ व्यवहार कहा, भाई! इसलिए यहाँ ज्ञान में अनुभूति होने से जो दर्शन हुआ, परन्तु उसे यह शास्त्र के अभ्यास से ज्ञान करना, यह व्यवहार से कहा है। चरणानुयोग का ग्रन्थ है न!

मुमुक्षु : द्रव्यानुयोग में कोई अलग कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; उसे शास्त्र पढ़ने की अटक नहीं है।

मुमुक्षु : कैसे दोनों का मेल करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों आ गये न। स्थिर हो सके उसका प्रश्न नहीं परन्तु वह शास्त्र में बहुत ही रच-पच जाये, उसी के झुकाव में रहे—ऐसा कुछ उसे नहीं है, द्रव्यानुयोग तत्त्वदृष्टि में ऐसा है। जब व्यवहार से बात करे, तब (ऐसा कहते हैं)। उसे शास्त्र अभ्यास (करना) शास्त्र अभ्यास से ज्ञान नहीं होता; वास्तविक ज्ञान तो स्व के अवलम्बन से है।

मुमुक्षु : उलझन होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझन ऐसी कुछ नहीं है। ए... शशीभाई! भाई! बात आवे तब तो सब (बात चलती है)। शास्त्र अभ्यास ज्ञान तो परावलम्बी ज्ञान हुआ, परसत्तावलम्बी ज्ञान है। परसत्तावलम्बी ज्ञान, परमार्थ से मोक्ष का कारण नहीं है। ऐ.. यह बात आवे तब... आत्मा के आनन्द के ज्ञानस्वरूप के प्रयोजन की उसे सिद्धि करना।

मुमुक्षु : एक समय....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय समय नहीं, आश्रय सदा रहता है। उसका आश्रय सदा रहा ही करता है और ज्ञान उस आत्मा के अवलम्बन से ही होता है, पर के अवलम्बन

www.vitragvani.com

से ज्ञान-निश्चय ज्ञान-नहीं होता। बात करनी है, व्यवहार आराधना का कहना है। वह स्व के लक्ष्य से (करना), यह आता है न प्रवचनसार में, नहीं? दूसरा अधिकार, दर्शन पूरा होने के बाद, स्व के लक्ष्य से इस प्रकार अभ्यास करे, ऐसा उसमें आया है। वह तो ऐसा ही आता है। समझ में आया?

शास्त्र के अभ्यास पर उसका विकल्प आता है क्योंकि जहाँ स्थिर नहीं हो सकता; इसलिए आता है। तथापि वह ज्ञान यथार्थ होता है, वह तो स्व के अवलम्बन से होता है। पर के अवलम्बन का ज्ञान है, वह परसत्तावलम्बी ज्ञान वह यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह तो उपचारिक ज्ञान है। समझ में आया? 'अजर प्याला पियो मतवाला'—ऐसी यह सब बात है।

कहते हैं, उसे जिनागम की परम्परा / आम्नाय से। भगवान के शास्त्र जो चले आ रहे हैं, उनके सन्त, मुनि जो बात कहते आये हैं, वह यथार्थ अनादि प्रवाह से, हों! उल्टा -सीधा दूसरा प्रवाह बीच में टूट गया, उसका ज्ञान उसे होता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार का उसे विकल्प आता है। अनादि के शास्त्र सर्वज्ञ से कथित। जहाँ सर्वज्ञ की आम्नाय टूटकर कल्पना से शास्त्र बनाये। उसे तो एक सम्यग्दर्शन पहले उनकी श्रद्धा नहीं होती। समझ में आया? और उस श्रद्धा से सम्यग्दर्शन नहीं होता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन होने के बाद ऐसा आराधन करना, उसकी बात चलती है। आज आठ विनय और सब आयेगा। काल में पढ़ना, विनय से पढ़ना-सब आता है न? व्यवहार सब आता है या नहीं विकल्प के साथ।

एक ओर कहते हैं जितना शास्त्रज्ञान है, वह आत्मज्ञान का कारण नहीं। ऐ...ई...! हो गया। तब फिर यहाँ कहते हैं कि शास्त्रज्ञान करना। ये दोनों आते हैं। इस प्रकार का विकल्प उठा है। इसलिए कहते हैं कि इसके अवलम्बन से जितना ज्ञान प्रगट हो, वह ज्ञान सच्चा, वह मोक्ष का मार्ग है, संवर और निर्जरा का वह कारण है। निश्चय और व्यवहार की ऐसी बात है जरा। दोनों होते हैं परन्तु दोनों के लक्ष्य में अन्तर होता है—निश्चय का लक्ष्य स्व का है, व्यवहार का लक्ष्य पर का है। जब तक राग होता है, (तब तक) व्यवहार उसे बतलाये तो सही न! देवचन्दजी! यह तो ऐसी बात है। यह वाद-विवाद से कहीं पार पड़े—ऐसा नहीं है। अन्दर के घर की बात, उस घर से शुरु करे तो पता पड़े। बाहर से कुछ पता पड़े—ऐसा नहीं है।

www.vitragvani.com

कहते हैं कि यह वापस, '**यत्नेन**' कहा, ऐसा शब्द है देखा? '**यत्नेन**' वह आता है न? उसमें भी आता है, नहीं? षट्पाहुड़ में नहीं आता? उसमें आता है–योगीन्द्रदेव (के) दोहों में। व्यवहार से जानना नहीं आता? एक श्लोक आता है। आता है न एक श्लोक? इसे पुरुषार्थ से व्यवहार जानना, छह द्रव्यों को जानना, एक श्लोक आता है। सब आता है, आता सब है। एक शैली है, उसमें कहीं (अन्तर नहीं है)। दिगम्बर सन्तों की शैली तो गजब बात! अनादि सनातन सत्य को यथावत् है, वैसा प्रसिद्ध करके रखा है। पूर्वापर विरोधरहित सर्वज्ञ के शासन के अनुसार जो हुआ है, उसमें कहीं फेरफार नहीं है। दिगम्बर सन्तों ने केवलज्ञानी के मार्ग को अन्दर अनुभव करके टिका रखा है – ऐसी उनकी कथनी भी ऐसी आ गयी है।

कहते हैं, आत्महितकारी जीवों को, फिर वापस शास्त्र को नित्य सेवन करना। भाषा तो ऐसी ही आती है न? समझ में आया? आम्नाय अर्थात् जिनागम की परम्परा। युक्तियोग से और प्रमाणनय के अनुयोग द्वारा। प्रमाण से... आयेगा। स्वयं स्पष्टीकरण करेंगे। परोक्ष–प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से जानना और नय से (अर्थात्) एक–एक धर्म को अवलम्बन करनेवाला नय, उससे भी जानना चाहिए। टोडरमलजी में तो ऐसा भी आता है कि बहुत शास्त्र के विशेष अभ्यास से सम्यग्दर्शन–ज्ञान निर्मल होगा। नहीं आता? आता है? अर्थात् शास्त्र के ज्ञान से ज्ञान निर्मल होगा, परावलम्बी से निर्मल होगा?

मुमुक्षु : वह सत्य लिखा है या मिथ्या लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह व्यवहार से बराबर है। शास्त्र–भाषाप्रमाण लिखा है, दूसरा क्या करे?

मुमुक्षु : उसकी ध्वनि क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी ध्वनि यह कि उसे ज्ञान–दर्शन तो आत्मा के आश्रय से ही यथार्थ प्रगट होते हैं और यथार्थ ज्ञान तो आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। उस ज्ञान में कोई विरोधता आवे, इससे उसे शास्त्राभ्यास करके विशेष ज्ञान निर्मल करना – ऐसा कहे, ऐसा ही आता है न! भाषा क्या आवे?

मुमुक्षु : उससे निर्मल नहीं होगा....

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्मल तो स्व के आश्रय में हो तो निर्मल होता है—ऐसा कहा जाता है।

मुमुक्षु : उससे निर्मल होगा नहीं और कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होगा नहीं। यही व्यवहारनय के कथन ऐसे सब हैं। ऐ...ई...! पण्डितजी! ऐसा है बापू! व्यवहार से निर्मलता उस प्रकार की होती है, वरना तो ज्ञान की पर्याय तो जहाँ अन्तर वस्तु है, उसमें से आवे, तब निर्मलता हो और बढ़े न! बाहर में कहाँ था? परलक्षी से कहाँ उत्पन्न हो ऐसा है वह? समझ में आया? ऐसा मार्ग है, वीतराग का मार्ग ऐसा है। आहा...हा...! भव चला जाता है, समय-समय गति चली जाती है। इसे काम कितना करना है! निःसन्देह होकर, भव छेद करके देह छूटे वह चैतन्य का प्रयोजन है। आत्मा आराधन से निःसन्देहपूर्वक, आत्मा के ध्यानपूर्वक देह की स्थिति छूटे, यही जिसे भव के छेद का उपाय किया है, वह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। वह उपाय है, भाई! आहा...हा...!

क्या कहते हैं? **'आम्नाययुक्तियोगैः'** अपने अभी शब्दार्थ चलता है। आम्नाय अर्थात् जिनागम की परम्परा। आम्नाय शब्द पड़ा है या नहीं? पाठ में आता है न? स्वाध्याय के पाँच बोल में—वाँचना, पृच्छना... उसमें आम्नाय आता है, आम्नाय आता है, वह सब आता है और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय का अनुयोग। नय के ज्ञान बिना इसे बराबर निर्मलता नहीं होती। प्रमाण और नय ज्ञान द्वारा विचार कर, देखा? **'निरूप्य'** का अर्थ **विचार करके...** किया। **'यत्नेन' प्रयत्नपूर्वक...** वापस ऐसा।

सम्यग्ज्ञान का भले प्रकार से सेवन करना योग्य है,... है न श्लोक? योगीन्द्रदेव में एक श्लोक है। नहीं? **'यत्नेन'** यह तो यत्नेन की अपेक्षा। है यहाँ? यह आता है, आता है। षट्पाहुड़ में भी आता है। जहाँ छह द्रव्य का कहा, वहाँ यत्नेन करना, ऐसा आता है। विकल्प है उस प्रकार का जानने का। स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए आता है। इसमें नहीं कहीं, नहीं? परमात्मप्रकाश में नहीं। मैंने पूरा देखा परन्तु वह कहाँ पुट्ठा यह पतला है, देखो न! वह मोटा होगा, दोनों में नजर पड़ी और नजर पड़ने पर ख्याल आया कि यह परमात्मप्रकाश नहीं। विचार तुरन्त आया। आहा...! दोहा है वह कहाँ है? ३५, देखो!

छह दव्वई जे जिण–कहिया णव पयत्थ जे तत्त।
विवहारेण य उत्तिया ते जाणियहि पयत्त॥३५॥

प्रयत्न से है न?

षट् द्रव्याणि जे जिनकथिता: नव पदार्थ यानि तत्त्वानि।
व्यवहारेण च उक्तानि तानि जानीहिं प्रयत: (सन्)॥३५॥

लो! समझ में आया? **जिनदेव ने कहे हुए जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्व हैं, जो कि व्यवहार से कहने में आये हैं। उन्हें तू प्रयत्नशील होकर जान (उन्हें तू निर्णयपूर्वक जान)।** ३५

भले प्रकार से सेवन करना योग्य है,... 'समुपास्यं' है **'दर्शनसहभाविनोऽपि' सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी...** क्या कहते हैं? सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होने पर भी **'बोधस्य' सम्यग्ज्ञान का 'पृथगाराधनं' जुदा ही आराधन करना... जुदा ही आराधन करना कल्याणकारी है,...** लो, समझ में आया? निश्चय से अन्दर का आश्रय होकर पड़ा है, वह निश्चय से कल्याणकारी है और इसे व्यवहार से कल्याणकारी कहा जाता है। इसमें से इसके कारण वह अन्तर की ओर के झुकाव में उग्रता करता है न! वह उग्रता करे वह वास्तव में कल्याण का कारण है। परमार्थ वचनिका में आया नहीं? परसत्तावलम्बी को ज्ञानी परमार्थ से मुक्ति का मार्ग नहीं कहते। आता है? कहाँ है वह? मोक्षमार्गप्रकाशक में (हेय–ज्ञेय–उपादेयरूप ज्ञाता की चाल का विचार, उसमें) है न?

एक-एक जीवद्रव्य में अन्य-अन्यरूप औदयिक भाव होते हैं, उन औदयिक भावानुसार ज्ञान की अन्य-अन्यता जानना। परन्तु विशेष इतना कि (इन सर्व आत्मा में) किसी जाति का ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसत्तावलंबनशीली होकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे। क्यों? अवस्था प्रमाण परसत्तावलंबक है; (परन्तु उसे मोक्षमार्ग कहता नहीं) वह आत्मा परसत्तावलंबी ज्ञान को परमार्थता नहीं कहता। जो ज्ञान हो, वह स्वसत्तावलंबनशील होता है, उसका नाम ज्ञान। उस ज्ञान को सहकारभूत निमित्तरूप नानाप्रकार के औदयिकभाव होते हैं... ठीक है। गजब लिखा है। (लोग ऐसा कहते हैं) गृहस्थ का वाक्य है, नहीं? ऐई..! बनारसीदास का (है

www.vitragvani.com

वह) गृहस्थ का है, वह नहीं, अभी के साधु ऐसा कहते हैं। बहुत चलता है। आचार्य का लाओ, आचार्य का वचन लाओ। सबेरे कहते थे, वे लोग कहते हैं, नहीं, बनारसीदास कहते हैं वह नहीं, टोडरमल कहते हैं वह नहीं। जिसने महाव्रत धारण किया है ऐसे मुनि वे कहें। कहो, समझ में आया?

कारण कि इन दोनों में 'अनयो:' अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में 'लक्षणभेदेन' लक्षण के भेद से भिन्नता संभव है। सम्यग्दर्शन का लक्षण प्रतीति है, सम्यग्ज्ञान का लक्षण जानना है। दो के लक्षणभेद है न? इसलिए कहते हैं, लक्षण के भेद से भिन्नता है; इसलिए सम्यग्ज्ञान का, सम्यग्दर्शन से भिन्न प्रकार से आराधन करना। कहो, समझ में आया इसमें?

टीका : इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व अंगीकार किया है,... ऐसा है न? **'इत्याश्रित'** ऐसा है न मूल शब्द? 'इस प्रकार' ऐसा शब्द है न मूल पाठ में? **'इति'** इस प्रकार, ऐसा। इस प्रकार अर्थात् पूर्व में जो सम्यग्दर्शन का अधिकार कहा, उस प्रकार, ऐसा। **जिन्होंने सम्यक्त्व अंगीकार किया है,...** शुद्ध भगवान... ऐसा आया न **'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां'** २२ वीं गाथा। **'आत्मरूपम्' इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व अंगीकार किया है, ऐसे अपने आत्मा का हित करनेवाले धर्मात्मा जीवों को जिस तिस-उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए।** समझ में आया? **जिस तिस-उचित उपाय से...** अर्थात् आम्नाय और युक्ति आदि है न? वे।

भावार्थ : सम्यक्त्व को अंगीकार करने के बाद सम्यग्ज्ञान को अंगीकार करना 'किंकृत्य' - किस भांति सेवन करना? 'आम्नाययुक्तियोगै: निरूप्य' ऐसा। **आम्नाय अर्थात् जिनागम की परम्परा...** परमेश्वर वीतरागदेव की जो शास्त्र की परम्परा चली है, वह। **और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से...** जिनागम-वीतराग के आगम, परमेश्वर त्रिलोकनाथ के कहे हुए आगम, उनकी **परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाण-नय के अनुयोग से भले प्रकार उस सम्यग्ज्ञान का विचार-निर्णय करके उसका सेवन करना।** ऐसा। उसका विचार यथार्थ मिलानकर निर्णय करके सेवन करना।

भावार्थ : जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम की परम्परा से मिलता हो...

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

ऐसा। वीतराग परमेश्वर की परम्परा में कहे गये शास्त्र, उनमें जो वस्तु का स्वरूप हो, मोक्षमार्ग का या तत्त्वों का **जो मिलता हो, उसको प्रमाण और नय से अपने उपयोग में ठीक करके...** कहो! **यथावत् जानने को ही सम्यग्ज्ञान का सेवन करना कहा जाता है।** लो? प्रमाण अर्थात् पूरे पदार्थ को जानने का ज्ञान, उसे प्रमाण कहते हैं और वस्तु के एक-एक धर्म को—सामान्य, विशेष, एक-एक धर्म को अवलम्बन कर जाने, उसे नय कहते हैं। एकरूप जाने और अनेक को-पूरे को जाने, ऐसे नय प्रमाण से पदार्थ के स्वरूप को बराबर उपयोग में ठीक करे, ऐसा वापस। उपयोग में उसे मिलान कर जाने उसका नाम सम्यग्ज्ञान का सेवन है। **उस प्रमाण–नय का स्वरूप किंचिन्मात्र लिखते हैं।** लो! ये युक्ति आयी न? युक्ति अर्थात् प्रमाण और नय, उसका पूरा स्पष्टीकरण करते हैं।

प्रमाण–नय का संक्षिप्त स्वरूप

प्रमाण सम्यग्ज्ञान को कहते हैं... प्रमाण, प्र-विशेष, माण-माप; वस्तु जैसी है, वैसा वह ज्ञान हो, उस ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं और उस सम्यग्ज्ञान का नाम प्रमाण है। पदार्थ जैसा हो, धर्मपर्याय जैसी हो, विकारपर्याय जैसी हो, त्रिकालस्वभाव जैसा हो, संयोगी चीज का स्वरूप जैसा हो, वैसा प्रमाण में / ज्ञान में भलीभाँति समझे, उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। **वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं। जो ज्ञान, केवल आत्मा के ही आधीन होकर...** अर्थात् उसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है। है तो समस्त पाँचों ही ज्ञान आत्मा से प्रगट हुए। समझ में आया? पाँच आते हैं न? 'चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोग'—पाँच ज्ञान की पर्याय, चैतन्य को अनुसरण कर ही प्रगट होनेवाली है परन्तु एक स्व आश्रय होने से प्रगट होती है, एक जिसमें निमित्त की अपेक्षा है, इससे उसे परोक्ष और प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद पड़े हैं।

फिर से, सूक्ष्म है, भाई! यह तो। **केवल आत्मा के ही आधीन होकर...** अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा है। उसके आधीन अर्थात् पर की, निमित्त की, राग की जिसमें अपेक्षा नहीं। ऐसा **आत्मा के ही आधीन होकर अपने विषयप्रमाण...** जितना यह ज्ञान जानने की योग्यतावाला है। **विशदता से स्पष्ट जाने उसे...** अर्थात् बहुत स्पष्टता से, विस्तार से स्पष्ट जाने। जैसा है, उसे विस्तार से अर्थात् उसका जैसा स्वरूप है, उतना स्पष्ट जाने, **उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।** उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहने में आता है।

www.vitragvani.com

उसके भी दो भेद हैं। किसके ? जो ज्ञान **केवल आत्मा के ही आधीन होकर अपने विषयप्रमाण उसे...** विस्तार से पूरा **स्पष्ट जाने, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं...** अवधिज्ञान है, उसमें कोई मन की अपेक्षा नहीं; आत्मा की ही अपेक्षा से प्रगट होता है-ऐसा कहते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं। समझ में आया ? पंचाध्यायी में फिर ऐसा लिया -चार ज्ञान में मन की अपेक्षा है; इसलिए उन्हें परोक्ष कहते हैं—ऐसा लिया है। पंचाध्यायी में; वह तो जरा अपूर्ण है न! उसकी अपेक्षा है, इसलिए ऐसा लिया है।

यहाँ तो सम्यग्ज्ञानी को अन्दर में अवधिज्ञान हो, सम्यग्दर्शन के काल में अवधिज्ञान हो, दूसरे के भव जाने, अपने भव जाने—ऐसा जो अवधिज्ञान, वह आत्मा के आश्रय से हुआ है। उसमें कोई इन्द्रियों का निमित्त नहीं है; इसलिए उसे देशप्रत्यक्ष—एक अंश प्रत्यक्ष—कहने में आता है। मनःपर्ययज्ञान, वह भी मुनि को होता है। दूसरे के मन के अन्दर विचार हो, मन में रहे हुए पदार्थ हों, उसे भी जो ज्ञान प्रत्यक्ष अपने आत्मा के आश्रय से होकर जाने। थोड़ा जानता है; इसलिए एकदेश प्रत्यक्ष कहने में आता है, परन्तु है उसका विषय, उतना स्पष्ट जानता है, ऐसा। है जितना उसका विषय, उतना स्पष्ट जानता है; इसलिए उसे प्रत्यक्ष कहने में आता है।

केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है... केवलज्ञानदशा सर्व प्रत्यक्ष है। **तथा...** कहो, केवलज्ञान तो सर्व प्रत्यक्ष है। एक समय में तीन काल-तीन लोक अपने आत्मा के आश्रय से जानता है। देखा ? उसमें किसी लोक का या पर का निमित्त नहीं है—पर की अपेक्षा नहीं है—ऐसा कहते हैं उसमें। केवल आत्मा के आधीन होकर कहा था न ? तब उसमें लोक-अलोक है; इसलिए केवलज्ञान हुआ है-ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अकेला भगवान आत्मा अपने आश्रय से पूर्ण केवलज्ञानदशा प्रगट की, उसे सर्व प्रत्यक्ष कहने में आता है। उन्हें सर्वज्ञ परमेश्वर कहा जाता है। उन्हें अरिहन्तदेव कहा जाता है। सिद्ध तो शरीररहित हो गये। **केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है...** देखो! इसे यह प्रमाण, ऐसे ज्ञान द्वारा इसे भलीभाँति ज्ञान का निर्णय करना चाहिए और ज्ञान का सेवन करना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

तथा जो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा... इस आँख और इस कान द्वारा **वर्णादिक को साक्षात् ग्रहण करे...** यह काला है, यह ठण्डा है, कहो! **अर्थात् जाने उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।** ऐसे जाने या प्रत्यक्ष! **परमार्थ से यह जानना परोक्ष ही है, कारण कि स्पष्ट जानपना नहीं है।** कोई भी चित्र देखे तो उसमें हरा रंग हो परन्तु अन्दर में जरा जामुनी या काला हो, वह इसे दिखता नहीं।

उसका उदाहरण – जैसे आँख से किसी वस्तु को सफेद जाना... सफेद-श्वेत लगे, सफेद लगता है, लो! **उसमें मलिनता का भी मिश्रण है।** सफेदाई में थोड़ा भाग कहीं मलिनता का हो, तथापि ऐसे सफेद दिखे-इस अपेक्षा से उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, परन्तु सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। परमार्थ प्रत्यक्ष में तो सब जैसा हो, वैसा जानना चाहिए। ऐसा उसमें आ सकता नहीं। समझ में आया?

अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है–ऐसा इसे स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता... श्वेत-सफेदाई में भी कुछ झांई लाल मेल हो, वह न देखे। सफेद देखे, इस अपेक्षा से उसे सांव्यवहारिक-व्यवहार प्रत्यक्ष कहा जाता है; प्रत्यक्ष-स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं। **अतः यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है, परन्तु आचार्य इसको परोक्ष ही कहते हैं।** लो! परन्तु वास्तव में तो वह परोक्ष ही है। **मतिज्ञान–श्रुतज्ञान से जो जानना होता है, वह सभी परोक्ष है।** वह इस अपेक्षा की बात है, पर की अपेक्षा। समझ में आया? अपने को जानने के लिये प्रत्यक्ष होता है। **मतिज्ञान–श्रुतज्ञान से जो जानना होता है, वह सभी परोक्ष है।** वह इस पर की अपेक्षा से बात है। समझ में आता है? अपने को जानने के लिये प्रत्यक्ष होता है। मतिज्ञान-श्रुतज्ञान से जानना हो, वह सब परोक्ष नाम पाता है; क्योंकि उसमें इन्द्रियों का निमित्त है इसलिए। है तो स्वयं से हुआ, परन्तु जिसे निमित्त की सापेक्षता है; इसलिए उसे परोक्ष कहते हैं। हुआ अपने से है, परन्तु जिसमें पर की सापेक्षता नहीं और अकेली आत्मा की अपेक्षा है; इसलिए उसे परोक्ष कहा जाता है।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन पहला.....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं, इतने सब भेद जानने के? सम्यग्दर्शन के पश्चात् इस ज्ञान का आराधन सहज होता है। स्व के अवलम्बन से निर्मलता होती है और पर के

www.vitragvani.com

अवलम्बन से इतना उस प्रकार का उघाड़ होता है और उस प्रकार का ख्याल विशेष बढ़ता है न! कहो! इसमें कहाँ बहुत, इसमें इतना सब कितना धारण करना और कितना? ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन में तो सीधा कि भाई! आत्मा ऐसा है और उसके आश्रय से (धर्म है), उसमें ही मूल वस्तु है। अब यह तो एक साधारण है।

महा अनन्त गुण का पिण्ड सावधानीरूप से अन्तर में प्रतीति करना, महान प्रयत्न और पुरुषार्थ, वही वस्तु है। यह तो साधारण बात है। यह तो साधारण को ऊँची कहता है और उसको (नीची कहता है), इसलिए इसका स्पष्टीकरण किया। ऐसा कहते हैं, इसकी अपेक्षा तो सम्यग्दर्शन सरल। यह वस्तु नहीं? वह स्वयं आत्मा है, उसके अवलम्बन से जो होती दशा उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जिसमें निमित्त की सापेक्षता आवे उसे परोक्ष कहते हैं, तथापि पर को जानने की अपेक्षा की बात इसमें है। इसमें मति-श्रुत से आत्मा को सीधा जाने, उसमें कहीं पर की अपेक्षा नहीं है, उसे प्रत्यक्ष कहने में आता है।

मुमुक्षु :.....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसमें देने की कोई जरूरत नहीं, व्यवहार की बात चलती है न। समझ में आया? तत्त्वार्थसूत्र में भी मति-श्रुत को प्रत्यक्ष नहीं लिया, परोक्ष ही लिया है। प्रत्यक्ष है, अपने स्वरूप की अपेक्षा से अनुभव में प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान कहीं पर की अपेक्षा रखकर आत्मा का ज्ञान नहीं करता परन्तु ऐसी बात अपवाद की होती है। अब उसे न माने और यह एक ही यह लिखा माने। अब लिखे का भी क्या आशय है, उसे समझे नहीं। जिसके व्यवहारज्ञान का भी ठिकाना नहीं।

मुमुक्षु : द्रव्यसंग्रह में भी परोक्ष कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब जगह परोक्ष कहा है। वहाँ भी कहा है मति-श्रुत को प्रत्यक्ष कहा है। वह तो अनुभव प्रत्यक्ष है, है न परन्तु? अन्दर जहाँ अपना अनुभव होता है, वहाँ पर की अपेक्षा रही कहाँ?

मुमुक्षु : (पर की अपेक्षा होगा) तो अनुभव किसका हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो अनुभव किसका हो? उसे स्वयं को अनुसरण करके होना। अनु अर्थात् अपने को अनुसरण करके होना, राग का निमित्त कुछ है नहीं। यह मार्ग, बापू!

www.vitragvani.com

अलौकिक है भाई! लोग बाहर के झगड़े में पड़े है। अन्तर की बात समझने की दरकार नहीं है। आहा...! अरे! और यह किसी के लिये कहाँ है, यह तो स्वयं के लिये है न! इसे शरणभूत क्या चीज़ है—ऐसा जानना, अनुभव करना, वह तो स्वयं के लिये है, किसी के लिये कहाँ है? सब ऐसे के ऐसे पड़े रहेंगे। सब मिथ्या बात को हाँ करनेवाले भी वहाँ मदद नहीं करेंगे। सच्ची बात को हाँ करनेवाले भी वहाँ शरणभूत नहीं होंगे। आहा...हा...!

देह की स्थिति रजकण-रजकण शत्रु होकर खड़े रहेंगे। शत्रु अर्थात् तेरी इच्छानुसार वहाँ नहीं होगा। दूसरे को वहाँ कहाँ देखने बैठा लोगों को? अनन्त रजकण हैं, कहीं न कहीं परिणमित होंगे, कहीं न कहीं परिणमित होंगे, कहीं न कहीं परिणमित होंगे। उन रजकणों का सब... बापू! वह तो स्वतन्त्र उसकी पर्याय है। अब उस समय उन्हें भिन्न करके जाना होगा, उनकी भिन्नता टिक सकेगी। आहा...हा...! यह परमाणु बदले, ऐसा हो, ऐसा हो, वह यहाँ खटकता है। वह कुछ नहीं परन्तु वह अन्दर से खड़ा होता है। यहाँ खटकता है कुछ, यहाँ होता है। वह तो जड़ मिट्टी है, भाई! उस मिट्टी की दशा होगी। बैल जैसा शरीर हो, तब तीन लड्डू खाकर बैठा हो और ऐसे ठीक से इसे ऐसा कैसे लगे कि यह शरीर बदलेगा, तब मेरा क्या होगा? बीस, पच्चीस वर्ष का युवा, तीस वर्ष का युवा हो... आहा...हा...! पूरणपोली ऐसे घी में सराबोर, डूबी हुई, पाँच-पाँच, सात-सात चढ़ाता हो, उसमें अरबी के भुजिये साथ में खाता हो। अब उसमें यह शरीर एक बार बिगड़ेगा और सड़ेगा, यह विचार भी किसका आवे इसे? मलूकचन्दभाई! आहा...हा...!

दृष्टान्त नहीं था? ३५ वर्ष का जवान मनुष्य, हों! बेचारा चावल लेकर जा रहा था। वह लगा, खटारा। पेट फट गया, ढाई सेर लोचा (माँस का पिण्ड) बाहर निकल गया। हमने कभी देखा नहीं यह अन्दर का लोचा। ऐसा जवान मनुष्य, बंगाली था। कलकत्ता जाते न? ऐसा पड़ा हुआ, वह पड़ा हुआ ताजा अभी तो, मर गया तुरन्त। गाँव के दो-चार लड़के देखने आये, गाँव की पुलिस अभी नहीं आयी थी, मर गया, हो गया। आहा...हा...! कहा, इसे यह विचार आया होगा? कि इन परमाणुओं में, पिण्ड एक आत्मा भगवान भिन्न है। छोड़कर चला गया, प्रभु! और खून... खून... खून... खून... ऐसे सड़क पर था, सड़क पर टकराया।

कल भी कहीं हुआ, भाई! अठारह वर्ष का लड़का। टकराया, अठारह वर्ष का कहीं विवाह में जाता था। 'जिथरी' के पास। यहाँ लाये थे, डॉक्टर के पास। मस्तिष्क वैसा हो गया था, कौन है ..... ? कौन है ? यह क्या करता है ? ऐसे करके बकबक (करता था) बहुत फेरफार हो गया। यहाँ जाना है, मुझे यहाँ जाना है, रोको नहीं, मुझे अटकाओ नहीं। ऐसा सन्निपात हो गया। भाई ने कहा न ? उन्हें पता होता है कि यह अठारह वर्ष का यह शरीर वह जड़-मिट्टी का है, उसकी दशा पलटने के काल में ऐसे फूँ... होकर (जायेगा)। विवाह में जाना था इसलिए कपड़े-बपड़े अच्छे पहने हुए था, सफेद, उजले और साइकिल पर (जाता था) और टकरायी साइकिल।

पहला तो मर ही गया। यह ऐसा हो गया। मैंने कहा, वह सफेद देखा, इसलिए हुआ यह क्या ? (तो कहा) अन्दर से माँस निकल गया, ऐसा पिण्ड दो हाथ दूर पड़ा था। ढाई सेर का पिण्ड। ओहो...हो... ! पेट का अन्दर और खून-खून। स्वयं तो मर गया था। लड़के को कहा कि क्या कहता है ? खटारा। अपने ट्रक की दूसरी भाषा कहते हैं। वह तो भाग गया। चारों ओर पुलिस, मुर्दा पड़ा था। यह शरीर की दशा। शरीर की अवस्था होनी हो उसे कोई इन्द्र रोकने को समर्थ नहीं है। बीस-बीस वर्ष के युवक फट जायें ऐसे पेट। आहा...हा... ! यह तो देह है भाई ! वह कहाँ आत्मा था ? उसके रजकण-रजकण पलटने लगेंगे, उस दिन किसके सामने तू देखेगा ? भगवान आत्मा आनन्दरस से भरपूर आत्मा है भाई ! उसके सन्मुख देखे बिना तेरा समाधान रहेगा नहीं। उसका ज्ञान कर—ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ? लो !

परोक्ष प्रमाण

जो ज्ञान अपने विषय को... अर्थात् जितना उघड़ा हुआ है, उसे भी **स्पष्ट न जाने, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं – (१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, (५) आगम – यह पाँच भेद जानना।**

(१) स्मृति – पूर्व में जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर में जान लेने को स्मृति कहते हैं। पूर्व में जाना हो, वह अभी याद आ जाये। ऐसा था, ऐसा था। स्मृति होती है न ? यह पाँच वर्ष की, दस वर्ष की, बीस वर्ष की, पूर्व

भव की स्मृति होती है। पूर्व भव की स्मृति होती है। यह पूर्व भव में था, उस पूर्व भव में मैं भी था। जैसा इस भव का याद आवे, वैसा पूर्व भव का याद आवे, वह स्मृति है। क्या? जो पूर्व में पदार्थ जाना था वह, हों! न जाना हो, वह नहीं। **उसे ही याद करके कालान्तर...** अर्थात् काल बीतने के पश्चात्—काल के अन्तर से **जान लेने को स्मृति...** कहा जाता है। उस ज्ञान को भी परोक्ष ज्ञान कहते हैं। यह परोक्ष की व्याख्या चलती है न?

(२) प्रत्यभिज्ञान – जैसे पहले किसी पुरुष को देखा था, फिर बाद में याद किया कि यह तो वही पुरुष है... उस दिन देखा था उसे, 'काशी' में देखा था, वह यह मनुष्य लगता है। जिसे मैंने पहले देखा था। **जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहले की बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चय करने में आये, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे पहले यह सुना था कि नील गाय नामक पशु...** नील गाय होती है न जंगल में? नील गाय। **गाय जैसा होता है,...** ऐसा सुना हो। जंगल में गाय जैसा नील गाय होता है।

वहाँ कदाचित वन में नील गाय को देखा... तब नील गाय किसी दिन देखी नहीं थी परन्तु लोगों ने कहा कि भाई! नील गाय, गाय जैसी होती है। **यह बात याद आ गई कि गाय जैसा नील गाय होता है, ऐसा पहले सुना था, वह नील गाय पशु यही है।** इसका नाम प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। पूर्व में जाने हुए का वर्तमान प्रत्यक्ष होकर उसके साथ सन्धि करना, जुड़ान करना, इसका नाम प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। वह परोक्ष है। वह एक भी ज्ञान के परोक्ष में भेद ऐसे होते हैं—ऐसा कहते हैं।

(३) तर्क – व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। 'इसके बिना यह नहीं' इसे व्याप्ति कहते हैं। जिस तरह अग्नि के बिना धुआं नहीं होता,... अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता। **आत्मा के बिना चेतना नहीं होती।** लो! आत्मा न हो, आत्मा के बिना चेतना होगी? आत्मा नहीं और यह चेतना है। आत्मा के बिना चेतना। यह व्याप्ति अर्थात् सन्धि हुई न इसकी? अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता। धुआँ बिना अग्नि नहीं होती, अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता, इसका नाम व्याप्ति है। उस धुएँ को अग्नि के साथ में। अग्नि के बिना धुआँ नहीं होता, धुआँ है तो अग्नि है, धुआँ है तो अग्नि है। इसी प्रकार आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान है, वहाँ आत्मा है। यह जानता है, यह जानता है, वह आत्मा है। उस

www.vitragvani.com

आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता। **जिस तरह अग्नि के बिना धुआं नहीं होता, आत्मा के बिना चेतना नहीं होती। इस व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।**

(४) अनुमान – लक्षण के द्वारा पदार्थ का निश्चय किया जाय, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी पर्वत में से धुआँ निकलता देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है। धुआँ देखकर कहना कि अग्नि है। यह अनुमान किया, धुआँ है; इसलिए अग्नि है—ऐसा अनुमान किया; इसी प्रकार ज्ञान है वह आत्मा है, ऐसा।

(५) आगम – आप्त के वचन के निमित्त से... परमेश्वर सर्वज्ञ या सन्त / आप्त, हित के लिये स्वीकार करनेयोग्य, ऐसे आप्त के वचन के निमित्त से, वचन तो निमित्त है। **पदार्थ के जानने को...** होता है। लो! अन्दर में लोक का ज्ञान होता है, वह कहाँ लोक प्रत्यक्ष इसने देखा है? परन्तु वीतराग के वचन के निमित्त से उसे अन्दर ज्ञान होता है। उसे **आगम कहते हैं। जैसे शास्त्र से लोक का स्वरूप जानना।** लो! लोक ऐसा है, चौदह ब्रह्माण्ड है, ३४३ राजू ऐसा है, बीच में इतना होता है, ब्रह्मलोक में पाँच राजू होते हैं, बीच में एक राजू होता है, सातवीं नरक में सात राजू होते हैं, यह सब आगम से देखा, इससे उस ज्ञान को आगमज्ञान (कहते हैं)। ज्ञान, हों! ज्ञान, उस ज्ञान की पर्याय को आगमज्ञान, उसे परोक्ष ज्ञान कहा जाता है। पृष्ठ–शास्त्र की यहाँ बात नहीं है। इसकी पर्याय में—ज्ञान में यह लोक ऐसा है, अलोक ऐसा है, यह ख्याल आवे, आगम के वचन के निमित्त से, उसका नाम आगम ज्ञान कहा जाता है। कहो, यह प्रमाण की व्याख्या हुई।

अब नय की इससे अधिक आयेगी। यह पूरा जो ज्ञान है, पूरे द्रव्य का या पदार्थ का पूरा, उसमें से एक अंश को, धर्म को जाननेवाला ज्ञान, वह ज्ञान एक पदार्थ को, एक भाव को जानता है, एक गुण को जानता है, एक पर्याय को (जानता है); ऐसे नय को उसे प्रमाणज्ञान का अंश, उसे नय कहा जाता है। भाई! इसे जानना चाहिए, वरना यह विरोध तत्त्व जगत के कहनेवाले बहुत हैं। इनसे भिन्न पड़ने को ऐसा ज्ञान इसे सेवन करना चाहिए। समझ में आया?

नय

श्रुतज्ञानप्रमाण के अंश को नय कहते हैं। जो वस्तु को–पूरे पदार्थ को जानने का जो ज्ञान, ऐसे ज्ञान का एक भाग / अंश उसे नय कहा जाता है। **प्रमाण से जो पदार्थ जाना**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

था, उसके एक धर्म को मुख्यता से... मुख्यता से। दूसरे हैं परन्तु साथ में जानने में नहीं आते। **अनुभव कराये...** अनुभव अर्थात् ज्ञान। एक पदार्थ को, जैसे आत्मा, पर्याय है और पर्याय को बतावे वह एक नय कहलाता है। सामान्य को बतावे त्रिकाल को, वह एक नय कहलाता है। एक धर्म को मुख्य करके ज्ञान करावे, उसे नय कहते हैं। **उसके दो भेद हैं।** लोगों को वास्तविक ज्ञान के भाव और उसके प्रकार कम हो गये हैं न, इसलिए यह सब गड़बड़ उठी है।

वास्तविक तत्त्व क्या है, दर्शन क्या, ज्ञान क्या, क्या कहना चाहिए इसके बिना यह सब बाहर का आचरण और क्रियाकाण्ड, बाहर का त्याग हुआ और यह हुआ और... ओहो...हो...! नग्न हुआ, वस्त्र छोड़ दिये और साधु हो गया, लो! यह बात रह गयी। अंक के बिना शून्य। भगवान परमेश्वर वीतरागदेव ज्ञान में किसे आत्मा कहते हैं, किसे दर्शन कहते हैं, किसे ज्ञान कहते हैं?—इसके भान बिना चारित्र-फारित्र नहीं होता। ज्ञान का पता नहीं होता, (इसलिए) जो कहा वह सत्य है। जय भगवान, भगवान ने कहा है न? व्यवहार त्याग, व्यवहार कहा है या नहीं? ऐसा। व्यवहार है या नहीं? सबेरे कहते थे न, व्यवहार मथनं। यह व्यवहार करके मन्थन करना। मन्थन करते-करते इसमें से निश्चय निकलेगा और निश्चय है, वह हमारे लक्ष्य में है। स्वयं को ठगते हैं, हों! उसमें कोई किसी का कुछ है नहीं। अपने को ठगता है, उसे जो हित का मार्ग जिस प्रकार है, उस प्रकार न मानकर दूसरे प्रकार से कल्पित किया, वह तो स्वयं को नुकसान है। जिस प्रकार है, उस प्रकार न जानकर, न मानकर दूसरे प्रकार से जाने, वह तो स्वयं को नुकसान का कारण है। दूसरे को कदाचित् बाहर देखकर नमस्कार भी करे परन्तु उसमें इस कारण इसके आत्मा को क्या लाभ हुआ?

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये वस्त्र त्याग करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्त्र उतारने से सम्यग्दर्शन नहीं होता, मिथ्यादर्शन होता है। वस्त्र थे कब? विकल्प टालना है, वह है, विकल्प भी टालना नहीं। वस्तु के अन्तर में एकाकार होना, उसमें मिथ्यात्व का विकल्प टल जाता है—ऐसी बात है। इस नय के प्रकार कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

www.vitragvani.com

प्रवचन नं. २९ गाथा–३१–३५ मंगलवार, वैशाख कृष्ण १३, दिनांक ०६.०६.१९६७

नय, नय आया है न? पृष्ठ ३९। सम्यग्ज्ञान का आराधन करना चाहिए—ऐसा चलता है। आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर सम्यग्ज्ञान साथ में होता है, तथापि उसका पृथक् आराधन करना चाहिए—ऐसा यहाँ कहा जाता है।

मुमुक्षु : ज्ञान का आराधन करना, इसका क्या अर्थ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान की अधिक शुद्धि करना, स्व के आश्रय से और शास्त्र के पठन के आश्रय से। शास्त्र को पढ़कर भी ज्ञान का व्यवहार है, उसे निर्मल होना चाहिए न! चारित्र में व्रत है परन्तु व्रत, वह विकल्प है, लो! परन्तु इसे स्पष्ट करना चाहिए न! अतिचार टालकर। ऐसे ज्ञान में भी व्यवहार चुस्त चाहिए और स्वभाव के आश्रय से निश्चय भी चुस्त ज्ञान चाहिए। ऐसे श्रद्धा भी स्वभाव के आश्रय से चुस्त श्रद्धा चाहिए और व्यवहार में पच्चीस दोषरहित व्यवहार श्रद्धा भी चुस्त चाहिए। समझ में आया?

नय का ज्ञान करना। पदार्थ का प्रमाण से ज्ञान करना और नय से ज्ञान करना, यह बात चलती है। नय : **श्रुतज्ञानप्रमाण के अंश को नय कहते हैं।** प्रमाणज्ञान जो आत्मा के आश्रय से हुआ, उस प्रमाण के फिर दो भाग पड़ते हैं —एक निश्चयनय, एक व्यवहारनय। **प्रमाण से जो पदार्थ जाना था, उसके एक धर्म को मुख्यता से अनुभव कराये, उसे नय कहते हैं।** पहले साधारण व्याख्या की थी कि श्रुतप्रमाण का अंश वह नय है। पश्चात् प्रमाण द्वारा पदार्थ जाना था, उसके एक धर्म को मुख्य करके, ऐसा। ज्ञान का अंश पहले नय कहा, फिर कहा कि प्रमाण द्वारा जो पदार्थ जाना था, उसके एक धर्म को मुख्य करके जानना, उसे नय कहा जाता है। समझ में आया?

उसके दो भेद हैं। (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक)। जो द्रव्य को मुख्य करके ज्ञान (अनुभव) कराये वह द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्य को मुख्य (करावे)। जो सामान्य द्रव्य है, उसका मुख्यरूप से ज्ञान करावे, उस नय को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। **उसके तीन भेद हैं।**

(१) नैगम – संकल्पमात्र से पदार्थ के ग्रहण करने–जानने को नैगम कहते हैं। संकल्प अर्थात् क्या? दृष्टान्त देते हैं। **जैसे कठौती बनाने के लिये कोई लकड़ी लेने**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

जा रहा था,... कठौती समझते हो? नहीं समझते? आटा बनाने के लिये। उसे क्या कहते हैं? बर्तन। जिसमें आटा (तैयार करे), उसे हमारे यहाँ कथरोट कहते हैं। कथरोट (कठौती) बनाने के लिये कोई लकड़ी लेने जाये, उससे किसी ने पूछा तू कहाँ जाता है? उसने उत्तर दिया कठौती लेने जाता हूँ। संकल्प में कठौती थी न? संकल्प में। जाता है तो लकड़ी लेने, परन्तु संकल्प में यह विचार था कि मैं कठौती बनाने के लिये लकड़ी लेने जाता हूँ, कठौती बनाने के लिये लकड़ी लेता है, इसलिए कठौती संकल्प में आयी है।

जहाँ वह जा रहा है, वहाँ कठौती तो नहीं मिलेगी परन्तु उसके विचार में है कि मैं लकड़ी लाकर कठौती बनाऊँगा। अर्थात् संकल्प से नैगमनय से कठौती का संकल्प किया, इसलिए उसे नैगमनय से कठौती कहता है। है तो लकड़ी। इसी प्रकार कोई भी पदार्थ पूरा जिसे हाथ न आया हो परन्तु उसका संकल्प हुआ हो तो उसे भी एक नैगमनय से जाननेयोग्य वह पदार्थ है, ऐसा इसे जानना चाहिए।

(२) संग्रह – सामान्यरूप से पदार्थों के ग्रहण को संग्रहनय कहते हैं। ग्रहण... ग्रहण है न? इसका अर्थ ज्ञान है। सामान्यरूप से वस्तु का ग्रहण करना। **जैसे–छह जाति के समस्त द्रव्य...** भगवान ने छह द्रव्य कहे, केवलज्ञानी ने जगत् में छह पदार्थ कहे, **समस्त द्रव्य, द्रव्यसंज्ञा लक्षण संयुक्त हैं।** छहों को द्रव्यसंज्ञा लक्षण है, किसी में अन्तर नहीं। द्रव्यसंज्ञा लक्षण है। उन छह द्रव्यों के समूह को द्रव्य कहना, वह संग्रहनय का वचन है। सब संग्रह कहा, द्रव्य, बस। द्रव्य अर्थात् सब।

व्यवहारनय... यह दूसरा, हों! यह अध्यात्म का (नय) नहीं है, यह शास्त्रनय है। **सामान्यरूप से जाने हुए द्रव्य के विशेष (भेद) करने को व्यवहारनय कहते हैं।** छह द्रव्य कहा था, उसमें से भेद करना, उसे व्यवहारनय कहते हैं। **जैसे द्रव्य के छह भेद करना।** द्रव्य सामान्य कहा था न? फिर छह प्रकार करना, उसे व्यवहार कहते हैं। भेद किया न? भेद। यह शास्त्र का नय है, आगम का नय। अध्यात्मनय निश्चय-व्यवहार अलग। भेद किया, पर्याय को व्यवहार कहना, वह सब अलग। द्रव्य सामान्य है, उसे निश्चय कहना, वह अध्यात्म का नय है। यह तो वस्तु को पूर्ण क्या और एक धर्म से जानना—ऐसे जाननेमात्र का यह आगम-शास्त्रनय है। निश्चय से तो सातों नय अध्यात्मदृष्टि

से तो व्यवहार में जाते हैं। **इस प्रकार यह तीन भेद द्रव्यार्थिकनय के बताए हैं।** तीन द्रव्यार्थिकनय है।

पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं। जो वर्तमान पर्यायमात्र को जानता है, उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। वर्तमान अवस्था हो उसे जाने। **इनमें शब्दनय, समभिरूढ़नय तथा एवंभूतनय को शब्दनय कहते हैं।** इस शब्द का जो वाच्य हो, उसे जो यथार्थ माने। यह कितनी ही जानने की बात है। अब इसमें थोड़ा सा रह गया है। तीनों शब्दनय। शब्द जो कहा हो, पूजा करनेवाला। तो पूजा करता हो, तब पुजारी कहलाता है, आगे-पीछे नहीं।

अब सम्यग्दर्शन में जो कोई, पदार्थ में ही **मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो अवश्य होता ही है...** सम्यग्दर्शन में पदार्थ की श्रद्धा होने पर उसे मति-श्रुतज्ञान तो होता है। पदार्थ में ही, ऐसा शब्द है, परन्तु इसका अर्थ कि थोड़ा कुछ अन्दर रह गया है। सम्यग्दर्शन में सात पदार्थ में जब श्रद्धा हुई, तब उसे मति-श्रुतज्ञान तो अवश्य होता है। ऐसा अपने यहाँ मेल करना। पदार्थ में ही मति-श्रुतज्ञान तो अवश्य होता है, ऐसा नहीं यहाँ। मूल तो सम्यग्दर्शन में पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसमें मति-श्रुतज्ञान तो अवश्य, सम्यग्दर्शन होने पर मति-श्रुतज्ञान तो अवश्य होता है।

परन्तु इस सम्यग्ज्ञान को विशेषरूप से जुदा आराधन करना योग्य है। किसलिए? 'यत: लक्षणभेदेन अनयो: नानात्वं संभवति।' कारण कि लक्षण भेद से इन दोनों में भिन्नत्व सम्भव है। लक्षणभेद से तो दोनों में, ऐसा। किन दोनों में? सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि दोनों के लक्षण भिन्न हैं; इसलिए उन दोनों में पृथक्ता सम्भवित है। **सम्यक्त्व का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है...** लो! समकित का लक्षण तो यथार्थ प्रतीति है। **इसका (ज्ञान का) लक्षण यथार्थ जानना है,...** दो लक्षण भिन्न पड़ गये न? **इसलिए इसे जुदा कहा।** और भिन्न आराधन का भी कहा, ऐसा। अब ३३ गाथा।

गाथा - ३३

आगे सम्यक्त्व के बाद ज्ञान कहने का कारण बताते हैं –

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिना:।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।३३।।

सम्यग्ज्ञान कार्य है सम्यग्दर्शन कारण कहें जिनेन्द्र।
इसीलिए समकित होने पर इष्ट ज्ञान का आराधन।।३३।।

अन्वयार्थ – (जिना:) जिनेन्द्रदेव (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान को (कार्यं) कार्य और (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व को (कारणं) कारण (वदन्ति) कहते हैं, (तस्मात्) इसलिये (सम्यक्त्वानन्तरं) सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही (ज्ञानाराधनं) ज्ञान की आराधना (इष्टम्) योग्य है।

टीका – 'जिना: सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति' – जिनदेव सम्यग्ज्ञान को कार्य कहते हैं और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं।

भावार्थ – मतिज्ञान–श्रुतज्ञान पदार्थ को तो जानते थे परन्तु सम्यक्त्व के बिना उनकी संज्ञा कुमति और कुश्रुतिज्ञान था। जिस समय सम्यक्त्व हुआ, उसी समय उनकी संज्ञा मतिज्ञान–श्रुतज्ञान हुई। अत: ज्ञान तो था परन्तु सम्यक्पना तो सम्यक्त्व से ही हुआ। इसलिए सम्यक्त्व तो कारणरूप है, सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है। 'तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनं इष्टम्' – इसलिए सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है, क्योंकि कारण से ही कार्य होता है।।३३।।

गाथा ३३ पर प्रवचन

आगे सम्यक्त्व के बाद ज्ञान कहने का कारण बताते हैं –

www.vitragvani.com

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।३३।।

अन्वयार्थ – जिनेन्द्रदेव... वीतराग परमेश्वर, त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, **सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं,...** है तो दोनों पर्यायें। समझ में आया? एक समय में उत्पन्न होनेवाली, तथापि सम्यग्दर्शन, कारण और सम्यग्ज्ञान, कार्य। क्योंकि ज्ञान को सम्यक्पना, सम्यग्दर्शन होने पर लागू पड़ता है। समझ में आया? **सम्यक्त्व को कारण कहते हैं, इसलिये 'सम्यक्त्वानन्तरं' सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही... 'अनन्तरं'** अनन्तरं अर्थात् तुरन्त। **तुरन्त ही ज्ञान की आराधना योग्य है।** ज्ञान की आराधना योग्य है। ज्ञान की निर्मलता विशेष, मति-श्रुत विशेष निर्मल होकर केवलज्ञान में मिले ऐसा ज्ञान। ऐसे व्यवहार का ज्ञान भी विशेष निर्मल आराधना।

टीका – 'जिनाः सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति' – जिनदेव सम्यग्ज्ञान को कार्य कहते हैं और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं।

भावार्थ – मतिज्ञान (श्रुतज्ञान) पदार्थ को तो जानते थे... देखो जरा न्याय देते हैं। मतिज्ञान (श्रुतज्ञान) पदार्थ को जानता था कि यह राग है, यह ज्ञान है, ऐसा। समझ में आया? **परन्तु सम्यक्त्व के बिना उनकी संज्ञा कुमति और कुश्रुतज्ञान था।** सम्यग्दर्शन के बिना वह ज्ञान कुमति और कुश्रुत परलक्ष्य वाला था। जिस ज्ञान में पदार्थ ज्ञात हुआ वह ज्ञान, समकित बिना पदार्थ को जाने, जाना अवश्य परन्तु समकित के बिना वह कुश्रुत और कुमति था। ग्यारह अंग पढ़ा हो, नव पूर्व पढ़ा हो परन्तु समकित के बिना वह कुमति और कुश्रुत है। ग्यारह अंग में कितना जानपना आवे! कहो!

मुमुक्षु : वह तो बाहर का है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु फिर भी ऐसा कहते हैं कि, क्यों? समकित को कारण क्यों कहा? ज्ञान को कार्य क्यों कहा? यह बात सिद्ध करना चाहते हैं। समझ में आया? यह बात सिद्ध करने के लिये यह प्रश्न उठाया है। समकित, कारण और सम्यग्ज्ञान, कार्य ऐसा क्यों कहा? साथ में उत्पन्न होते हैं न!

कहते हैं कि मतिज्ञान पदार्थ को तो जानता था, मतिज्ञान में ग्यारह अंग, नौ पूर्व

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

आता है या नहीं अज्ञान में? नौ पूर्व में तो कितना आता है! बहुत आता है। चारों अनुयोगों का ज्ञान उसमें आता है। **परन्तु सम्यक्त्व के बिना उनकी संज्ञा कुमति और कुश्रुतज्ञान था।** आत्मा के अन्तर स्वभाव का स्पर्श करके प्रतीति हुए बिना उस मतिज्ञान में ग्यारह अंग, नौ पूर्व ज्ञात हुए, इसलिए पदार्थ तो ज्ञात हुए। भगवान ऐसे होते हैं और केवली ऐसे होते हैं और सब उसमें आता है, आत्मा ऐसा होता है। समझ में आया? नवपूर्व में क्या नहीं आता! तथापि उस ज्ञान को सम्यग्दर्शन के बिना कुमति और कुश्रुतज्ञान कहा है। भावार्थ में है? कहाँ है न्यालभाई? यह भावार्थ ४० पृष्ठ है न?

जिस समय सम्यक्त्व हुआ,... देखो! वही ज्ञान जिस समय आत्मा के आश्रय से प्रतीति हुई कि ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसके आश्रय से प्रतीति हुई, **उसी समय उनकी संज्ञा मतिज्ञान-श्रुतज्ञान हुई।** लो! मतिज्ञान-श्रुतज्ञान (नाम) प्राप्त हुआ। श्रीमद् में भी यह आता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान का नाम सम्यक् नहीं था, सम्यग्दर्शन ने ज्ञान की सम्यक्ता प्रगट की। समयान्तर, आता है न कुछ शब्द? समयान्तर ऐसा आता है। सम्यक्त्व के कारण से समयमात्र में ज्ञान सम्यक् हुआ (जो ज्ञान भव हेतुभूत होता था, वह ज्ञान) जात्यान्तर हुआ। जो ज्ञान, पर के लक्ष्यवाला था, वह तो भव हेतु था; स्व की दृष्टिपूर्वक जो ज्ञान, सम्यग्दर्शनपूर्वक हुआ, तब उस ज्ञान को सम्यक्श्रुत और सम्यक्मति कहने में आया। समझ में आया? कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : हमारा ज्ञान कुमति-कुश्रुत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यक्तिगत तो इसे स्वयं को विचारना परन्तु उसमें विचारना कहाँ था? कहा न? जिसमें ज्ञानस्वरूप ऐसा तत्त्व, उस ज्ञान को ज्ञानरूप परिणमन दृष्टि में नहीं आया, तब तक का ज्ञान सब कुमति और कुश्रुत है। भले ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा हो। उसमें सम्यक् पढ़ा नहीं। सम्यक् वस्तु पूर्ण चिदानन्दस्वरूप का आश्रय होकर अन्तर प्रतीति अनुभव में ज्ञान-दर्शन हुआ नहीं, उसका सब ज्ञान कुमति और कुश्रुत है। उसमें क्या? सीधी बात है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन कारण और ज्ञान कार्य है। क्यों? इस बात को सिद्ध करने (के लिये कहते हैं)। समझ में आया?

जिस समय सम्यक्त्व हुआ, उसी समय उनकी संज्ञा मतिज्ञान-श्रुतज्ञान

www.vitragvani.com

हुई। **अत: ज्ञान तो था परन्तु सम्यक्पना तो सम्यक्त्व से ही हुआ।** यहाँ यह सिद्ध करना है। जानपने का उघाड़ का भाव तो था परन्तु सम्यक्पना-उस ज्ञान को सम्यक्पना-सत्यपना, मति-श्रुतज्ञान को सत्यपना सम्यक्त्व से ही हुआ। सम्यग्दर्शन से उसे सत्यपना हुआ, वरना सत्यपना लागू नहीं पड़ता था। कहो, समझ में आया इसमें? **इसलिए सम्यक्त्व तो कारणरूप है,...** मूल तो यहाँ ऐसा सिद्ध करना है न! इसलिए सम्यग्दर्शन तो कारणरूप है और सम्यग्ज्ञान उसका नाम पड़ा, वह सम्यक्त्व के कारण, इसलिए उसे कार्य कहा जाता है, ऐसा। है एक समय में। आहा...हा...!

'तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनं इष्टम्' – इसलिए सम्यक्त्व के बाद ही... ऐसा। **बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है,...** सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान की आराधना नहीं हो सकती। क्योंकि जहाँ वस्तु ही निर्विकल्पस्वभाव दृष्टि में नहीं आया, इस कारण उसका ज्ञान सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होता। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय बहुत सरस! समझ में आया? **इसलिए सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है,...** और फिर चारित्र, ऐसा कहेंगे। यह तो कोई सम्यक् न हो और सम्यग्ज्ञान न हो और करो चारित्र। निरोगी शरीर, ब्रह्मचर्य पालन करे और पंच महाव्रत हो गया। स्थूल अहिंसा (पाले), वह चारित्र हुआ और चारित्र से मुक्ति हो जायेगी। आहा...हा...! (ऐसा मानते हैं)।

सम्यग्दर्शन के बिना जहाँ ज्ञान ही सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होता, वहाँ फिर सम्यग्ज्ञान बिना चारित्र हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता। इसलिए क्रम बताया है न! यह आगे कहेंगे। सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र नहीं—ऐसा कहेंगे। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं; ज्ञान के बिना चारित्र नहीं—ऐसा कहेंगे। ज्ञान के बिना चारित्र नहीं क्योंकि ज्ञान का आराधन विशेष हुआ, फिर चारित्र जो स्थिरता होती है, उसका आराधना होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र-फारित्र होता नहीं। कहो!

मुमुक्षु : सब उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उड़ाया है कहाँ? है ऐसा है। श्रीचन्दजी! ऐसा होवे न शरीर निरोगी और तत्त्व का अनजान (होवे) मुंढाये एकदम दिगम्बर साधु हो जाये, जाओ कल्याण (हो जायेगा)। लोग भी ऐसा मानते हैं, त्यागी हुए हैं, दिगम्बर हुए हैं, इसका

www.vitragvani.com

कल्याण करते हैं और हमारा भी कल्याण करते हैं। हो गया जाओ, लहर करो मिथ्याश्रद्धा में। आहा...!

जहाँ आत्मतत्त्व ही दृष्टि में आया नहीं, महान पदार्थ भगवान आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है—ऐसा ही जहाँ सम्यक्पनेरूप ज्ञान में भानसहित प्रतीति में आया नहीं; उसके ज्ञान को सम्यक् हो किस प्रकार? समझ में आया? चाहे जितना पढ़ा हो, ग्यारह अंग पढ़े, नौ पूर्व पढ़े, वह सब आत्मदर्शन और आत्मा के ज्ञान के भान बिना वह सब ज्ञान, अज्ञान है। **इसलिए सम्यक्त्व के बाद... 'अनन्तरं' ज्ञानाराधना योग्य है।**

क्योंकि कारण से ही कार्य होता है। ऐसा। सम्यग्दर्शन कारण और उससे सम्यग्ज्ञान (कार्य) अर्थात् यह सम्यग्दर्शन है, इसलिए सम्यग्ज्ञान की–कार्य की आराधना भलीभाँति होती है, ऐसा। नहीं तो सम्यग्ज्ञान की आराधना, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकती—ऐसा कहते हैं। बहुत अच्छी बात ली है। स्वयं ऐसा कहा न? यह तो पण्डितों के लिये कहा है, ऐसा लिखा है। पुरुषार्थसिद्धि–उपाय... आता है न? कितनी गाथा में? शुरुआत में आता है न? शुरुआत। क्या कहा? तीसरी, इसके लिये कहता हूँ, देखो! है न? '**विदुषां पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् अस्माभिरुपोद्धियते**' हमारे से उसका उद्धार होता है। '**विदुषां पुरुषार्थसिद्धयुपायः**' यह पण्डितों के लिये है, देखो! यह पण्डित अर्थात् आत्मा के ज्ञानी के लिये यथार्थ बतलाते हैं। उसे ऐसा होना चाहिए—ऐसा बतलाते हैं। '**विदुषां**' है न? विद्वानों के लिये यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय नामक ग्रन्थ उद्धार किया जाता है, देखो न! समझ में आया? यह तीसरी में आया।

गाथा – ३४

प्रश्न – कारण–कार्य तो तब कहा जाये, जब आगे–पीछे हो। यह तो दोनों युगपत् हैं, फिर इनमें कारण–कार्यत्व किस तरह संभव है? इसका उत्तर आगे कहते हैं।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्।।३४।।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का है समकाल।
कारण–कार्य विधान घटित हो जैसे दीपक और प्रकाश।।३४।।

अन्वयार्थ – (हि) निश्चय से (सम्यक्त्वज्ञानयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों (समकालं) एक समय में (जायमानयोः अपि) उत्पन्न होने पर भी (दीपप्रकाशयोः) दीपक और प्रकाश की (इव) तरह (कारणकार्यविधानं) कारण और कार्य की विधि (सुघटम्) भले प्रकार घटित होती है।

टीका –'हि सम्यक्त्वज्ञानयोः समकालं जायमानयोः अपि कार्यकारणविधानं सुघटम्' – निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न होते हैं, तो भी उनमें कारण–कार्य का प्रकार यथार्थरूप से बनता है। किस दृष्टान्त से? 'दीपकप्रकाशयोः इव' – जिस प्रकार दीपक और प्रकाश एक ही समय में प्रगट होते हैं तो भी दीपक, प्रकाश का कारण है; प्रकाश, कार्य है क्योंकि दीपक से प्रकाश होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है; सम्यग्ज्ञान, कार्य है, क्योंकि सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।।३४।।

गाथा ३४ पर प्रवचन

प्रश्न, प्रश्न शिष्य का हुआ। **प्रश्न – कारण–कार्य तो तब कहा जाये, जब**

www.vitragvani.com

आगे–पीछे हो। पहले कारण और फिर कार्य, ऐसा हो। **यह तो दोनों युगपत् हैं, फिर इनमें कारण–कार्यत्व किस तरह संभव है?** सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो एकसाथ होते हैं, समयान्तर नहीं, समयान्तर नहीं। समयान्तर नहीं और एक के कारण से दूसरे को कार्य कहना, यह किस प्रकार सम्भव है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसका उत्तर–

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्।।३४।।

'हि' निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक समय में उत्पन्न होने पर भी... एक साथ होते होने पर भी, **दीपक और प्रकाश की तरह...** यह प्रश्न था। ए..ई..! कहते हैं, यह दीपक, कारण है और प्रकाश तो कार्य–पर्याय है। इसका दृष्टान्त देकर एक पर्याय को दो को कहाँ मिलाया ? ऐसा कहते हैं। दृष्टान्त किस प्रकार दें ? दृष्टान्त पर्याय पर्याय का दिया जाता है ? दीपक, कारण है और प्रकाश, कार्य है। प्रकाश उसकी पर्याय है। द्रव्य कारण और पर्याय कार्य, ऐसा। परन्तु एक पर्याय में दो ? एक साथ उत्पन्न होते हैं न ? परन्तु दृष्टान्त क्या देना तब ? समझ में आया ? **दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य की विधि भले प्रकार घटित होती है।** ऐसा कहते हैं। भलीभाँति घटित होती है। कारण–कार्य एकसाथ होता है।

मुमुक्षु : दीपक पहले होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकाश के बिना दीपक कहाँ से हुआ ? प्रकाश के बिना दीपक हुआ कहाँ से ? और दीपक के बिना प्रकाश आया कहाँ से ? कहो ! दीपक तब कहलाया कि प्रकाश हुआ; प्रकाश तब कहलाया कि यह दीपक हुआ।

निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय में उत्पन्न होते हैं, तो भी उनमें कारण–कार्य का प्रकार यथार्थरूप से बनता है। कारण–कार्य का प्रकार यथार्थ वर्तता है, होता है। किस दृष्टान्त से ? **'दीपकप्रकाशयोः इव' – जिस प्रकार दीपक और प्रकाश एक ही समय में प्रगट होते हैं तो भी दीपक प्रकाश का कारण है, प्रकाश कार्य है...** साथ में है या नहीं ? या आगे–पीछे है ? **क्योंकि दीपक से प्रकाश होता है।** दीपक से प्रकाश होता है, दीपक से प्रकाश होता है।

www.vitragvani.com

उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है,... वजन यहाँ सम्यग्दर्शन का है। शुद्ध अखण्ड ज्ञायकभाव अथवा सात पदार्थ भले हो। ऐसी जो श्रद्धा अन्तर में स्वभाव के आश्रय से जो आत्मरूप दर्शन है, जो कि दर्शन सिद्ध में भी वह दर्शन रहता है। ठेठ तक सदैव कर्तव्य, सदैव करनेयोग्य परिणमन तो वही है। ऐसे सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान होने पर भी, कारण-कार्य उसे भलीभाँति घटित हो सकता है—ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! इस सम्यग्दर्शन के बिना जितना जानपना हो, वह सब कहते हैं कि कुश्रुत और कुमति में जाता है-ऐसा कहते हैं। कहो, न्यालचन्दभाई ! आहा...हा... !

थोड़ा जानपना हो परन्तु जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, उस ज्ञान को वास्तव में सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। थोड़ा ज्ञान हो, कहो! मेंढ़क को हो, मेंढ़क को सम्यग्दर्शन, लो! आत्मज्ञान, आत्मदर्शन हुआ, वह ज्ञान आ गया। वह थोड़ा परन्तु उसे सम्यक्मति-श्रुत कहते हैं और सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितना ज्ञान (हो), उस ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते हैं। आहा...हा... ! वस्तु की स्थिति इस प्रकार ही है, दूसरे प्रकार से नहीं हो सकती; इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान के जानपने का अभिमान इसे छोड़ देना चाहिए—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? हमें आता है और हमें यह आया, यह सब समझने जैसा है। आत्मा बिना ? आत्मा तो आया नहीं अन्दर। कहो, समझ में आया इसमें ? आत्मा आया दर्शन में, बस ! हो गया, जाओ, उसका थोड़ा ज्ञान भी सुमति और सुश्रुत कहने में आता है। सुमति और सुश्रुत। कहो !

प्रकाश कार्य है और दीपक, प्रकाश का कारण है क्योंकि दीपक से प्रकाश होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है; सम्यग्ज्ञान, कार्य है, क्योंकि सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। नाम पाता है अर्थात् तब सम्यक्पना होता है। कहो समझ में आया इसमें ? यह श्रावक का-चरणानुयोग का ग्रन्थ है। लोग कहते हैं श्रावक के ग्रन्थ में उसके आचार और व्रत तो कहते नहीं,... परन्तु व्रत के पहले यह होता है, इसका तो निर्णय कर। आहा... ! श्रावक के व्रत और मुनि के तप के पहले ये दो—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान—होवे फिर चारित्र की बात है। अब इसके अंक की बात नहीं और अकेली शून्य की बातें। उसने यह पालन किया और उसने यह पालन किया और उसे

www.vitragvani.com

यह चलता है, उसे यह नहीं चलता, उसने यह खाया और यह चलता है... पाँचवें गुणस्थान में व्रत में इतना चलता नहीं और इतना चलता है... परन्तु पाँचवें गुणस्थानवाले को न? सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान के बिना सावद्ययोग का त्याग और सम्यग्ज्ञान का आदर और यह कहाँ से आया? समझ में आया? इसलिए मूलचीज सम्यग्दर्शन है—ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? और वह सम्यग्दर्शन, स्वतत्त्व के आश्रय से होता है। ऐसे स्वतत्त्व के आश्रय के दर्शन बिना पर के आश्रयवाला जो ज्ञान है, वह ज्ञान सच्चा नहीं कहलाता। आहा...हा... ! वाह ! जिसमें ज्ञान भरा है, पूरा समुद्र, उस ज्ञान के समुद्र का सम्यक् अन्तर प्रतीति और भान न हुआ, उसका भान न हुआ फिर बाहर के ज्ञान को ज्ञान कहने में कहाँ आया? कहो, माँगीरामजी ! यह बड़े भाषण करे और... ऐसा करे... कितना समन्वय करे? भाई !

बुझी चाहत जो प्यास को है बुझन की रीत,
पावे नहीं गुरुगम बिना ये ही अनादि स्थित,
पाया की ये बात है निज छन्दन को छोड़,
पीछे लाग सत् पुरुष के तो सब बन्धन तोड़॥

आता है न? निहालचन्दभाई ! तुम वहाँ बहुत वर्ष रहे थे।

यह ३४ (गाथा पूरी) हुई, लो !

गाथा - ३५

आगे इस सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहते हैं -

कर्त्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्।।३५।।

सम्यक् अनेकान्तमय तत्त्वों का निर्णय है करने योग्य।
संशय और विपर्यय-मोह विहीन ज्ञान है आत्मस्वरूप।।३५।।

अन्वयार्थ : (सदनेकान्तात्मकेषु) प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले (तत्त्वेषु) तत्त्वों अथवा पदार्थों में (अध्यवसाय:) निर्णय (कर्त्तव्य:) करने योग्य है और (तत्) सम्यग्ज्ञान (संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तं) संशय, विपर्यय और विमोह रहित (आत्मरूपं) आत्मा का निजस्वरूप है।

टीका : 'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसाय: कर्त्तव्य:' - अनेकान्त है स्वभाव जिनका, ऐसे पदार्थों का ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है।

भावार्थ : पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है। वह पदार्थ अनेकान्तस्वभाव को धारण करते हैं। अनेक=बहुत, अन्त=धर्म। इस प्रकार अपने अनन्तधर्म-स्वभाव को धारण करनेवाले का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। जो सम्यक् प्रकार से वस्तु को पहचान ले तो करोड़ों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी न हो। 'तत् आत्मरूपं वर्तते' - यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। क्योंकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा। कैसा है ज्ञान? 'संशयविपर्य्या-ध्यवसाय विविक्तम्' - संशय, विपर्यय और विमोह - इन तीन भावों से रहित है।

संशय - विरुद्ध दोतरफा ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं। जैसे रात में किसी को देखकर सन्देह हुआ कि यह पदार्थ मनुष्य जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर जैसा भी प्रतिभासित होता है।

www.vitragvani.com

विपर्यय – अन्यथा (विपरीत) रूप एकतरफा ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे मनुष्य में व्यन्तर की प्रतीति कर लेना।

अनध्यवसाय – 'कुछ है' इतना ही जानना हो, विशेष विचार न करे, उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं। जैसे गमन करते समय तृण के स्पर्श का ज्ञान होना।

इन तीनों भावों से रहित यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यहाँ घटपटादि पदार्थों के विशेष जानने के निमित्त उद्यमी रहना नहीं बताया, अपितु संसार–मोक्ष के कारणभूत पदार्थों को यथार्थ जानने के लिए उद्यमी रहने का उपदेश दिया है।

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जानपने में समानता होने पर भी, एक का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को मूलभूत जीवादि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान है, इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष–पदार्थ) जानने में आते हैं, उन सबको यथार्थरूप से साधता है; अतः सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को सम्यक्रूप कहा है। मिथ्यादृष्टि को मूलपदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं है; इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जानने में आते हैं, उन सबको भी अयथार्थरूप से साधता है। अतः मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्यारूप कहा गया है।।३५।।

गाथा ३५ पर प्रवचन

अब ३५ **आगे इस सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहते हैं –**

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्।।३५।।

३५, गाथा है। प्रशस्त सत् है न, **सदनेकान्तात्मकेषु** ऐसा शब्द है। सत् का अर्थ प्रशस्त किया है। **प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले तत्त्वों अथवा पदार्थों में...** अनेक धर्मवाले हैं न प्रत्येक पदार्थ? आत्मा, जड़, संवर, निर्जरा आदि अनेक धर्मवाले हैं। अनेक स्वभाव हैं न उनमें? प्रशस्त **सदनेकान्तात्मकेषु** और **तत्त्वेषु** ऐसा है। प्रशस्त अनेक धर्मस्वरूप / अनेक स्वभाववाले। भगवान आत्मा अनेक स्वभाववाला,

www.vitragvani.com

उसकी पर्याय अनेक स्वभाववाली, राग अनेक स्वभाववाला, निमित्त अनेक स्वभाववाला, आस्रव अनेक स्वभाववाला, बन्ध भी अनेक स्वभाववाला (है)। उन्हें उस प्रकार **निर्णय करने योग्य है**... उनमें जो तत्त्वों और पदार्थों में अनेकान्तात्मक अनेक स्वभाववाले हैं, उनका निर्णय करना योग्य है। यहाँ निर्णय अर्थात् सम्यग्ज्ञान में जाता है, हों!

और सम्यग्ज्ञान... वह सच्चे निर्णय का ज्ञान, **संशय, विपर्यय और विमोह रहित**... संशय की व्याख्या बाद में करेंगे, हों! दो कोटि का निर्णयरहित ज्ञान, उसे संशय कहते हैं। विपरीत ज्ञान-सच्चे से विपरीत। संशय, विमोह अर्थात् कुछ है, कुछ होगा, कोई निर्धार / निर्णयरहित, ऐसा। आत्मा का निजस्वरूप है, ऐसा कहते हैं। देखो! यह ज्ञान जो सम्यग्दर्शन का कहा था २२ वीं गाथा में। २२ वीं गाथा में सम्यग्दर्शन आत्मा का रूप कहा था, वह यहाँ ३५ गाथा में सम्यग्ज्ञान आत्मा का रूप कहा। कहो, छोटाभाई! शास्त्र का पठन वह आत्मा का रूप, कहा न! इसमें कहा।

सम्यग्दर्शन में भी दो प्रकार है। आत्मा का रूप सम्यग्दर्शन कहा, तथा सम्यग्दर्शन में पर को स्थिर करना, पर को स्थिर करना, वह तो विकल्प है परन्तु वह भी व्यवहार से आत्मरूप कहा गया है। निश्चय आत्मरूप जो है वह है और यह व्यवहार है। ऐसा साथ में वर्णन किया है। ऐसा ज्ञान में जो वास्तविक अन्तर का ज्ञान का स्व आश्रय परिणमन है, वही मुक्ति में जाता है। समझ में आता है न? भाषा तो ऐसी कही जाती है न, मोक्षमार्ग। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का मार्ग है—ऐसा कहा। मोक्ष का मार्ग अर्थात् उस कार्य का कारण है—ऐसा कहा जाता है या नहीं? मोक्षरूपी कार्य का व्यवहार मोक्षमार्ग कारण है, लो! ठीक! जिस अपेक्षा से है (वह) कहा। समझ में आया? कहो! व्यवहार व्रत मोक्ष के कार्य का कारण है, पंच महाव्रत मोक्ष के कार्य का कारण है, लो! ऐसा कहा जाता है। व्यवहार ज्ञान / शास्त्रज्ञान मोक्ष के कार्य का कारण है। ऐसे ही व्यवहार श्रद्धा मोक्ष के कार्य का कारण है। निमित्तरूप से था, इसलिए कहने में आया है। समझ में आया? इसमें आत्मरूप कहा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान... सम्यक्चारित्र बाद में ३९ गाथा में आयेगा। आत्मरूप कहा। वह व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार श्रद्धा को आत्मरूप कहा। समझ में आया? इसमें कोई अलग नहीं किया। ऐसी शैली है। इसलिए इसे नय का ज्ञान

भलीभाँति जानना चाहिए। इस कथन प्रमाण से जब चलता हो, तब दोनों को आत्मरूप कहने में आता है। समझ में आया?

निश्चयमोक्षमार्ग जो मोक्ष का कारण, व्यवहार मोक्षमार्ग, मोक्ष कार्य का कारण, लो! नहीं, उसे कहना। इस प्रकार कहा जाता है। आत्मा का सम्यग्दर्शन जो यथार्थ हुआ वह निजरूप है परन्तु उसमें पर को स्थिर करना आदि का विकल्प या देव-गुरु-शास्त्र का विकल्प (होवे), उसे भी व्यवहारनय से आत्मा का रूप कहा जाता है। नहीं है, उसे कहना, वह व्यवहार है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा के अवलम्बन से, जो स्वरूप के अवलम्बन से हुआ, स्वसत्ता अवलम्बनशील ज्ञान, वह परमार्थ से मोक्ष का कारण है, आत्मरूप है। उसके साथ परसत्तावलम्बी इस शास्त्र आदि का ज्ञान, व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा। उसे व्यवहार से आत्मरूप कहा। समझ में आता है? निश्चय-व्यवहारनय जगत भरमाया है।

मुमुक्षु : फैलाव हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : फैलाव क्या हुआ? आत्मरूप व्यवहार से कहा जाता है अर्थात् वास्तव में है नहीं, लो! अब फैलाव कहाँ आया? जो अनात्मरूप है, उसे आत्मरूप कहना, वह व्यवहारनय का लक्षण है। जो बन्ध का कारण है, उसे मोक्ष का मार्ग कहना, वह व्यवहार नय का लक्षण है—ऐसी बात है। यहाँ तो संक्षिप्त-संक्षिप्त कहना है, वहाँ समेटकर ऐसी ही बात आती है। आहा...हा...! उस प्रकार का परिणमन उसमें है, इसलिए (ऐसा कहा है)। आहा...हा...!

परमात्मप्रकाश में तो ऐसा आया था कि ध्रुव, वह आत्मरूप है; उत्पाद-व्यय वे वास्तव में आत्मरूप है ही (नहीं); स्वरूप है ही नहीं। ओहो! ऐ..ई..! यह नहीं थे वहाँ गर्मी के कारण। ऐसा आया था, यह आत्मस्वरूप उसे कहते हैं कि ध्रुव है उसे। उत्पाद-व्यय पर्याय है, वह वास्तविक आत्मस्वरूप नहीं है, वह व्यवहार आत्मस्वरूप है।

मुमुक्षु : आपने वहाँ उसे अनात्मा कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनात्मा कहा था। किस अपेक्षा से चलता है? यहाँ अभी तो दो बातें चलती हैं। आत्मा ज्ञायक एकरूप त्रिकाली वस्तु जो उत्पाद-व्यय-पर्यायरहित;

उत्पाद–व्यय तो व्यवहारनय का विषय है। उत्पाद–व्यय तो पर्याय का; पर्याय है और पर्यायार्थिक वह व्यवहारनय है और व्यवहारनय अभूतार्थ है, आदरणीय नहीं। आहा...हा...! वह पर्यायरहित का द्रव्य। देवानुप्रिय! तुमने वहाँ के व्याख्यान नहीं सुने। राजकोट के तो धूज जाये ऐसे थे। पर्याय है, वह व्यवहारनय का विषय है, उपचारनय का विषय है। द्रव्य है, वह निश्चय का, पदार्थ का त्रिकालीभूत, भूत, भूतार्थ, विद्यमान पदार्थ वह है; यह अभूत है। कायम रहनेवाली चीज़ नहीं, वहाँ ऐसा कहा था। वस्तु भूतार्थ एकरूप को आत्मरूप कहते हैं, उसे आत्मा कहते हैं। पर्याय को व्यवहारनय से आत्मा कहते हैं। पर्याय को–निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय को व्यवहार आत्मा कहते हैं, व्यवहार आत्मा कहते हैं, वास्तविक आत्मा नहीं। ए..ई! देवानुप्रिया! इसीलिए ही रखना है? उसे निश्चय से अनात्मा कहते हैं। पूरा आत्मा त्रिकाल सामान्य नहीं, इसलिए उसे अनात्मा कहते हैं। उसे यहाँ दूसरे प्रकार से कहा है।

यहाँ सम्यग्दर्शन की जो पर्याय है, उसे आत्मरूप कहा और उसके साथ विकल्प है उसे भी आत्मरूप कहा। क्या अपेक्षा चलती हो, उसे उस प्रकार से जानना चाहिए या नहीं? माँगीरामजी! तुम वहाँ राजकोट थे या नहीं? पहले से थे या बाद में (आये थे)? दस दिन, ठीक! कहते हैं, यह तो अब इस ठण्डे काल की स्वाध्याय है, वहाँ तो सब बाहर का था न! यहाँ तो धीरे–धीरे चले, ऐसा सब चले, उसमें कोई सूक्ष्म भी आवे और कोई स्थूल भी आवे।

आत्मा त्रिकालरूप जो ध्रुव है, ध्रुव को निश्चय से आत्मस्वरूप कहा जाता है भगवान आत्मा एक समय में एकरूप त्रिकाल, एकरूप सदृश ध्रुव, वह निश्चय आत्मा और आत्मस्वरूप कहा जाता है। तथा एक समय की पर्याय, त्रिकाल की अपेक्षा से व्यवहार आत्मा कहा जाता है। वास्तविक त्रिकाल आत्मरूप वह नहीं है।

यहाँ दूसरी बात है, यहाँ तो पर्याय में दो भाग किये हैं अर्थात् आत्मा भगवान ने जो देखा और कहा, ऐसे आत्मा की अन्तर निर्विकल्प प्रतीति / श्रद्धा / सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का रूप है, वह आत्मा का रूप है, पर्यायरूप से आत्मा का रूप है–ऐसा कहना है और इसके साथ जो व्यवहार समकित का विकल्प उत्पन्न होता है, वह व्यवहार आत्मरूप

www.vitragvani.com

पर्याय का। आहा...हा... ! 'जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति मतिमान' इतने सब इसके पहलू। महाज्ञान की विशालता है न! वस्तु है।

यहाँ कहते हैं, समझ में आया? निश्चय वस्तु जो त्रिकाल निष्क्रिय, वह द्रव्य और उसकी मोक्षमार्ग की पर्याय, वह व्यवहार। यहाँ उसे पर्याय के दो भाग करके कहना है कि स्व के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान हुआ, वह निश्चय है अर्थात् स्वरूप है, स्वरूप है, ऐसा। अपना है, इसलिए निश्चय और अपनी पर्याय निर्मल है, इसलिए उसका रूप है। जितना विकल्प है, उसे आत्मरूप कहा, व्यवहार से आत्मरूप कहा, दोनों साथ में हैं; इसलिए कहा। समझ में आया? प्रवीणभाई! बहुत पहलू... उसमें तो एक ईश्वरकर्ता को सौंप दे, हो गया, जाओ! यहाँ कोई ईश्वर–विश्वर नहीं होता कोई।

मुमुक्षु : विचारने का नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : विचारने का कुछ नहीं, एक कर्ता। सौंप दो, भगवान तुम करो वह ठीक। यहाँ ऐसा कोई कर्ता नहीं है। यहाँ तो पर्याय का कर्ता वास्तव में द्रव्य नहीं— ऐसी चीज़ है। आहा...हा... ! सत्... सत्... सत्... सत्.... सत् की प्रसिद्धि हुई।

कहते हैं कि भगवान आत्मा अपने सम्यग्दर्शनसहित के जो सम्यग्ज्ञान स्वालम्बी हुआ, वह आत्मा का ही रूप है। उसमें जरा शास्त्र में ज्ञानपना संशय, विपर्यय आदि विमोहरहित जो होता है, वह भी व्यवहार से आत्मरूप ही कहने में आता है। समझ में आया?

'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसायः कर्त्तव्यः'–अनेकान्त है स्वभाव जिनका... जिसमें अनन्त धर्म। अनेक अर्थात् बहुत, अन्त अर्थात् धर्म / स्वभाव। **जिनका ऐसे पदार्थों में ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है।** ऐसे पदार्थों में जानपना करना योग्य है—ऐसी भाषा है। अर्थात् कि उन पदार्थों का जानपना, ऐसा। वे जैसे पदार्थ हैं, **अनेकान्त है स्वभाव जिनका ऐसे पदार्थों में...** अर्थात् पदार्थों का। उसमें भी पदार्थों का आया था न? वहाँ भी पदार्थ में आया था। पदार्थ में ही आया था। इसलिए उस शब्द की शैली हो। पदार्थ में अर्थात् पदार्थ का, ऐसा। समझ में आया? अर्थात् जैसा पदार्थ है, वैसा उसमें... ऐसे पदार्थों में, अनेकान्तस्वभाव जिसका ऐसे पदार्थों में, ऐसा। जो पदार्थ

अनेक धर्मवाला है, पर्याय हो या गुण हो या द्रव्य (हो), अनेक धर्मवाला है—ऐसे पदार्थों में उनका जानपना करना। उनका इसके आधार से जानपना करना।

भावार्थ : पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है। पहली व्याख्या। वास्तविक पदार्थ जो सात तत्त्व, नौ पदार्थ इत्यादि। उनके स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है। यथार्थ (अर्थात्) जैसा है, वैसा ज्ञान, उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। लो! जैसे पदार्थ हैं वैसा; पुण्य-पाप के परिणाम दुःखरूप हैं—ऐसा वह पदार्थ। आत्मा सुखरूप है—ऐसा पदार्थ; निमित्त दुःख के निमित्त हैं, ज्ञेय हैं—ऐसा पदार्थ। सुखरूप कोई है नहीं, धूल में भी नहीं। कहो, कोई पदार्थ सुखरूप है ही नहीं, इस आत्मा के लिये; तथापि सुखरूप मानना, वह पदार्थ के स्वरूप में नहीं है—ऐसा कहते हैं। इसलिए उसकी ज्ञानदशा भी उल्टी / विपरीत है। समझ में आया?

आत्मा में आनन्द / सुख है। उसके बदले उसमें आनन्द न मानकर पुण्य-पाप में आनन्द मानना या संयोग में आनन्द मानना, वह उसे पदार्थ का ज्ञान नहीं है, वह तो विपरीत ज्ञान हुआ। समझ में आया? जैसे पदार्थ हैं, जैसे हैं वैसे उसने नहीं माने, नहीं जाने। आहा...हा...!

सम्यग्दृष्टि को शुभ-अशुभभाव में सुख भासित नहीं होता क्योंकि उनमें सुख है नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, भोग और पैसे में सुख तीन काल में सम्यग्दृष्टि को भासित नहीं होता, क्योंकि उनमें है नहीं। आहा...हा...! कहो समझ में आया इसमें?

मिथ्यादृष्टि को जैसा पदार्थ है, वैसा उसे भासित नहीं होता; इसलिए वह दृष्टि मिथ्यात्व, और उससे उसका ज्ञान खोटा / मिथ्या है। आहा...! कहो, समझ में आया? यह पढ़ाई का ज्ञान वह दुःखरूप है—ऐसा कहते हैं। ए...! जीतू! कहाँ गया? जीतू आया है या नहीं? वहाँ पीछे बैठा है। वह ऐसा कहता है, लौकिक पढ़ाई का ज्ञान, उसका स्वभाव सुखरूप नहीं है, उसे उस प्रकार से सुख मानना तो पदार्थ से विपरीत ज्ञान है - ऐसा कहते हैं। ऐई! कॉलेज में है न? वे दो व्यक्ति रहे, वह पीछे बैठा, यह सामने बैठा दोनों भाई-बन्धु है। कहो, इसमें क्या कहते हैं? आहा...हा..!

जैसा पदार्थ अर्थात् वस्तु जैसी है—द्रव्य, गुण, पर्याय, विकार, संयोग—जैसा है

www.vitragvani.com

वैसा है। उस पदार्थ के सम्बन्ध में वैसा ज्ञान होना, वह सम्यग्ज्ञान है। उस पदार्थ में जैसा उसका अनेकान्त स्वभाव है, उसका वैसा न मानकर; पुण्य–पाप के परिणाम का अनेकान्त –स्वभाव है, दुःखरूप है और सुखरूप नहीं। पुण्य–पाप के भाव दुःखरूप हैं, सुखरूप नहीं—ऐसा अनेकान्तस्वभाववाला वह पदार्थ है। भगवान आत्मा सुखरूप है और दुःखरूप नहीं—ऐसा वह पदार्थ है। परपदार्थ दुःख के निमित्तवाले हैं, सुख के निमित्त उनमें नहीं —ऐसे पदार्थों को उस प्रकार से उनका ज्ञान हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। कहो, दीपचन्दजी! क्या करना? आहा...हा...! लड्डू और मौसम्बी और मक्खन... कहते हैं कि इन पदार्थों में सुख नहीं है। इनमें सुख नहीं है, ये तो ज्ञेय हैं तथा इनमें दुःख भी नहीं है। समझ में आया? इन्हें सुख का कारण मानना, यह पदार्थ की विपरीतता है। इन्हें दुःख का कारण मानना, यह भी पदार्थ (की) विपरीतता है। आहा...हा...!

कहते हैं कि **पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है। वह पदार्थ अनेकान्त स्वभाव को धारण करते हैं।** अर्थात् **अनेक=बहुत, अन्त=धर्म।** धर्म अर्थात् उसका स्वभाव, हों! **इस प्रकार अपने अनन्तधर्म–स्वभाव को धारण करनेवाले...** प्रत्येक (पदार्थ) अनन्त धर्मवाला है, हों! एक पर्याय भी अनन्त धर्मवाली है।

इस प्रकार अपने अनन्तधर्म–स्वभाव को धारण करनेवाले का ज्ञान... उस पदार्थ का जिस प्रकार है, उस प्रकार उसका जानपना। **अवश्य करना चाहिए।** जरूर करना चाहिए। **जो सम्यक् प्रकार से वस्तु को पहचान ले...** यदि ज्ञान में, जिस प्रकार पदार्थ है, उस प्रकार से ज्ञान में भासित हो **तो करोड़ों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी न हो।** आहा...हा...! कहो, समझ में आया? **करोड़ों कारण मिलने पर भी...** वास्तविक पदार्थ जैसा है, वैसा इसके ज्ञान में आया है; इसलिए करोड़ों कारण मिलने पर भी इसे अश्रद्धा नहीं होती क्योंकि वस्तु का स्वभाव जैसा है, वैसा ज्ञान में भासित हुआ है। पुण्य–पाप के परिणाम दुःखरूप भासित हुए हैं, आत्मा सुखरूप भासित हुआ है। ज्ञान में जैसे वस्तु भासित हुई है, उसे किसी प्रकार से, दूसरे प्रकार से चलायमान करना चाहे, स्वप्न में भी चलायमान करना चाहे तो वह चलित नहीं होता, क्योंकि वास्तविक पदार्थ जैसा है, वैसा इसे ज्ञान हुआ है।

मुमुक्षु : कितनी ही बार बोलना पड़ता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या बोलना पड़ता है ? सुखी है। यह तो दुनिया की रीति है सुखी, सुखी कब था ? दु:खी है। तुम्हें गाँव में वहाँ सब कहते हैं-यह सुखी है। यह काका, काकी दो। पैसा है न ? दो पति और पत्नी, कोई नहीं होता और वह पैसा खर्च करने का कोई अवकाश नहीं। अभी समेटकर रखे हैं, इसलिए लोग बेचारे आशा रखते हैं, कुटुम्ब में से कोई आशा रखते हैं, किसी को देंगे, किसी को देंगे—ऐसा करके पूरे कुटुम्ब को अभी हथेली रखते हैं। कंचनबेन बहुत होशियार है—ऐसा सब सुना है, हों! उनके हाथ में भी अब नहीं रहा, कुटुम्ब के लोग सब कल्पनायें हैं। वह जानते हैं कि मुझे देंगे, मुझे देंगे। इन्हें ८२ वर्ष हुए, इन्हें ५३ हुए होंगे। वह कहे, कहाँ तक रहेंगे ? इसलिए कुटुम्ब के बहुत लोगों को गहरे-गहरे आशा रहती है। काका कुछ बोले तो उनका विरोध नहीं करना, हों! प्रसन्न रखना। वे सत्य करे तो कहते हैं कल्पना है खोटी, वह पदार्थ ऐसा सुल्टा होगा नहीं। ऐसा जो दूसरा इस प्रकार से अनुकूल रहेगा—ऐसा मानना वह अनेकान्त धर्म को नहीं माना। उसे अनुकूल रहना, नहीं रहना, वह तो उसके पर्याय का आधार है। कहो, समझ में आया ? मोहनभाई ! भारी इस जगत को। आहा...हा... !

जो सम्यक् प्रकार से वस्तु को पहचान ले तो करोड़ों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी न हो। 'तत् आत्मरूपं वर्तते' - यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। आहा...हा... ! ज्ञान में भासित हुआ कि आत्मा आनन्द है। पुण्य-पाप के परिणाम दु:खरूप हैं। उसे करोड़ों कारण मिले—देवता डिगाने को (आवे तो) डिगे नहीं। वस्तु ही ऐसी है और भासित हुई है। उसमें अब दूसरे प्रकार से नहीं होता और दूसरे प्रकार से मनावे कौन ? समझ में आया ? आहा...हा... !

यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। क्योंकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा। ठीक ! जाति एक है न ! जाति एक है। आता है न ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; यह व्यवहार में आ गया। यहाँ निकाल दिया। उसे आत्मरूप कहना है न ?

www.vitragvani.com

जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा। वह निकल जायेगा, उसका कुछ नहीं। मति–श्रुतज्ञान सम्यक् हुआ, आत्मा में सम्यग्दर्शन के साथ जो मति–श्रुतज्ञान, वह केवलज्ञान की जाति का अंश है। कहो!

मुमुक्षु : केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत् रहेगा अर्थात् मति–श्रुतरूप रहेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; मिलेगा अर्थात् ज्ञान रहेगा। वह सम्यक् ज्ञान रहेगा। सम्यग्ज्ञानपना केवलज्ञान में सम्यग्ज्ञानरूप रहेगा, ऐसा। मति–श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञानरूप रहेगा। सच्चा ज्ञान कहा है न? देखो न? **सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर...** ऐसा। सच्चे रूप से केवलज्ञान में रहेगा, ऐसा। कहो, समझ में आया इसमें? इसमें भी विवाद। कोई कहता है वह केवलज्ञान का अंश नहीं कहलाता– मतिश्रुत–अंश नहीं। अमुक... कितने विवाद निकालते हैं?

कैसा है ज्ञान? 'संशयविपर्य्याध्यवसाय विविक्तम्' – संशयरहित, विपर्ययरहित और विमोह... अर्थात् कुछ होगा, अनद्यवसाय, कुछ होगा पता नहीं पड़ता। **इन तीन भावों से रहित है।** उसे ज्ञान कहा जाता है। ऐसे तीन भावरहित के सम्यग्ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। यह सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनसहितवाले को होता है। सम्यग्ज्ञान में तीन बोल न हो तो उसे दर्शन में भी भूल पड़ती है और सम्यग्दर्शन का पता नहीं पड़ता —ऐसा उसे होता नहीं। इन तीन की व्याख्या आयेगी....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३० गाथा–३५–३८ बुधवार, वैशाख कृष्ण १४, दिनांक ०७.०६.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय। चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रयोजन, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, ऐसा जो मोक्ष; उसका उपाय सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र। पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या कर गये हैं। सम्यग्दर्शन हो, उसे इस सम्यग्ज्ञान का आराधन होता है। जिसे, आत्मा शुद्ध पवित्र है, उसके सन्मुख होकर आत्मा की अथवा सात तत्त्व की जहाँ प्रतीति हुई है, भान (हुआ है), उसे अब ज्ञान का आराधन कैसे करना?—उसकी व्याख्या चलती है।

www.vitragvani.com

इस गाथा में तो ऐसा है कि **'कर्त्तव्योऽध्यवसाय:'** करना व्यापार, कर्तव्य निर्णय। **'अध्यवसाय:'** अर्थात् निर्णय करना। किसका? प्रयोजनभूत तत्त्व का। यहाँ सभी पदार्थों की बात नहीं है, जो संसार और मोक्ष के कारणभूत पर्याय है या द्रव्य है, उसका भलीभाँति ज्ञान करना। किस प्रकार? कि संशय, विपरीत (और) अनध्यवसाय तीन दोषरहित, ऐसा कहते हैं। संशय की व्याख्या।

संशय-विरुद्ध दोतरफा ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं। विरुद्ध दो तरफ का ज्ञान (हो), उसे संशय (कहते हैं।) **जैसे रात में किसी को देखकर सन्देह हुआ (अन्धकार में) कि यह पदार्थ मनुष्य जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर जैसा भी प्रतिभासित होता है।** यह मनुष्य लगता है, तथा भूत जैसा होगा—ऐसा संशय हो, उसे संशय अज्ञान कहते हैं। यह संशय इसे ज्ञान में नहीं होना चाहिए। जिस पदार्थ का निर्णय किया है, उसमें इसे संशय नहीं हो। ऐसा होगा या ऐसा होगा? यह होगा या यह होगा?—ऐसे इसे संशयरहित ज्ञान होना चाहिए।

विपर्यय-अन्यथा (विपरीत) रूप एकतरफा ज्ञान को... एक ओर का मिथ्या, **विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे मनुष्य में व्यन्तर की प्रतीति कर लेना।** होवे मनुष्य, परन्तु भूत होगा? व्यन्तर होगा? ऐसा हो, वह विपरीत कहलाता है। ऐसे वास्तविक तत्त्व से विरुद्धभाव, उसे उसका ज्ञान विपरीत है। ज्ञान में वह विपरीतपना नहीं होता।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : संशय, उसे संशय कहा है। संशय-शंका है न? ऐसा होगा या ऐसा होगा? ऐसा होगा या ऐसा होगा? ऐसा है न? ऐसा होगा या ऐसा होगा? गोम्मटसार।

अनध्यवसाय - 'कुछ है' इतना ही जानना हो,... कुछ है, इतना जानपना हो। **विशेष विचार न करे, उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं।** इसके ज्ञान में विमोह नहीं हो सकता। कुछ होगा-ऐसा नहीं; 'ऐसा ही है'—ऐसा निर्णय इसे ज्ञान में होना चाहिए। **जैसे गमन करते समय तृण के स्पर्श का ज्ञान होना।** चलते हुए कहीं पैर को तिनका लग जाए तो **इन तीनों भावों से रहित....** समझे न? **गमन करते समय तृण के स्पर्श का ज्ञान होना।** ऐसा? चलते हुए तृण का स्पर्श हो जाए। क्या होगा यह? क्या

www.vitragvani.com

स्पर्श ? तिनके का स्पर्श हुआ ? छिलके का स्पर्श हुआ ? पत्थर का स्पर्श हुआ ? क्या हुआ इसमें ? उसे अध्यवसाय कहते हैं। ऐसे विमोहरहित जिसका ज्ञान यथार्थ हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

इन तीनों भावों से रहित... तीन कहे न ? संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। **तीनों भावों से रहित यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।** समझ में आया ? सम्यग्दर्शन होगा या नहीं ? सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं ? ऐसा संशय रहे। ऐसा होगा या ऐसा ? विपरीत-कुछ पता नहीं पड़ता। मिथ्यात्व होगा ? और अनध्यवसाय-कुछ होगा—ऐसा ज्ञान उसे होता नहीं। विपरीत ज्ञान या संशय या अस्पष्टवाला ज्ञान होता नहीं। कहो, समझ में आया ? यहाँ वह पाठ लिया है न, **'कर्त्तव्योऽध्यवसायः'** इसे अनेकान्त पदार्थ का निर्णय करना। तब कोई ऐसा समझ ले कि चाहे जिस पदार्थ का, (तो) ऐसा नहीं है।

यहाँ घटपटादि पदार्थों के विशेष जानने के निमित्त उद्यमी रहना नहीं... ऐसा। घट-पट अर्थात् घड़ा, वस्त्र, आदि इन्हें विशेष जानने के लिये उद्यमी रहना नहीं। पाठ में तो उद्यमी रहने को कहा, **'कर्त्तव्योऽध्यवसायः' 'सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु'** प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तस्वरूप ही है, अनेक धर्मवाला है तो प्रत्येक का स्वयं को अभ्यास करना-ऐसा यहाँ नहीं कहा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? पाठ तो ऐसे सामान्य है। **'कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्त-मात्मरूपं'** कहते हैं, घड़ा, वस्त्र, खपरेल, यह लकड़ियाँ, यह सरिया कितने इंच के मोटे और चौड़े और अमुक और अमुक—ऐसा कोई निर्णय करने की आवश्यकता नहीं है।

अपितु संसार-मोक्ष के कारणभूत... बन्धन का कारण कौन और मोक्ष का कारण कौन ? **इन पदार्थों को यथार्थ जानने के लिए उद्यमी रहने का उपदेश दिया है।** कहो, जीव-अजीवद्रव्य और उनके बन्ध के कारणरूप पर्याय और मोक्ष के कारणरूप पर्याय, इसका कर्तव्य—अध्यवसाय; उसका विशेष उद्यम करके ज्ञान करना—ऐसा कहा गया है।

प्रश्न-सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जानपने में समानता होने पर भी एक

www.vitragvani.com

का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है? ऐसा प्रश्न किया। जानपना तो दोनों को समान होता है, शास्त्र जानता हो, अमुक जानता हो, समझे न? पदार्थ के नाम जानता हो। **सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जानपने में समानता होने पर भी एक का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है?** है हिन्दी? हिन्दी है तुम्हारे पास? हिन्दी नहीं? अपने एक हिन्दी है न? हमारे पास हिन्दी प्रति है। **प्रश्न-सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जानपने में समानता होने पर भी एक का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है?** किसलिए प्राप्त हुआ?-ऐसा कहते हैं। सम्यक्पना और मिथ्यापना नाम किसलिए प्राप्त हुआ?

उत्तर-सम्यग्दृष्टि को मूलभूत जीवादि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान है... मूलभूत जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ऐसे मूलभूत जीवादि पदार्थों का पता है। **इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष-पदार्थ) जानने में आते हैं, उन सबको यथार्थरूप से साधता है...** क्योंकि मूल तत्त्व का पता है, इसलिए फिर दूसरे विशेष पदार्थों को जानने में विपरीतता नहीं होती।

यथार्थरूप से साधता है, अतः सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को सम्यक्रूप कहा है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का ज्ञान, मूलभूत पदार्थों में यथार्थ खबर (पता) होने से दूसरे विशेष जानने में भी उसकी भूल नहीं होती; इसलिए उसे सम्यक् कहा गया है। **मिथ्यादृष्टि को मूलपदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं है...** आत्मा क्या? संवर-निर्जरा क्या? बन्ध क्या? अजीव क्या? उसकी स्वतन्त्र पर्याय क्या? इसका उसे पता नहीं है। **इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जानने में आते हैं,...** मूलभूत के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ जाने। मूलभूत का पता नहीं, इसलिए जितने विशेष दूसरे जानने में आवें, **उन सबको भी अयथार्थरूप से साधता है।** मिथ्या प्रकार से उनका निर्णय करता है; यथार्थ का भान नहीं है। **अतः मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्यारूप कहा गया है।** विपरीत श्रद्धावाले -ज्ञानवाले को मूल प्रयोजन का पता नहीं है। प्रयोजनभूत तत्त्व का पता नहीं तो विशेष तत्त्व में उसकी भूल (होती है)। अयथार्थ ही साधता है; यथार्थ साध नहीं सकता। कहो, समझ में आया इसमें?

गाथा - ३६

आगे इस सम्यग्ज्ञान के अष्ट अङ्ग कहते हैं -

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं।।३६।।

शब्द अर्थ अरु उभय काल-आचार विनय उपधानाचार।
करो ज्ञान का आराधन बहुमान-अनिह्नवमय आचार।।३६।।

अन्वयार्थ : (ग्रन्थार्थोभयपूर्णं) ग्रन्थरूप (शब्दरूप) अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्द-अर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण (काले) काल में अर्थात् अध्ययनकाल में आराधन करने योग्य (विनयेन) मन, वचन, काय की शुद्धतारूप विनय (च) और (सोपधानं) धारणा-युक्त (बहुमानेन) अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र के वन्दन, नमस्कारादि (समन्वितं) सहित तथा (अनिह्नवं) विद्यागुरु को छिपाये बिना (ज्ञानं) ज्ञान की (आराध्यम्) आराधना करना योग्य है।

टीका : 'ज्ञानं आराध्यम्' - श्रद्धावान पुरुषों को सम्यग्ज्ञान आराधन करने योग्य है। कैसा है ज्ञान? 'ग्रन्थार्थोभयपूर्णं' - शब्दरूप है, अर्थरूप है और उभय से पूर्ण है।

भावार्थ : (१) व्यंजनाचार - जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो, उसे व्यंजनाचार अंग कहते हैं।

(२) अर्थाचार - जहाँ केवल अर्थमात्र के प्रयोजनसहित जानपना हो, उसे अर्थाचार कहते हैं।

(३) उभयाचार - जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सम्पूर्ण जानपना हो, उसे शब्दार्थ उभयपूर्ण अङ्ग कहते हैं। इस प्रकार यह तीन अंग वर्णन किए।

अब ज्ञान की आराधना कब करे?

www.vitragvani.com

(४) कालान्तर – काले = जिस काल जिस ज्ञान का विचार चाहिए, वही करना (सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि, इनके पहले और पीछे का मुहूर्त्त सन्ध्याकाल है, इस काल को छोड़कर शेष के चार उत्तम कालों में पठन–पाठनादिरूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्याकाल की प्रथम तथा अन्तिम दो घड़ी में, तथा दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य–चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के काल में सिद्धान्त–ग्रन्थों का पठन–पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र–आराधना, धर्म–कथादिक के ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।)

(५) विनयाचार – तथा किस रीति से ज्ञानाराधन करना? विनयेन = नम्रतायुक्त होना, उद्धत नहीं होना।

(६) उपधानाचार – तथा कैसा ज्ञान आराधना चाहिए? सोपधानं = धारणा सहित ज्ञान को भूलना नहीं; उपधानसहित ज्ञान का आराधन करना छठा अंग है।

(७) बहुमानाचार – तथा कैसा है ज्ञान? 'बहुमानेन समन्वितम्' = ज्ञान का पुस्तक–शास्त्र का, अथवा पढ़ानेवाले का बहुत आदर करना। इन सहित ज्ञान का आराधन करना सप्तम अंग है।

(८) अनिह्नवाचार – तथा कैसा है ज्ञान? 'अनिह्नवं' = जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए। यह आठ अंग (सम्यग्ज्ञान के विनय के) हैं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना।।३६।।

इति श्रीमद् अमृतचन्द्रासूरि विरचित पुरुषार्थसिद्धि–युपाय जिसका अपरनाम जिनप्रवचनरहस्य कोष है, उसमें सम्यग्ज्ञान वर्णन नाम का दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

गाथा ३६ पर प्रवचन

आगे इस सम्यग्ज्ञान के अष्ट अङ्ग कहते हैं – ऐसे करके पूरा करेंगे।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं।।३६।।

www.vitragvani.com

३६ गाथा। **ग्रन्थरूप (अर्थात्) शब्दरूप अर्थरूप इसका अर्थ और उभय अर्थात् शब्द–अर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण**... पूर्ण शब्द पड़ा है सही न? दोनों स्पष्ट होना चाहिए—ऐसा कहते हैं। व्यवहार की सब बात है न! शब्द, उसका अर्थ और दोनों परिपूर्ण; पूर्ण का—शब्द का अर्थ किया है। पूर्ण अर्थात् शुद्धता से स्पष्ट होना चाहिए। **काल में अर्थात् अध्ययनकाल में आराधन करने योग्य**.... है। जब यह स्वाध्याय करने का काल हो, तब वह करने योग्य है। आगे–पीछे स्वाध्याय करना योग्य नहीं होता, उसमें करना योग्य है नहीं। **मन, वचन, काय की शुद्धतारूप विनय**... ज्ञान आराधना चाहिए। शास्त्र वाँचन हो, तब मन में, वचन में और काया में अविनय नहीं होनी चाहिए। समझ में आया? शुद्धतास्वरूप चाहिए। काया भी ऐसी मलिन या गन्दी या हाथ में ऐसा मैल आदि हो और वचन में ऐसा न हो, मन में ग्लानि (न) हो; इस प्रकार शास्त्र को पढ़ना चाहिए। समझ में आया? मन में भी ग्लानि न हो, वचन में शुद्धि हो और काया में भी इस प्रकार का मेल आदि न हो, ऐसी शुद्धतारूप विनय।

सोपधानं इस उपधान की बड़ी लगाई है और उसका यहाँ अर्थ किया। यहाँ तो कहते हैं, धारणायुक्त–ऐसा कहा है। वे कहते हैं, अपवास करना, उपधान करना, चलता है न बड़ा अभी? कहते हैं कि जो कुछ पढ़ा है उसकी धारणा बराबर करनी चाहिए। जैसा है, वैसा उसे धारणा करनी चाहिए। होवे कुछ और धारणा में उल्टा सीधा हो जाये—ऐसा नहीं। यथावत् धारणा होनी चाहिए। उपधान का अर्थ यहाँ तो यह किया है। याद रखना, भलीभाँति याद रखना, जैसा कहा है, वैसा सुनकर धारण करना।

अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव–गुरु–शास्त्र के वन्दन, नमस्कारादि सहित... लो! देव का वन्दन, गुरु–शास्त्र के वन्दनसहित ज्ञान का आराधन करना। **तथा विद्यागुरु को छिपाये बिना**... जिससे ज्ञान मिला है, उसे छुपाये बिना। **ज्ञान की आराधना करना योग्य है।** समझ में आया? मिला हो कुन्दकुन्द आचार्य के शास्त्र से ज्ञान अन्दर से हो और माने कि मुझे अमुक से भी हुआ है। वह ज्ञान का निह्नव है, चोर है –ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **विद्यागुरु को छिपाये बिना ज्ञान की आराधना करना योग्य है।**

टीका : 'ज्ञानं आराध्यम्' – श्रद्धावान पुरुषों को... मूल सम्यग्दृष्टि की बात

www.vitragvani.com

है न? आत्मा का सम्यग्दर्शन यथार्थ हुआ है—ऐसे **श्रद्धावान पुरुषों को सम्यग्ज्ञान आराधन करने योग्य है।** उसे सच्चा ज्ञान सेवन करने योग्य है। **कैसा है ज्ञान?** देखो! कैसा है ज्ञान? भाषा देखो! **कैसा है ज्ञान? शब्दरूप है, अर्थरूप है...** व्यवहार की बात है न इसकी? **और उभय से पूर्ण है।** ऐसा। **'ग्रन्थार्थोभय'** इसका अर्थ किया है। ऐसा इसे ज्ञान आराधना चाहिए, ऐसा। इसके शब्द में भूल न हो, उसके अर्थ में भूल न हो, उभय में भूल न हो-ऐसा ज्ञान इसे आराधना चाहिए - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कैसा है ज्ञान? अर्थात्? कि शब्दरूप ज्ञान—ऐसा नहीं। उसके ज्ञान में शब्दरूप, अर्थरूप उभय में विरोधता हो नहीं। शब्द में अशुद्धि न हो, अर्थ में बदलाव न हो—ऐसा ज्ञान इसे आराधना चाहिए।

(१) व्यंजनाचार-जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो, उसे व्यंजनाचार अंग कहते हैं। यह शब्द का अर्थ किया पहला। शब्द है न? पहला शब्द। ग्रन्थ, ग्रन्थ, उस ग्रन्थ की व्याख्या की। व्यंजनाचार, वह ग्रन्थ का ज्ञान किया न? ग्रन्थ अर्थात् शब्द, ग्रन्थ अर्थात् शब्द। **जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो...** शब्द के पाठ का, हों! उसे व्यंजनाचार अंग कहते हैं अर्थात् कि उसके ग्रन्थ का ज्ञान कहने में आता है, शब्द का ज्ञान कहने में आता है।

(२) अर्थाचार-जहाँ केवल अर्थमात्र के प्रयोजन... पहले शब्द का कहा, उस शब्द का। केवल उसका अर्थ, उस शब्द का अर्थ क्या है? **केवल अर्थमात्र के प्रयोजन सहित जानपना हो, उसे अर्थाचार कहते हैं।** शब्दज्ञान, अर्थाचार ज्ञान, शब्द का ज्ञान, अर्थ का ज्ञान यथावत (चाहिए)।

(३) उभयाचार - जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सम्पूर्ण जानपना हो,... दोनों पूरा समान हो, ऐसा। शब्द भी स्पष्ट और अर्थ भी स्पष्ट। **उसे शब्दार्थ उभयपूर्ण अङ्ग कहते हैं।** बहुत तो ऐसा कहते हैं-श्रेणी में चढ़े तो उसे शब्द और अर्थ का सब ज्ञान हो ही जाता है, ऐसा कहते थे। वहाँ कहाँ हुआ? वहाँ अन्दर में वस्तु ज्ञात हो गयी। उसकी श्रेणी से, श्रेणी अर्थात् स्थिरता में अन्दर चढ़ा। उसे कहाँ शब्द अर्थ का ज्ञान था? शब्द अर्थ था ही कब? वह तो व्यवहार की बात नीचे है, उसकी बात करते हैं। कहो! **यह तीन अंग**

www.vitragvani.com

वर्णन किए। शब्द, अर्थ और उभय। **अब ज्ञान की आराधना कब करे?** तथा ज्ञान कब अर्थात् काल।

(४) कालान्तर–काले=जिस काल जिस ज्ञान का विचार चाहिए, वही करना... उस काल में जिस ज्ञान का आराधन, उस काल में वह आराधना। **सूर्योदय,**... प्रात: काल में, सूर्योदय होने के पहले एक मुहूर्त और पश्चात् एक मुहूर्त; **सूर्यास्त,**... पहले एक मुहूर्त और पश्चात्; **मध्याह्न**... भी बारह बजे पहले एक मुहूर्त और पश्चात्; ऐसा। **मध्यरात्रि,**... पहले–पश्चात् के मुहूर्त, हों! मुहूर्त दो–दो घड़ी। **सन्ध्याकाल है,**... उसे वर्जना, उसे छोड़कर, **इस काल को छोड़कर शेष के चार उत्तम कालों में**... इसके बिना के जो चार काल बाकी रहे। **पठन–पाठनादिरूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं।**

मुमुक्षु : उस काल में मरण का काल हो तो क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : मरण का काल हो तो उसे अन्तर में जाना। कहो, सन्ध्या काल में अन्तर में ध्यान होता है या नहीं? ज्ञान में अन्तर उतरना, वह ज्ञान का आराधन।

मुमुक्षु : व्यवहार निश्चय रहा कहाँ तो फिर?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार कहाँ गया वहाँ? व्यवहार था कब? ऐसा कहते हैं, सन्ध्याकाल में स्वाध्याय काल नहीं होता। और उसमें भी मरने का काल होवे तो क्या करना? ऐसा कहते हैं। बराबर यहाँ स्वाध्याय की सन्ध्या हो, और यहाँ मरण का काल हो तो तब क्या करना? ऐसा कहते हैं। आत्मा अन्दर शुद्ध चिदानन्द है। यहाँ तो सम्यग्दर्शनसहित की बात है, पश्चात् उसे उस समय आत्मा को आराधना। आत्मा के प्रति लक्ष्य रखकर ज्ञायकस्वरूप में, ध्यान में लीन हो जाना, वह ज्ञान का आराधन, आत्मा का आराधन, ज्ञान का आराधन (है)। आहा..हा...! समझ में आया? यहाँ तो अलग किया हुआ जाना है, उसे ज्ञान के आराधन की बात चलती है।

जिसने आत्मा को राग के विकल्प के आस्रवतत्त्व से वह तो भिन्न तत्त्व है, वे सब बहुतों को ऐसा हो जाता है कि **जीवादि सद्दणं** अर्थात् जीवादि तत्त्वों को हम मानते हैं। कैसे? जीवादि नवतत्त्व को मानते हैं। सबेरे कहते थे कि दूसरे सब ऐसा कहते हैं। नवतत्त्व

www.vitragvani.com

मानते हैं। मानते नहीं। जीव को दूसरे तत्त्वसहित मिलाकर मानना, वह जीव को मानता ही नहीं। जीव को पुण्यवाला मानना, पुण्य की क्रियावाला मानना, पुण्य का कर्ता मानना, पुण्य से लाभ मानना-उसने जीव को नहीं माना, जीव नहीं माना। आहा...हा... !

शरीर की क्रिया हो तो जीव को लाभ होता है—ऐसा माना, उसने जीवतत्त्व नहीं माना और अजीवतत्त्व भी नहीं माना। अजीवतत्त्व है, वह अजीव की पर्याय है, उससे दूसरे तत्त्व को कोई लाभ नहीं होता, उसके बदले लाभ माना तो अजीव को भी जाना नहीं। दया, दान, भक्ति के पुण्य परिणाम हैं, वह पुण्य परिणाम है, वह धर्म का कारण है, संवर-निर्जरा का कारण है तो पुण्यतत्त्व को भी इसने नहीं जाना।

मुमुक्षु : वह तो ऐसा कहता है कि सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं, वह केवलज्ञानी जाने ?

पूज्य गुरुदेवश्री : लो ! तो फिर हो गया, अज्ञानी है, अज्ञानी यहाँ तीन दोषवाला (कहा वैसा) अज्ञानी है। निःसंशय आया नहीं। विपरीत बुद्धि है वह खड़ी है कि ऐसा होगा तो ऐसा होगा तो ? हो गया। तुम अभव्य हो या नहीं यह केवली जाने। अब केवली जाने तो तुम फिर अब क्या खड़े हुए शास्त्र का निर्णय करने ? दर्शनविजय यहाँ आया था न ! वह कहे-यह तो गुरु की वाणी है, यह केवली की वाणी नहीं है, जिनवाणी नहीं है। यह जिनवाणी नहीं ! बहुत अच्छी बात है। भव्य-अभव्य का निर्णय कर सकते हो या नहीं ? तो वह कहे-केवली जाने। ऐसा ? भव्य-अभव्य केवली जाने तो अभी अभव्य की शंका है कि मैं अभव्य होऊँगा। ऐसे अभव्य जिनवाणी का निर्णय करने खड़े हुए। देवचन्दजी ! अब यह कुछ पता नहीं पड़ता अपने को। अभव्य हूँ या भव्य ? तब हो गया, स्पष्ट हो गया कि उसे अभव्य और भव्य की अन्दर शंका है। इसलिए जिसे अनन्त संसार कभी नहीं टूटे ऐसा होऊँगा—ऐसी अभी अन्दर दृष्टि पड़ी है। अब उसे भव के अभाववाले भगवान वीतराग और सन्तों की उसे पहचान हो (—ऐसा) तीन काल में नहीं हो सकता। क्या करे ? फिर वापस बदले कि परन्तु वह ज्ञात होता है। कहा, तुम्हारा हृदय आ गया, अब धारणा की बात करते हो, पकड़े गये इसलिए (ऐसा कहा)।

जहाँ अभी अन्दर का निर्णय ही नहीं, मैं तो भव्य हूँ और भव नहीं, भव्य हूँ और भव नहीं। इसके बिना उसका निर्णय किये बिना तुझे यह अन्दर वीतराग की वाणी का

www.vitragvani.com

निर्णय आया कहाँ से ? समझ में आया ? अब संशय... संशय... संशय... संशय... और कहे कि हमें सम्यग्दर्शन (है या नहीं वह) भगवान जाने। तुझे संशय तो है। है या नहीं उसका तुझे पता नहीं। भगवान ऐसा जानते हैं कि इसे नहीं है।

मुमुक्षु : पंचाध्यायी में लिखा है कि केवली जाने ?

पूज्य गुरुदेवश्री : केवल वह तो दूसरी बात है। प्रत्यक्ष उसकी सभी पर्यायों सहित का सम्पूर्णपना केवली जानते हैं। कहो, समझ में आया ?

चारों सन्ध्याकाल की प्रथम तथा अन्तिम दो घड़ी में,... अर्थात् दो और पहले तथा बाद में ऐसा लेकर लेना। पहले और बाद में, पहले आ गया है। **दिग्दाह,...** ऐसे आकाश में अग्नि जैसा दिखता है न ? अग्नि जैसा, मानो अग्नि हो, उस समय स्वाध्याय नहीं करना। किसकी ? इस मूल सिद्धान्त की, हों ! कहेंगे। स्तोत्र, आराधना, धर्मकथा आदि के ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं। यह कहेंगे। **दिग्दाह, उल्कापात,...** ऐसा यह उल्कापात हो, बहुत हवा लगे। **वज्रपात,...** वज्र जैसे अन्दर पत्थर पड़ते हों बड़े। **इन्द्रधनुष,...** लो, उस समय भी स्वाध्याय नहीं करना, कहते हैं। काचवी होता है न ? काचवी–इन्द्रधनुष, यहाँ (काठियावाड़ी भाषा में) काचवी कहते हैं।

सूर्य–चन्द्रग्रहण,... अरे ! **तूफान,...** बड़ा तूफान हो, ऐसा बड़ा तूफान, मारामारी (होती हो), सैकड़ों लोग कटते हों या बड़ा तूफान हो। **भूकम्प...** हो, लो ! धरती कम्प हो। **आदि उत्पातों के काल में सिद्धान्त–ग्रन्थों का पठन–पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र–आराधना,...** करना, उसका करे अथवा कोई ऐसे आराधना–ग्रन्थ हों, आराधना के ग्रन्थ होते हैं न साधारण। **धर्म–कथादिक के ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।** लो, चौथा बोल हुआ।

इस ज्ञान का इस प्रकार विनयपूर्वक इसका आराधन करना। वास्तव में यह विकल्प है। इसमें आठ बोल में प्रवचनसार में कहा है, वास्तव में तू मेरे आत्मा का स्वरूप नहीं परन्तु जब तक मैं पूर्ण न होऊँ, तब तक तेरा निमित्तपना मुझे आता है। तुझसे प्राप्त करता हूँ—ऐसी व्यवहार की भाषा ऐसी ही आती है। वह मेरा स्वरूप नहीं और फिर उससे स्वरूप प्राप्त हो ? एक तो पहले यह कहते हैं। परन्तु ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता,

www.vitragvani.com

उस व्यवहार को यहाँ समझाते हैं। निश्चय की दृष्टि और ज्ञान होने पर भी, ऐसा व्यवहार होता है। अकेला ऐसा व्यवहार होवे, उसे तो आराधन सम्यग्ज्ञान का है ही नहीं। जहाँ सम्यग्दर्शन ही नहीं, उसे फिर यह सब ध्यान रखे शास्त्र के ऐसे सब शब्द, उसका वह तो आराधन है ही नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसमें इन चार के अतिरिक्त कहा न। इन चार घड़ी के अतिरिक्त। दिग्ग्रह आदि काल के अतिरिक्त बीच का काल हो, उसमें सिद्धान्त पठन करना, ऐसे काल में नहीं करना। चार सन्ध्या काल पहले मुहूर्त और बाद के मुहूर्त में नहीं करना और ऐसा हो उसमें दिग्ग्रह, उल्कापात के समय भी समयसार आदि सिद्धान्त तो ऊँचे हैं न! उन्हें नहीं पढ़ना। स्तोत्र आराधना के ऐसे ग्रन्थ हों, भावना के ग्रन्थ लिखे हुए हों, धर्म कथादि के पढ़ना।

(५) विनयाचार - तथा किस रीति से ज्ञानाराधन करना? नम्रतायुक्त होना, उद्धत नहीं होना। शास्त्र पढ़ते हुए, विचारते हुए, स्वाध्याय करते हुए नम्रतारूप होता है। नरमाई होती है। भगवान ऐसा कहते हैं, भगवान का ऐसा कथन है, भगवान ऐसा फरमाते हैं। इस प्रकार उसे बहुत विनय होना चाहिए। देव-गुरु-शास्त्र का भी विनयपूर्वक आराधना करना, उद्धत नहीं होना। हम ऐसा कहते हैं, हम ऐसा जानते हैं—ऐसा नहीं करना। भगवान, सन्त—मुनि ऐसा कहते हैं, ऐसा मार्ग है; इस प्रकार स्वयं नम्रतापूर्वक विनय से वाँचन में नम्रता रखना। कहो, समझ में आया?

(६) उपधानाचार-तथा कैसा ज्ञान आराधना चाहिए? धारणासहित ज्ञान को भूलना नहीं;... जो जाना है, उसे भूलना नहीं। **उपधानसहित ज्ञान का आराधन करना...** फिर से अधिक शब्द डाला, और कदाचित् दूसरा होता होवे तो। **उपधानसहित ज्ञान का आराधन करना छठा अंग है।** लो।

(७) बहुमानाचार - तथा कैसा है ज्ञान? 'बहुमानेन समन्वितम्' = ज्ञान का पुस्तक-शास्त्र का,... विनय करना। देखो! व्यवहार है न? व्यवहार। **पुस्तक-शास्त्र का, अथवा पढ़ानेवाले का बहुत आदर करना। इन सहित ज्ञान का आराधन**

करना सप्तम अंग है। ओहो...हो... ! एक ओर कहते हैं कि वीतराग की दिव्यध्वनि भी आत्मा के ज्ञान में कारण नहीं, वीतराग की दिव्यध्वनि से भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। वह वस्तु निश्चय है। यह तो व्यवहार की बात है। दिव्यध्वनि भी परवस्तु है। आया न ? परमात्मप्रकाश में आया था, मुनियों के कहे हुए शास्त्र, मुनियों ने या दिव्यध्वनि में कहे हुए उनसे आत्मा को ज्ञान नहीं होता। ज्ञान आत्मा का, आत्मा से होता है। अन्तरस्वरूप के ज्ञान से ज्ञान होता है परन्तु जहाँ व्यवहार की बात करते हैं, तब व्यवहार जैसा है, वैसा उसे बतलाते हैं, उसे जानना चाहिए और उस प्रकार से उसमें शुद्धि भी रखना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

लो ! एक ओर निश्चय कहे व्रत है, वह कर्म के उदयवाला है; इसलिए उसे ज्ञानी चाहता ही नहीं। क्योंकि कर्म के निमित्त से व्रत का विकल्प उठता है, व्रत का, वह जहर है और कर्म के संगवाली जो भावदशा, उसे समकिती नहीं चाहता। भाव है, विकल्प / शुभभाव है। चाहता नहीं, सम्यग्दृष्टि व्रत के भाव को चाहता नहीं, क्योंकि वह राग है। पंचाध्यायी में तो कड़क वर्णन किया है। समझ में आया ? तथापि जब व्यवहार की बात आवे, तब उसे पंच महाव्रत स्पष्ट हुए होना चाहिए, उन्हें अतिचार लगाना नहीं, दोष लगे तो उसका प्रायश्चित्त लेना। आहा...हा... !

व्यवहारे लक्ष जो रहे तेना भेद अनेक,
परमार्थ पण जो कहे ते रंजे एक कंद।

भगवान आत्मा व्यवहार के काल में व्यवहार जैसा है, वैसा उसे समझाते हैं। कहते हैं, **पुस्तक–शास्त्र का, अथवा पढ़ानेवाले का बहुत आदर करना। इन सहित ज्ञान का आराधन करना सप्तम अंग है।** वह सातवाँ सम्यग्दर्शनसहित का व्यवहार ज्ञान के आराधना की व्याख्या चलती है।

(८) अनिह्नवाचार – तथा कैसा है ज्ञान? जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए। समझ में आया ? समयसार आदि शास्त्र निमित्त हुए हों और स्वयं दूसरे को निमित्त करके दूसरे को बतावे क्योंकि इसमें से वापस स्वयं का मान जाता है। मुझे तो अपने आप अमुक शास्त्र में से ऐसा हुआ है (ऐसा

www.vitragvani.com

कहे)। समझ में आया? वह चोर है। **जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए।** कहो समझ में आया इसमें? **यह आठ अंग (सम्यग्ज्ञान के विनय के) हैं।** यह आठ अंग सम्यग्ज्ञान के विनय के हैं। यह आठ अंग सम्यग्ज्ञान के विनय के हैं। **इस प्रकार सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना।** लो! **ज्ञानमाराध्यम्** है न अन्तिम?

इस प्रकार **श्रीमद् अमृतचन्द्रासूरि...** महादिगम्बर सन्त–मुनि थे। **विरचित पुरुषार्थसिद्धि–युपाय जिसका अपरनाम जिनप्रवचनरहस्य कोष है...** जिनप्रवचनरहस्य कोष है, जिनप्रवचन के रहस्य का भण्डार। जिन वीतराग के प्रवचन के रहस्य का, मर्म का भण्डार है यह। कहो समझ में आया? **उसमें सम्यग्ज्ञान वर्णन नाम का दूसरा अधिकार...** पूरा हुआ। लो! बहुत थोड़ी गाथायें थीं। ३१ से ३६, ६ थीं लो न। सम्यग्ज्ञान की छह, पहली (सम्यग्दर्शन की) ३० तक कही। छह गाथा में पूरा कर दिया। अब ३७ वीं गाथा, ३७।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

सम्यक्चारित्र-व्याख्यान

गाथा - ३७

सम्यग्ज्ञान अंगीकार करने के पश्चात् धर्मात्मा पुरुषों को क्या करना चाहिए, वही कहते हैं।

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम्।।३७।।

दर्शनमोह विनाशक अरु तत्वार्थों का है सम्यग्ज्ञान।
निष्प्रकम्प जो नित्य करें वे सम्यक्चारित्र आलम्बन।।३७।।

अन्वयार्थ : (विगलितदर्शनमोहैः) जिन्होंने दर्शनमोह का नाश कर दिया है (समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः) सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है (नित्यमपि निःप्रकम्पैः) जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़चित्तवाले हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा (सम्यक्चारित्रं) सम्यक्चारित्र (आलम्ब्यम्) अवलम्बन करने योग्य है।

टीका : 'सम्यक्चारित्रं आलम्ब्यम्' - सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए। कैसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए? 'विगलितदर्शनमोहैः' - जिनके दर्शनमोह का नाश हुआ है और दर्शनमोह के नाश होने से जो तत्त्वश्रद्धानी हुए हैं तथा कैसे हैं? 'समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः' - जिन्होंने सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थ जाना है तथा कैसे हैं? 'नित्यमपि निःप्रकम्पैः' - धारण किए गए आचरण में निरन्तर निष्कम्प हैं। जो किसी भी प्रकार ग्रहण किए हुए आचरण को नहीं छोड़ते, ऐसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए।

www.vitragvani.com

भावार्थ : पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानी हो, तत्पश्चात् निश्चलवृत्ति धारण करके सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिए।।३७।।

गाथा ३७ पर प्रवचन

सम्यग्ज्ञान अंगीकार करने के पश्चात् धर्मात्मा पुरुषों को क्या करना चाहिए वही कहते हैं। ऐसा ज्ञान–आराधन करके पश्चात् उसे क्या करना ऐसा कहते हैं। सीधा ऐसा का ऐसा व्रत ले लेना ऐसा नहीं। ए... दीपचन्दजी!

मुमुक्षु : किसी को बलवान ज्ञान हो तो क्या आपत्ति?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ बलवान ज्ञान हो, धूल का? सम्यग्दर्शन बिना बलवान ज्ञान होता नहीं। सम्यग्दर्शन का आराधन किया, पश्चात् सम्यग्ज्ञान का आराधन किया, फिर उसे सम्यक्चारित्र का आराधन करना, ऐसा है। यह पुरुषार्थसिद्धि–उपाय चरणानुयोग का ग्रन्थ है। यह क्रम है।

मुमुक्षु : पहले चारित्र नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु चारित्र होगा कहाँ से? चारित्र कहना किसे? जिसमें रमना है, जिसमें चरना अर्थात् रमना है, वह चीज़ क्या है—यह प्रतीति और ज्ञान में आयी नहीं तो चारित्र आया कहाँ से? समझ में आया? जो घर ही देखा नहीं, फिर घर में यहाँ स्थिर होकर लीनता लगाकर रहना परन्तु घर का ही पता नहीं, वहाँ कहाँ लीनता लगाना? इसी प्रकार आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु ज्ञायक प्रभु आत्मा, वह जहाँ प्रतीति और ज्ञान में भासित नहीं हुआ तो उसे स्थिरता कहाँ से आवे? कहो, समझ में आया?

सम्यग्ज्ञान अंगीकार करने के पश्चात्... ऐसा है न? सम्यग्दर्शन अंगीकार करने के बाद सम्यग्ज्ञान की आराधना करना; सम्यग्ज्ञान अंगीकार करने के पश्चात्, धर्मात्मा पुरुषों को क्या करना—ऐसी बात है। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान के पश्चात् क्या करना–ऐसा है। अज्ञानी को क्या करना? वह तो अज्ञानी अनादि से करता आया है, उसे क्या करना प्रश्न ही कहाँ है? कहो, समझ में आया? पुरुषार्थसिद्धि–उपाय, परन्तु

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

विदूषाम् पण्डितों के लिये कहते हैं, रहस्यकोष है।

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम्।।३७।।

जिन्होंने दर्शनमोह का नाश कर दिया है... जिसने दर्शनमोह का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, ऐसा कहते हैं। '**विगलितदर्शनमोहैः**' '**विगलित**' विशेष गल गया है, दर्शनमोह नाश हो गया है। उन्हें '**समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः**' **सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है...** वापस जिन्होंने दर्शनमोह का नाश किया है-एक; और सम्यग्ज्ञान द्वारा जिन्होंने तत्त्वार्थ जाने हैं - ऐसा, दो। **जो सदाकाल अकम्प अर्थात् दृढ़चित्तवाले...** अब स्थिरता के लिये, चारित्र के लिये। डाँवाडोल वृत्ति हो—ऐसा नहीं; दृढ़चित्तवाला है, **ऐसे पुरुषों द्वारा सम्यक्चारित्र अवलम्बन करने योग्य है।** ऐसे पुरुषों द्वारा सम्यक्चारित्र अंगीकार करने योग्य है। अंगीकार करना कहो या अवलम्बन करने योग्य कहो। ऐसे पुरुषों द्वारा बात है। समझ में आया?

वह कहे कि हमारे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है। समकित तो है ही अब हमारे, हो गया, जाओ! और ज्ञान (के लिये) तो यह स्वाध्याय करते हैं, वह इस ज्ञान का आराधन करते हैं। इसलिए अब हमारे यह व्रत लेना, वह हमारा चारित्र। चारित्र-फारित्र नहीं। जिसमें विकल्प का भी कर्तव्य नहीं—ऐसी दृष्टि हुए पश्चात् ऐसा व्रत का विकल्प आवे, उसे भी जाननेवाला रहे, वह मेरा कर्तव्य है—ऐसा न माने। समझ में आया?

आया है न? प्रवचनसार में नहीं आया? नहीं? अन्त में आया है। प्रवचनसार में २०२ गाथा। देखो! सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है और समस्त व्यवहारभावों से स्वयं को भिन्न जानता है। विकल्प आदि उठे, उन सब व्यवहारभावों से आत्मा को भिन्न जानता है। है न यह? बन्धुवर्ग की आज्ञा ली है न! यह सब क्या? सब भिन्न जानता है पहले से दृष्टि में है। जबसे उसे स्व-पर के विवेकरूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, तब से वह सकलविभावभाव का त्याग कर चुका है। विभावभाव मेरा नहीं, पुण्य-विकल्प, व्रत का विकल्प उठे वह मेरा नहीं—ऐसा जब से स्व-पर का भेदविज्ञान प्रगट हुआ है। स्व अर्थात् ज्ञायकभाव और पर अर्थात् विकल्प आदि पर, इन सबसे भिन्न भेदज्ञान

www.vitragvani.com

प्रगट हुआ है, तब से वह सकल विभावभावों का त्याग कर चुका है। ओहो! किसमें? दर्शन में-श्रद्धा में आदर अब है नहीं। विभाव का आदर नहीं, विकल्प का आदर नहीं, व्रत का विकल्प आवे, उसका भी आदर नहीं। आहा...हा...! और तब से ही उसने टंकोत्कीर्ण निजभाव अंगीकार किया है। विभाव का त्याग और स्वभाव का आदर। इसलिए उसे नहीं कुछ त्याग करने को रहा अथवा नहीं कुछ ग्रहण करने का / अंगीकार करने का रहा, ठीक! देवचन्दजी! समझे? सम्यग्दृष्टि फिर कुछ नहीं त्यागने का, कुछ नहीं ग्रहण करने का। देखो! भाषा देखो! यहाँ तो (कहते हैं), सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान अंगीकार करना, पश्चात् चारित्र अंगीकार करना, यह सब व्यवहार के अधिकार का ज्ञान कराते हैं। गजब बात!

इसलिए उसे नहीं कुछ त्याग करने का रहा अथवा नहीं कुछ ग्रहण / अंगीकार करने का रहा। स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, अब यह बात आयी, लो! पर्याय में उन पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार के विभावभावरूप से परिणमन है। पर्याय में विकार का परिणमन है। दृष्टि में विभाव का त्याग है, स्वभाव का आदर है, स्व-पर का भेद (ज्ञान) प्रगट हुआ है, तथापि वह तो अन्तर विभाव के त्याग-ग्रहण से तो रहित ही है। समझ में आया? परन्तु पर्याय में पूर्व कर्म के बन्ध के निमित्त से अनेक प्रकार की विकार पर्यायें हैं। वह विभाव परिणति... अब देखो! खूबी, विकार अवस्था नहीं छूटती देखकर वह आकुल-व्याकुल भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि, आत्मा का-ज्ञायकभाव का भान है, विभाव-भाव आदि ग्रहण -त्यागरहित ही हो गया है। ग्रहण करना नहीं। स्वरूप का ग्रहण आ गया है, बन्ध का त्याग ही हो गया है परन्तु विकारी अवस्था हो उसे देखकर आकुल-व्याकुल भी नहीं होता। यह कहते हैं, उस भूमिका में ऐसा होता है, जानकर आकुल-व्याकुल नहीं होता।

इसी प्रकार समस्त विभावपरिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता। समझ में आया? स्वभाव शुद्ध चैतन्य को दृष्टि में-ज्ञान में अंगीकार किया है। पुण्य -पाप के विकल्प से लेकर समस्त विभाव जिसे दृष्टि में त्यागरूप ही वर्तता है, दृष्टि में अभावरूप ही वर्तता है—यह स्वभावदृष्टि की बात की, परन्तु पर्याय में जब तक पूर्व कर्म

www.vitragvani.com

के निमित्त में जुड़ने से जो कोई विकल्प आदि होते हैं, ऐसे विभाव को देखकर आकुल नहीं होता तथा उस विभाव परिणति को टालने का (पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता)। क्योंकि स्वभाव की ओर की सावधानी है, सावधानी है; इसलिए व्यवहार का अभाव किये बिना भी नहीं रहता। स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता—ऐसा कहते हैं। होवे उसकी आकुलता नहीं और स्वभाव का पुरुषार्थ किये बिना रहता नहीं—ऐसा कहते हैं। कितना सरस लिखा है! यह चरणानुयोग का कथन है, इसमें लिखा है।

सकल विभावपरिणतिरहित स्वभावदृष्टि के जोररूप पुरुषार्थ से सकल विभाव अवस्थारहित... स्वभावदृष्टि के जोररूप पुरुषार्थ से वापस ऐसा। गुणस्थानों की परिपाटी के सामान्य क्रम अनुसार उसे पहले अशुभ परिणति की हानि होती है, पर्याय की अपेक्षा से; पश्चात् धीरे-धीरे शुभपरिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होने से शुभराग के उदय की भूमिका में गृहवास का और कुटुम्ब का त्यागी होकर, व्यवहार रत्नत्रयरूप पंचाचार अंगीकार करता है। यद्यपि ज्ञानभाव से वह समस्त शुभाशुभ क्रियाओं का त्यागी है। आहा...हा...! तथापि पर्याय में शुभराग नहीं छूटता होने से वह पूर्वोक्त पंचाचार को ग्रहण करता है—ऐसा कहने में आता है। कितना सरस लिखा है! हेमराजजी पण्डित ने लिखा है। समझ में आया? २०२ गाथा (प्रवचनसार)।

अरे! शान्ति से सत्य को ढूँढ़ने जाये तो इसे सत्य नहीं मिल जाये। लेखन में, शास्त्र में जहाँ जैसा वहाँ सत्य ही रखा है। अपनी दृष्टि से शास्त्र को करने जाये तो ऐसा नहीं होता। शास्त्र को क्या कहना है? इस प्रकार से दृष्टि करे तो इसे सत् मिलता है।

कहते हैं **जिन्होंने दर्शनमोह का नाश कर दिया है...** यह शर्त। सम्यक्चारित्र होने से पहले यह शर्त। सम्यक्चारित्र अंगीकार / अवलम्बन करने से पहले यह शर्त। शर्त को क्या कहते हैं? शर्त नहीं समझते? जवाबदारी। जवाबदारी को क्या कहते हैं? शर्त कहते हैं? **सम्यग्ज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ को जाना है...** वापस ऐसा। जो सदा काल **दृढ़चित्तवाले हैं...** ऐसा नहीं कि ऐसे... ऐसे... ऐसे... ऐसे... होगा। लूँगा और छोड़ूँगा तथा लूँगा और छोड़ूँगा – ऐसा नहीं। **ऐसे पुरुषों द्वारा सम्यक्चारित्र अवलम्बन करने योग्य है।** ऐसे कि मन में इतनी (दृढ़ता) होवे कि अंगीकार करना, वह छूटे नहीं। यह तो

www.vitragvani.com

ऐसा होगा तो लूँगा, तथा ऐसा होगा तो छोड़ दूँगा – ऐसा चित्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं। जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल में किसी समय ग्रहण करे और किसी समय छोड़ दे—ऐसा इसे चित्त नहीं होता – ऐसा कहते हैं। प्रतिज्ञा तोड़ना-भंग करना तो जिसे खेल है। ऐसा आता है न? टोडरमलजी में। जिसे प्रतिज्ञा लेना और तोड़ना, वह तो खेल हो गया है, वह मनुष्य योग्य नहीं है। टोडरमलजी में आता है, बहुत, टोडरमलजी ने तो लिखा है। एक-एक बोल को बीन-बीनकर डाला है। बीन-बीनकर समझते हो? चुन-चुनकर।

टीका : 'सम्यक्चारित्रं आलम्ब्यम्'... अन्तिम शब्द पहले रखा। **सम्यक्चारित्र अंगीकार करना...** यहाँ अवलम्बन की व्याख्या में अंगीकार करना कहा। **कैसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना...** कैसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना? श्रावक के अणुव्रत या महाव्रत। **'विगलितदर्शनमोहै:' – जिनके दर्शनमोह का नाश हुआ है और दर्शनमोह के नाश होने से जो तत्त्वश्रद्धानी हुए हैं...** नाश हुआ यह नास्ति से कहा, इसलिए (यहाँ) अस्ति से कहा। संक्षिप्त शास्त्र है, इसलिए ऐसा कहा। दर्शनमोह का नाश हुआ है। नाश हुआ, अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान यथार्थ भान प्रगट हुआ है, भेदज्ञान यथार्थ हुआ है। भलीभाँति तत्त्वश्रद्धानी हुए हैं। बहुवचन प्रयोग किया है न? **तथा कैसे हैं? 'समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थै:' – जिन्होंने सम्यग्ज्ञान से...** संशयरहित, विपर्यरहित, अनध्यवसायरहित ऐसे ज्ञान से जिसने तत्त्वार्थ जाने हैं, ऐसे जिसने तत्त्वार्थ जाने हैं, ऐसा। **जिन्होंने सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थ जाना है...**

तथा कैसे हैं? धारण किए गए आचरण में निरन्तर निष्कम्प हैं। धारण करते हैं फिर उसमें से छोड़ दूँगा, छोड़ूँगा—ऐसे डाँवाडोल नहीं। **'नित्यमपि नि:प्रकम्पै:'** चारित्र अंगीकार करनेवाले की भूमिका ऐसी होती है – ऐसा कहते हैं। **धारण किए गए आचरण में निरन्तर निष्कम्प हैं। जो किसी भी प्रकार ग्रहण किए हुए आचरण को नहीं छोड़ते, ऐसे जीवों को सम्यक्चारित्र अंगीकार करना...** लो! ऐसे जीवों को सम्यक्चारित्र अवलम्बना अर्थात् अंगीकार करना चाहिए।

भावार्थ : पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानी हो,... पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यग्ज्ञानी हो, **तत्पश्चात् निश्चलवृत्ति धारण करके...** निश्चल-चलित न हो—ऐसी वृत्ति धारण करके **सम्यक्चारित्र अंगीकार करने का कारण कहते हैं।** ३७ हुई।

गाथा - ३८

आगे सम्यग्ज्ञान के बाद ही सम्यक्चारित्र अंगीकार करने का कारण कहते हैं–

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधानं तस्मात्।।३८।।

यदि अज्ञान सहित चारित्र हो सम्यक्नाम न प्राप्त करे।
अतः ज्ञान–सम्यक् पाकर ही आराधन–चारित्र कहें।।३८।।

अन्वयार्थ : (अज्ञानपूर्वकंचरित्रं) अज्ञानसहित चारित्र (सम्यग्व्यपदेशं) सम्यक् नाम (न हि लभते) प्राप्त नहीं करता (तस्मात्) इसलिए (ज्ञानानन्तरं) सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही (चारित्राराधनं) चारित्र का आराधन (उक्तम्) कहा गया है।

टीका : 'अज्ञानपूर्वकं चारित्रं सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते' – जिसके पूर्व में अज्ञानभाव है, ऐसा चारित्र सम्यक् संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। प्रथम यदि सम्यग्ज्ञान न हो और पापक्रिया का त्याग करके चारित्रभार धारण करे तो उस चारित्र को सम्यक्त्वता प्राप्त नहीं होती। जैसे बिना जाने औषधि का सेवन करे तो मरण ही हो, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरहित चारित्र का सेवन करना संसार को बढ़ाता है। जीवरहित मृत शरीर में इन्द्रियों के आकार किस काम के? उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान शून्य शरीर के वेष या क्रियाकाण्ड के साधन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती। 'तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं उक्तम्' अतः सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र का आराधन करना कहा है।।३८।।

www.vitragvani.com

गाथा ३८ पर प्रवचन

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधानं तस्मात्।।३८।।

क्यों चारित्र को ज्ञान के बाद कहा? **अज्ञान सहित चारित्र सम्यक् नाम प्राप्त नहीं करता...** व्रत आदि लिये हों परन्तु मिथ्यादृष्टि है, उसे व्यवहारचारित्र भी नाम प्राप्त नहीं होता।

मुमुक्षु : अज्ञानसहित का चारित्र अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानसहित का चारित्र अर्थात् व्रत के विकल्प होते हैं वह। चारित्र तो कहा है न? ऐसा कहते हैं यह। अज्ञानरहित का चारित्र तो कहा न? चारित्र अर्थात् राग का आचरण। राग की मन्दता हो परन्तु जहाँ साथ में मिथ्यादर्शन शल्य है, अभी राग से भिन्न पड़ा नहीं, उसके राग का व्यवहार आचरण भी उसे नहीं हो सकता। समझ में आया? **अज्ञानसहित चारित्र...** वह तो कोई ऐसा कहता है कि हम अज्ञानी हैं? हमने तो चारित्र लिया है तो ज्ञानी ही हैं, सम्यग्दर्शनी ही हैं—ऐसा कहते हैं न?

अज्ञानसहित चारित्र... सम्यक् आत्मा राग से भिन्न पड़े बिना... क्योंकि तत्त्वार्थ है न? तो आस्रवतत्त्व से आत्मज्ञान, आत्मतत्त्व भिन्न पड़े बिना यथार्थ तत्त्व की प्रतीति नहीं, वहाँ यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं। ऐसे अज्ञानियों को चारित्र नहीं हो सकता। समझ में आया? ऐसा कहते हैं कि पुण्य-परिणाम करनेयोग्य है, यह व्रत करते-करते, विकल्प करते-करते कल्याण होगा; उसे रागरहित आत्मा भिन्न है—ऐसी प्रतीति का भान भी नहीं, भान बिना यह व्रत लेकर बैठा। कहते हैं कि उसे व्रत नहीं होते। ए.. मांगीरामजी! आहा...हा...!

अज्ञानसहित चारित्र सम्यक् नाम प्राप्त नहीं करता... देखा? सम्यक् नाम प्राप्त नहीं करता अर्थात् मिथ्याचारित्र कहलाता है। **इसलिए 'ज्ञानानन्तरं'** देखा? **सम्यग्ज्ञान के पश्चात्...** ऐसा **'ज्ञानानन्तरं' सम्यग्ज्ञान के पश्चात्...** उसमें आया था।

www.vitragvani.com

'**सम्यग्दर्शनन्तरं ज्ञान**' आया था और '**ज्ञानानन्तरं सम्यक्चारित्रं**' ऐसा आवे। देखा? समझ में आया? '**अन्तरे**' सम्यग्दर्शन में भी आया था, हों! गाथा में था। '**सम्यग्दर्शनन्तरं**' ऐसा आया, यहाँ '**सम्यग्ज्ञानन्तरं**' देखो! ३३ में '**सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्**' यह शब्द यही था। '**तस्मात्**' यहाँ भी है, देखो! '**तस्मात्**'

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।३३।।

इस कारण से सम्यग्दर्शन के पश्चात् उसे ज्ञान का आराधन करना, कहो। यहाँ भी कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान के पश्चात्, सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान का आराधन; सम्यग्ज्ञान के आराधन के पश्चात् इसे चारित्र का आराधन करना। कहो! कैसा क्रम तो बहुत सरस रखा है! चरणानुयोग है तथापि... इसके बाद सब बातें लेंगे व्रत की और ऐसे श्रावक के अतिचार और **इसलिए सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही चारित्र का आराधन 'उत्तम्' कहा गया है।** लो!

टीका : 'अज्ञानपूर्वकं चारित्रं सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते' – जिसके पूर्व में अज्ञानभाव है... व्रत लिये परन्तु अज्ञानभाव है; व्रत के पहले अज्ञानभाव उसे पड़ा है, पूरा मिथ्यात्वभाव है। **ऐसा चारित्र सम्यक् संज्ञा को प्राप्त नहीं होता।** मिथ्याचारित्र नाम पाता है, बाल चारित्र और बालव्रत कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रतादि को बालव्रत और बालतप, मूर्खता से भरपूर व्रत और मूर्खता से भरपूर तप (कहते हैं)। कहो, समझ में आया?

जिसके पूर्व में अज्ञानभाव है, उसका चारित्र सम्यक् संज्ञा को प्राप्त नहीं होता। प्रथम यदि सम्यग्ज्ञान न हो और पापक्रिया का त्याग करके चारित्रभार धारण करे... भाषा देखो! आता है न? भार नहीं (आता है)? चारित्रभार वहन करनेवाले को। वह फिर दूसरा है। उसमें आता है, क्लेश। पाप का बोझा भरता है। चारित्रभार वहन करनेवाले को, आता है न? भार अर्थात् अन्दर यथार्थ पुरुषार्थ की गति है, वहाँ और उसमें भार–बोझा है। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान के बिना पाप का त्याग का बोझा है। निभाना किस प्रकार? बोझा है। सहजपना नहीं आया। पाँच महाव्रत आदि का बोझा है, अज्ञानी को भार

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है। जहाँ सहज आनन्दस्वरूप की दशा प्रगट नहीं ऐसे अज्ञानी को पंच महाव्रत आदि के परिणाम बोझा-भार है।

पापक्रिया का त्याग करके चारित्रभार... देखा? पापक्रिया का त्याग किया परन्तु पुण्यभाव को धारण किया है। पुण्यभाव ही जिसने धारण किया है। वस्तु पुण्य से भिन्न है, उसका तो भान नहीं। पुण्य के विकल्प से भगवान आत्मा भिन्न है, ऐसे दर्शन और ज्ञान हुए नहीं; इस कारण उसने पाप क्रिया का त्याग करके चारित्र अर्थात् शुभभावरूपी भार धारण किया है। भाव, भार, बोझा धारण करता है। मरते तक कैसे निभाना? बोझा.. बोझा. हो जाता है। हाय... हाय...! बाहर में यह सब होता नहीं, एक बार आहार लेना, दो बार नहीं लेना, एक बार पानी पीना, दो बार पानी नहीं पिया जाये। समझे न? सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान नहीं मिलता और इस पाप के त्याग के परिणाम, यह एक शुभभाव आया, बोझा हो गया। अब इसका कैसे निभाव करना? यह सब अब मरते समय तक कैसे करना?

मुमुक्षु : निष्कम्प......

पूज्य गुरुदेवश्री : निष्कम्प होता है उसे। यह तो पहले से वस्तु दर्शन ही नहीं वहाँ निष्कम्प कहाँ से आया?

प्रथम यदि सम्यग्ज्ञान न हो और पापक्रिया का त्याग करके चारित्रभार धारण करे तो उस चारित्र को सम्यक्त्वता प्राप्त नहीं होती। उसे सम्यक्चारित्र नहीं कहते, मिथ्याचारित्र कहते हैं। वह भले पाँच महाव्रत के परिणाम हो, २८ मूलगुण के विकल्प हों, निरतिचार, हों! ये घोटालेवाले हैं, उनकी तो बात भी नहीं। उनके लिये बनाकर आहार ले, चौका बनवाकर ले... आहा...हा...! यह तो उसके व्यवहार का भी... निश्चयरहित व्यवहार अकेला वह व्यवहार भी सच्चा नहीं है, द्रव्यलिंग भी सच्चा नहीं है।

मुमुक्षु : श्रद्धा सच्ची न हो तो चारित्र भी नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, चारित्र है ही कहाँ? दर्शन न हो, उसे चारित्र कहाँ से आया? यह कहते हैं, सम्यक्चारित्र नाम प्राप्त नहीं करता।

जैसे बिना जाने औषधि का सेवन करे... पहचाने बिना खाये सीधे कि यह कुछ औषधि है, ठीक होगा और डाले मुँह में, **तो मरण ही हो,...** मर जायेगा।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मुमुक्षु : सच्चा आ जाये तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चा आये कहाँ से धूल में ? यहाँ तो जाने बिना औषधि का सेवन करे तो मरण को प्राप्त होता है, एक ही बात ली है। इसी प्रकार ज्ञान बिना... वह संजीवनी आती है न ?

उसी प्रकार ज्ञानरहित चारित्र का सेवन करना संसार को बढ़ाता है। आत्मदर्शन और आत्मज्ञान के बिना व्रत, तप अर्थात् वह चारित्र, **सेवन करना संसार को बढ़ाता है।** मिथ्यात्व को बढ़ाकर पुष्टि करके संसार बढ़ता है। आहा...हा... ! निगोद के नजदीक जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र नहीं। ज्ञान के बिना चारित्र का सेवन अर्थात् व्रत पालना, पंच महाव्रत और ये अट्ठाईस मूलगुण, वह सब संसार बढ़ाता है। आहा...हा... !

जीव रहित मृत शरीर में इन्द्रियों के आकार किस काम के ? मुर्दे में इन्द्रियों का आकार यथावत ऐसा ठीक हो, आँख ठीक हो, जीवरहित। इसी प्रकार चैतन्य के सम्यग्दर्शन–ज्ञान के बिना जीव वह अजीवी है। उसके बिना व्रत किस काम के ? **उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान शून्य शरीर के वेष या क्रियाकाण्ड के साधन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती।** लो, अन्तर के सम्यग्दर्शन–ज्ञान बिना शरीर का वेष नग्न किया, क्रियाकाण्ड, शुभराग–विकल्प के साधन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती। **अतः सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र का आराधन करना कहा है।** लो ! इसलिए सम्यग्ज्ञान करने के बाद चारित्र का आराधन लेना, उसके पहले हो नहीं सकता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.